गांधी वध और मैं

- गोपाल गोडसे

गांधी-वध और मैं

[संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण]

गोपाल गोडसे

[गांधी-वध कांड का सह-अभियुक्त। परिणामस्वरूप आजीवन कारावास । लगभग १८ वर्ष कारावासीय जीवन भोगी। श्रद्धेय नत्थूराम गोडसे का अनुज।]

सूर्य भारती प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली-११०००६

प्रकाशक : सूर्य भारती प्रकाशन
२५९६, नई सड़क, दिल्ली-११०-००६

दूरभाष : ३२६६४१२

टाइप सेटिंग : डिलाइट प्रिन्टर्स
३८०७/६, कन्हैयानगर, त्रिनगर, दिल्ली-११०-०३५

मुद्रक : एस॰ एन॰ प्रिंटर्स
एम-72, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

संस्करण : २००५

मूल्य : १२५.००

फाँसी के प्रांगण में पहुँच कर श्रद्धेय नत्थूराम गोडसे और नाना आपटे ने '**अखण्ड भारत अमर रहे**' और '**वन्दे मातरम्**' का घोष किया। मातृभूमि की वंदना करते हुए उच्चार किया :

नमस्ते सदा वत्सले मातृभूमे,
त्वया हिन्दुभूमे सुखं वर्द्धितोऽहं।
महामंगले पुण्यभूमे त्वदर्थे,
पतत्वेष कायो नमस्ते-नमस्ते।

एक बार कारागार के वायुमण्डल में यह स्वर गुंजायमान हुआ और फिर फाँसी देने वालों ने फाँसी का फंदा खींचा कि दो हिन्दू-वीर पंचत्व में विलीन हो गए।

'The audience was visibly and audibly moved. There was a deep silence when he ceased speaking. Many women were in tears and men were coughing and searching for their handkerchiefs. The silence was accentuated and made deeper by the sound of an oceasional subdued sniff or a muffled cough...'

'I have however no doubt had the audience of that day been constituted into jury and entrusted with the task of deciding Godse's appeal, they would have brought in a verdict of 'not guilty' by an overwhelming majority.

(The Murder of the Mahatma : Justice Khosla p. 234)

अनुक्रमणिका

(१) क्या गांधी-वध टाला नहीं जा सकता था? १५
(२) षड्यंत्र कब रचा गया होगा? २२
(३) नथूराम की मन:स्थिति ३६
(४) गांधी-वध का वह दिन ४०
(५) नथूराम! हे राम! ५४
(६) उत्सर्ग ९०
(७) 'मेरी राख सिंधु-सरिता में बहा देना' १०१
(८) अभियुक्त विनायक दामोदर सावरकर ११३
(९) वियोग के दिन १५२
(१०) बन्दीकरण से लाल-किला १७४
(११) प्रकाश से अन्धकार की ओर १९४
(१२) अंधेरे पथ की यात्रा २१३
(१३) अंधकार! अंधकार! २३४
(१४) यंत्रणा २६१
(१५) स्वाँस के लिए प्रयास २७७
(१६) प्रकाश की प्रथम किरण २९८
(१७) ... ...और अंत में ३१५
(१८) दुबारा भेंट ३१९
(१९) निर्णय-पत्र का सारांश ३२२

साहित्य की दृष्टि से 'गांधी-वध और मैं' जीवनी, आत्मकथा तथा संस्मरण विधाओं का संगम है। गांधी जी का वध करने वाले वधक श्रद्धेय नत्थूराम का जीवन चरित है। लेखक की अपनी आत्म-कथा है। गांधी-वध से संबंधित तथा जेल-जीवन के संस्मरण हैं।

इतिहास की दृष्टि से यह पुस्तक कांग्रेस, गांधी और भारत-विभाजन का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत कर इतिहास की सच्चाई को प्रकट करती है। भारत में प्रचारित झूठे तथा मनगढंत तथ्यों को उजागर करती है।

राजनीतिक दृष्टि से गांधीवाद की सफल शल्य-क्रिया कर उसके दुमुहे चेहरे (Two Faces) को बेनकाब करती है।

पुस्तक पर प्रतिबंध लगा। बम्बई उच्च-न्यायालय ने उसे निरस्त किया। निरस्त करने संबंधी निर्णय में विद्वान् न्यायाधीशों ने जो विचार प्रकट किए हैं, उससे पुस्तक और उसके लेखक का भाल दीप्त हुआ है। साथ ही इस संदर्भ में भारत-सरकार की मुस्लिम तुष्टीकरण नीति भी उजागर हुई है।

इस संस्करण में भाषा-सुधार हुआ है। कहीं-कहीं भाषा की शैली और शब्दों का सरलीकरण भी हुआ है ताकि पाठक सरलता से भाव ग्रहण कर सकें। मुद्रण की नई टैकनीक से 'कम्पोज' और 'प्रिन्ट' कर इसके सौन्दर्यवर्धन का प्रयास हुआ है।

विश्वास है, यह नया संस्करण आपकी अपेक्षाओं के अनुरूप सिद्ध होगा।

—प्रकाशक

परिचय

वर्ष १९८० से १९९० पर्यन्त मेरा निवास हिन्दूमहासभा कार्य हेतु उस संस्था के केन्द्रीय कार्यालय में अर्थात् हिन्दूमहासभा भवन, नई दिल्ली में था। उससे सभी प्रदेशों के लोगों से सम्पर्क आ सका, कभी उनके प्रदेशों में तो कभी दिल्ली में।

धर्म की परिधि में हिन्दू जितने भावाकुल हैं, उतने ही वे राजनैतिक परिधि में उदासीन हैं। कुंभ मेले जैसे पर्व पर हिन्दू कोटि-कोटि संख्या से जुट जाते हैं, किन्तु वे ही लोग राजनैतिक स्तर पर धर्मनिरपेक्ष कहलाने वाले दलों को समर्थन देते हैं।

हिन्दुओं को उनके ह्रास का अथवा उनकी हानि का अब ज्ञान हो रहा है, किन्तु उन्हें सक्षम नेतत्व नहीं मिला है।

हिन्दु दल 'हिन्दुत्व ही राष्ट्रीयत्व है', इस भूमिका पर राजनैतिक क्षेत्र में स्पष्ट रूप से उतरते नहीं हैं। हिन्दू संघटनवादी यदाकदा हिंदुत्व के सिद्धान्तों का पुनरुच्चार तो करते हैं, किन्तु इस तथ्य को वे प्रकट नहीं करते और राजनैतिक स्तर पर गोलमोल भूमिका लेकर हिंदुओं को धर्मनिरपेक्ष दलों के शिविर में धकेलते हैं।

दूसरी ओर हिन्दूमहासभा इस सिद्धान्त में विश्वास करती है, किन्तु अपने सिद्धांत समाज तक पहुँचाने के लिए समर्थ एवम् सक्षम संगठन उसके पास नहीं है। जो थोड़े लोग हैं वे निष्ठा के साथ, आत्मीयता से, लगन से कार्यरत हैं और आज भी सभी धर्मनिरपेक्ष दलों के उपहास के अथवा घृणा के पात्र बने हैं। दिल्ली के निवास में मैं इस तथ्य का सूक्ष्मता से अवलोकन कर सका।

हिन्दूसभा के अनेक पदों पर मैंने काम किया। मेरी पत्नी सौ. सिन्धू ने इस कार्य में मेरा निरन्तर साथ दिया। उन्होंने भी कुछ वर्ष हिन्दूमहासभा के पदाधिकारी के रूप में काम किया। इन दिनों हम दोनों का निवास पुणे में है।

हिंदुस्थान स्वतंत्र हुआ। हिंदुस्थान की भूमि पर हिंदुस्थान का मुसलमान मुसलमान के नाते स्वतंत्र हुआ। अपने भू-भाग को उसने पाकिस्तान नाम दिया। शेष हिंदुस्थान में भी हिन्दू स्वतंत्र नहीं हुआ। स्वराज्य की यह व्याख्या है 'जिसमें स्वत्व हो'। इस व्याख्या को चरितार्थ करना हो तो हिन्दूमहासभा के सिद्धांतों को छोड़कर और कोई विकल्प नहीं है। राज्य को स्वराज्य बनाना अनिवार्य है।

मैंने दिनांक १२-६-९५ को जीवन के ७५ वर्ष पूर्ण किए हैं। सिद्धांत विद्यमान है। नेतृत्व की आवश्यकता है। आगामी पीढ़ी को नेतृत्व मिलेगा, इस आशा से जीवन के अंतिम चरण में मार्गाक्रमण करता हूँ।

ध्यान देने योग्य बातें यहाँ पर अंकित करने को मन करता है। इस्लाम, यह एक राजनैतिक आक्रमणकारी, असहिष्णु, विस्तारवादी आंदोलन है। अल्ला यह परिकल्पना न मानने वाले, कुराण पर विश्वास न रखने वाले अथवा उपासना के लिए मूर्तिपूजा का अवलंब करने वाले जन-समूहों के देशों पर आक्रमण करना, उन्हें पराभूत करना, मंदिरों की मूर्तियाँ उखाड़कर उन वास्तु को मस्जिद का नाम देना, लोगों को बलात् मुसलमान बनाना, उनकी सम्पत्ति लूटना, उनकी स्त्रियों को लूट मानकर सैनिकों द्वारा उन पर बलात्कार कराना, उनका विक्रय करना और जो भ्रष्ट नहीं हुए हैं,

ऐसे लोगों पर नए मुसलमानों की संतान द्वारा अत्याचार करने की शृंखला अविरल है। यह दुर्व्यवहार हिंदुस्थान में इस्लामी आक्रमण के प्रादुर्भाव -समय से है। मस्जिद-मस्जिद से क्रूर अंधश्रद्धा उत्पन्न की जाती है। यही कारण है कि हिंदुस्थान की भूमि पर पाकिस्तान का निर्माण, यह इस्लामी विस्तारवादी आक्रमण हिंदुस्थान के हिंदुओं में से ही मुसलमान बनाए गए लोगों ने कार्यान्वित किया। इस देश-विभाजन के लिए अरबिस्तान के मुसलमानों को आयातित करने की आवश्यकता रही ही नहीं।

खंडित हिंदुस्थान में भी मस्जिद मस्जिद से वही अंधश्रद्धा अपने आपको मुसलमान समझने वाले मुल्ला मौलवी देते रहते है। उसके फलस्वरूप १२ मार्च १९९३ को मुंबई में कराए गए बमविस्फोटों के लिए किसी पाकिस्तानी को पाकिस्तान से आयातीत करने का कारण ही नहीं रहा।

हिंदू-परिवारों से भ्रष्ट किए गए मुसलमानों को मूल प्रवाह नष्ट करने के पाठ पढ़ाए जाने लगे। धर्मनिरपेक्ष कहलाने वाले शासन की कार्यपद्धति राष्ट्रविरोधी एवम् अंधश्रद्धाओं को बढ़ावा देने वाली प्रमाणित हुई। उन्होंने मुसलमानों की अलगता की भावना को प्रोत्साहित किया। नई मस्जिदें निर्माण कराने में सहायता दी। हज भवनों का निर्माण कराया। मुसलमानों की जनसंख्या बढ़ जाए, इसलिए उन्हें अनेक विवाह करने की छूट दी। कोई हिंदूओं दूसरा विवाह करे तो उसे कारावास देने का कानून बनाया। पहले इस्लामी राज्यों में हिंदू पर 'जजिया' कर लादा जाता था। कर न दे पाने वाले हिन्दुओं को मुसलमान बनाया जाता था। धर्मनिरपेक्ष शासन ने अब हिंदुओं को मुसलमान बनने के लिए प्रलोभन परोसा है। दूसरा विवाह करना हो और बंदीवास से बचना हो तो मुसलमान बन जाओ। धर्मनिरपेक्ष शासन का विधि-विधान तुम्हें छुएगा भी नहीं। शासन का यह व्यवहार मानवताद्रोही भी है।

शासन के प्रोत्साहन के कारण मुस्लिम समाज जहाँ अवसर प्राप्त हो, वहाँ कुरान की असहिष्णुतावादी आयतों का आचरण करते हैं। उनकी अंधश्रद्धा के अनुसार मूर्ति का अस्तित्व अल्ला से सहा नहीं जाता। इसलिए मूर्तियों के रथ पर एवम् रथयात्रा आयोजित करने वाले मूर्तिपूजक काफिरों पर आक्रमण करने का प्रहार चलता रहता है। सामूहिक इस्लामीकरण के प्रयोग किए जाते हैं। सर्वधर्म समभाव नाम लिए हुए दलों में जो हिंदू हैं, उन्हें इस्लामी आक्रमण की ये गतिविधियाँ उन्हें दीखती नहीं हैं, क्योंकि उनकी बुद्धि को पक्षाघात हुआ है। वे लोग मुसलमान के अभिनिवेश से हिन्दू और हिन्दू संस्थाओं को 'सांप्रदायिकता' की उपाधि अपशब्द के रूप में प्रयोग करने के अभ्यस्त हो चुके हैं। मानों इन दलों की नियुक्ति किसी मुस्लिम देश ने की हो।

ऐसे घने कोलाहल में, 'हिंदुत्व ही राष्ट्रीयत्व है,' इस सिद्धांत को प्रसारित करने वाले व्यक्तियों की अतीव आवश्यकता है। और उन्हें राजनैतिक हिंदुसंघठन से जोड़े जाने की भी आवश्यकता है। ऐसे व्यक्तियों में से मैं एक हूँ। बुद्धि-भ्रष्ट स्वजनों से तिरस्कृत होने पर भी।

इतिहासकालीन वास्तुओं के विषय में श्री पुरुषोत्तम नागेश ओक ने लोगों को वास्तविकता की दृष्टि दी है। वे सभी वास्तुएँ इस्लाम के आक्रमण के पूर्व से ही खड़ी हैं। मुस्लिम आक्रांताओं ने उनको हड़प लिया। जो मन्दिर मस्जिद बनाने योग्य थे, उनमें से मूर्तियाँ हटाईं। हिंदू अलंकरण के शिल्पों को हटाया और उन वास्तुओं को मस्जिद अथवा मजार कहना प्रारंभ किया। ये वस्तुएँ सुलतानों ने बनाईं, इस प्रकार के लेख भी अपने बादशाह के नामों से शिलाओं पर लिखवाए।

मैं इन दिनों अध्ययन यह कर रहा हूँ, ये वास्तुएँ हिंदू-वास्तुशास्त्र के किन सिद्धांतों के अनुसार

निर्माण हुई हैं। जैसे कि जिसे 'ताजमहल' कहते हैं, वह शिवमंदिर है। उसके चार द्वार हैं, जो सर्वतोभद्र वास्तु की आवश्यकता वास्तु-ग्रंथों में दी है। हुमायूँ मकबरे में स्वास्तिक की जालियाँ आज भी विद्यमान हैं। ऐसी जालियाँ हिंदू राजप्रासादों अथवा देवप्रासादों में बनाई जाती हैं। दिल्ली के अनंगपाल के लालकिले में पानी के निकास के लिए सूकर के मुख के परनाले बनाए हैं। ऐसी रचनाओं को हिंदू शिल्पशास्त्र का आधार प्राप्त है, ऐसे कई ग्रंथों का अध्ययन मैं कर रहा हूँ—बृहत्संहिता, मयमत, मानसार, अग्निपुराण, वास्तुविद्या, समरांगणसूत्रधार आदि। आगामी पीढ़ी के लिए यह मार्गदर्शन छोड़ जाने का मेरा प्रयास है। उससे जब यह विवाद शास्त्रीय-भूमिका पर आएगा, तब यह विवाद ही नहीं रहेगा।

साहित्य संस्कार छोड़ता है। इतिहास को विकृत करने का प्रयास जैसे मुगलों ने किया, उसी प्रकार का कार्य तथाकथित धर्मनिरपेक्ष शासन भी कर रहा है। ऐसे दुष्प्रचार को निष्प्रभ करने का कार्य 'गांधीवध और मैं' तथा 'गांधीवध-क्यों?' जैसे ग्रंथ करते हैं।

हिन्दी भाषा के संबंध में तथ्य यह है कि इस्लामी सुलतानों ने हिन्दी भाषी प्रदेशों पर कई शतक राज्य किया। हिंदू संस्कृति का विनाश करना उनके द्वारा संभव नहीं हुआ, क्योंकि हिंदुओं ने बार-बार उनसे लोहा लिया और अपने श्रद्धास्थान बचाए रखे, संस्कृति अक्षुण्ण रखी। किन्तु मुस्लिम आक्रमकों ने अरबी-फारसी शब्दों की भरमार मूल हिंदी भाषा में की और भ्रम यह निर्माण किया गया कि बिना उर्दू के हिंदी भाषा खड़ी हो नहीं हो सकती। जैसे उर्दू हिंदी के बिना लंगड़ी है, वैसे ही हिंदी को लंगड़ी बनाने का उनका प्रयास रहा। राजकाज की भाषा एवम् लिपि फारसी रखना सम्भव न हुआ। फिर भी अनेक प्रान्तों ने मुस्लिम तुष्टीकरण के कारण, उर्दू अकादमी की स्थापना हुई। उर्दू को बढ़ावा मिलने लगा। अनेक प्रान्तों ने उर्दू को दूसरी राजकीय भाषा घोषित किया। भाषा पर किया यह आक्रमण अपना स्थान स्थापित कर गया।

'गांधी-वध और मैं' का नया संस्करण प्रस्तुत है। हमारा प्रयास रहा है कि इस पुस्तक में अधिक से अधिक हिंदी शब्दों का ही प्रयोग हो। भावाभिव्यक्ति की क्षमता और पाठकों को समझने की सुविधा की दृष्टि से कुछ विदेशी प्रचलित तथा टेकनिकल शब्दों को हमने विवशतावश अपनाया है।

'गांधी-वध और मैं' को पाठकों ने सराहा है, पसन्द किया है। यही कारण है कि इसके अनेक संस्करण मुद्रित हो चुके हैं। आज भी इसकी माँग है। पाठकों के इस प्रेम के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

—गोपाल गोडसे

अन्वेषण

मैं राजनीतिज्ञ नहीं हूँ। किसी दल का सदस्य नहीं हूँ। किसी राजनीतिक तत्त्व-ज्ञान का प्रचारक नहीं हूँ, इसलिए इस ग्रन्थ प्रकाशन के पीछे कोई उद्देश्य न चिपकाए जाएँ। व्यवसाय है, जो हुआ है उसका अन्वयार्थ लगाना। और इसलिए, जो हुआ है उसका शब्दांकन करना मेरा कर्त्तव्य है। फिर भी, मेरे मित्रों ने परामर्श दिया कि मैं यह ग्रन्थ प्रकाशित न करूँ। गड़े मुर्दे उखाड़ने से क्या लाभ है? ऐसा भी पूछा गया। मैंने इतना कहा कि इतिहास का उद्देश्य ही यही है। इतिहास अप्रिय हो तो भी उसे बिना लिखे कोई उपाय नहीं है।

मुझे आशा नहीं थी कि यह पुस्तक कभी आपके हाथों पहुँच पाएगी। विषय उत्तेजक, राज्यकर्ता असहिष्णु, कुछ जन कुछ शब्दमात्र से ही भय खाने वाले। ऐसी स्थिति में एक अपराधी की कहानी मुद्रित करने का दु:साहस कौन करेगा?

और वह अपराधी भी सामान्य श्रेणी का नहीं। महात्मा गांधी का हत्यारा! महात्मा गांधी उन दिनों के श्रेष्ठ पुरुष। उनकी कीर्ति में संतपन का प्रवाह मिला हुआ। ऐसे व्यक्ति का वध वह भी पूरे विचार-विमर्श के साथ, षड्यन्त्र रचकर किया गया। गोपाल गोडसे, इस कहानी का निवेदक, उस षड्यन्त्र के अभियोग का एक प्रमुख अभियुक्त, जिसने वध किया उस नथूराम गोडसे का सगा छोटा भाई, यह अपराधी अपने अठारह वर्षों के कारावास के पश्चात् अपनी कथा विशेषकर गांधी-वध की कथा कहता है, कोई भी राजनीतिक उद्देश्य न रखकर।

गांधी का हत्यारा यदि गँवार, स्वार्थी, अनाड़ी या भ्रमित-सा होता तो गांधी जी के नाम का व्यापार करने वाले दु:खी अवश्य होते, किन्तु क्रुद्ध न होते। गांधीवाद की अथवा गांधी की प्रतिमा उससे कलंकित न होती। किन्तु हत्यारा, अर्थात् वध करने वाले, वध को प्रत्यक्ष साहाय्य करने वाले अथवा इस घटना से संबद्ध सब जन सुशिक्षित थे, सज्ञान थे, देश-भक्त थे।

जी हाँ! वे देश-भक्त तो थे ही। इस देश पर गांधी जी का जितना प्रेम था उतना ही उन सब जनों को अपनी मातृभूमि पर था। वरन् मातृभूमि पर उनका जो प्रेम था उसी ने गांधी-वध जैसे कार्य का उत्तरदायित्व पिछले पाँच-पचास वर्षों के राजनीतिक नेतृत्व पर, विशेषकर गांधी जी के मुसलमानों के सम्बन्ध में जो धारणाएँ थीं, कि जिससे देश का विभाजन हुआ, सहस्रावधि सिंधी, पंजाबी, बंगाली, भारतीयों का सर्वनाश हुआ, उस पर तथा उसी के समान कई कारणों पर निर्भर हो सकता है। गांधी-वध केवल एक हनन का कार्य, एक खून इतने ही सीमित अर्थ से इस घटना को देखना न्याय न होगा। यह एक राजनीतिक वध था।

उस वध में व्यक्तिगत स्वार्थ अथवा सत्ता की अभिलाषा न थी अपितु अगतिकता थी। त्रुटिल मार्ग से यह रोकने की अनाड़ी चेष्टा थी। हत्यारों ने यह सोचा कि वध मनुष्य का

किया जा सकता है, दर्शन या सिद्धांतों का नहीं। इसलिए गांधी जी मारे जा सके, किन्तु गांधीवाद जैसा का तैसा ही रहा—बढ़ती मात्रा में।

आज के परिवर्तनशील समय में न्यूनतम इतना तो मुद्रित कर सकते हैं। आज गांधी-दर्शन अंतिम सांसें ले लाहौर की ड्योढ़ी पर रक्त से लथपथ हो पड़ा है। अहिंसा और सत्य की धज्जियाँ पूरे भारत में उड़ रही हैं। और उन्नीस बरसों में स्वाधीनता नरक में पलट गई है।

गांधी-वध अब एक इतिहास मात्र है। इतिहास का सत्य के बिना अन्य पर्याय नहीं होता। इसलिए यह ग्रन्थ सत्य की खोज के मार्ग की एक विनम्र चेष्टा मात्र है। लेखक का अधिकार क्षेत्र सीमित है। उसका, उसे और मुझको ज्ञान है। विधि नियमों का बंधन हम स्वीकार करते हैं। इसलिए हमारी शक्ति मर्यादित है। इस स्थिति को पाठक समझें।

वर्ष बीतेंगे। नथूराम गोडसे का विस्मरण हो जाएगा। सावरकर विस्मृत हो जाएँगे। कदाचित् गांधी-नेहरू, ये आज के देवता भी विस्मृत हो जाएंगे। भुलाने वाली परिस्थिति भी निर्माण होंगी, किन्तु यह भू-भाग वैसे ही रहेगा। वहाँ मनुष्य ही रहेंगे। इतिहास के पिछले पन्ने देखेंगे। इस वैभवशाली देश के टुकड़े क्यों हुए, इसका इतिहास पढ़ेंगे। एक कायर राजनीतिक का वह कलंकित भाग। उसका रक्तरंजित गंगा-सिंधु नदियों के परिसर का इतिहास, उसकी दृष्टि के सामने अवश्य आयेगा। उस समय गांधी अवश्य ध्यान में आयेंगे, नेहरू ध्यान में आयेंगे, सावरकर जी का स्मरण तो अवश्य, किन्तु भिन्न-भिन्न संदर्भों में होगा। ऐसे इतिहासकारों को नथूराम गोडसे का, एक अत्यन्त तुच्छ मनुष्य का अनायास स्मरण उस समय होगा।

मनुष्य जाति की उन्नति की ओर ले जाने वाले भोले तत्त्वज्ञान यदि अयोग्य स्थान पर प्रायोजित किए गए तो देश की भूमि रक्त से भीग जाती है, इसका और एक पाठ मिलेगा। जैसे पृथ्वीराज को मिला। जैसे देवगिरी के रामदेवराय को मिला।

और उस दिन के इतिहासकार इस देश का आज का इतिहास लिखेंगे, जिसमें मृत बुद्धवाद के लिए लिखे गए पृष्ठों के समान ही मृत गांधीवाद की समालोचना करने वाले कुछ पृष्ठ होंगे।

समय को कोई रोक नहीं सकता। कोई वैसा चाहे तो भी वह असम्भव है। देखते-देखते बीस बरस बीत गए। इतिहास भिन्न सत्य कहने लगा; और कौन कह सकता है? कुछ वर्षों में यहाँ पर भिन्न स्वप्न प्रकट होंगे।

कौन जाने उस दिन समय किसके पल्ले क्या बाँधेगा?

१२-१०-१९६७

—ग. वा. बेहेरे

श्री ग. वा. बेहेरे मराठों के पत्रकार एवम् हस्तसिद्ध लेखक थे। ललित साहित्य की उनकी कतिपय रचनाएँ हैं। दिनांक ३० मार्च १९८९ को उनका देहान्त हुआ।

१२-६-१९९५

—गोपाल गोडसे

आमुख

पाँच फरवरी, १९४८ को बम्बई-पूना रेल मार्ग पर कामशेत स्थानक से लगभग दस मील दूर उकसाण नामक ग्राम में मैं गया था। उसी दिन वहाँ बम्बई-पुलिस दल की एक टुकड़ी पहले ही पहुँच गई थी। पुलिस मुझे गांधी-वध के 'षड्यन्त्र' के प्रकरण में भाग लेने के आरोप में पकड़ कर वहाँ से बम्बई ले गई।

दिल्ली के अनंगपाल के लालकिले में स्थित विशेष कोट/न्यायालय में इस अभियोग पर सुनवाई हुई। देश की विधि के अनुसार अभियोग लगाने के पश्चात् उसे सिद्ध करने का दायित्व वादी अथवा अभियोजकों का होता है। अभियुक्त चाहे तो चुप रह सकता है अथवा आरोप को अस्वीकार कर सकता है। मेरा बयान यह था कि मेरा इस षड्यन्त्र से दूर का भी सम्बन्ध नहीं। मेरा यह बयान शपथपूर्वक नहीं था। अभियोजकों ने मेरा षड्यंत्र में सम्मिलित होना सिद्ध कर दिया। दिनांक १० फरवरी, १९४९ को मुझे आजीवन कारावास का दण्ड सुनाया गया। दिनांक १३ अक्टूबर, १९६४ को मैं बंदीगृह से मुक्त किया गया।

गांधी जी की हत्या की यह घटना आधुनिक भारतीय इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण पृष्ठ है। गांधी चरित्र का यह अन्तिम अध्याय है। यदि उसे छोड़ दिया जाय तो गांधी चरित्र अपूर्ण रह जाता है। यदि उसे विकृत रूप में प्रस्तुत किया जाए तो गांधी चरित्र इतिहास की संज्ञा नहीं पा सकता।

न्यायालयी निर्णय के प्रति सम्मान की भावना रखते हुए यह मानना होगा कि गांधी-वध से मेरा सीधा सम्बन्ध था। भले ही मैंने उस आरोप को स्वीकार नहीं किया, परन्तु आरोप मेरे विरुद्ध प्रमाण के साथ सिद्ध किया गया, यह एक अमिट सत्य है।

न्यायालय में अभियोग के बारे में, विवाद-ग्रस्त विषयों या बातों या अभियुक्त से संबंधित सभी तथ्य ठीक प्रकट होते हों, ऐसी बात नहीं है। अभियुक्त और अभियोजक, दोनों अपने-अपने हितों की दृष्टि से, अपने पक्ष की अधिकाधिक पुष्टि के लिए अथवा पुष्टि में हानि न आवे इसलिये अनेक तथ्यों और घटनाओं को जानबूझकर छोड़ देते हैं। गांधी-वध से तथाकथित सम्बन्धित आजन्म कारावास के दंड प्राप्त सभी अभियुक्त आज कारावास से मुक्त हो चुके हैं। उनमें से मैं एक हूँ। इस महत्त्वपूर्ण घटना के, भारतीय इतिहास के एक अप्रिय अध्याय के तथ्यों को, इतिहास-जिज्ञासु पाठकों के लाभ की दृष्टि से इन लेखों द्वारा भलीभाँति प्रकट करना मेरा उद्देश्य है।

इस अंतिम चरण में गांधी-वध के परिणामों के संस्मरण भी समाविष्ट हैं। क्योंकि गांधी-जीवन के अंतिम काल से उसके सूत्र घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं।

आज जब न गांधी जी जीवित हैं न नथूराम, न नाना आपटे ही विद्यमान हैं और तीनों आजीवन कारावास दंडित भी अपनी दंडावधि पूरी करने के पश्चात् मुक्त कर दिए गए

हैं, तब 'मरणान्तानि वैराणि' के न्यायक्रम से गांधी जी के प्रति यदि उनके जीवनकाल में कोई दुर्भावना रही भी हो, तो भी, किसी प्रकार की दुर्भावना रखना उसे अब उचित प्रतीत नहीं होता। कारागृह में मैं गांधी-जयंती के आयोजन में सम्मिलित होता रहा हूँ। कई बार ऐसे आयोजनों की रूपरेखा भी मैंने ही बनाई है। यह सब स्वीकार करते हुए मुझे कोई संकोच नहीं होता। न तो किसी बंदीगृह अधिकारियों के दबाव अथवा भय से मैं ऐसा करता था, न इस कारण मैं पथभ्रष्ट अथवा सिद्धांतच्युत हुआ, ऐसा मैंने कभी अनुभव किया है। इसी प्रकार गांधी जी के वध का निश्चय पूर्ण करने वालों अथवा उनसे सम्बन्धित जीवित अथवा मृत-जनों के प्रति भी किसी प्रकार का पूर्वाग्रह या दुर्भावना नहीं रखी जानी चाहिए। इस संपूर्ण घटनाक्रम को इतिहास की दृष्टि से ही देखा जाना चाहिए। और उसी दृष्टि से उस पर विचार होना चाहिए। यही मेरा निवेदन है, जिसे स्वीकार अथवा अस्वीकार करना पाठकों पर निर्भर है।

—गोपाल विनायक गोडसे

दि. २७ मार्च, १९६६
१२०६/१ ब, शिवाजीनगर
पूणे-४
सम्प्रति :
७५४ /२, सदाशिव पेठ,प्रथम तल
कुमठेकर मार्ग, जनता बैंक वास्तु, पुणे-४११-०३०

१ क्या गांधी-वध टाला नहीं जा सकता था?

'जन्म से ही मनुष्य के ललाट पर उसका भविष्य अंकित रहता है', ऐसी कहावत है। इस पूर्वलिखित विधि-लेख को अक्षरशः पढ़कर अपने भविष्य को जानने का मनुष्य प्रयत्न करता रहा है, किन्तु उसकी जिज्ञासा शान्त नहीं हो पाई है। यदि वह अपना भविष्य पढ़ने में सफल हो गया होता तो अपने जीवन की असफलताओं को टालना उसके लिए अत्यंत सरल हो जाता और उस दशा में 'भाग्य की अनिवार्यता' की कहावत निरर्थक हो जाती।

जीवन की परिणति मृत्यु है, यह सभी लोग भलीभाँति जानते हैं। इस मृत्यु का समय, निमित्त और घटनाक्रम विधि द्वारा पूर्व-निर्धारित होता है। काल के इस कार्यक्रम से मनुष्य अनभिज्ञ रहता है।

स्वभाव से ही मनुष्य अपने कर्म में विश्वास करता है। वह ऐसा भाग्यवादी नहीं जो 'मृत्यु अटल है', उसका समय एवं कार्यक्रम अज्ञात है, इसलिए उसके मार्ग को रोकने या समय को टालने की व्यर्थ चेष्टा क्यों की जाए?' ऐसा सोच कर वह निष्क्रिय और निराश नहीं होता। इसके विपरीत अनेक अप्रकट रहस्यों के उद्घाटन और सत्य के अन्वेषण जैसे कार्यों में वह जानबूझ कर अपने प्राणों पर संकट लेकर संघर्षपूर्ण शोध करता है और प्रत्येक दुर्घटना के कारणों का विश्लेषण करते हुए उसके कारणों पर विचार करके उसकी पुनरावृत्ति के निवारण के विविध उपाय ढूँढता रहता है।

मान लिया कि, दुर्घटना में आहत अथवा मृत व्यक्तियों को ऐसे प्रतिकारात्मक उपायों से कुछ लाभ नहीं मिलता; फिर भी, मनुष्य की दृष्टि के सामने मानव जाति की सुरक्षा तथा उसकी प्रगति का लक्ष्य रहता है। हम प्रायः यह देखते हैं कि रोगी की मृत्यु के अज्ञात कारणों का ज्ञान उसकी शव-परीक्षा में दीख पड़ता है। इसी से यह हमारा अनुभव है कि उसी प्रकार के अन्य रोगों का प्रभावी उपचार कर सकते हैं।

अपनी इसी वृत्ति के कारण लोगों ने गांधी-वध को एक पूर्व निर्धारित दैवी दुर्घटना नहीं माना है और गांधी-वध को टाला जा सकना असंभव नहीं था, यह पश्चात्ताप उसे पुनः-पुनः उद्वेलित करता रहता है। इस दुर्घटना के निवारण की संभावना पर इन दिनों बड़ा वाद-विवाद चल रहा है। इस सम्बन्ध में उत्तरदायी अधिकारियों, मंत्रियों और नेताओं के अनेक वक्तव्य और विचार यत्र-तत्र प्रकाशित हुए हैं। शासन द्वारा गांधी जी की रक्षा के लिए किये गये सुरक्षा-प्रबन्ध में अथवा किसी व्यक्ति-विशेष के कर्त्तव्य पालन में कहाँ और क्या त्रुटि रह गई थी, यह जानने के लिए चर्चा-परिचर्चा चल रही है। पाठक जानते हैं कि इन्हीं प्रश्नों पर विचार करने के लिये शासन ने साम्प्रत एक आयोग भी नियुक्त किया था।

गांधी जी की सुरक्षा से सम्बद्ध अधिकारियों की तत्कालीन मनोदशा और धारणा क्या थी, इस पर विचार विषय-विवेचन के माध्यम से करने की हमारी इच्छा है, ताकि भविष्य में इस प्रकार के घातपात रोके जा सकें तथा मनोविज्ञान के अध्येता इस विवेचन से स्यात् कुछ निष्कर्ष निकाल सकें।

प्रस्तुत विवेचन के दो पक्ष हैं। एक घटनाक्रमानुरूप दूसरा तात्विक। हम यहाँ पहले पक्ष पर विचार करेंगे। दिनांक २० जनवरी, १९४८ की सन्ध्या को दिल्ली के बिड़ला भवन में गांधी जी की प्रार्थना सभा-स्थल के निकट एक बम-विस्फोट हुआ था। और मदनलाल पाहवा घटनास्थल पर पकड़ा गया था। मदनलाल ने अपने कार्य की सूचना कुछ ऐसे व्यक्तियों को दी थी जिनका कथित षड्यन्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं था। ऐसा प्रमाण गांधी-वध अभियोग के कार्य प्रचलन में न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किया गया था। उसका विवरण इस प्रकार है—

लालकिले में श्री जगदीशचन्द्र जैन की साक्षी दिनांक ४-८-१९४८ से ९-८-१९४८ तक हुई। श्री जैन काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के एम. ए. और बम्बई विश्वविद्यालय के पी-एच. डी. हैं। वे उस समय माटुंगा (बम्बई) स्थित रामनारायण रुइया महाविद्यालय में अर्धमागधी और हिन्दी भाषाओं के प्राध्यापक थे। उन्होंने कतिपय पुस्तकें भी लिखी हैं। मदनलाल पाकिस्तान से आव्रजित शरणार्थी था। श्री जैन उसकी आर्थिक सहायता की दृष्टि से अपनी प्रकाशित पुस्तकें उसे २५ प्रतिशत छूट पर विक्रयार्थ देते थे। प्रा. जैन ने अपनी साक्षी में कहा—'जनवरी (१९४८) के प्रथम सप्ताह के अन्तिम दिन के आसपास मदनलाल मुझसे मिला। उसके साथ एक सज्जन और थे जिन्हें उसने अहमद नगर का एक सेठ बताया। उनका नाम उसने करकरे बताया। दो-तीन दिन पश्चात् रात्रि के आठ बजे मदनलाल मुझसे पुन: मिला। उसने मुझसे कहा कि उसके दल ने एक बड़े नेता को मार डालने का निश्चय किया है। मैंने उससे उस नेता का नाम पूछा। पहले तो उसने यह कहकर नाम प्रकट करने में आनाकानी की कि नाम वह नहीं जानता; किन्तु, मैंने जब यह सोचकर उससे अधिक आग्रह किया कि उसे उक्त नेता का नाम अवश्य ज्ञात होगा, तब उसने गांधी जी का नाम लिया। मुझे यह जानकर आघात-सा लगा और मैंने उसे इस प्रकार की मूर्खता न करने का परामर्श दिया। बातों-बातों में उसने यह भी कह दिया कि गांधी जी की प्रार्थना-सभा में बम विस्फोट करने का काम उसे सौंपा गया है। उसने कहा कि इससे सभा में भगदड़ मच जाएगी और उपयुक्त अवसर पाकर उसके अन्य साथी गांधी जी को घेर लेंगे। मैंने उसे समझाया कि वह पाकिस्तान से निष्कासित है। पंजाब में हुए साम्प्रदायिक उपद्रवों में पहले ही उनकी पर्याप्त हानि हो चुकी है। अत: इस प्रकार का कार्य उसे नहीं करना चाहिए। मैंने उसे उसके इस निश्चय से विरत करने के लिए उससे बहुत समय पर्यन्त बातचीत की। जब वह चला गया तब मैंने उसकी बातों को अधिक महत्त्व नहीं दिया, क्योंकि उन दिनों विभाजन के कारण विस्थापित (शरणार्थी) बहुत क्षुब्ध थे और वे बहुत कटु शब्दों में गांधी जी और कांग्रेस को कोसा करते थे।'

'...दो-एक दिन पश्चात् मदनलाल फिर मेरे पास आया तो मैंने उससे पूछा कि उसने

मेरी बातों पर विचार किया या नहीं? उसने उत्तर दिया कि वह मुझे पिता के समान समझता है और यदि उसने मेरी सम्मत्ति को न माना तो उसका सर्वनाश हो सकता है। किन्तु दो दिन पश्चात् वह पुनः मेरे यहाँ आया; तब उसने सूचना दी कि वह दिल्ली जा रहा है।'

'मदनलाल के दिल्ली जाने के लगभग दो दिन पश्चात् सेंट झेवियर कॉलेज के सभाभवन (हाल) में श्री जयप्रकाश नारायण का भाषण हुआ। मैं वहाँ उपस्थित था। मैंने श्री जयप्रकाश नारायण से मिलने और उन्हें मदनलाल द्वारा बताए गए षड्यन्त्र के आभास से अवगत कराने की चेष्टा की। श्री जयप्रकाश नारायण दिल्ली जाने वाले थे और दिल्ली के अधिकारियों को उनके द्वारा सचेत किये जाने से संभावित दुर्घटना के निवारण की मुझे आशा थी, किन्तु उनके आसपास बहुत भीड़ होने के कारण मैं उससे भलीभाँति मिल नहीं सका तथापि दिल्ली में किसी षड्यन्त्र की संभावना का संकेत मैंने उन्हें दे दिया।'

'गांधी जी की प्रार्थना-सभा में मदनलाल द्वारा किये गये बम-विस्फोट और उसकी आबद्धता के समाचार मैंने दिनांक २१-१-१९४८ को पढ़े और तभी दूरभाष पर सरदार बल्लभभाई पटेल से बातें करने का निश्चय किया, किन्तु मेरा प्रयास असफल रहा। श्री स. का. पाटील से भेंट करने का भी मैंने प्रयास किया, किन्तु उसमें भी सफलता नहीं मिली। तब दूरभाष पर भेंट निश्चित करके मैं माननीय मुख्यमन्त्री श्री बा. गं. खेर से सचिवालय में दिन के ४ बजे मिला। वहाँ माननीय गृहमंत्री श्री मोरार जी देसाई भी उपस्थित थे। मदनलाल के सम्बन्ध में ज्ञात सभी बातें मैंने उन्हें बता दीं।'

(Criminal Appeals No. 66 to 72 of 1949, East Punjab High Court, Simla, Printed. Record, Vol. I, Pages 130-138)

बम्बई के तत्कालीन गृहमंत्री माननीय श्री मोरार जी देसाई की साक्षी दिनांक २३-८-१९४८ से २५-८-१९४८ तक हुई। उन्होंने अपनी साक्षी में प्रा. जैन के वक्तव्य की पुष्टि करते हुए बताया—

'श्री जैन द्वारा बतलाई गई बातों को सुनकर मैंने गुप्तचर विभाग के मुख्य अधिकारी श्री नगरवाला को बुलवाया। कार्य में व्यस्त होने के कारण वे तत्काल नहीं आ सके। तब मैंने उन्हें प्रत्येक स्थिति में बम्बई रेलवे स्टेशन पर मुझसे मिलने को कहलवाया। मुझे उसी दिन अहमदाबाद जाना था। वे मुझे रात्रि के सवा आठ बजे स्टेशन पर मिले। मैंने उन्हें वे सभी बातें जो श्री जैन द्वारा मुझे ज्ञात हुई थीं, बताईं और उनसे उपयुक्त कार्यवाही करने के साथ-साथ श्री करकरे को पकड़ने का निर्देश दिया।'

'दिनांक २३-१-१९४८ को प्रातः अहमदाबाद में सरदार पटेल से मिलने पर मैंने उन्हें श्री जैन से प्राप्त सूचनाएँ और इस सम्बन्ध में मेरे द्वारा की गई कार्यवाही की जानकारी दी।'

(Printed Record Volume I, Pages 166-173).

दिनांक ५-१०-१९४८ से १८-१०-१९४८ तक हुई साक्षी में श्री नगरवाला ने श्री मोरार जी भाई के कथन की पुष्टि की है। वे कहते हैं—

'दिल्ली पुलिस के डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट—श्री जसवन्तसिंह एक सब-इंस्पेक्टर के साथ दिल्ली से दिनांक २२-१-१९४८ को बम्बई आकर मुझसे मिले। वे दिल्ली में हुए

बम-विस्फोट के प्रकरण में करकरे एवं अन्य किन्हीं षड्यन्त्रकारियों को पकड़वाना चाहते थे। उनके दिल्ली लौट जाने पर मैंने करकरे और उसके अज्ञात साथियों की खोज का काम हाथ में लिया। बम्बई पुलिस को इसके पूर्व करकरे का कोई परिचय नहीं था, किन्तु उपलब्ध जानकारी के आधार पर दिनांक २४-१-१९४८ को मैंने श्री बडगे को पकड़ने का आदेश दिया।' (Printed Record Vol. I, 278-293)

दिल्ली पुलिस के सब-इंसपेक्टर श्री दसवन्तसिंह की शपथपूर्ण साक्षी दिनांक १४-९-१९४८ और १५-९-१९४८ को हुई।

वे केन्द्रीय शासन के गृह विभागगत गुप्तचर विभाग से सम्बद्ध थे और जनवरी, १९४८ में तुगलक मार्ग पुलिस स्टेशन के प्रमुख थे। बिड़ला भवन उन्हीं की सेवा-सीमा में था। उन्होंने बताया कि घटना के दिन वे एक हेड कांस्टेबल और चार सिपाहियों के साथ बिड़ला भवन के द्वार पर सन्नद्ध थे। (Printed Record Vol. I, Pages 233-239)

डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट सरदार जसवन्तसिंह की साक्षी दिनांक १६-९-१९४८ से २०-९-१९४८ तक हुई। उनकी और श्री नगरवाला की साक्षी सम्बद्ध अंशों से मिलती-जुलती है। बिड़ला भवन की सुरक्षा व्यवस्था के सम्बन्ध में उन्होंने बताया कि दिसम्बर, १९४७ से बिड़ला भवन पर पुलिस फोर्स रखा गया था। महात्मा गांधी के बिड़ला भवन में आगमन के पश्चात् ही यह व्यवस्था की गई। किसी प्रकार की अनुचित घटना की रोकथाम करना इस व्यवस्था का उद्देश्य था। बम-बिस्फोट की घटना के पश्चात् सतर्कता बढ़ा दी गई और सादी वर्दी में भी पुलिस अधिकारी एवं कर्मचारी वहाँ नियुक्त किए गए थे। (Printed Record Vol. I, 239-247)

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि बम विस्फोट से पूर्व ऐसे किसी षड्यन्त्र का पूर्वाभास केवल श्री जैन को था। और विस्फोट के पश्चात् तो किसी षड्यन्त्र की संभावना के और अधिक स्पष्ट संकेत सरदार पटेल, मोरार जी देसाई, पुलिस प्रमुख श्री नगरवाला और डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट श्री जसवन्तसिंह जैसे वरिष्ठ व्यक्तियों को मिल चुके थे। मदनलाल उस समय बन्दीगृह में था। उसने एक विस्तृत वक्तव्य पुलिस को दिया था। उसके कथनानुसार दिल्ली में कथित षड्यन्त्र से सम्बन्धित व्यक्ति जहाँ-जहाँ हो सकते थे, वहाँ-वहाँ पुलिस ने खोज-बीन भी की थी, ऐसा कहा गया है। मदनलाल द्वारा 'करकरे' के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों का रूपरेखादि विवरण भी पुलिस को प्राप्त हो चुका था।

न्यायमूर्ति श्री आत्माचरण ने १०-२-१९४९ को दिए गए निर्णय में लिखा है—

'२० जनवरी, १९४८ से ३० जनवरी, १९४८ तक पुलिस द्वारा की गई जाँच पड़ताल की शिथिलता मुझे केन्द्रीय शासन के ध्यान में लानी है। दिनांक २०-१-१९४८ को मदनलाल के पकड़े जाने पर उसका विस्तृत वक्तव्य दिल्ली पुलिस ने प्राप्त कर लिया था। उधर डॉ० जे. सी. जैन द्वारा गृहमंत्री को दी गई सूचनाएँ भी बम्बई पुलिस को दिनांक २१-१-१९४८ को मिल चुकी थीं। इन दोनों बयानों को प्राप्त करने के पश्चात् दिल्ली और बम्बई के पुलिस अधिकारी परस्पर मिल भी चुके थे। इतना सब होने पर भी इन दो बयानों का लाभ उठाने में पुलिस असमर्थ रही, यह अत्यंत दु:ख की बात है। (Yet, the

police miserably failed to derive any advantage from those two statements.) इस प्रकरण में यदि तनिक भी तत्परता दिखाई गई होती तो यह दु:खद घटना कदाचित टाली जा सकती थी।' (Printed Record Vol. III, Page 109)

न्यायमूर्ति की यह धारणा उनके समक्ष प्रस्तुत किये गये प्रमाणों के आधार पर बनी। नथूराम और आपटे से पूना, पुलिस भलीभाँति परिचित थी। करकरे भी अहमदनगर पुलिस की जानकारी में थे। अत: यदि पूना अहमदनगर के कुछ कुशल पुलिस अधिकारियों को बिड़ला भवन की सुरक्षा-व्यवस्था में सम्मिलित कर लिया जाता तो दुर्घटना के पूर्व ही सम्बन्धित व्यक्तियों का पकड़ा जाना संभव था। सुरक्षा-व्यवस्था और पड़ताल की यह त्रुटि यदि दूर कर दी गई होती तो आगे होने वाली दुर्घटना को रोका जा सकता था। न्यायमूर्ति के अभिमत का यही अभिप्राय है। साथ ही, न्यायमूर्ति के कथन का यह अंश कि यह दु:खद घटना 'कदाचित' टाली जा सकती थी, ध्यान देने योग्य है।

सतर्क जाँच एवं कड़ी सुरक्षा-व्यवस्था से संदिग्ध व्यक्तियों का पकड़ा जाना संभव था और यदि वे पकड़े गए होते तो न्यूनतम उनके द्वारा ही किसी दुर्घटना के घटित न होने की निश्चितता हो सकती थी, किन्तु इन संदिग्ध षड्यन्त्रकारियों के पकड़ लिए जाने पर भी इस बात का क्या भरोसा था कि अन्य किन्हीं लोगों द्वारा उस प्रकार की घटना संभव नहीं होती। फिर संदिग्ध षड्यन्त्रकारियों को पकड़ने में पुलिस की सफलता भी निश्चित नहीं थी। सब प्रकार की सतर्कता से काम करने पर भी जब कोई व्यक्ति किसी अवैध कार्य को प्राणों की चिन्ता न करके भी पूरा करने का संकल्प या दुस्संकल्प कर लेता है, तब वह अपने कार्य में विधि और व्यवस्था के संरक्षकों (पुलिस) द्वारा उत्पन्न किए जाने वाले प्रत्येक संभव व्यवधानों की पूर्वकल्पना कर लेता है और अपनी बुद्धि की पहुँच तक उन व्यवधानों के निराकरण के उपाय भी सोच लेता है। उसका प्रयत्न रहता है कि उसके दो नेत्र विधि तथा व्यवस्था संरक्षकों के सहस्त्र नेत्रों से अधिक सक्रिय और सतर्क रहें। और जहाँ उसे अपने कार्य की सफलता के लिये प्रतिकूल-परिस्थिति अनुभव होती है, वहाँ किंचित समय के लिए वह अपने बढ़ते हुए चरण पीछे खींच लेता है और अवसर मिलते ही अपनी इच्छा पूरी करता है।

इतना सब कुछ होने पर भी योजना की सफलता या असफलता अंतिम रूप से अवसर और भाग्य पर निर्भर है। असाधारण कार्य करने के लिये कृतसंकल्प, दृढ़ निश्चयी योजनाशील व्यक्ति को भी अपनी सतर्कता पर यह विश्वास नहीं होता कि वह पुलिस की आँख में धूल डाल सकेगा। प्राय: सावधानी नहीं, प्रत्युत भाग्य ही सफलता के अवसर प्रदान करता है। उदाहरण के लिए कल्पना की जा सकती है कि उस रात केवल बम्बई जाने वाली गाड़ियों की ही जाँच न करके अन्यत्र जाने वाली ट्रेनों में भी षड्यन्त्र से सम्बद्ध व्यक्तियों की खोज की जाती तो? मदनलाल तो साथ में था ही।

कानपुर जाने वाली ट्रेन में नथूराम और आपटे मिल जाते और और २० जनवरी वाली घटना इन दोनों के हाथों तो न होती और दिल्ली पुलिस को उसके निवारण का श्रेय मिलता, किन्तु विधि निर्धारित विधान पुलिस के अनुकूल न था।

पंजाब उच्च-न्यायालय ने अपना निर्णय दिनांक २२-६-१९४९ को दिया। निर्णायक थे श्री भंडारी, श्री अच्छरूराम तथा श्री खोसला। उच्च-न्यायालय के इस निर्णय में तीनों न्यायाधीशों ने कहा कि वे न्यायाधीश श्री आत्माचरण के अभिमत से सहमत नहीं हैं। न्यायाधीश श्री भंडारी लिखते हैं—

'नथूराम ने अपने मन में निश्चय कर लिया था और गांधी जी का अन्त करने के लिए वह अपने प्राणों का मूल्य देने को तत्पर था। उसने पिस्तौल लेकर बिड़ला भवन में प्रवेश करने का संकट स्वीकार किया और उस समय गोलियाँ भी दागीं जब वह समुदाय के मध्य में था। बच निकलने का उसने विचार भी नहीं किया। (He did not care to run away.) वह एक विशिष्ट उद्देश्य से वहाँ गया था और उसे पूरा करने के लिये प्रत्येक स्थिति में कटिबद्ध था। इस सन्दर्भ में किसी भी संकट को अपनाने और तज्जन्य अवश्यम्भावी परिणामों का सामना करने को वह तत्पर था। कोई अपरिचित अथवा कृत्रिम नाम धारण करके एक स्थान से दूसरे स्थान पर भटकने वाले व्यक्ति को या परिणामों की चिन्ता न करके किसी अवैध कार्य को सम्पन्न करने को कटिबद्ध व्यक्ति को रोकना क्या पुलिस के लिए संभव था? कहीं कुछ हो रहा है, पुलिस इतना ही जानती थी; किन्तु कब, कहाँ और किसके द्वारा आघात होने वाला है, इसकी जानकारी उसे नहीं थी। वह अंधेरे में अनुमान पर संभावित अपराध के सूत्रों को टटोलती भटक रही थी। उसे मार्ग नहीं मिल रहा था। जो कुछ हुआ उसे लोग जानते हैं और उस जानकारी के आधार पर ही, वह अमूल्य जीवन इस प्रकार से बचाया जा सकता है, यह भी अब कह सकते हैं किन्तु घटना के हो जाने के उपरान्त उपाय सूझना सदा सरल है।'

'...प्रस्तुत प्रमाणों के आधार पर मेरा यह मत है कि—(क) ३० जनवरी के पूर्व नथूराम को पकड़ने में अथवा गांधी जी के प्राण बचाने में क्या-क्या कठिनाइयाँ थीं, इसका स्पष्टीकरण करने का पुलिस को अवसर नहीं दिया गया। (ख) मदनलाल ने षड्यन्त्रकारियों के नाम पुलिस को नहीं बताए। यदि ये नाम बताये भी होते तो भी विविध नाम धारण कर विभिन्न स्थानों पर घूमने वाले और अपने प्राणों का मूल्य देकर भी गांधी जी की हत्या करने को तुले हुए नथूराम को पकड़ना असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन होता।'

(टंकित निर्णय-पत्र, पृष्ठ १९५)

न्यायाधीश श्री अच्छरूराम ने लिखा है—'पुलिस ने दिनांक २० से ३० जनवरी, १९४८ की अवधि में यदि जाँच पड़ताल में शिथिलता नहीं की होती तो गांधी-हत्या की दुर्घटना टल सकती थी—ऐसा जो अभिमत विद्वान् न्यायाधीश (श्री आत्माचरण) ने प्रगट किया है, उसका, समापन करने से पूर्व, मुझे निराकरण करना है। उक्त अभिमत की पुष्टि में मुझे कुछ भी दिखाई नहीं दिया। और मेरे विचार में यह अभिमत पूर्णतया अवांछनीय (Wholly uncalled for) है।' (टंकित निर्णय-पत्र, पृष्ठ ५५९)

तृतीय न्यायाधीश श्री खोसला ने अपने अनुमोदनात्मक निर्णय-पत्र में सम्बन्धित प्रश्न पर उपरोक्त दोनों न्यायधीशों से सहमति व्यक्त की। इस परिकाल्पनिक प्रश्न के तकनीकी पक्ष पर विचार करने पर हत्या की अटलता और टाले जा सकने की संभावना, दोनों के

पक्ष में तर्क दिये जा सकते हैं। मान लीजिये कि, नथूराम की मृत्यु ३० जनवरी के पूर्व हो गई होती तो? प्रस्तुत प्रमाणों से असम्बद्ध होने पर भी एक प्रासंगिक घटना यहाँ उल्लेखनीय है—

२० जनवरी के कुछ समय पूर्व नथूराम और नाना आपटे मोटर साइकिल द्वारा बम्बई से पूना जा रहे थे। आपटे गाड़ी चला रहे थे। ठंड बहुत अधिक थी, इसलिये आपटे ने ऊन की एक टोपी पहन रखी थी। घाटी में से जाते समय एक स्थान पर टोपी सरककर आँखों पर आ गई और इस प्रकार उलझ गयी कि उसे ऊपर सरकाना कठिन हो गया। गाड़ी अत्यन्त वेग में थी। अतः रोकते-रोकते भी बहुत दूर चली गई और नियन्त्रण खोकर एक ओर लुढ़क गई। नथूराम जो पीछे बैठे थे, यह सब देख रहे थे। किन्तु उस स्थिति में कुछ कर सकना उनके लिये संभव नहीं था। दोनों मित्र रास्ते के उस छोर जा गिरे, जो सीधी खाई की ओर न होकर दूसरी ओर था। रास्ते की सीमा और गाड़ी के पहिये के बीच अन्तर नहीं के समान था। जीवन और मृत्यु की मानो वही सीमा-रेखा थी।

गाड़ी यदि सड़क की ओर न लुढ़क कर खाई की ओर गिरी होती तो? तो कदाचित चार-पाँच दिनों पश्चात् दोनों के सड़े गले हुए शव किसी पथिक को दिखाई दिए होते, जिन्हें पहचानना भी तब सरल नहीं रहता।

मैं सोचता हूँ कि प्रयत्न निष्फल हो जाने पर उससे सम्बन्धित व्यक्तियों द्वारा ही गांधी जी के वध का पुनः प्रयत्न किया जाएगा, यह कल्पना करना पुलिस अधिकारियों के लिए कठिन था। घटना हो चुकी है, एक व्यक्ति पकड़ा गया है। अब केवल अन्य सम्बन्धियों को पकड़ना ही शेष है। शासन के हाथ बहुत लम्बे होते हैं, अतः अन्य लोगों को पकड़ना अब कुछ ही दिनों की बात है, इस धारणा ने अधिकारियों को पर्याप्त सीमा तक निश्चिन्त कर दिया होगा। घटना से सम्बन्धित व्यक्तियों में स्वाभाविक भय उत्पन्न हो गया होगा। वे अपने बचाव के लिए इधर-उधर बिखर गए होंगे और कोई हलचल नहीं करेंगे, यही उनकी धारणा रही होगी, जो स्वाभाविक भी थी।

जैसा आरंभ में कहा गया है कि, व्यक्ति की मृत्यु कैसे और कब होगी यह उसे ज्ञात नहीं होता। गांधी जी की मृत्यु यदि नथूराम और आपटे के द्वारा करवाना विधि को अभीष्ट था तो किसी दुर्घटना में नहीं, किन्तु फाँसी के मंच पर चढ़कर मृत्यु को वरण करना नथूराम और आपटे का विधिनिर्दिष्ट था।

कालाय तस्मै नमः।

२ षड्‌यंत्र कब रचा गया होगा?

गांधी-वध का षड्यन्त्र निश्चित रूप में कब रचा गया, इसका प्रमाण न्यायालय में प्रस्तुत नहीं किया गया। षड्यन्त्र (कॉन्स्पिरेसी) को प्रमाणित करने के लिये वैसी निश्चित तिथि का अन्वेषण करना अभियोजकों के लिये आवश्यक नहीं होता, इसलिए अभियोग-पत्र में अस्पष्ट. रूप से कहा गया है कि—

'आपने, अभियुक्त नथूराम एवम् अन्य ने, दिनांक १ दिसम्बर, १९४७ से ३० जनवरी, १९४८ के बीच मोहनदास करमचन्द गांधी जिन्हें सर्वसामान्य रूप से, महात्मा गांधी कहा जाता है, की हत्या करने के लिये पूना, बम्बई, दिल्ली तथा अन्य स्थानों पर जो एक अवैध काम है परस्पर सहयोग किया और षड्यन्त्र रचा...' इस प्रकार का संदिग्ध आरोप-पत्र अभियुक्तों को दिया (पंजाब उच्च न्यायालय प्रिन्टेड रेकार्ड, भाग ३ पृष्ठ ११)। अभियोग की छानबीन के पश्चात् दिए गए निर्णय-पत्र में न्यायमूर्ति श्री आत्माचरण ने कहा है कि जनवरी, १९४८ के आरंभ से यह षड्यन्त्र निश्चित रूप से अस्तित्व में था और ३० जनवरी, १९४८ तक रहा, यह बात सिद्ध हो गई है (भाग ३ पृष्ठ ९७) तथा षड्यन्त्र के आरंभ की निश्चित तिथि लिखने की विशेष न्यायमूर्ति को कोई आवश्यकता नहीं थी।

गांधी-वध से पूर्व सात-आठ मास में नथूराम और आपटे ने अनेक शस्त्रास्त्र एकत्र किए थे और उनका विनिमय किया था। शस्त्रास्त्रों के यातायात में भी उनका हाथ था, ऐसा विवरण अभियोग के कार्यप्रचलन में सामने आया है। उपलब्ध किए गए प्रमाणों के आधार पर इन शस्त्रास्त्रों के व्यवहार की जाँच की जाए तो ज्ञात होगा कि गांधी-वध का उद्देश्य सामने रखकर अभियुक्तों का यह व्यवहार नहीं चल रहा था। इन गतिविधियों में से गांधी-वध का षड्यन्त्र कब प्रस्फुटित हुआ, इस बात का बहुत कुछ अनुमान लगाना संभव है।

इस अभियोग में जिन प्रतिष्ठित व्यक्तियों की साक्षी हुईं उनमें गोस्वामी श्रीकृष्ण जीवन जी महाराज भी एक थे। उन्हें दादा महाराज कहा जाता है। वे महाप्रभु वल्लभाचार्य के वंशज माने जाते हैं और इस पीठ के धर्मगुरु हैं। दिनांक ९-८-१८४८ तथा १०-८-१८४८ , दो दिन उनकी साक्षी हुई थी। हैदराबाद राज्य का उस समय भारत में विलयन नहीं हुआ था। राज्य के हिन्दुओं पर रजाकारों के अकल्पनीय अत्याचार होते थे। हैदराबाद स्टेट कांग्रेस मुक्ति-आन्दोलन की योजनाएँ बनाया करती थी। रजाकारों के अत्याचारों के प्रतिकार की ओर सशस्त्र प्रत्याघात की रूपरेखा भी उनमें होती थी। श्री दादा महाराज के कथन से ऐसा लगता है कि वे हैदराबाद स्टेट कांग्रेस को शस्त्रास्त्रों के संभरण की व्यवस्था करते थे। नाना आपटे और दादा महाराज का परस्पर घनिष्ट परिचय था। आपटे हैदराबाद की मुक्ति के लिये होने वाले प्रयत्नों में सम्मिलित थे और वे दादा महाराज की सहायता प्राप्त करने के प्रयत्न में थे।

पाकिस्तान के निर्माण के पश्चात् उसकी पहली संविधान सभा दिल्ली में आयोजित करना विचाराधीन था। आपटे चाहते थे कि यदि ऐसा हो तो उस संविधान-सभा को उड़वा देना चाहिए। यह बात दादा महाराज को महामना पंडित मदनमोहन मालवीय जी के सुपुत्र श्री गोविन्द मालवीय से ज्ञात हुई, ऐसा उन्होंने अपनी साक्षी में कहा है। उन्होंने यह भी कहा कि उनकी आपटे से पूना में भेंट होने पर उन्होंने आपटे से कहा कि न्यूनतम जिन्ना और लियाकत अली को उड़वा दिया जाए। दो मार्टरों (morters) के लिये आपटे को चार सहस्र रुपयों की आवश्यकता थी। दिनांक १६-१०-१९४७ को शस्त्रास्त्रों की एक गाड़ी पाकिस्तान की ओर भेजी जा रही थी उसे आपटे उड़वा देना चाहते थे। अग्निक्षेपक (Flame thrower) शस्त्र दिखाने के लिये वे दादा महाराज को बहुत स्थानों पर ले गए। इस प्रकार बहुत-सा विवरण दादा महाराज ने अपने कथन में दिया है।

(मुद्रित अभिलेख भाग १, पृष्ठ १३९-१४२)

दादा महाराज कांग्रेस के सदस्य थे। फिर भी हिन्दुओं को आत्मरक्षा और प्रतिकार के लिए सक्षम बनाने के लिये प्रयत्नशील थे। सुहरावर्दी के नेतृत्व में नोआखाली के हिन्दू-हत्याकांड के पश्चात् हुए सामूहिक भ्रष्टाचार के निराकरण ने लिये दादा महाराज ने वहाँ शुद्धि कार्यक्रम आयोजित किए थे। हैदराबाद के मुक्ति-संग्राम से हिन्दुओं को लाभ होने वाला था, इसलिए उक्त संग्राम में उन्होंने यथासंभव सहयोग दिया था। गांधी जी की मुस्लिम तुष्टीकरण नीति के वे विरोधी थे इस प्रकार की स्वीकारोक्ति भी उन्होंने अपने बयान में दी है। नथूराम और आपटे द्वारा संचालित दैनिक 'हिन्दु-राष्ट्र' के प्रकाशन के लिये वह अक्टूबर, १९४६ में पूना गए थे।

दादा महाराज के बंधु गोस्वामी दीक्षित जी महाराज़ की साक्षी भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। आपटे और दीक्षित जी महाराज में शस्त्रास्त्रों का विनिमय होता रहा है, यह बात उनकी साक्षी से प्रकट होती है। दिनांक २०-८-१९४८ से २४-८-१९४८ तक सम्पन्न हुई उनकी साक्षी का विवरण मुद्रित अभिलेख के पहले भाग के १५७वें पृष्ठ से १७१वें पृष्ठ तक है।

इन प्रमाणों को देखकर यह कहा जा सकता है कि शस्त्रास्त्रों के उक्त विनिमय का गांधीवध से कोई सम्बन्ध नहीं था।

उपरोक्त शस्त्रास्त्र विनिमय से गांधी-वध से सम्बद्ध व्यक्तियों का सम्बन्ध जोड़ने वाला उपरिलिखित विवरण मौखिक था। अभियोग के कार्य प्रचलन में कुछ अधिक सुस्पष्ट प्रमाण भी प्रस्तुत किए गए। श्री गणपत संभाजी खरात की साक्षी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थी। कारण, वे विधान-सभा के सदस्य थे।

इस अभियोग के सन्दर्भ में पुलिस ने विभिन्न स्थानों पर तलाशी ली थी। उस समय श्री खरात के घर की भी तलाशी दिनांक ९-२-१९४८ को ली गई थी। जहाँ बहुत कुछ गोला बारूद प्राप्त हुआ। उसका पंचनामा क्रमांक पी/२१९से पंजीबद्ध है।

(मुद्रित अभिलेख भाग ४, पृष्ठ १४५-४६).

श्री खरात के अनुसार बड़गे तीन-चार सप्ताह पूर्व उनके यहाँ दो थैलियाँ लेकर गया। श्री खरात ने उनमें से एक थैली अपने एक मित्र श्री शेलार को और दूसरी श्री नागमोडे

को दी। तलाशी के समय वे दो थैलियाँ श्री खरात के यहाँ नहीं मिलीं। वे पुलिस को श्री शेलार और श्री नागमोडे के यहाँ लेकर गए जहाँ दोनों थैलियाँ प्राप्त हुईं। उन्हें खोलने पर उनमें विस्फोटक अस्त्र और गोलियाँ प्राप्त हुईं। उस सामग्री का विवरण इस प्रकार है—

दो भरे हुए हैण्डग्रेनेड, फ्यूज वाले दो पैकिट, पिस्तौल जैसे दीखने वाले दो बड़े बैरल जोड़े हुए शस्त्र, उसी प्रकार का एक अन्य शस्त्र, गत्ते के एक बक्से में चौदह कारतूस, पाँच मैग्जीन, प्रत्येक में पाँच कारतूस (चार खाली कारतूस) उन्नीस कारतूसों का एक डिब्बा, विभिन्न आकार वाले अड़सठ कारतूसों का एक डिब्बा, एक सौ अट्ठासी कारतूसों का एक डिब्बा, (चार खाली कारतूस)।

श्री खरात की साक्षी दिनांक २६-८-१९४८ को हुई।

(मुद्रित अभिलेख १, पृष्ठ १७८-७९)

दिनांक २०-९-१९४८ को श्री नामदेव तायप्पा नागमोडे और श्री होनाजी गणपत शेलार की साक्षी हुईं। श्री खरात पुलिस को श्री नागमोडे के यहाँ दिनांक ८-२-१९४८ को ले गए थे। उनके यहाँ हुई तलाशी में प्राप्त वस्तुएँ इस प्रकार थीं—

एक डिब्बा, उस पर चिपके कागज़ पर गन कॉटन वजन, स्लैब्ज पाइल्ड एलबी, मार्क १ नम्बर ४, ड्राईगन कॉटन पौंड ४-०; पानी ०-१३, 'मेन्युफैक्चर्ड सी एफ डेट...१९४२ ग्रॉस वेट पौंड...डेट दिनांक २-१२-१९४२ अंकित थे।' दूसरी ओर सफेद पेंट पर लिखा था—जांच संख्या ७५४४-१९४२।

एक पुड़िया में ३४ बारूदी छड़ें थीं। उनमें से १३ टुकड़ों पर 'पोलर एन एस गेलिग्नाइट' और २१ टुकड़ों पर 'नोबल्स एक्स्पलोज़िव, अल्फ्रेड नोबल, ग्लासगो,' अंकित था।

चार सफेद टुकड़ों पर जिनके बीच में डेढ़ इंच के छिद्र थे, उस पर सी. एफ. ७५४४.७८, ७५४४, १ पौंड १९४२, ४३, १९४२ अंकित था।

साढ़े तीन इंच लम्बे दो कारतूस। २० सफेद रोल, जो १५ गुलाबी गत्ते में बन्द थे। फ्यूज वायर की चार कॉइल्स। ताँबे के रंग की फ्यूज की कॉइल, तीन फ्यूज की कॉइल, एक पैकेट में एक काली फ्यूज वायर, चौदह डिटोनियर, उनमें से नौ बत्ती सहित, पाँच बिना बत्ती के तीन छोटे ताँबे के टुकड़े, एक ताँबे की तार का बंडल। (मुद्रित अभिलेख १, पृष्ठ २४७, २४८, २४९। पंचनामा क्रमांक पी. २५२। मुद्रित अभिलेख भाग ४, पृष्ठ १८९-१९१)

नथूराम जिस कोठरी में रहते थे, उसकी तलाशी दिनांक ३१-१-१९४८ को हुई। उसके पंचनामे का क्रमांक पी-२२२ है। नथूराम के कक्ष में एक पदार्थ मिला वह विस्फोटक था, ऐसा श्री शापूर खुश्रो भावनगरी, इन्स्पेक्टर ऑफ एक्स्प्लोजिव्स् वेस्ट सर्किल बम्बई, ने अपनी दिनांक ४-८-१९४८ की साक्षी में कहा है।

(मुद्रित अभिलेख भाग १, पृष्ठ २७५-७६)

हम अभियुक्त बम्बई पुलिस-कार्यालय में पूछताछ के लिए रखे गए थे। उन दिनों फ्लेम थ्रोअर नामक अस्त्र हमें दिखाया गया था। उस अस्त्र का वर्णन मैंने पहले कभी कहीं

पढ़ा था। इस अस्त्र के द्वारा घनरूप पेट्रोल लक्ष्य पर साधकर फेंका जाता है। आग बनकर फेंके गये उस अस्त्र से पेट्रोल लक्ष्य पर लगते ही इतनी भीषण आग की लपटें निकलती हैं कि उसकी प्रचण्ड ऊष्णता से लोहा तक पिघल जाता है। शत्रु के टैंकों को नष्ट करने वाला वह प्रभावशाली अस्त्र है।

इस प्रकार यह जो शस्त्रास्त्र संग्रह सामने लाया गया, वह एक छोटी-मोटी मुठभेड़ के लिये पर्याप्त था। गांधी-वध जैसे सीमित कार्य के लिये इतने शस्त्रास्त्रों का यह प्रपंच अपने आपमें असम्बद्ध और अस्वाभाविक था, किन्तु अभियोजकों को यह सिद्ध करना अभीष्ट था कि सम्बन्धित व्यक्ति शस्त्रास्त्रों के विनिमय और व्यवसाय में लिप्त थे। उसी सीमा तक इन प्रमाणों का लाभ उन्हें मिल गया। गांधी-वध के लिये यह सब शस्त्रास्त्र संग्रह किया गया था, यह अभिप्राय उनका कभी नहीं था। इस प्रकार उन शस्त्रास्त्रों के व्यवहार के पीछे उन दिनों नथूराम और आपटे का कोई अन्य उद्देश्य रहा होगा, यही तर्कसंगत निष्कर्ष निकलता है। हाल ही में कुछ क्रांतिकारी युवकों ने नगरहवेली को मुक्त कराया है, उसी प्रकार हैदराबाद को प्राप्त करना नथूराम और आपटे को अभीष्ट होगा, अथवा श्रीकृष्णजी महाराज की साक्षी के अनुसार दिल्ली में संभावित पाकिस्तान की प्रथम संविधान सभा को उड़वा देने का उद्देश्य रहा होगा, या फिर पाकिस्तान को भेजी जाने वाली युद्ध- सामग्री के मार्ग में बाधा उपस्थित करने की उनकी योजना रही होगी। कुछ भी हो उस समय यह अनुमान लगाया जा सकता है कि गांधी-वध की रूपरेखा उनकी कल्पना में नहीं थी।

दिनांक १५-१-१८४८ को षड्यन्त्र अस्तित्व में था, ऐसा आभास देने वाला एक प्रमाण सामने आया। वह है, श्री दीक्षित जी महाराज की साक्षी।' दिनांक १५-१-१९४९ को आपटे, बड़गे, मदनलाल, नथूराम और करकरे मेरे पास आए थे', ऐसा उन्होंने कहा। षड्यन्त्र के अभियुक्त के रूप में जिन-जिन व्यक्तियों पर अभियोग चलाया गया उनमें ये पाँचों व्यक्ति सम्मिलित थे।

दीक्षित जी महाराज कहते हैं, 'मैं बाहर गया हुआ था...पच्चीस, तीस मिनट पश्चात् लौटा तो बड़गे अपने थैले में से कुछ वस्तुएँ अन्य साथियों को दिखा रहा था। वे लोग परस्पर धीरे-धीरे बोल रहे थे जिसे मैं सुन न सका। मेरी दृष्टि जिन वस्तुओं पर पड़ी वे थीं दो सफेद ईटें और दो हैण्डग्रेनेड। हैण्डग्रेनेड का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए, यह बड़गे बता रहा था। मेरे विचार से यह गलत था। मैंने उन्हें सही तरीका बताया। तत्पश्चात् वे वस्तुएं थैले में रख दी गईं। वे लोग जाने लगे। बड़गे और आपटे पीछे रह गये थे। मैंने उनसे मेरे यहाँ आकर उन वस्तुओं का प्रदर्शन करने का कारण पूछा। उस समय तक मेरा उनका सम्बन्ध हैदराबाद मुक्ति-अभियान तक ही सीमित था। मैंने सोचा कि उनका यह उपक्रम भी उसी सम्बन्ध में होगा; इसलिये मैंने उनसे उनके आने का कारण पूछा। उन्होंने बताया कि वे एक महत्त्वपूर्ण कार्य के लिये जा रहे हैं और उन्हें एक पिस्तौल या रिवाल्वर चाहिए। मैंने उनसे उस महत्त्वपूर्ण कार्य के विषय में पूछा और कहा कि उस कार्य के विषय में जान लेने पर मैं उन्हें पिस्तौल अथवा रिवाल्वर देने पर विचार करूँगा, ...दोनों ने अपने

कार्य के सम्बन्ध में—बतलाना स्वीकार नहीं किया। जब वे जाने लगे तो मैंने बड़गे को रोका। बड़गे ने थोड़े समय में लौटकर आने का संकेत किया और वे दोनों चले गये। पंद्रह, बीस मिनट पश्चात् जब बड़गे आया तो मैंने उससे उस कार्य के सम्बन्ध में पूछा—बड़गे ने फिर आने और उस कार्य के विषय में बताने का आश्वासन दिया...।'

(मुद्रित अभिलेख भाग १, पृष्ठ १५८-१५९)

साक्षियों की असंगति और अप्रामाणिकता देखने से तो स्पष्ट है कि उस समय बड़गे को वह 'महत्त्वपूर्ण' कार्य ज्ञात नहीं था। बड़गे के अनुसार, 'दीक्षित जी महाराज के घर से हम तीनों (आपटे, नथूराम, बड़गे) आंगन में आए, वहाँ आपटे ने मुझसे उनके साथ दिल्ली जाने के सम्बन्ध में पूछा।' और बड़गे के दिल्ली जाने का कारण पूछने पर उसे गांधी-वध की योजना ज्ञात हुई। (मुद्रित अभिलेख भाग १, पृष्ठ ८४)। यह असंगति छोड़ दी जाए तो दिनांक पन्द्रह को वह षड्यन्त्र में शामिल हुआ,ऐसा माना जा सकता है, क्योंकि उसके अनुसार वह दिल्ली गया था।

डॉ० जगदीशचन्द्र जैन का अपने ब्यान में यह कहना है कि मदनलाल ने उन्हें गांधी-वध का पूर्वाभास दिया था, किन्तु समय के सम्बन्ध में वे बहुत ही अस्पष्ट थे। वे कहते हैं कि जनवरी के पहले सप्ताह के अन्तिम दिनों के आसपास मदनलाल उनसे मिला था। दो-तीन दिन पश्चात् वह फिर उनसे मिला तब उसने उक्त सूचना डा० जैन को दी थी। इस सूचना के दो दिन पश्चात् वह फिर उनसे मिला और इसके पश्चात् एक-दो दिन के बाद जब वह अन्तिम बार मिला तो वह दिल्ली जाने की सिद्धता में था। दिल्ली से लौटकर मदनलाल ने फिर उनसे मिलने की बात कही, ऐसा डॉ० जैन का कहना है।

(मुद्रित अभिलेख भाग १, पृष्ठ १३१-३२)

हम एक बड़े नेता को मारने वाले हैं, ऐसा संकेत मदनलाल ने जिस दिन डॉ० जैन को दिया उस दिन श्री अंगदसिंह नामक एक सज्जन भी वहाँ उपस्थित थे, किन्तु ठीक उसी समय वहाँ से चले गए थे, ऐसा डा. जैन ने कहा है। इन श्री अंगदसिंह की साक्षी दिनांक १३-८-१९४८ से १६-८-१९४८ तक हुई। दिनांक और दिन के सम्बन्ध में वे भी निश्चित नहीं थे। उनके अनुमान के अनुसार वह दिन १० जनवरी का भी हो सकता है और ११ का भी। या तो वह शनिवार था या रविवार। (मुद्रित अभिलेख भाग १, पृष्ठ १४७)। डॉ० जैन के साथ श्री अंगदसिंह का जो संभाषण तत्पश्चात् हुआ होगा, उसका कोई लिखित प्रमाण श्री अंगदसिंह ने नहीं रखा था।

श्री मोरार जी देसाई से डॉ० जैन की भेंट दिनांक २१-१-१८४८ को हुई थी। मोरार जी भाई की साक्षी के अनुसार, प्रा. जैन से उनकी बातचीत में जहाँ तक उन्हें स्मरण है, अंगदसिंह का उल्लेख नहीं आया था। (So far as I remember, Professor jain while he was narrating his story to us, had referred to no Angad Singh)। (मुद्रित अभिलेख ग्रंथ १, पृष्ठ १६९)। उसके पश्चात् डॉ० जैन की श्री मुरार जी से भेंट दिनांक २४-१-४८ को हुई थी। और उसके पश्चात् ३ और ४ फरवरी, १९४८ को हुई थी। (श्री मोरार जी की साक्षी अभिलेख ग्रन्थ पृष्ठ १६७)। परन्तु डॉ० जैन के कथनानुसार, उन्होंने

दिनांक २१-१-१९४८ से १७-२-१९४८ तक प्रकरण से सम्बन्धित अपने निवेदन का लेख बनाकर किसी को भी नहीं दिया था। (I did not give the facts of the case to any one in writing between the period from 21st January, 1948 till 17th February, 1948)

[मुद्रित अभिलेख ग्रन्थ १, पृष्ठ १३३]

श्री मोरारजी की साक्षी के अनुसार—'बम विस्फोट की घटना के तीन-चार दिन पूर्व मदनलाल दिल्ली के लिये चल पड़ा था, ऐसा उन्होंने (डॉ० जैन ने) बताया। श्री जैन ने ठीक कितने दिन कहे थे उसके सम्बन्ध में मुझे निश्चित स्मरण नहीं। मदनलाल और उसके मित्रों ने एक बड़े नेता को मारने का निश्चय किया है, ऐसा मदनलाल ने दिल्ली जाने के पूर्व मुझसे कहा था, ऐसा डा० जैन ने कहा।' (मुद्रित अभिलेख भाग १, पृष्ठ १६६)

डॉ० जैन का वक्तव्य दिनांक १७-२-१९४८ तक लिपिबद्ध नहीं हुआ था। जो लिपिबद्ध नहीं हुआ उसमें आगे-पीछे किंचित परिवर्तन की संभावना रहती है। किसी एक सत्य प्रतीत होते सूत्र में, जिस पर पूरी घटना आधारित है, सोच समझकर या बिना सोचे परिवर्तन किया जा सकता है। इस परिवर्तन के पीछे कोई उद्देश्य रहे ऐसा भी आवश्यक नहीं। कदाचित् इस प्रकार के हेर-फेर के परिणामों का परिवर्तनकर्ता के लिये कोई महत्त्व भी नहीं होता।

प्रमाणों के अनुसार दिनांक १५ की रात को मदनलाल और करकरे ने दिल्ली के लिये प्रस्थान किया और १७ की प्रातःकाल दिल्ली पहुँचे। मदनलाल और श्री जैन की उपरोक्त चर्चित भेंट इस प्रकार चौदह या पन्द्रह जनवरी को ही संभव हो सकती थी। श्री जैन आदि की साक्षी के आधार पर इतना कहा जा सकता है कि दिल्ली जाने के पूर्व मदनलाल षड्यन्त्र का एक अंग था, परन्तु दिनांक के बारे में कोई भी निश्चित रूप से नहीं कह सकता, अतः किसी निश्चित वक्तव्य के अभाव में षड्यन्त्र की तिथि के अनुसंधान का उद्देश्य पूरा नहीं होता।

दिनांक १३-१-१९४८ और १४-१-१९४८ को नथूराम ने अपनी दो बीमा पॉलिसियों का उत्तराधिकार सौ० चम्पूताई आपटे (नाना आपटे की पत्नी) और सौ० सिन्धु गोडसे (गोपाल गोडसे की पत्नी) के नाम किया। ऐसी साक्षी ओरिएन्टल गवर्नमेन्ट सिक्योरिटी लाइफ-इन्श्योरेंस कम्पनी की ओर से दिनांक १०-८-१८४८ को हुई।

(मुद्रित अभिलेख भाग १, पृष्ठ १४४-१४५)

बीमा के लिए उत्तराधिकारी की नियुक्ति दैनिक जीवन की एक सामान्य घटना है। सामान्यतया व्यक्ति के जीवन की स्थिरता या अस्थिरता की दृष्टि से उत्तराधिकार-पत्र लिखने के कुछ नियम होते हैं। वृद्धावस्था होने पर, रोगग्रस्त होने पर, अंग-भंग होने पर, किसी दूरस्थ देश की यात्रा के पूर्व, किसी संकटापन्न कार्य के प्रारंभ करने पर अथवा युद्ध-क्षेत्र में जाने पर संभावित मृत्यु की अवस्था में बीमा के रुपये प्राप्त करने में स्वजनों को कोई कठिनाई न हो, इस उद्देश्य से उत्तराधिकार-पत्र लिखे जाते हैं। उपरोक्त स्थितियों के अतिरिक्त भी यदि कोई उत्तराधिकार-पत्र लिखता है तो कोई 'टैक्नीकल' आपत्ति नहीं होती। क्योंकि किसी की मृत्यु कब होगी, यह कोई नहीं कह सकता। इसलिए बीमा की

योजना के साथ ही उत्तराधिकार-पत्र की भी सुविधा संलग्न रहती है। उत्तराधिकार-पत्र लिखना क्या विधि विरुद्ध है? किन्तु अभियोजकों को नथूराम द्वारा निर्दिष्ट उत्तराधिकार महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुआ, केवल आगे घटी घटनाओं के कारण।

अभियोक्ता के अनुसार नथूराम द्वारा निर्दिष्ट उत्तराधिकार के महत्त्वपूर्ण होने के निम्न कारण हैं—

दिनांक १३ और १४ जनवरी, १९४८ के दो दिनों में नथूराम के मन ने कुछ निर्णय निश्चित किए थे। उत्तराधिकार-पत्र के दिनांक इस वस्तुस्थिति के परिचायक थे, यह अभियोजक न्यायालय को दर्शाना चाहते थे।

अधिकार-पत्र की परिभाषा इस प्रकार थी (बीमा पत्र क्रमांक ११६६१०२; राशि रुपये ३०००-००)।

'यदि मेरी मृत्यु हो जाए तो इस बीमे के रुपये मेरे मित्र की पत्नी सौ० चम्पूताई नारायण आपटे, २२, बुधवार पेठ, पूना, आयु ३२ वर्ष को दिये जाएँ। यह उत्तराधिकार-पत्र मैं, नथूराम विनायक गोडसे, इस स्थान पर...करता हूँ। पूना दिनांक १३ जनवरी, १९४८, हस्ताक्षर : न. वि. गोडसे।'

(बीमा पत्र क्रमांक ११६६१०१. राशि रुपये ३०००-००) "......इस बीमा के रुपये मेरे छोटे भाई की पत्नी सौ० सिन्धुताई गोपाल गोडसे, आयु २५ वर्ष, को दिये जाएँ....पूना दिनांक १४ जनवरी, १९४८।'

('I, Nathuram Vinayak Godse, hereby nominate my friends's wife Mrs. Champutai Narayan Apte, 22, Budhwar Peth, poona, aged 32 years, to be the person to whom the moneys secured by the within Policy shall be paid in the event of my death. Dated at Poona the 13th day of January, 1948.

Sd/- (N.V. Godse).

('I hereby nominate my younger brother's wife Mrs. Sindhutai Gopal Godse......Dated Poona the 14th day of January 1948. Sd/- (N.V. Godse)'.

मुद्रित अभिलेख-प्रमाण क्रमांक पी. १२९, पी. १२८, भाग ४, पृष्ठ ८३ और ७९।

अपने मन में किए गए निश्चय के अनुसार नथूराम को अपनी मृत्यु सन्निकट दिखाई देती थी; यह इस साक्ष्य से प्रकट होता है। क्योंकि बीमा में उत्तराधिकार की सामान्य अवस्थाओं के अनुरूप नथूराम की अवस्था न थी।

नथूराम ने यह उत्तराधिकार आपटे और गोपाल के नाम नहीं, प्रत्युत उनकी पत्नियों के नाम पर किये अर्थात् अपने निश्चय के फलस्वरूप आपटे और गोपाल के जीवन पर भी संकट की संभावना इन्हें थी। यह सब न्यायालय के समक्ष प्रदर्शित करना अभियोजकों को अभीष्ट था।

षड्यन्त्र का अर्थ है एक से अधिक अर्थात् दो या उनसे अधिक व्यक्तियों के द्वारा किसी अवैध कार्य के लिये योजनाबद्ध रूपरेखा का निर्माण करना और उसके अनुसार कार्यवाही करना (भारतीय दण्ड विधान धारा १२०'क')। किन्तु यदि नथूराम अथवा किसी अन्य एक व्यक्ति के मन में कोई विचार उत्पन्न हो और वह स्वयं तभी संभावित परिणामों

का उत्तरदायी बन कर उसके क्रियान्वयन के लिये कोई दुस्साहसिक किंवा अवैध कार्य कर डाले तो उसे षड्यन्त्र की संज्ञा नहीं दी जा सकती। किसी के नाम किसी अपराधी ने उत्तराधिकार-पत्र लिख दिया, केवल इसी आधार पर वे व्यक्ति अपराधी नहीं माने जा सकते, जिनका उत्तराधिकारी से कोई सम्बन्ध है। परन्तु इस अभियोग में गोपाल गोडसे के विरुद्ध १४-१-१९४८ से सम्बन्धित यह प्रमाण प्रस्तुत किया गया।

भारतीय सेना की खड़की परिवहन सामग्रीशाला (मोटर ट्रान्सपोर्ट स्टोर सब डिपो) में गोपाल गोडसे (लेखक स्वयं) उस समय सामग्री आवेक्षक (स्टोरकीपर) के रूप में कार्य करता था। संयोग से दिनांक १४-१-१९४८ को गोपाल ने एक आवेदन द्वारा अधिकारियों से दिनांक १५-१-१९४८ से २१-१-१९४८ तक की एक सप्ताह की छुट्टी माँगी थी। (प्रमाण क्रमांक पी. १३२, मुद्रित अभिलेख भाग ४, पृष्ठ ८६)। किन्तु दिनांक १६-१-१९४८ को उसे परामर्शदात्री समिति (Advisory Board) के समक्ष प्रस्तुत होना था, इसलिये उसकी छुट्टी दिनांक १७-१-१९४८ से स्वीकार की गई। इस प्रमाण को प्रस्तुत करते समय अभियोजकों का ध्यान गोपाल द्वारा प्रस्तुत आवेदन के दिनांक १४-१-१९४८ पर केन्द्रित था, क्योंकि नथूराम ने गोपाल की पत्नी के नाम उत्तराधिकार-पत्र दिनांक १४-१-१९४८ को लिखा और उधर गोपाल ने उसी दिनांक १४-१-१९४८ से एक सप्ताह की छुट्टी के लिये आवेदन दिया था, इसलिए इन दोनों घटनाओं का समान दिनांक के कारण सम्बन्ध जोड़कर गोपाल गोडसे को दिनांक १४-१-१९४८ को परिकल्पित षड्यन्त्र का एक घटक मान लिया गया। आपटे के सम्बन्ध में भी यही तर्क प्रस्तुत किया गया। नथूराम और आपटे दिनांक १४-१-१९४८ को दोपहर ३.३० की ट्रेन द्वारा पूना से बम्बई गए थे, ऐसा दिनांक ३-८-१९४८ को हुई एक साक्षी में कहा गया है। (मुद्रित अभिलेख भाग १, पृष्ठ १२३-१२४)। आपटे की पत्नी के नाम नथूराम के दिनांक १३-१-१९४८ को लिखे गए उत्तराधिकार-पत्र का, तथा आपटे का नथूराम के साथ दिनांक १४-१-१९४८ को पूना से बम्बई-यात्रा का सम्बन्ध जोड़कर आपटे की बाद की गतिविधियों को लक्ष्य करके तेरह या चौदह जनवरी को परिकल्पित षड्यन्त्र में आपटे को लिप्त करना अभियोजकों को अभीष्ट था।

इस प्रकार दिनांक १३-१-१९४८ और १४-१-१९४८ के दिन अभियोजकों की दृष्टि में अत्यन्त महत्त्व के हैं। दिनांक १३-१-१९४८ को नथूराम ने पहला उत्तराधिकार-पत्र लिखा। क्या उसी दिन उन्होंने मन में कुछ निश्चय किया होगा? इसका समाधान करने के लिए भारतीय राजनीति पर प्रभाव डालने वाली उन दो-तीन दिनों में राजधानी दिल्ली में घटी घटनाओं पर ध्यान देना आवश्यक है।

सरदार वल्लभभाई पटेल उस समय भारत के उप-प्रधानमंत्री थे। पाकिस्तान और हिन्दुस्थान के अनेक विवादास्पद एवं ज्वलन्त प्रश्नों पर गत कुछ महीनों से उच्च-स्तर पर वार्त्तालाप चल रहा था। हिन्दुस्तान के विभाजन के समय पाकिस्तान के भागांश के पचपन करोड़ रुपये उसे देने का प्रश्न भी चर्चा और समझौते का एक मुख्य विषय था।

यों इस प्रश्न पर विवाद का वास्तव में कोई कारण नहीं था। भारत ने विभाजन के समय

पाकिस्तान वाले प्रदेशों पर जो ऋण था उसे चुकाना और चार वर्षों के पश्चात् पाकिस्तान की सुविधानुसार यह राशि उससे उदारतापूर्वक पुनः प्राप्त करना, स्वीकार किया था। इसलिये पाकिस्तान के भागांश का धन भारत हड़प लेगा, यह कल्पना भी मूर्खता की बात थी। किन्तु प्रश्न यहीं तक सीमित नहीं था। पकिस्तान द्वारा कश्मीर पर कबाइलियों से करवाए गए आक्रमण तथा उक्त आक्रमण को प्राप्त पाकिस्तान के प्रत्यक्ष समर्थन से उत्पन्न विस्फोटक स्थिति का पचपन करोड़ रुपयों के प्रदान से घनिष्ट सम्बन्ध था। सरदार पटेल ने दिनांक १२-१-१९४८ को पत्रकारों के बीच जो वक्तव्य दिया था, उससे हिन्दुस्थान की भूमिका अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में व्यक्त हुई है।

उन्होंने कहा—कश्मीर पर आक्रमण के प्रतिरोध की प्रक्रिया के रूप में इस सन्धि की (आर्थिक व्यवहार की) कार्यवाही को अभी स्थगित करके हमने न्यायोचित कार्य किया है। हम इन सन्धि के प्रति निष्ठावान हैं, वचनबद्ध हैं, यह हमने पाकिस्तान शासन को एक बार नहीं, अनेक बार कहा है, किन्तु इस संधि में रुपया देने की निश्चित अवधि जैसा कोई बन्धन हमारे ऊपर नहीं है। पाकिस्तान ने अपनी सेना की सहायता से हमसे सशस्त्र संघर्ष छेड़ रखा है और उसके और अधिक विस्तार की भयानक संभावना है। ऐसी अवस्था में संधि का दुरुपयोग संभव है। ऋण के उत्तरदायित्व को स्वीकार करना, और सम्पत्ति का बँटवारा करना जैसे सन्धि में समाविष्ट अनुबन्धों पर भी उसका विपरीत परिणाम होगा। उस दशा में पाकिस्तान किसी भी प्रकार से सन्धि की शेष राशि प्राप्त करने के लिये अपनी माँग न्याय-संगत रूप से प्रस्तुत नहीं कर सकेगा।

(Indian Information dated 2-2-1948)

(We were therefore fully justified in providing against aggressive actions in regard to Kashmir by postponing the implementation of the agreement. We have made it clear to the Pakistan Government more than once that we stand by the agreement which we reached. The agreement does not bind the Government of India to any fixed date for payment and we cannot reasonably be asked to make a payment of cash balances to Pakistan when an armed conflict with its forces is in progress and threatens to assume even a more dangerous character, which would be likely to destroy the whole basis of the financial agreement and would endanger other parts of the agreement, such as agreements for taking over of debt, division of stores, etc.)'

सरदार पटेल ने यह भी कहा—'कश्मीर के प्रश्न का निर्णय हुए बिना हम कोई रुपया देना स्वीकार नहीं करेंगे, ऐसा मैंने उस समय स्पष्ट किया था।' (I had made it quite clear then that we would not agree to any payment until the Kashmir affair was settled.)

तत्कालीन अर्थमंत्री श्री षण्मुखम् चेट्टी ने अपनी क्षमता पर विचार करके भारत की ओर से पाकिस्तान को उत्तर दिया—'सभी प्रश्नों के समाधान होने के पूर्व अपने न्यायपूर्ण मार्ग से, पड़ोसी राष्ट्र के उत्तरदायी मंत्रियों की दादागिरी या मिथ्या प्रचार से डरकर हम विचलित नहीं होंगे।' (Indian Information dated 2-2-1948)

(...Meanwhile we will not be deterred from what we consider to be the right path by a campain of hectoring, bullying and scandalising on the part of responsible Ministers of a neighbouring country.)

आग बुझाने के दो मार्ग हैं। एक है आग पर पानी डालना और दूसरा है आग को फैलाने वाली वस्तुओं को आग तक न पहुँचने देना। कश्मीर पर आक्रमण के समय हमारी सेनाएँ आक्रमणकारियों को रोकने और उन्हें निष्प्रभ करने के लिये प्राणपण से जुटी हुई थीं। भारत शासन द्वारा पाकिस्तान को दी जाने वाली धनराशि को रोक लेने की नीति युद्ध की अग्नि तक ईंधन को पहुँचने से रोकने की दूरदर्शितापूर्ण योजना से प्रेरित थी। गतवर्ष पाकिस्तान के द्वारा कश्मीर पर हुए आक्रमण को विफल करने के लिये स्व० शास्त्री के प्रधानमंत्रित्व की छाया में भारतीय सेना द्वारा लाहौर तक पहुँचने की घटना जैसी समयोचित और अभिनन्दनीय थी, उतना ही गौरवपूर्ण भारतीय शासन का यह निर्णय था। रक्तपात को तत्काल रोकने का, शांति स्थापित करने का, वह एक दूरदर्शी उपाय था। कश्मीर पर आक्रमण की गंभीर वस्तुस्थिति के अनन्तर भारत द्वारा पाकिस्तान के भागांश की धनराशि दे देने जैसा सद्भाव और औदार्य दिखाए जाने पर पाकिस्तान का हृदय परिवर्तन हो जाएगा और वह आक्रमण को लौटा लेगा यह मानने को भारत शासन सिद्ध नहीं था। पूर्व अनुभवों में उसके हाथ जल ही चुके थे, इसलिए प्राणों को संकट में डालकर विष की पुन: परीक्षा करने की उसकी इच्छा नहीं थी।

गांधी जी उन दिनों दिल्ली में ही थे। शासन के उत्तरदायी नेता और उनकी भेंट होती रहती थीं। राजकीय विषयों पर भी चर्चा होती थी। भारतीय शासन का यह निर्णय गांधी जी को नहीं जँचा। भारत द्वारा पाकिस्तान को इस प्रकार घेरा जाना गांधी जी को अहिंसा के आदर्शों के विपरीत प्रतीत हुआ। शासन यह निर्णय पलटने के लिये बाध्य होवे, ऐसे प्रयत्न उन्होंने किये, परन्तु वे सफल नहीं हो सके। गांधी जी के दिनांक १२-१-१९४८ के प्रार्थना-प्रवचन से ऐसा आभास मिलता है। वे कहते हैं—

'........मगर ऐसा मौका भी आता है जब अहिंसा का पुजारी समाज के किसी अन्याय के सामने विरोध प्रकट करने के लिये उपवास करने पर मजबूर हो जाता है। वह ऐसा तभी करता है जब अहिंसा के पुजारी की हैसियत से उसके सामने दूसरा कोई रास्ता खुला नहीं रह जाता। ऐसा मौका मेरे लिये आ गया है।' (दिल्ली डायरी, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद पृष्ठ ३४४)

गांधी जी की इस मनोदशा का मूल कारण सरदार वल्लभभाई पटेल की पचपन करोड़ रुपये सम्बन्धी दृढ़ता ही थी। किन्तु गांधी जी के उपवास का निर्णय सरदार पटेल को भाया नहीं और वे दिल्ली छोड़कर बम्बई चले गए। इस तथ्य की पुष्टि मौलाना अबुल कलाम आजाद ने अपनी पुस्तक में की है।

प्रार्थना-सभा में व्यक्त किए गए विचारों के अनुसार दूसरे दिन से गांधी जी ने अपना दुर्भाग्यपूर्ण अनशन प्रारंभ कर दिया। गांधी जी का यह अनशन पाकिस्तान को पचपन करोड़ रुपये न देने के भारत-सरकार के निर्णय के विरुद्ध था। इन दोनों घटनाओं में सम्बन्ध

दिखाना राजनीति के विद्यार्थियों के लिए कठिन नहीं है। गांधी जी के उन दिनों के वक्तव्य जनता की आँखों के सामने थे। हिन्दुस्तान के हितों की हत्या करके भी नवनिर्मित राष्ट्र पाकिस्तान के सुख-साधन के लिए उनकी आतुरता से जनता परिचित होती जा रही थी। हिन्दू राष्ट्र का सिद्धान्त उनकी दृष्टि में साम्प्रदायिक था, किन्तु इसके विपरीत मुस्लिम सम्प्रदाय का साम्प्रदायिक राष्ट्र हिन्दुस्तान में ही स्थापित हो चुका था। गांधी जी की मान्यता थी कि उस मुस्लिम राष्ट्र के विस्तार-पथ में यदि राजनैतिक कार्यवाही के रूप में भी हमने कोई बाधा उपस्थित की तो हम संसार की दृष्टि में असाम्प्रदायिक धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त से च्युत हो जाएँगे। व्यावहारिक रूप में यदि शासन मेरी बात नहीं मानता तो अपने प्राणों की प्रतिष्ठा दाँव पर लगाकर मैं उसे अपनी बात मनवाने पर विवश कर दूँगा, इसी अभिप्राय से गांधी जी ने अनशन का मार्ग अपनाया है, ऐसा अनुमान करना राजनीति के विद्वानों के लिए कठिन न था।

गांधी जी के अनशन के सन्दर्भ में भारत शासन ने एक विज्ञप्ति प्रकाशित की। गांधी जी के अनशन का ऊपरलिखित अर्थ लगाने वालों का अनुमान युक्ति-युक्त था, यह इस विज्ञप्ति से स्पष्ट हो गया था। विज्ञप्ति इस प्रकार थी—

'गांधी जी ने देश से जो आह्वान (Appeal) किया है उसके अनुसार हिन्दुस्थान और पाकिस्तान, दोनों देशों के बीच सन्देह और संघर्ष के एक कारण को दूर करने का भारत शासन ने निश्चय किया है। राष्ट्रीय सम्मान और राष्ट्रीय-हित की दृष्टि से ऐसा करना शासन को उचित प्रतीत होता है और यह शासन के अधिकार क्षेत्र में भी है।'

'इस उत्स्फूर्त भावना की पृष्ठभूमि में शासन का यह उद्देश्य है कि इस कार्य की सद्भावना को समझा जाए और परस्पर प्रेम सम्बन्धों का वातावरण निर्मित हो। इस स्नेह सम्बन्ध के लिए आज गांधी जी यज्ञवेदी पर अपनी देह को होम रहे हैं। इस सद्भावना से उनका अनशन समाप्त हो और देश को उनकी अमूल्य सेवाओं का प्रतिदान देने का अवसर मिले।'

'भारत शासन ने शेष राशि के भुगतान की कार्यवाही तुरन्त करने का निर्णय किया है।'

'शासन का यह निर्णय देश की देदीप्यमान परम्परा के अनुसार शान्ति और सद्भावना की रक्षा के लिए गांधी जी के अहिंसक और उदात्त प्रयत्नों को विनम्र भेंट है।'

(Indian Information dated 2-2-1948)

('In view of the appeal made by Gandhiji to the nation, the Government have decided to remove the one cause of suspicion and friction between the two states which, consistently with national honour and interest, it is in their power to remove.'

'They make this spontaneous gesture in the earnest hope that it will be appreciated in the spirit in which it is made and that it will help in producing an atmosphere of goodwill for which Gandhiji is suffering crucification of the flesh and thereby lead this great servant of the nation to end his fast and add still further to his unparalleled services to India.'

'The Government have decided to implement Immediately the financial agreement with Pakistan in regard to the cash balances.'

'This decision is the Government's contribution, to the best of their ability, to the non-violent and noble effort made by Gandhiji, in accordance with the glorious traditions of this great country, for peace and goodwill.')

प्रधानमंत्री द्वारा दिए गए बयान में भी कहा गया है कि भारत सरकार ने ध्यानपूर्वक विचार करने और गांधी जी से बातचीत करने के पश्चात् यह निर्णय किया है।

(Indian Information dated 2-2-1948)

(The Government's decision in regard to payment of the cash balances to Pakistan has been taken after the most careful thought and after consulation with Gandhiji.)

किन्तु भारत की सद्‌भावना से ओत-प्रोत यह प्रेम-प्रवाह भी पाकिस्तान का हृदय सिक्त नहीं कर सका। उसने आक्रमण नहीं रोका। अन्य सीमाओं पर भी अतिक्रमण करके भारत को त्रस्त करना नहीं छोड़ा। पाकिस्तान से शेष हिन्दुओं को भगाने का क्रम पूर्ववत था, यह सब इतिवृत्त पाठकों को ज्ञात ही है। यहाँ केवल दिनांक १३-१-१९४८ का महत्त्व ही चर्चा का विषय है।

नथूराम और आपटे दैनिक 'हिन्दुराष्ट्र' का संचालन करते थे। पूर्व प्रकाशित अग्रणी ही 'हिन्दुराष्ट्र' में रूपान्तरित किया गया था। साम्प्रदायिकता के आधार पर भारत में मुस्लिमराष्ट्र के निर्माण की संभावना के साथ-साथ, 'हिन्दूराष्ट्र' के सम्पादकीय लेख उत्तरोत्तर अधिक प्रखर और उग्र होते गए। अनेक सम्पादकीय लेखों को अभियोजकों ने न्यायालय में प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है। (मुद्रित अभिलेख, भाग ४ पृष्ठ ९२ से १२३)। इसके साथ तीन हजार रुपये की प्रतिभूति राशि भी जब्त कर ली गई।

इस समाचार-पत्र से अनेक बार प्रतिभूति माँगी गई थी। पाकिस्तान प्रत्यक्ष मुस्लिम-राष्ट्र है इसलिये वहाँ हिन्दुओं की प्रताड़ना स्वाभाविक है, किन्तु भारत में मुस्लिम अनुनय का विरोध करने वाले हिन्दुत्व निष्ठों का दमन हो रहा है और यह सब गांधी जी की एक पक्षीय विशिष्ट नीति के कारण हो रहा है, ऐसी भावना 'हिन्दुराष्ट्र' के अनेक सम्पादकीय लेखों में ध्वनित होती थी। गांधी जी के विरुद्ध 'हिन्दुराष्ट्र' के संचालकों की भावनाएँ दिन-प्रतिदिन तीव्र होती जा रही थी। उनका मत था कि गांधी जी को राजनीति से निवृत्त हो जाना चाहिये। नथूराम और आपटे शस्त्रास्त्रों के व्यवहार में लिप्त थे, तथापि उनके इन लेखों से गांधी जी के वध के उद्देश्य की कोई कार्रवाई उनके द्वारा होती दिखाई नहीं देती।

गांधी जी के अनशन का समाचार दिनांक १२ को दूर-मुद्रक (टेलीप्रिन्टर) पर पढ़ने पर संभवत: नथूराम और आपटे ने अनुमान लगा लिया होगा कि गांधी जी का यह अनशन भारत शासन के ५५ करोड़ रुपये सम्बन्धी निर्णय को परिवर्तित कराने के उद्देश्य से ही हो रहा है। उस समय तक गांधी जी के प्रति उनकी भावनाओं में कटुता चर्मोत्कर्ष पर पहुँच चुकी होगी।

यहाँ एक-दो बातें स्पष्ट करना आवश्यक है। मुझ पर षड्यन्त्र के एक सदस्य के रूप

में आरोप लगाया गया था। वह प्रमाणित भी हुआ और उसके कारण मुझे दण्डित किया गया। इसलिये कोई भी यही मानेगा कि षड्यन्त्र की सूक्ष्मातिसूक्ष्म जानकारी मुझे अवश्य होगी, किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। हम सब अभियुक्त न्यायालयाधीन होकर लाल कोट के बन्दीगृह में रखे गए थे। वहाँ हम स्वतन्त्रतापूर्वक परस्पर बातचीत किया करते थे। उस वार्त्तालाप में अनेक अज्ञात तथ्य ज्ञात होते रहते थे। षड्यन्त्र कब रचा गया वह निश्चित रूप से ज्ञात न होने पर भी प्रमाणों के आधार पर तर्क करने में कोई बाधा नहीं थी। दूसरी बात यह कि राजनैतिक षड्यन्त्रों में अनेक घटनाएँ बाद में भी अन्धेरे में ही रहती हैं।

स्वातन्त्र्यवीर सावरकर ने इतिहास के बारे में कहा है—'इतिहास का प्रथम पृष्ठ कभी देखने को नहीं मिलता। उसका आरंभ प्राय: दूसरे पृष्ठ से ही होता है।'

किसी भी राजनैतिक षड्यन्त्र के इतिहास के बीच के पृष्ठ लुप्त हो जाते हैं और उनका प्रकाश में आना कभी भी संभव नहीं होता। १९६४ के नवम्बर में वर्धा में मैंने सरदार भगतसिंह के सम्बन्ध में एक चलचित्र देखा था। प्राय: ऊपरी सामान्य घटनाएँ हमें स्मरण रहती हैं और अधूरी कथावस्तु को आधार प्रदान करने के लिये काल्पनिक अनुमान का आश्रय लेना पड़ता है। और उस प्रक्रिया में हम वस्तुस्थिति से पर्याप्त दूर तक चले जाते हैं, इसका आभास मुझे उस चित्र को देखते समय बार-बार होता था। Facts are at times stranger than fictions अर्थात् बहुधा वास्तविक घटनाएं कथा-साहित्य से भी विचित्र हुआ करती हैं, इस अंग्रेजी कहावत का मैंने अनुभव किया।

'Nine hours to Rama' नामक अमेरिकन उपन्यास में यही हुआ है। इसका कारण यह लगता है कि षड्यन्त्र के निमित्त षड्यन्त्रकारियों और अन्य अनेक व्यक्तियों के परस्पर सम्बन्धों के विषय में कोई भी रहस्योद्घाटन मृत्युपर्यन्त दोनों ओर से नहीं होगा, ऐसा परस्पर विश्वास रहा होगा। यह लिखते समय मुझे प्राय: पश्चात्ताप होता है कि यदि किन्हीं सन्दर्भों में कुछ सूत्र मैं नथूराम या आपटे से पूछ लेता तो आज उनके विषय में बहुत कुछ लिखा जा सकता था; किन्तु उनके द्वारा गोपनीय रखे गये तथ्य उनके साथ जो गए सो सदा के लिए चले ही गए।

शस्त्रास्त्रों के संग्रहण करने वाले नथूराम और आपटे की दृष्टि में और भी कई योजनाएँ आई होंगी ऐसा प्रमाण में प्रस्तुत किए गए शस्त्र-संग्रहण से ही दिखाई देता है, किन्तु स्यात् किसी निश्चित योजना के कार्यान्वयन की स्थिति तक वे नहीं पहुँचे होंगे इसलिये अपने जीवन के सम्बन्ध में सामान्यतया निश्चिंतता की स्थिति उस समय तक उनकी थी। दिनांक १३ के प्रमाण से ही ऐसा प्रतीत होता है कि वैसी निश्चिंतता उसके अनंतर नथूराम के मन में नहीं रही।

अपने प्रतिदिन के व्यवहार में हम अनुभव करते हैं कि किसी विशिष्ट कार्य के लिये रखी हुई राशि अनेक बार सहसा प्रस्तुत हुए किसी अन्य आवश्यक कार्य में व्यय करनी पड़ती है। उदाहरणार्थ, किराये के लिये अथवा ऋणदाता को चुकाने के लिए रखे गए पैसे अथवा पैसों का एक बड़ा भाग दुर्घटना में अपने क्षतिग्रस्त वाहन या अपने आहत हाथ या पैरों की चिकित्सा के आकस्मिक कार्य में व्यय करने पड़ते हैं तथा किराये या ऋण

का भुगतान स्थगित करना पड़ता है। यद्यपि मैं यह निश्चित रूप से नहीं जानता कि कब या किस निश्चित दिन यह षड्यन्त्र रचा गया होगा, किन्तु न्यायालय में प्रस्तुत प्रमाणों के आधार पर अनुमान लगा सकता हूँ। गांधी जी के अनशन का समाचार टेलीप्रिन्टर पर पढ़ते ही अपनी अन्य योजनाओं को दूर रखकर भारत शासन की लोकतांत्रिक कार्यपद्धति में गांधी जी के अवांछनीय हस्तक्षेप को रोकने के लिये अपना सर्वस्व न्योछावर करके भी गांधी-वध का कार्य सर्वप्रथम हाथ में लेने का नथूराम ने निश्चय किया होगा, क्योंकि उनके मतानुसार यह राष्ट्र के जीवन-मरण का प्रश्न था, किन्तु उस एक व्यक्ति के मन में उस समय उत्पन्न हुए विचार को षड्यन्त्र नाम नहीं दिया जा सकता।

दिनांक १२ की संध्या से १३ के प्रात: तक किसी समय नथूराम ने अपना यह विचार नाना को बताया होगा। नाना ने सहमति व्यक्त की होगी अथवा स्वयं भी नथूराम की योजना में भाग लेने का उत्साह दिखाया होगा। और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दोनों ने परस्पर मिलकर आगे की कोई योजना बनाई होगी। तथाकथित षड्यन्त्र का वहीं उद्गम हुआ। यही था वह अभागा क्षण।

३ नथूराम की मन:स्थिति

गांधी जी द्वारा जनजागृति के लिए किए गए प्रयत्नों से नथूराम अपरिचित नहीं थे। उनका महत्त्व वे जानते थे। ऐसी स्थिति में गांधी-वध का निर्णय करते समय उनकी मन: स्थिति कैसी रही होगी, यह देखना आवश्यक है।

दिनांक २४-११-१९६४ को कारागार से मेरी मुक्ति के चालीस दिनों पश्चात् ही भारत रक्षा अधिनियम के अनुसार मुझे फिर कारावास में डाल दिया गया। चार मास के उपरान्त दिनांक २९-३-१९६५ को मैंने महाराष्ट्र के गृहमंत्री माननीय बालाराव देसाई को उस समय के चर्चित विषयों पर एक पत्र लिखा था। उस पत्र में मैंने उपरोक्त विषय की किंचित चर्चा की है। जनमानस पर गांधी जी का प्रभाव किस प्रकार का था, इसका वर्णन निम्न भागों में किया गया। (परिच्छेदों के पूर्व क्रमांक मूल पत्र के अनुरूप हैं।)

३९. क्या गांधी-वध पिस्तौल हाथ में लेने और गोली मार देने जैसी सामान्य घटना थी? यदि कोई उसे इतनी सहज सामान्य घटना मानता है तो वह अज्ञानी है। उसे अनुभव नहीं है। कोई भी मानव-वध इतना सहज नहीं होता। फिर गांधी-वध तो कदापि नहीं था।

४०. अन्तिम दिनों की घटनाओं के सम्बन्ध में गांधी जी से किसी का कितना भी मतभेद क्यों न हो, अन्ततोगत्वा हम यह नहीं भूल सकते कि गांधी जी के पीछे एक महान् जीवन का इतिहास खड़ा था।

४१. स्वतंत्रता आन्दोलन में सत्याग्रह सिद्धान्त के सम्बन्ध में किसी का कुछ भी मत क्यों न हो, लोकमान्य के पश्चात् उत्पन्न हुई रिक्तता में गांधी जी ने सत्याग्रह के माध्यम से सामान्य जनता तक देश-प्रेम की भावना और 'पराधीनता' तथा 'स्वतंत्रता' आदि शब्दों का वास्तविक महत्त्व बताया।

४३. सत्याग्रह के माध्यम से गांधी जी ने सामान्य-जन के मन से बन्दीगृह के भय को नष्ट कर दिया।

४४. गांधी जी ने महात्मा की उपाधि स्वयं धारण नहीं की। प्रत्युत जनता ने उन्हें यह आदर प्रदान किया था।

४५. देश की नई पीढ़ी स्वतन्त्रता के गीतों की लय पर चरण रखती हुई आगे बढ़ रही थी। मुझे स्मरण है, उस समय नथूराम १७-१८ वर्ष के थे और मैं ७-८ वर्ष का (१९२७-२८)। गीत लिखने का नथूराम का शौक था। नये गीत वे मुझे कण्ठस्थ करा देते थे। 'ही— परवशता झणि सोडी, तोडी पारतंत्र्य बेडी' (यह परवशता तुरन्त छोड़ दो और दास्यता की शृंखला तोड़ दो।) इस प्रकार की कुछ पंक्तियाँ मुझे अभी तक स्मरण हैं। उस समय उनका अर्थ मेरी समय में नहीं आता था। एक-दो वर्ष पश्चात् गणेश-उत्सव के एक मेले

में मैंने उनका रचित एक गीत गाया था जिसका भावार्थ था—'हे विघ्नहर्ता! हमारी पराधीनता दूर करो। शत्रुओं का संहार करने की हमें शक्ति दो।' अभिप्राय यह है कि उस समय युवा पीढ़ी स्वतंत्रता की कल्पना से उत्स्फूर्त थी और यौवन की ओर अग्रसर होने वाली पीढ़ी इस कल्पना के संस्कार ग्रहण कर रही थी। गांधी जी के राजनीतिक प्रयत्नों से यह सब हो रहा था।

४६. 'महात्मा गांधी की जय', उस समय का रणघोष था और गांधी टोपी रणवेश। विद्यार्थियों में स्वराज का यह उत्साह इतना बढ़ा-चढ़ा था, मानो वह युद्ध ही लड़ रहे हों। उसी आवेश से यह रणवेश धारण करते थे और गगनभेदी गर्जना के साथ रणघोष करते थे। रणघोष करते थे और बेंत की मार अध्यापकों से खाते थे। ज़री की टोपियाँ लुप्त हो रहीं थीं और विदेशी वस्त्रों एवं वेशभूषा के प्रति जनसामान्य में तीव्र घृणा का संचार हो रहा था।

४७. उस आयु में गांधी कौन हैं, कहाँ के हैं, अथवा अंग्रेज कौन हैं और कहाँ के हैं, यह सोचने-समझने की बुद्धि की क्षमता ही नहीं थी। उसी आयु में 'साबरमती संत जेलमां छे।' अथवा 'जालिम सरकार नहीं रखना' जैसे गीत अर्थ न समझ में आने पर भी बालकों के होठों पर रहते थे।

४८. सशस्त्र क्रांति गांधी जी का सिद्धान्त नहीं था, किन्तु जनता में जनजागरण आन्दोलन में स्वराज्य चेतना का उत्साह इतने उत्कर्ष पर था कि लोग 'सरदार भगतसिंह की जय' का उद्‌घोष करते समय स्वयं को भी भूल जाते थे। भगतसिंह की मनोदशा पर लिखा गया किसी का गीत—'भेटेन नऊ महिन्यांनी' (नौ महीनों के बाद फिर मिलूँगा) घर-घर गाया जाता था। (सरदार भगतसिंह सशस्त्र क्रान्तिकारी थे, उन्होंने षड्यन्त्र रचा, और जनरल डायर की हत्या की तथा संसद में बम फेंका।)

४९. सारांश में गांधी जी उस समय उस पीढ़ी के हृदय में, सामान्य जनता के हृदय में, राष्ट्रीय जीवन में कूट-कूट कर समा गए थे। एक व्यापक चरित्र गांधी जी के पीछे था।

इस चरित्र से पूर्ण परिचित होने के कारण गांधी जी के इस चरित्र को पूर्ण विराम देने का निर्णय करने के पूर्व नथूराम की मन:स्थिति क्या रही होगी, इसका उल्लेख भी मैंने उसी पत्र में किया है। सम्बन्धित अंश इस प्रकार हैं :

५०. साम्प्रदायिक समस्या के सम्बन्ध में गांधी जी की नीति अत्यन्त हानिकारक सिद्ध हुई है, अब वे राजनीति से निवृत्त हों और राष्ट्र के निर्णयों में हस्तक्षेप न करें, ऐसा अनेक कांग्रेसी नेताओं का मत था, यह सत्य है, किन्तु ऐसा मत रखना पृथक् बात है और गांधी जी के जीने का अधिकार जो परमात्मा ने उनके भाग में दिया होगा, छीन लेना पृथक् बात है।

५१. सरदार पटेल का गांधी जी की नीति के विरोध के सम्बन्ध में मत और गांधी जी द्वारा 'पटेल अब मुझसे नहीं पूछते और मेरी उपेक्षा करते हैं' जैसे विचार व्यक्त करना, इस पृष्ठभूमि पर गांधी-वध के पीछे सरदार पटेल का हाथ था, ऐसा संदेह व्यक्त किया जाता है। किन्तु ऐसा सन्देह पटेल के प्रति अन्याय है। अधिक से अधिक पटेल त्याग-पत्र

दे देते। मैंने सुना है, यदि ३० जनवरी अथवा उसके आस-पास गांधी वध न होता तो सरदार पटेल के त्यागपत्र का समाचार हमें पत्रों में पढ़ने को मिलता। मुझे लगता है कि श्री एच. व्ही. आर. अय्यंगार इस सम्बन्ध में अधिक प्रकाश डाल सकते हैं।

५२. पाकिस्तान से आए निर्वासितों की भावनाएँ उन दिनों बहुत क्षुब्ध थीं। यह कैसा स्वराज्य मिला है? बिना भूकम्प के ही उनके पैरों के नीचे की धरती खिसक गई, ऐसी उनकी अवस्था हो गई थी। रक्तरंजित जनसमूह वेगवती नदी के प्रवाह-सा चला आ रहा था।

शेक्सपीयर ने एक स्थान पर एक आलंकारिक वाक्य लिखा है—'यदि घावों के पास जिह्वा होती तो वे अपनी पीड़ा चीख-चीख कर व्यक्त करते।' यहाँ तो प्रत्येक निर्वासित अपने आप में एक चलता-फिरता घाव था और उसके पास जिह्वा भी थी। चाहने पर भी समाचार-पत्र जिस क्षोभ को व्यक्त नहीं कर सकते थे, उसे निर्वासितों के विराट् समूह की लक्ष-लक्ष जिह्वाओं से निकलने वाले उद्‌गार-उच्छ्वास, सम्पूर्ण वायुमंडल में भर रहे थे। अणु विस्फोट के होने वाले विष-विस्तार के समान देश का वातावरण क्षुब्ध होता जा रहा था।

५३. शोक के उद्वेग से मानव का अन्त:करण शाप देता है। गांधी जी को मर जाना चाहिए; गांधी मरता है तो मरने दो, उसके कारण हमारा सर्वस्व लुट गया है, इस प्रकार के उद्‌गार घर पर या सार्वजनिक स्थानों पर असंख्य कण्ठों से बरबस निकल पड़ते थे।

५४. फिर भी शाप देना पृथक् बात है और गांधी जी को मार डालना पृथक् ।

५५. यदि अमुक को न मारा गया तो वह हमें मार डालेगा, यह आशंका भी हत्या करने पर विवश करती है, किन्तु नथूराम गांधी जी को न मारते तो गांधी जी अथवा उसके अनुयायी नथूराम को मार डालते, ऐसी भी कोई संभावना इस प्रकरण में नहीं थी।

५६. आत्मसमर्पण (बलिदान) के उदाहरण भी कभी-कभी मिलते हैं। हत्या करके रक्तरंजित शस्त्र के साथ आरक्षी या न्यायालय के सम्मुख जाकर हत्यारे के द्वारा अपना अपराध स्वीकार करने जैसी घटनाएँ, पढ़ी जाती हैं। 'मुझे अधिकार नहीं था फिर भी मैंने विधि को अथवा कानून को अपने हाथ में लिया और अमुक को मार डाला। आत्मरक्षा के लिए नहीं, प्रत्युत अमुक कारणों से मैंने ऐसा किया है। मैं विधि को तोड़ना नहीं चाहता इसलिये मुझे यथाविधि दण्ड दिया जाए।' ऐसा कहकर स्वयं फांसी को निमन्त्रण देना आत्मसमर्पण का मार्मिक उदाहरण है। किन्तु यहाँ तो ऐसी स्थिति थी कि मूलत: हत्या ही आत्मसमर्पण की अपेक्षा अत्यन्त कटु हो।

५७. एक प्रकार से वह हलाहल-पान था। आप कल्पना कर सकते हैं। गांधी जी ने एक सम्पूर्ण पीढ़ी को प्रेरित और कार्य-प्रवृत्त किया था। नथूराम भी उसी पीढ़ी के थे। कालान्तर में प्रवाह के पलट जाने पर भी प्रारंभ में मन पर पड़े प्रभाव का सर्वथा मिट जाना संभव नहीं है। देश में गांधी जी के श्रद्धालु असंख्य थे। गांधी-हत्या का अर्थ था श्रद्धालुजनों की भावनाओं को ठेस पहुँचाना। नथुराम न ही पाकिस्तान से निष्क्रमित विस्थापित थे, न उनका गांधी जी से कोई व्यक्तिगत वैर ही था। मानव-जीवन का महत्त्व न समझने वाले

निष्ठुर लोगों में वे नहीं थे। इस पृष्ठभूमि पर गांधी जी की हत्या का कठोर कर्त्तव्य निश्चित करते समय उनके मन में भावनाओं का संघर्ष नहीं हुआ होगा, यह कैसे संभव है। अपने गुरुजन को युद्धभूमि में अपने सम्मुख खड़े देखकर महाभारत में 'गांडीवं स्रंसते हस्तात्' ऐसी अर्जुन की स्थिति हुई थी। उसे आँखों के सामने रखकर नथूराम की मनोदशा का अनुमान किया जा सकता है।

५८. मूलत: रक्तपात धर्म नहीं है। गीता में भी रक्तपात को धर्म बताकर उसका समर्थन नहीं किया गया। युद्ध दोषलिप्त कर्म है और कर्म मनुष्य का अनिवार्य धर्म है, इसलिये युद्ध करो, गीता का यह अभिप्राय है। मनुष्य का सहज स्वभाव शांति है। वही स्वाभाविक धर्म है। रक्तपात तो दुर्घटना ही है।

५९. यह रक्तपात युद्ध नहीं था, द्वंद्व भी नहीं था। इस प्रकार के रक्तपात की एक विशेषता है। हत्या के पूर्व मारे जाने वाले के प्रति जन-भावनाएँ कितनी भी तीव्र और क्षुब्ध क्यों न हों, हत्या के पश्चात् उसके समस्त दोष उसके रक्त में धुल जाते हैं। उसके चरित्र का कृष्ण-पक्ष दब जाता है और उज्ज्वल-पक्ष और अधिक चमक उठता है। इसके विपरीत हत्यारे के व्यक्तित्व के सभी गुण छिप जाते हैं और जनमानस में उसका क्रूर और हत्यारा स्वरूप अमिट होकर अंकित हो जाता है।

६०. अतएव अपने चरित्र को, यश को, व्यक्तित्व को सदा के लिये कलंकित और विकृत करके सम्पूर्ण संसार की घृणा और धिक्कार को झेलने के लिये तत्पर होने की स्थिति आत्म-बलिदान से अत्यंत भयानक थी।

६१. इस प्रकार यह हत्या रिवाल्वर हाथ में लेकर गोलियाँ दाग देने जैसी सहज और सामान्य घटना नहीं थी। वधकर्ता के मन का द्वंद्व और उपरोक्त भूमिका जिन्हें समझ में आएगी, वे यह भलीभाँति जान सकेंगे कि गांधी-वध सहज सामान्य नहीं, एक ऐतिहासिक और अपूर्व घटना थी। ऐसी घटनाएँ युग-युग में कभी-कभी हुआ करती हैं। नहीं! युग-युग में भी नहीं हुआ करतीं।

अपने प्राण देने पड़ें या नाम पर कलंक लगे या सारे संसार की निंदा ओढ़नी पड़े, कुछ भी हो गांधी जी का अस्तित्व मिटाना ही होगा, इस पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए संकल्प का कोई कारण तो होगा ही।

४ गांधी-वध का वह दिन

'डॉक्टर! मेरे शरीर की परीक्षा कीजिये। मेरा हृदय, मेरी नाड़ी आदि व्यवस्थित हैं या नहीं, देखकर बताइए।'

गांधी हत्या की घटना के कुछ ही समय पश्चात् नथूराम की शारीरिक परीक्षा के लिये बुलाए गए डॉक्टर से नथूराम ने कहा। नथूराम के अनुरोध पर डॉक्टर ने उनके हृदय और नाड़ी की परीक्षा की और सब कुछ पूर्णतया सामान्य और सुव्यवस्थित होने की घोषणा की।

लालकिले के विशेष बंदीगृह में निवास करने वाले हम न्यायाधीन बन्दी परस्पर बातचीत किया करते थे। जैसा मैं पहले लिख चुका हूँ, वास्तव में, इस अभियोग के सभी अभियुक्तों को गांधी-वध के पूर्व किसी योजना या षड्यन्त्र का पूरा-पूरा ज्ञान न था। जिन घटनाओं का ज्ञान नहीं हो, ऐसी घटनाएँ सभी के लिये कुतूहल का विषय थीं। हमारी बातचीत का मुख्य केन्द्र बिन्दु यही था।

न्यायालय में प्रतिदिन होने वाली साक्षियों की सत्यता के संबंध में और उनमें छोड़े गए तथ्यों और अनकहे प्रसंगों के सम्बन्ध में भी हम परस्पर चर्चा करते थे। साक्षियों की अगले दिन प्रश्न-परीक्षा के लिये कौन-से प्रश्न अपने अधिवक्ता को हमें सुझाने चाहिएँ, उनका निश्चय भी इसी बातचीत में होता था।

साक्षी के बयान की भी सत्य-असत्यता हम वास्तविक घटना के आधार पर परखते थे। बहुधा ऐसा भी होता था कि साक्षी सच्चा अथवा वास्तविक, पर शपथपूर्ण कही गई बातों में कुछ बातें असत्य होती थीं। प्रश्न परीक्षण में यह असत्यांश न्यायाधीश पर प्रकट हो जाता था और न्यायाधीश भी इसे साक्षी के उस भाग को अस्वीकार करते थे, किन्तु कभी-कभी प्रश्न परीक्षण में भी असत्य का खण्डन कठिन हो जाता है, उस स्थिति में वह असत्य ही अभिलेखों में सत्य बनकर मान लिया जाता था।

कभी-कभी साक्ष्य में किसी घटना का दूसरी घटना से सम्बन्ध जोड़ने के लिए किसी साक्षी को खड़ा कर दिया जाता था और सम्बन्धित घटनाएँ तो सच्ची होती थीं, किन्तु साक्षी बनावटी एवं झूठा होता था। हमारी चर्चा का यह भी एक मनोरंजन विषय था। बहुत सावधानी और सतर्कता से खड़े किए गए ऐसे साक्षियों की झूठी साक्षी को अप्रमाणिक सिद्ध करना असंभव हो जाता था।

यहाँ मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि शासन ने अभियुक्तों पर झूठा अभियोग चलाया अथवा आरोप लगाए। अभियोग की पुनः सुनवाई अथवा प्राप्त दण्ड का निराकरण अब समयातीत विषय हो गए हैं और न्यायाधिकरण-पद्धति से परे हैं। इसलिए अभियोग

की असत्यता का संकेत असंगत भी है तथा आवश्यक और तर्कसंगत भी नहीं है। आशय यह है कि, गांधी-वध सम्बन्धी सत्य को जानने के लिए न्यायालय के अभिलेख का अध्ययन पर्याप्त नहीं है। बंदीगृह की प्राचीरों के भीतर की चर्चा का कुछ अंश आपकी जानकारी में आने पर ही आप न्यायालय के अभिलेखों की सहायता से सत्य के निकट पहुँच सकते हैं। सत्यान्वेषण की दृष्टि से मेरी यह चर्चा शासन के लिये भी उपयोगी हो सकती है, ऐसी मेरी धारणा है।

पर्दें के पीछे, सींकचों के भीतर नथूराम और आपटे की परस्पर चर्चाएँ आज भी मेरे स्मृतिपटल पर चमक रही हैं। उनका कोई अंश धूमिल नहीं पड़ा है। इस अध्याय के आरंभ में कहा गया वाक्य जैसी नथूराम के मुख से सुनी बातें तो स्मृति में तैरती रहती हैं।

अपने हाथों होने वाले गांधी-वध के पश्चात् लोगों द्वारा अपना नाम किन-किन विशेषणों से संयुक्त किया जाएगा, इसकी नथूराम को आरंभ से ही पूर्व कल्पना थी।

'.......लोग मुझे सिरफिरा या पागल आदि बताएँगे, कहीं मैं सचमुच पागल न मान लिया जाऊँ। उस दशा में, मानसिक विकृति की दशा में वध के आधार पर शासन को मुझ पर अपनी दया लादने का अवसर मिल जाएगा अथवा बचाव पक्ष ही मुझे मनोविकारग्रस्त घोषित करके मेरे लिये दया की याचना करेगा।' नथूराम इस स्थिति के लिये कदापि तत्पर न थे। इसीलिये उन्होंने डॉक्टर से अपनी शारीरिक परीक्षा करने का अनुरोध किया था। डॉक्टर के अनुसार उनकी श्वास-प्रक्रिया सामान्य और नाड़ी की गति उत्तेजनारहित थी।

कुछ भी हो, नथूराम द्वारा यह अवैध-कृत्य मन की एक विशिष्ट दशा में सम्पन्न हुआ था, यह हर कोई स्वीकार करेगा। स्वयं नथूराम भी यह मानते थे कि उस कृत्य के पक्ष में कोई वैधानिक तर्क नहीं दिया जा सकता। फँसी ही इस कार्य का उपयुक्त दण्ड है, ऐसी उनकी भी धारणा थी।

मन की इस अवस्था में भी वे मानव-मन की अन्य प्रवृत्तियों से शून्य नहीं थे। अपने असाधारण कृत्य से मैं गांधी-परिवार पर एक असह्य आघात करने जा रहा हूँ, इसकी उन्हें कल्पना थी। इस विषय में खेद प्रकट करने का अवसर उन्हें गांधी-वध से थोड़े समय बाद ही मिल गया था।

पकड़े जाने के अर्थात् आबद्धता के कुछ समय पश्चात् नथूराम को पहले तुगलक रोड और पीछे पार्लियामेंट स्ट्रीट के पुलिस केन्द्र की कोठरी (हवालात) में रखा गया था। अधिकारियों के साथ अनेक लोग उन्हें देखने के लिये आया करते थे। कोठरी में नथूराम टहलते हुए सीकचों के सामने खड़ा हो जाया करता था।

सीकचों के बाहर आकर खड़े एक पुरुष से नथूराम की दृष्टि मिली।

'मैं समझता हूँ, आप श्रीयुत देवदास गांधी हैं?' 'हाँ! आप कैसे पहचानते हैं।' उस पुरुष ने प्रतिप्रश्न किया। मैं किसी विद्रूप, असंस्कृत और असभ्य व्यक्ति को अपने पिता के हत्यारे के रूप में देखूँगा यह श्री देवदास की कल्पना रही होगी। नथूराम का सौम्य, शान्त और स्पष्ट कथन उनके लिये अकल्पनीय था।

'हम एक पत्रकार परिषद् के संदर्भ में एकत्र हुए थे। आप 'हिन्दुस्तान टाइम्स' के

सम्पादक के नाते वहाँ आए थे।' नथूराम ने कहा।

'और आप।'

'मैं नथूराम विनायक गोडसे, दैनिक 'हिन्दुराष्ट्र' का सम्पादक। मैं भी वहीं था। आप आज पितृहीन हो चुके हैं। मैं इसका कारण बना हूँ। आप पर और आपके परिवार पर जो वज्रपात हुआ है, उसका मुझे खेद है। आप विश्वास करें कि किसी वैयक्तिक शत्रुता या द्वेष से अथवा आपका अनिष्ट करने के उद्देश्य से प्रेरित होकर मैंने यह कार्य नहीं किया।'

जिसके 'हत्याकारी' हाथों का रक्त अभी सूखा न हो, वह मनुष्य इतनी शांति से, संतुलित और संयत स्थितप्रज्ञ की भाँति वार्त्तालाप कर रहा है, यह देखकर श्री देवदास का कुतूहल जाग उठा। अपने पिता का अन्त करने वाले व्यक्ति से उन्हें घृणा होती तो उसमें कुछ भी अस्वाभाविक न होता। यदि वैसी घृणा का अनुभव उन्हें हुआ भी हो तो उन्होंने उस पर नियंत्रण रखा। पितृवियोग के क्षोभ को नियंत्रित करके उन्होंने पूछा—'तब आपने ऐसा क्यों किया?'

'कारण राजनैतिक और केवल राजनैतिक ही है।' नथूराम ने उत्तर दिया। 'क्या आप आधा पौन घंटा सुन सकते हैं? अधिकारियों से पूछिये। आप सम्पादक हैं, पृष्ठभूमि आपकी समझ में आ जाएगी।'

'बात मत कीजिए, आप आ जाइए।' समीप खड़े अधिकारी ने श्री देवदास से अनुरोध किया। गांधी जी के पुत्र होने के कारण श्री देवदास को नथूराम से दो-तीन मिनिट वार्त्ता की छूट दी गई थी। अपने संपूर्ण कुतूहल के साथ श्री देवदास वहाँ से हट गए।

इस अभियोग का प्रमाण क्रमांक पी. ८० एक गोली के खोल के सम्बन्ध में है। 'महात्मा गांधी के पुत्र श्री देवदास गांधी ने पिस्तौल की गोली का खोल हाथ में लिया। उस पर GECO/19 M M K अंकित है।' उसे इस टिप्पणी के साथ कब्जे में ले लिया गया और उसे बन्द कर उस पर राजमुद्रा अंकित की। हस्ताक्षर जसवन्तसिंह डी. एस. पी., नई दिल्ली; समक्ष श्री देवदाव गांधी, श्री गुगन लंबरदार, दि. ३१-१-१९४८ (मुद्रित अभिलेख भाग १, पृष्ठ ३७)।

उपर्युक्त प्रमाण की पुष्टि के लिये श्री देवदास गांधी को साक्ष के लिए नहीं बुलाया गया। इस प्रसंग में श्री गुगनसिंह लंबरदार की साक्षीदिनांक १६-७-१९४८ को हुई। (मुद्रित अभिलेख भाग १, पृष्ठ ७४)। यदि श्री देवदास को न्यायालय में बुलाया जाता तो नथूराम से हुआ उनका संभाषण उनकी साक्षी से ही उद्धृत किया जा सक़ता था। तथापि गांधी जी के द्वितीय पुत्र श्री रामदास गांधी को लिखे गए पहले पत्र में नथूराम ने श्री देवदास के समक्ष व्यक्त किए गए अपने विचार दोहराये हैं। पूना के पास स्थित पानशेत का बाँध टूटने से बाढ़ आ गई जिससे आधा नगर प्रभावित हुआ था। उसी पानशेत की बाढ़ में सम्बन्धित साहित्य के भीग जाने पर भी सम्बन्धित पत्र पढ़े जाने योग्य रह गया इसलिए यह सन्दर्भ देना संभव हो सका है। यह इस प्रकार हुआ।

मई-जून, १९४९ में शिमला के उच्च-न्यायालय में अभियोग के पुनर्विचार के आवेदन की सुनवाई चल रही थी। नथूराम को अम्बाला बन्दीगृह से वहाँ लाया गया था। एक दिन

जेलर ने उन्हें एक पत्र दिया। पत्र खोलने का कष्ट अधिकारी ही उठाते थे। उससे जिज्ञासा पूर्ति में विलम्ब नहीं होता था।

वह श्री रामदास गांधी का नागपुर से प्रेषित दिनांक १७-५-१९४९ का पत्र था। 'प्रिय नथूराम गोडसे' इस सम्बोधन के साथ श्री रामदास ने सर्वप्रथम अपना परिचय ही दिया है।—'जिनकी हत्या करने पर आपको विलक्षण अभिमान अनुभव होता होगा, प्रस्तुत पत्र का लेखक उन्हीं का पुत्र है।' (The writer of this is the son of one you seem to take great pride in having assassinated.)

पत्र भावपूर्ण है। आत्मीयता से परिपूर्ण। किंचित् विषयान्तर करके भी वह पत्र यहाँ देना चाहता हूँ। पत्र का भावानुवाद इस प्रकार है—'मेरे पिताजी के नाशवान देह का ही आपने अंत किया है, और कुछ नहीं। इसका ज्ञान आपको एक दिन होगा, ऐसा मेरा विश्वास है। क्योंकि एक मुझ पर ही नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण संसार के लाखों लोगों के हृदयों पर मेरे पिताजी के तत्त्वों का प्रभाव अभी तक विद्यमान है। सम्पूर्ण संसार के लोगों ने राष्ट्रों ने, मेरे पिताजी को जो श्रद्धांजलियाँ समर्पित की हैं, उनसे यह सिद्ध हो चुका है।

'संसार का प्रत्येक व्यक्ति शांति के लिये अत्यंत आतुर है, यह आप जानते हैं। आण्विक शक्ति नहीं, प्रत्युत परस्पर की समझ (Mutual understanding) और एक दूसरे के प्रति आदर की भावना ही संसार में शांति ला सकती है। जो ऐसा कहते हैं और जिनकी यह मान्यता है उनमें वर्तमान युग के बड़े-बड़े युद्ध-नेता (War lords) भी हैं। यह देखकर आपको विस्मय हुआ होगा। इस देश के लाखों लोग 'सत्य और अहिंसा', इन सरल और सार्थक शब्दों में उस भावना का अनुभव करते हैं।

आपके मन को और दृष्टि को जिस कुहरे ने और भ्रांत धारणा ने ढँक दिया है, उस कोहरे और भ्रांत धारणा के निराकरण में उपर्युक्त वस्तुस्थिति आपकी सहायता करेगी, ऐसी मुझे आशा है। इस भ्रांत धारणा का निराकरण होते ही आप पछताएंगे और आपने जो कृत्य किया वह सर्वथा अकरणीय और त्याज्य है, इस सत्य का साक्षात्कार आपको हो जाएगा। इसमें मुझे रंच भी संदेह नहीं है। चाहे वह कृत्य किसी धर्म सिद्धि के लिये हो अथवा राजनैतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए हो अथवा किसी और कारण से प्रेरित। आप शास्त्र सम्मत और तर्कसिद्ध विचार-पद्धति के समर्थक हैं। (You are a man of reason and logic)। समाचार-पत्रों के अनुसार ऐसी अपने सम्बन्ध में आपकी मान्यता है। इसलिये आप मेरे हृदय के भावों की कल्पना कीजिए, ऐसा मेरा आपसे आग्रह है। यदि आप ऐसा करेंगे तो आपने यह कृत्य करके अपना भी कोई बहुत प्रिय कार्य नहीं किया है, यह आपको प्रत्यक्ष जान पड़ेगा।

आपका सत्यैषी,

आर. एम. गांधी।

'पुनश्च—दिनांक १-५-१९४९ को मैंने हिन्दुस्तान के महाशासक (Governor General) को पत्र भेजा है, यह आपको सूचित कर रहा हूँ। आपके विरुद्ध अभियोग चलाने वाले विशेष न्यायालय ने आपको जो दण्ड दिया है वह आपको क्यों नहीं भोगने देना चाहिए, इसका कारण मैंने इस पत्र में दिया है।

आर. एम. गांधी

इस पत्र के मिलने पर दूसरे ही दिन अर्थात् ३ जून, १९४९ को नथूराम ने उत्तर लिखा और नियमानुसार शिमला के डिप्टी कमिश्नर की मार्फत भिजवा दिया। 'प्रियबन्धु' के विशेषण से श्री रामदास गांधी को सम्बोधित करके उन्होंने इस पत्र में अपनी मनोव्यथा व्यक्त की है। वे लिखते हैं—'मेरे हाथों से आपके परम पूजनीय पिता का दु:खद अन्त हुआ उससे आपको और आपके सम्बन्धियों को जो मानसिक आघात पहुँचा है उसके विषय में एक मानव के नाते अपनी भावनाएँ व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं हैं।' पत्र के अन्त में नथूराम पुन: लिखते हैं—'आपके पिता का मेरे हाथों से हुए निधन से आपको जो पीड़ा हुई है उसके लिए मैं पुन: गहरा खेद व्यक्त करता हूँ।'

श्री रामदास गांधी के पत्र में लिखी अन्य बातों के सम्बन्ध में भी उन्होंने उसी पत्र में लिखा है। इस प्रसंग में उसकी भी किंचित चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा।

गांधी जी के कुछ सिद्धान्तों और उनको पूरा करने के लिये उनके द्वारा प्रचारित जीवन-पद्धति के बारे में प्राय: सहमति है। गांधी जी के भक्त गांधी जीवन पद्धति के उपासक होते हैं। श्री रामदास गांधी के अनुसार उस समय तक जन-मन पर गांधी जी के तत्त्वों का पूर्ण प्रभाव था। इस दशा में सहानुभूति नहीं तो कम से कम नथूराम के मत-परिवर्तन के लिए ही भले, गांधी भक्तों के असंख्य-पत्र नथूराम को मिलने चाहिएं थे। गांधी जी की मृत्यु के उपरान्त उनके सिद्धांत तो जनमानस में विद्यमान थे। श्री रामदास की यही मान्यता थी। गांधी जी के सिद्धान्तों में सबसे प्रमुख है हृदय-परिवर्तन। यदि गांधी जी के हत्यारे का हृदय-परिवर्तन हो जाता तो वह गांधीवाद की कितनी बड़ी विजय होती। गांधी-दर्शन के अनुयायियों को स्वाभाविक रूप में इसके लिए प्रयत्न करना चाहिए था, किन्तु ऐसा प्रयत्न केवल एक ने किया, और वह एक थे श्री रामदास गांधी।

मत परिवर्तन न्यायालय का कार्य नहीं है। किसी के विधि-विरोधी कृत्य का विवेचन करके अपराधी को बताना तथा उसके अनुरूप दण्ड का निर्देश मात्र न्यायालय की कर्त्तव्य-सीमा है। नथूराम चाहते थे कि न्यायालयेतर कोई व्यक्ति उनके मत के परिवर्तन का प्रयत्न करे। सशस्त्र क्रांति पर विश्वास करने वालों व हिंसा में विश्वास करने वालों का हृदय-परितर्वन गांधीवादी विचारपद्धति का मुख्य आधार है और भारत में सहस्रों सच्चे गांधीवादी हैं, ऐसी सर्वत्र मान्यता थी। नथूराम तत्त्वचिंतन सूक्ष्मता से न कर सकते हों अथवा वाद-विवाद करने का सामर्थ्य उनमें न हो, ऐसी बात नहीं थी। उनका मानसिक संतुलन अन्त तक सुस्थिर था, यहाँ तक कि फाँसी के दण्ड के प्रति तनिक भी आतंकित न होते हुए एक स्थितप्रज्ञ पुरुष के समान उन्होंने उच्च न्यायालय में नौ दिन तक अपने पक्ष का युक्तियुक्त और तर्कपूर्ण प्रतिपादन (वकालत) स्वयं किया था। उन्होंने किसी महाविद्यालय की उपाधि प्राप्त नहीं की थी, यह सत्य है, फिर भी अध्यवसाय और चिंतन ने उनकी मेधा को अकल्पनीय विस्तार प्रदान किया था। स्वयं न्यायमूर्ति को उनकी तर्क तीक्ष्ण बुद्धि और भाषा पर अद्भुत अधिकार की सराहना करनी पड़ी थी। अपने निर्णय में उन्होंने कहा है—

'उसे मेट्रिकुलेशन का प्रमाण-पत्र लेने का भी यश नहीं मिला है, तथापि उसका अध्ययन अत्यंत गंभीर है। इस न्यायालय में अपने पक्ष का प्रतिपादन करते समय उसने

अंग्रेजी भाषा पर अपने पर्याप्त अधिकार का और प्रशंसनीय सुस्पष्ट विचारक्षमता का परिचय दिया है।' (टंकित निर्णय-पत्र, पृष्ठ २०६)

अस्तु, नथूराम की इच्छा थी गांधी जी की हृदय-परिवर्तन पद्धति का अनुभव कोई उन्हें कराये और नहीं तो न्यूनतम दूसरे को समझने की सुविधा ही इस निभित्त से प्राप्त हो।

जब किसी विशिष्ट उद्देश्य से प्रेरित होकर कोई व्यक्ति उससे तद्रूप हो जाता है और मानसिक एकाग्रता की अंतिम अवस्था तक पहुँच जाता है तो वह व्यक्ति भयातीत और प्रलोभनातोत हो जाता है। नथूराम जिस अवस्था तक जा पहुँचे थे उसके कार्य-कारण सम्बन्धों की ध्येयनिष्ठता की चर्चा यहाँ करना मेरा अभिप्राय नहीं है। विशेष न्यायमूर्ति द्वारा दिनांक १०-२-१९४९ को फाँसी का दंड सुनाए जाने के पश्चात् नथूराम और उसकी मृत्यु आमने-सामने थे। फाँसी के फन्दे का आतंक या शासकों की दया का प्रलोभन उनके मन में पश्चात्ताप उत्पन्न करने में सर्वथा असमर्थ थे। मन की उद्दीप्त अवस्था में कोई कृत्य कर डालने के पश्चात् जब उत्तेजना शांत होती है तब प्राय: अपराधी का मन उसे इस विचार से कुरेदता रहता है कि वह उत्तेजित क्यों हुआ था? इसी स्थिति को पश्चात्ताप की स्थिति कहा जाता है, किन्तु मन की उस उद्दीप्त अवस्था का यदि कोई वैचारिक आधार है तो उस आधार की भ्रान्ति अपराधी को तर्कपूर्वक समझाने पर ही उसे अपने कार्य का अनौचित्य अनुभव होगा एवं मैंने नैतिक दृष्टि से कोई अपराध किया है, यह बोध होगा। यह अपराध बोध ही पूर्वपीठिका है।

पश्चात्ताप की भावना भी तत्वत: निर्लिप्त और निरपेक्ष होनी चाहिए। 'मुझे अपने कृत्य पर पश्चात्ताप है, मुझ पर दया कीजिए।' इस प्रार्थना में ध्वनित पश्चात्ताप निरपेक्ष नहीं हो सकता। उसके पीछे तो प्राणरक्षा की अपेक्षा निहित है। अपने उद्देश्य के प्रति पूरी निष्ठा के साथ खूब सोचने-विचारने के पश्चात् नथूराम ने गांधी जी का वध किया था। फिर भी वे पश्चात्ताप करने को तत्पर थे, यदि कोई उन्हें उनके विचारों की भ्रान्ति प्रमाणित करके समझा सकता। इस प्रकार के पश्चात्ताप से मेरे द्वारा किये गए अवैध कार्य का प्रायश्चित होगा, ऐसी नथूराम की मान्यता न थी। यदि कोई उन्हें पश्चात्ताप करा सके तो वे उस पश्चात्ताप के आधार पर दण्ड से त्राण नहीं पाना चाहते थे। यदि किसी ने मेरे विचारों की भ्रान्ति और कृत्य का अनौचित्य प्रमाणित कर दिया तो तज्जन्य पश्चात्ताप की भावना को सार्वजनिक रूप में भलीभाँति व्यक्त करके मैं अपने कृत्य का विधिसम्मत फल प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करूँ, नथूराम की यही इच्छा थी।

अपने कार्य से गांधी-परिवार पर क्या बीतेगी, इसकी कल्पना नथूराम ने पहले ही की थी, इसलिए अवसर मिलने पर गांधी जी के आत्मीयों के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त करने में उन्होंने संकोच नहीं किया, किन्तु मन के किसी कोने में वे इतने निश्चल और निरुद्विग्न थे, मानों उनकी अन्तरात्मा उन्हें कहती थी—'कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपितत्', स्थितप्रज्ञता की इस आधारपीठिका पर आरूढ़ होने के कारण ही श्री रामदास गांधी के पत्र में ध्वनित क्षमा-दान जन्य प्राण-रक्षा की संभावना की सीढ़ी द्वारा

फाँसी के तख्ते से उतर आने का प्रलोभन भी उन्हें विचलित नहीं कर सका। वे विचार विनिमय अवश्य चाहते थे, किन्तु वह भी गांधी जी के ऐसे शिष्यों के साथ जो राजनीति अथवा सत्ता से निर्लिप्त हों, क्योंकि ऐसे व्यक्तियों से विचार-विनिमय में क्षमादान की अपेक्षा तनिक भी नहीं हो सकती थी। उनके द्वारा श्री रामदास गांधी को भेजे गये पत्र के कुछ अंश इस प्रकार हैं—

शिमला, दिनांक ३ जून, १९४९

प्रिय बंधु श्री रामदास गांधी,

आपका १७ मई, १९४९ का दयापूर्ण पत्र कल मिला। मेरे हाथों से आपके परमपूजनीय पिताजी का दु:खद अंत हुआ, उससे आपको एवं आपके सम्बन्धियों को जो मानसिक आघात पहुँचा है, उसके लिये एक मानव के नाते अपनी भावना व्यक्त करने योग्य शब्द मेरे पास नहीं हैं, किन्तु इसके साथ एक दूसरा पक्ष भी ध्यान देने योग्य है, ऐसा मेरा मत है। अपने समस्त विचार कागज पर उतारने की स्थिति में मैं नहीं हूँ, न ही आपसे प्रत्यक्ष भेंट करने की स्थिति में ही मैं स्वयं को पाता हूँ, किन्तु मेरी फाँसी के पूर्व मुझ से बंदीगृह में मिलने में आप अवश्य समर्थ हैं।

मैं एक तार्किक और शास्त्रसम्मत विचारों वाला मनुष्य हूँ, यह आपने सुना है, ऐसा आप लिखते हैं, किन्तु मैं प्रखर संवेदनशील भी हूँ यह जानकर आपको विस्मय होगा। मेरी उन प्रखर संवेदनाओं में मातृभूमि की भक्ति मेरी संवेदना है।

आप कहते हैं कि मेरे मन से मेरे भ्रांत विचार दूर होते ही एक दिन मुझे अपने कृत्य पर अवश्य ही पश्चात्ताप होगा और अपना अपराध मेरी समझ में आएगा।

बन्धु ! मेरा मस्तिष्क विचार ग्रहण के लिये खुला है, (I am an open minded man) और अपनी धारणा की भ्रांति सुधारने के लिये सदैव तत्पर हूँ, परन्तु यदि मेरी कोई मान्यता त्रुटिल है तो उसे दूर करके मुझमें पश्चात्ताप जागृत करने का मार्ग कौन-सा है? निश्चित ही फाँसी का मंच नहीं, दया प्रदर्शन भी नहीं और मेरे दण्ड में परिवर्तन (Commutation) भी नहीं। इसका एक-मात्र मार्ग है मुझसे मिलना और मेरी भ्राँति का मुझे ज्ञान करा देना। इस समय तक तो मुझे ऐसा कोई दिखाई नहीं दिया जो मुझे पश्चात्ताप करने पर विवश कर दे।

कुछ प्रमुख क्रिश्चियन धर्म-प्रचारकों ने मुझे बहुत से पत्र भेजे हैं। उनकी श्रद्धा के अनुसार और 'पवित्र' बाइबल की शिक्षाओं के अनुसार उन्होंने मुझे कुछ उपदेश देने का प्रयत्न किया है। उनकी यह भूमिका अर्थपूर्वक समझने योग्य है, किन्तु आपका ही पत्र पहला पत्र है जो आपके आदरणीय पिताजी की सुविदित अथवा सर्वविदित सिद्धान्तों से कुछ सीमा तक मिलता-जुलता है। सचमुच यह विस्मयजनक है। मेरे पास गाली-गलोच से भरे हुए अनेक पत्र आते हैं। वे आपके पिताजी के किन्हीं शिष्यों ने लिखे होंगे, ऐसा मैं नहीं समझता। कुछ भी हो, मुझे आपसे अनुरोध करना है कि आप मुझसे मिलें। यथासंभव अपने पिताजी के किन्हीं प्रमुख शिष्यों के साथ मिलें। विशेषकर ऐसा शिष्य राजसत्ता से निर्लिप्त होना चाहिए। उस भेंट में आप मुझे मेरी भ्राँति दिखा दीजिए, अन्यथा दया का यह प्रदर्शन

और कुछ न होकर धूल झोंकना (Eyewash) मात्र है, ऐसा मुझे सदा लगेगा।

यदि आप मुझसे प्रत्यक्ष मिलें और मेरे साथ आपका विचार-विनिमय हो, चाहे वह भावनात्मक स्तर पर हो अथवा शास्त्रसम्मत विवाद के स्तर पर, तो कौन कह सकता है कि आप मेरे विचारों में परिवर्तन करा लेंगे और मुझ में पश्चात्ताप की भावना जागृत कर सकेंगे अथवा मैं ही आपका मत-परिवर्तन करा सकूँ और अपनी भूमिका का औचित्य आपसे मनवा सकूँ।

आपको केवल सत्यतापूर्वक बोलना होगा, केवल यही एक शर्त हमारे सम्भाषण के लिए होनी चाहिए।

आपके पिता के मेरे हाथों से हुए निधन से आपको जो पीड़ा हुई है, उसके लिए एक मानव के नाते में पुन: आन्तरिक खेद व्यक्त करता हूँ।

आपका सद्भावी

नथूराम विनायक गोडसे

पुनश्च

यदि आपको उचित प्रतीत हो तो आप इस पत्र की प्रति भारत के राज्यपाल को भेज दें।

उपरोक्त दो पत्रों के पश्चात् और पत्र-व्यवहार भी हुआ था। आवश्यक होने पर उसे यथास्थान उद्धृत किया जाएगा। सारांश यह है कि आचार्य विनोबा भावे और श्री किशोरीलाल मश्रूवाला, इन दो व्यक्तियों के साथ नथूराम से मिलने का श्री रामदास गांधी का प्रयत्न था, किन्तु उनका वह यत्न सफल नहीं हुआ। कारणों का विवेचन मैं नहीं करूँगा। यह भेंट नहीं हो सकी, यह अच्छा नहीं हुआ। क्योंकि ऐसी भेंट से स्यात् नथूराम का फाँसी के पूर्व हृदय-परिवर्तन हो जाता और गांधीवाद एक तर्कसम्मत वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक दर्शन है, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण आज की पीढ़ी के समक्ष रखा जा सकता था।

श्री रामदास गांधी के पत्र से यदि नथूराम का कुछ समाधान हुआ होगा तो वह यह कि मानसिक विकृति के कारण मनुष्य जैसे पागल समझा जाता है, वैसे वे नहीं समझे गए थे, प्रत्युत वे एक विचारशील व्यक्ति हैं, इसका किंचित आभास बाह्य विश्व को हो गया है।

दिनांक ३० जनवरी की घटना के सम्बन्ध में जिन साक्षियों को प्रस्तुत किया जाएगा उनकी अपने अधिवक्ता द्वारा प्रति-परीक्षण नहीं करना है, यह नथूराम ने पहले ही निश्चय कर लिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि जिन साक्षियों के वक्तव्य अतिशयोक्ति और आत्म-प्रशंसा पूर्ण एवं असत्य थे उनकी प्रामाणिकता का परीक्षण नहीं हो सका। ३० जनवरी की घटना के लिए एकमात्र मैं उत्तरदायी हूँ और साक्षियों के बयानों में असंगतियाँ दिखाने से कोई लाभ नहीं होगा, अपनी इस धारणा के कारण नथूराम ने उन साक्षियों के वक्तव्य ज्यों के त्यों रहने दिए।

गांधी हत्या का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर स्वीकार करके नथूराम ने स्वेच्छापूर्वक फाँसी स्वीकार की, किन्तु गांधी-वध के पूर्व और पश्चात् के रोमांचकारी

क्षण कैसे थे, यह हमें यहाँ देखना है।

तीन गोलियों के छूटने की प्रक्रिया रुक-रुक कर अथवा नियमित रूप से चल रही थी, ऐसा हमें अनेक साक्षियों के अनुसार प्रकट होता है। अनेक साक्षियों का कहना है कि उन्होंने त्वरित, तत्परता और कुशलता से नथूराम को पकड़ा। सबसे पहले हमने ही नथूराम को पकड़ा, यह तो प्राय: सभी कहते हैं। नथूराम के पास ६०६८२४ क्रमांक वाली एक स्वचालित पिस्तौल थी। उसमें सात गोलियाँ थीं। रिवाल्वर में प्राय: ६ गोलियों की व्यवस्था होती है। प्रत्येक गोली छोड़ने के लिए घोड़े को बार-बार दबाना पड़ता है, किन्तु स्वचालित पिस्तौल का घोड़ा दबाते ही सभी गोलियाँ लगातार एक के पश्चात् एक करके छूटने लगती हैं। यह कार्य बहुत द्रुतगति से होता है। घोड़े को दबाकर तत्काल छोड़ देने पर भी स्वचालित पिस्तौल से एक ही गोली छूटना असंभव है। उतने समय में भी न्यूनतम दो गोलियाँ छूट जाती हैं।

नथूराम ने एक ही बार घोड़ा दबाकर तत्काल छोड़ दिया था। उनकी कल्पना थी कि इतनी अल्प अवधि में दो गोलियाँ छूटी होंगी, किन्तु गोलियाँ दो नहीं, तीन छूटी थीं। यह उन्हें पीछे ज्ञात हुआ। अतिशीघ्रता से छूटने पर भी प्रत्येक गोली के छूटने की ध्वनि पृथक्-पृथक् होगी, इसमें कोई संदेह नहीं। एक गोली की ध्वनि से दूसरी गोली की ध्वनि का अन्तर भी केवल मन में ही गिनना संभव है। जीभ द्वारा शीघ्र उच्चारण से भी उससे व्यक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि उच्चारण का वेग बहुत बढ़ाने पर भी वह गोलियों के छूटने के वेग से बहुत मंद होगा। इसमें सन्देह हो तो पाठक अधिकारी-व्यक्तियों से इस वस्तुस्थिति की सत्यता के बारे में पूछ सकते हैं।

पुलिस सब-इन्सपेक्टर श्री अमरनाथ की साक्षी विशेष न्यायालय में दिनांक ९.७.१९४८ को हुई। बिड़ला भवन में गांधी जी की रक्षा के लिए नियुक्त पुलिस दल के वे नायक थे। उन्होंने कहा, '...मैं उस समय गांधी जी से अढ़ाई-तीन पग के अन्तर पर बाईं ओर था। मैंने गोली की एक ध्वनि सुनी और साथ ही साथ उसका धुआँ देखा। कोई गोली चला रहा है, ऐसा मुझे लगा। तब मैंने आगे घुसकर गोली चलाने वाले व्यक्ति को पकड़ लिया। तब तक तीन गोलियाँ चलाई जा चुकी थीं। वे गोलियाँ गांधी जी को लग चुकी थीं। भीड़ में से सार्जेन्ट देवराजसिंह आगे आ गया था। उसने मारने वाले की कलाई पकड़ी और हाथ से रिवाल्वर छीन लिया। रिवाल्वर में से धुआँ निकल रहा था। मारने वाला आक्रमणकर्ता गांधी जी से ढ़ाई पग की दूरी पर था......।'

३० जनवरी की घटना के सम्बन्ध में यह पहली साक्षी थी। साक्षी हो जाने पर नथूराम के अधिवक्ता श्री वी. वी. ओक ने प्रति-परिक्षण के अभिप्राय से नथूराम की ओर देखा। उनके द्वारा नथूराम ने न्यायालय को बता दिया कि ३० जनवरी की घटना के सम्बन्ध में अभियोजक जो भी साक्षी प्रस्तुत करेंगे उनकी जिरह कराने की उनकी इच्छा नहीं है। न्यायालय के पूछे जाने पर भी पीछे उनके द्वारा यह आक्षेप तो नहीं किया जायेगा कि उन्हें अपने बचाव का अवसर नहीं दिया गया, नथूराम ने अपना निश्चय दोहरा दिया।

दिल्ली के एक व्यापारी श्री नन्दलाल मेहता की साक्षी दिनांक ९-७-१९४८ को हुई।

वे उस दिन बिड़ला भवन में उपस्थित थे। उन्होंने कहा—'...गांधी जी दिनांक ३०-१-१९४८ को लगभग ५.१० सायं अपने कक्ष से प्रार्थना-स्थल की ओर चले तो उनके साथ दस-बारह व्यक्तियों का समूह था जिसमें मैं भी सम्मिलित था। सहसा मैंने दो-तीन गोलियों की ध्वनि सुनी। मैंने आगे की ओर छलांग मारी। मेरे हाथ आक्रमणकारी पर पड़े उसके हाथ में पिस्तौल थी। थोड़े समय पश्चात् ही तीन-चार लोगों ने आक्रमणकारी को पकड़ लिया...।'

श्री मेहता ने अंत में अपनी साक्षी में संशोधन कर लिया। '...मेरा हाथ हत्यारे पर पड़ने तक तीन-चार लोगों ने उसे पकड़ लिया था।' इस पर प्रति-परीक्षण नहीं हुआ।

पुलिस काँस्टेबल श्री रतनसिंह की साक्षी भी उसी दिन हुई। बिडला भवन में जो सिपाही रखे गए थे उनमें वह भी एक था। आपका कहना है—'मैंने एकाएक दो-तीन गोलियों की ध्वनि सुनी तो मैं उस दिशा में दौड़ा जिससे आवाज आई थी। श्री अमरनाथ और श्री धर्मसिंह तथा एक सेना अधिकारी ने हत्यारे को पकड़ रखा था, यह मैंने देखा।'

न्यायालय के यह पूछे जाने पर कि क्या वे हत्यारे को पहचान सकते हैं श्री रतनसिंह ने नथूराम और आपटे की ओर इंगित करके उत्तर दिया कि उन दोनों में से किसी एक को ३० जनवरी के दिन घटना-स्थल पर पकड़ा गया था। निश्चित रूप से दोनों में से किसे पकड़ा गया था, इसकी स्मृति उसे नहीं है।

दिनांक ९-७-१८४८ को हुई साक्षी में हेड कांस्टेबल श्री धर्मसिंह (क्रमांक १६७६) ने कहा—'...मैं उस दिन प्रार्थनास्थल पर नियुक्त था। मैंने गोली की एक ध्वनि सुनी तो खुले स्थान में होकर आगे बढ़ा। इसी बीच दो और गोलियों की आवाज हुई। पिस्तौलधारी पुरुष को मैंने देखा। मैंने उसका दाहिना हाथ ऊपर उठाया। इतने में एक अन्य सैनिक ने आकर उसके हाथ से पिस्तौल छीन ली। हत्यारा गांधी जी से डेढ़ फुट की दूरी पर था।'

(भाग १, पृष्ठ ५४-५५)

बिड़ला भवन के माली श्री रघुनाथ नाईक की साक्षी दिनांक २०-७-१९४८ को हुई। श्री रघुनाथ का कहना है: 'मैं उस समय गांधी जी की दाहिनी ओर पाँच-दस पगों की दूरी पर था। हत्यारा गांधी जी के सामने उसी समय आया था। वह किस ओर से आया, यह मैं नहीं कह सकता। पिस्तौल की आवाज सुनकर मैंने हत्यारे की ओर छलांग मारी। बीच में मैंने तीन गोलियों की ध्वनि सुनी। मैंने अपने हाथ के खुरपे से हत्यारे पर पीछे से दो प्रहार किये। खुरपा सात-आठ इंच लम्बा रहा होगा। पीछे से ही मैंने हत्यारे को पकड़ा। उसे दो सिपाहियों और एक सैनिक ने भी पकड़ रखा था। सिपाहियों ने उसके हाथ की पिस्तौल ले ली थी।' (भाग १, पृष्ठ १५६)

दिल्ली व पानीपत के एक अन्य व्यापारी श्री गुरुबचनसिंह केन्द्रीय निर्वासित समिति के सदस्य थे और कम्बलों एवं खेसों के निर्माण का कार्य करते थे। गांधीजी के पास उनका बहुत आना-जाना था। उस दिन वे दिन के तीन बजे से ही बिड़ला भवन में थे। उन्होंने दिनांक ३०.७.१९४८ को अपनी साक्षी में कहा—'लगभग पाँच बजे मैंने गांधी जी को प्रार्थना-स्थल के समय की स्मृति दिलाने के लिये आँखों से संकेत किया। प्रार्थना-स्थल

की ओर जाते हुए मैं मार्ग में एक दो व्यक्तियों से बातचीत में लगा रहा। गांधी जी के आगे एक-दो व्यक्ति सदा रास्ता बनाने के लिये चलते थे। एक-दो व्यक्ति उनके पीछे होते थे, अन्यथा मैं उनके आगे या दाएं-बाएं रहता था। उस दिन गांधी जी के नियमित सेवकों में से कोई भी उनके आगे नहीं था। श्री नंदलाल बायीं और श्री बृजकृष्ण पीछे थे। प्रार्थनास्थल पर एक बड़ा समुदाय गांधी जी की प्रतीक्षा में था। मैंने गांधी जी के आगे हो जाने का प्रयत्न किया, किन्तु आगे कुछ लड़कियों और महिलाओं के होने के कारण वैसा न कर सका, तब मैंने उनके दूसरे पार्श्व से होकर उनके आगे जाने की चेष्टा की। इतने में ही मैंने एक गोली की ध्वनि सुनी। वह ध्वनि किधर से आई यह मैं नहीं समझ सका। गांधी जी के आगे होने के लिए मैं प्रयत्नशील था। मैंने गोली की एक और ध्वनि सुनी। गोलियाँ चलाने वाले व्यक्ति को मैंने अपने सामने ही खड़े देखा। उसके हाथों पर मेरे झपट्टा मारने से पूर्व ही संभवत: उसने तीसरी गोली भी दाग दी थी। तुरंत ही बहुत से लोगों ने हत्यारे को पकड़ लिया और मैंने अपना ध्यान गांधी जी की ओर मोड़ दिया...।'

इस आशय के वक्तव्य साक्षियों ने दिए। सभी साक्षी उद्धृत करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है, इसलिये उन्हें मैंने नहीं दिया है। उनके सम्पूर्ण संदर्भ मुद्रित अभिलेख के पहले भाग के पृष्ठ क्रमांक ५० से ५४, १५६, १७९, १८० पर पढ़े जा सकते हैं।

हम घटना के प्रत्यक्षदर्शी नहीं थे, इसलिये वास्तविक घटनाक्रम को जानने की हम लोगों को जिज्ञासा हुआ करती थी। किसी साक्षी के सम्बन्ध में संदेह होने पर हम परस्पर चर्चा किया करते थे। पिस्तौल का धुआँ देखने सम्बन्धी साक्षी के विषय में पूछने पर नथूराम ने कहा—'मेरे अनुमान से तो धुआँ निकला ही नहीं, सूक्ष्म महक मात्र आई थी।'

'तब शस्त्र-विशेषज्ञ से ही क्यों न पूछ लें? उसकी साक्षी तो अभी तक नहीं हुई है।' डॉ० डी. एन. गोयल का बयान आगे चलकर दिनांक २-८-१९४८ को हुआ। वे साइंटिफिक लेबोरेटरीज के डायरेक्टर थे और शस्त्रों के विशेषज्ञ थे।

(भाग १, पृष्ठ ११८)

किन्तु नथूराम ने कहा—'मान लो पिस्तौल से धुआँ न निकलना भी प्रमाणित हो गया तो अधिक से अधिक यही सिद्ध होगा न कि अमरनाथ ने अतिरंजित और कल्पनापूर्ण बयान दिया है, किन्तु जब मुझे कोई निमित्त खोजना ही नहीं है तो इस प्रति-परीक्षण का प्रपंच क्यों? अपनी साक्षी तर्क-सम्मत है या नहीं, यह देखना अभियोजक का काम है।'

दिल्ली के इरविन हास्पिटल के प्रमुख डॉ० कर्नल बी. एल. तनेजा ने अपने बयान में गांधीजी के शरीर पर पाँच घावों का विवरण दिया। मृत्यु पिस्तौल की गोलियों से हुई यह अपना अभिमत भी उन्होंने व्यक्त किया। जो कुछ डॉ० तनेजा को कहना था उसकी प्रतिलिपि बचाव-पक्ष को पहले ही दे दी गई थी, इसलिए अधिवक्ताओं में उस पर बहस हो रही थी। गांधी जी की शव-परीक्षा (पोस्ट-मार्टम) नहीं हुई थी, फिर कुछ विशेषज्ञों के अनुसार श्री तनेजा द्वारा देखे गए और उनकी रिपोर्ट में लिखे घाव पिस्तौल की गोली से होने वाले घावों से मेल नहीं खाते थे।

श्री तनेजा द्वारा गांधी जी की मृत्यु के कारण के सम्बन्ध में दिया गया मत ग्राह्य नहीं है। गांधी जी की मृत्यु गोलियों से नहीं हुई और यदि वह गोलियों से हुई भी है तो भी नथूराम

के पिस्तौल की गोलियों से नहीं हुई और यदि उसी की पिस्तौल की गोलियों से हुई तो नथूराम ने उस पिस्तौल का उपयोग नहीं किया जो उसके हाथों से छीनी गई, क्योंकि जो पिस्तौल छीनी गयी उससे शस्त्र विशेषज्ञ के अनुसार धुआँ नहीं निकल सकता और प्रत्यक्षदर्शियों ने गोलियों के साथ पिस्तौल से धुआँ निकलता देखा था। इस प्रकार अभियोग को एक पृथक् मोड़ देने की बचाव पक्ष के वकीलों की इच्छा थी, किन्तु नथूराम ने न्यायालय में स्पष्ट शब्दों में यह कहने का निश्चय किया था कि उनके द्वारा उपयोग किए गए पिस्तौल की गोलियों के घावों से ही गांधी जी का देहान्त हुआ। इसी कारण श्री तनेजा की साक्षी के पश्चात् नथूराम ने अपने अधिवक्ता को उनसे एक भी प्रति-प्रश्न नहीं करने दिया। दिनांक १२-७-१९४८ को हुई श्री तनेजा की साक्षी पर न्यायमूर्ति की ही टिप्पणी ध्यान देने योग्य है—प्रति-परीक्षण नहीं (Cross Examination Nil)' (भाग १, पृष्ठ ५५)। अतएव आज नथूराम की स्वीकारोक्ति की मृत्यु के कारणों के विषय में यदि कोई मुख्य सम्पुष्टि (Corroboration) है तो वह श्री तनेजा की रिपोर्ट ही है।

श्री तनेजा से प्रति-परीक्षण नहीं होगा, यह कल्पना अभियोजकों ने भी नहीं की थी। श्री दफ्तरी ने आश्चर्य व्यक्त किया, क्योंकि उस समय प्रमुख अभियोजक वही थे। साक्षी कुछ ही समय में समाप्त हो गई थी। परिणामत: उसी श्रृंखला के अन्य साक्षी उन्होंने तय्यार नहीं कर रखे थे। अत: उस दिनांक को गांधी जी की मृत्यु के विषय से असम्बद्ध साक्षियों के बयान ही लिए गए।

गांधी-वध के दिन नथूराम के सिर पर दो, तीन आघात हुए थे जिनके कारण घावों से रक्त बह रहा था। रघुनाथ माली ने अपने खुरपे से नथूराम पर प्रहार करने की अपने बयान में चर्चा की थी, किन्तु नथूराम ने बताया—'माली पूर्णतया झूठ बोल गया है। हाथ में रखी जाने वाली छड़ी के दो-चार आघात मेरे सिर पर लगे थे, किन्तु तत्काल नहीं, घटना के चार-पाँच मिनिट पश्चात्। जब डाक्टर ने मेरी चिकित्सा की, तब तक रक्त जम गया था। मेरे घावों का विवरण भी डॉ० ने लिखा है। उसमें घावों को मामूली (All apparent Simple) बताकर उन्हें ठोस शस्त्र प्रहारजन्य (Blunt) लिखा है।'(सर्व प्रतिवृत्त भाग ४, पृष्ठ १८७, प्रमाण क्रमांक पी. २४९ पर)

नथूराम को पकड़ने में अपनी तत्परता का लगभग सभी साक्षियों ने उल्लेख किया है, इस सम्बन्ध में नथूराम ने हमें बताया था कि, 'मेरे हाथ में पिस्तौल थी, गोलियाँ मैं दाग चुका था, और गोलियाँ मैं नहीं दागूँगा, यह विश्वास किसी को नहीं था। यदि किसी सशस्त्र सिपाही ने उस समय मुझ पर गोली चलाई होती तो वह नि:सन्देह उचित होता, किन्तु हुआ यह कि एकाएक दागी गई उन गोलियों से सभी किंकर्तव्य विमूढ़ और आतंकित हो गए थे। बहुत पास के लोगों ने मेरे हाथ में रिवाल्वर देखा था। इस दशा में प्रत्येक व्यक्ति को अपने ऊपर भी गोली चलाए जाने की आशंका थी, इसलिए सभी लोग तत्काल पाँच-सात पग पीछे हट गए, गांधी जी के आगमन के लिये जो मार्ग छोड़ा गया था और जिस पर मैं खड़ा था वह मार्ग और चौड़ा हो गया। चार पग के अन्तर पर ही गांधी जी अचेत हो गिरे हुए थे। मेरे चारों ओर एक बड़ा-सा घेरा बन गया था। मेरा सशस्त्र हाथ ऊपर उठा हुआ देखकर लोग स्यात् और पीछे नहीं हटे।

'गोलियाँ छोड़ते ही पिस्तौल वाला हाथ ऊपर उठाकर मैं 'पुलिस! पुलिस!!' चिल्लाया, किन्तु आधा मिनिट बीतने पर भी कोई पास में नहीं आया। उस समय प्रत्येक क्षण मेरे मन के ऊपर तनाव बढ़ता जा रहा था। मैं बहुत अस्वस्थता अनुभव कर रहा था। मुझे लगा कि मैं उत्तेजित हो रहा हूँ।'

'आपके मन पर तनाव और उत्तेजना बढ़ने का क्या कारण था? उस समय तो किसी ने आपको मारने के लिए हाथ नहीं उठाया था।' मैंने बीच में ही नथूराम को टोका।

'कोई मुझे मारेगा और यदि मारेगा तो उसका बचाव मुझे कैसे करना है, यह कल्पना उस समय मेरे मन में तनिक भी नहीं थी। उस समय की अपनी मन:स्थिति को आज मैं प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता हूँ। गांधी-वध के किसी भी परिणाम को भोगने के लिए मैं तत्पर था, किन्तु मैं तीन आरोपों से बचना चाहता था। मैंने भाग जाने का प्रयत्न किया, ऐसा संकेत भी किसी के द्वारा हो, यह मैं नहीं चाहता था। आधे मिनिट के पश्चात् मैंने फिर पुलिस को बुलाया। अपने सामने पूरे गणवेष में खड़े सिपाही को मैं देख रहा था, किन्तु वह मुझे पकड़ने का साहस नहीं जुटा पा रहा था। यदि मैं पिस्तौल फेंक देता तो उसका अर्थ यह लगाया जाता कि मैंने बचाव का रास्ता उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। यह आरोप भी मुझे स्वीकार नहीं था। मैं अपने शस्त्र के साथ स्वयं को पुलिस के हाथों सौंपना चाहता हूँ, यह विश्वास सामने खड़े पुलिस कर्मचारियों को मैं कैसे दिलाऊँ? यह मुझे समझ में नहीं आ रहा था।'

'और कौन-सा आरोप आप नहीं चाहते थे?'

'वही, जिसके भय से २० जनवरी को कार्य कार्यान्वित नहीं हो सका।'

'अर्थात्?'

'मैं भूल से भी किसी और को आघात नहीं पहुँचाना चाहता था। इसीलिए पिस्तौल वाला हाथ ऊपर उठाकर मैं पुलिस के आगे बढ़ने की प्रतीक्षा कर रहा था। अनजाने में भी पिस्तौल यदि मैं नीचे रखता तो नथूराम ने हमारी ओर पिस्तौल तानी थी, ऐसा भी कोई बयान दे देता।'

'फिर आपको कैसे पकड़ा गया?'

'अपनी दृष्टि चारों ओर घुमाने लगा, इतने में अमरनाथ की अथवा जिस सैनिक ने मुझे पकड़ने की बात कही है उसकी दृष्टि से मेरी दृष्टि मिली। आँखों ही आँखों में मैंने उसे निकट आने का संकेत किया। मेरे दृष्टि संकेत पर स्यात् उसने विश्वास कर लिया। वह मेरे पास आया और मेरी कलाई को उसने ऊपर ही ऊपर पकड़ लिया। मैं प्रतिकार नहीं कर रहा हूँ, यह उसने जान लिया। उसी समय मेरे मन का बोझ मानों उतर गया। मैंने मुक्ति का श्वास लिया। इसके पश्चात् दूसरा मनुष्य आया और उसने मेरे पिस्तौल पर हाथ रखा। मैंने उसे उसके हाथों में छोड़ दिया।

'उसके बाद तो अनेक लोगों ने मुझे घेर लिया। कई लोगों ने मुझे पीटा भी। पुलिस भी कितनी मूर्ख थी कि वह पिस्तौल लोगों के कुतूहल की वस्तु बना एक हाथ से दूसरे हाथ घूमती फिर रही थी। एक उत्तेजित व्यक्ति ने पिस्तौल को मेरे सामने करते हुए मुझ से कहा—'मैं तुम्हें इसी पिस्तौल से मार डालूँगा।' मैंने उसे शांत और स्पष्ट शब्दों में कहा—

'बड़ी प्रसन्नता से, किन्तु पिस्तौल को सम्भालने का ज्ञान तुम्हें प्रतीत नहीं होता। उसका सेफ्टीकैच खुला है। तनिक-सा धक्का लग जाने पर भी तुम्हारे हाथ से दूसरा कोई मर जाएगा। उसमें और भी गोलियाँ हैं, यह ध्यान में रखो।' फिर मैंने पास खड़े पुलिस अधिकारी से कहा—पहले तुम वह पिस्तौल अपने हाथ में ले लो, उसका सेफ्टीकैच खुला ही रह गया दीखता है, उसे बन्द करो अन्यथा यह भला मानुष मेरे स्थान किसी और को मार बैठेगा।' बात उस अधिकारी के समझ में आ गई और उसने तुरन्त पिस्तौल अपने हाथ में लेकर उसका सेफ्टीकैच बंद करके उसे जेब में डाल लिया। यह हल्ला, गुल्ला कोई पाँच मिनिट तक चलता रहा। उस समय तक और एक-दो सिपाहियों ने मुझे आ पकड़ा था। बाहर निकलते समय मुझ पर छड़ियों से कुछ वार किए गये थे, जिनके घावों से रक्त बहने लगा था।

'मुख्य घटना के सम्बन्ध में तो आपने कुछ कहा ही नहीं।' मैंने उन्हें फिर चालना दी।

संध्या चार बजकर पचास मिनिट पर मैं बिड़ला भवन के द्वार पर पहुँचा। द्वार के रक्षक प्रार्थना-सभा में जाने वालों का निरीक्षण कर रहे थे। इस निरीक्षण का ही मुझे सबसे अधिक भय था। इसलिए चार-पाँच व्यक्तियों के एक झुण्ड के साथ होकर सावधानीपूर्वक मैं अन्दर पहुँचा। वहाँ प्रार्थना-सभा का स्थान लगभग खाली था और मुझे कुछ समय तक ऐसा लगा कि इधर-उधर घूमने वाले सिपाहियों की दृष्टि मानों मुझ पर ही है। तब आस-पास के लोगों की भीड़ में मैं शीघ्रता से जाकर मिल गया।

'पाँच बजकर दस मिनिट हो चुके थे। कुछ लोगों के साथ मैंने गांधी जी को अपने कमरे से निकलकर प्रार्थना-स्थल की ओर आते देखा। उनके मार्ग में प्रार्थना-सभा की सीढ़ियों के निकट खड़े लोगों में मिलकर मैं खड़ा था।'

'गाँधी जी सीढ़ियाँ चढ़कर दो-चार पग आगे आए। उनके हाथ दो बालिकाओं के कंधों पर थे।'

'जेब में हाथ डालकर मैंने पिस्तौल का सेफ्टीकैच खोला। समूह से घिरे गांधी जी के निकटतम होने की सुविधा मुझे कहाँ मिलती है, यह मैंने देख लिया था।'

'मुझे अब केवल तीन सैकिन्ड का समय चाहिये था। दो पग आगे बढ़कर गांधीजी के सामने जाकर, पिस्तौल बाहर निकालने और गांधी जी ने अपने जीवन में जो देश-सेवा की थी, जो त्याग किया था उसके प्रति उनका अभिवादन करने के लिये।'

उन दो लड़कियों में से एक गांधी जी के अत्यन्त समीप थी। मेरी गोलियों से वह आहत होगी, ऐसा मुझे भय था। मैं आगे बढ़ा—'नमस्ते' कह कर पिस्तौल सहित हाथों से गांधी जी का अभिवादन किया। एक डग और आगे बढ़कर उस लड़की को बाएं हाथ से दूर किया।

अगले ही क्षण में मैंने गोली चला दी। उन क्षणांशों के पूर्वार्ध समय में पहले ही कृश गांधी जी 'आह' इस बहुत अस्पष्ट: जैसे भीतर ही भीतर निकले उद्गार हों, के साथ अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़े।

'गांधी जी की अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य आत्मा अंतर्धान हो रही थी और मैं अपनी मृत्यु जैसी जीवित समाधि में प्रविष्ट हो रहा था।'

५ नथूराम! हे राम!

'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा तत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

'...तब तक आप आत्म-निरीक्षण कीजिये। उसके फलस्वरूप हमारी प्रस्तावित भेंट के अंत में आप हमारे साथ गीता के इस श्लोक के रूप में अपनी मनःस्थिति व्यक्त करने में समर्थ होंगे।'

यह था श्री रामदास गांधी द्वारा नथूराम के उत्तर के प्रत्युत्तर में लिखे गये पत्र का अंतिम अंश। श्री रामदास ने यह पत्र दिनांक १३-६-१९४९ को लिखा था जो अम्बाला जेल में नथूराम को दिनांक २३-६-१९४९ को प्राप्त हुआ।

जो अपना अभिप्राय सरल और सुस्पष्ट शब्दों में अपने पाठक के मस्तिष्क में सहजता के साथ उतार सके , उसी को कुशल लेखक माना जाता है। यदि किसी सामग्री का अर्थ कठिन भाषा आदि के कारण पाठक को समझ न आए तो दोष पाठक का नहीं, सम्बन्धित लेखक का माना जाना चाहिए। उपर्युक्त श्लोक का शब्दार्थ संस्कृत के किसी भी प्राथमिक विद्यार्थी की समझ में आ जायेगा, किन्तु गीता का महत्त्व उसके शब्दार्थ के नहीं, भावार्थ के कारण है। इसलिए गीता का अभिप्राय स्पष्ट करने के लिये जगद्गुरु शंकाराचार्य से लोकमान्य तिलक तक अनेक विद्वानों द्वारा प्रचुर साहित्य लिखा गया है। आगे भी लिखा जाता रहेगा।

जिस सन्दर्भ में श्री रामदास गांधी ने ऊपर का श्लोक उद्धृत किया, उस संदर्भ में उसका वांछित अभिप्राय नथूराम समझेंगे, यह उनका अनुमान था। नथूराम के सम्बन्ध में उन्होंने यत्र-तत्र जो कुछ सुना या पढ़ा था उससे उनके मन में नथूराम के प्रति जो धारणा बनी थी, वह नथूराम द्वारा दिए गए पत्रोत्तर से पुष्ट हो गई थी। फाँसी का फन्दा जिसके सिर पर लटक रहा हो उसके द्वारा अत्यंत निश्ंचित और निर्विकार भाषा में लिखा गया पत्र उसके सामने था। उस दशा में भी नथूराम का मन निरुद्विग्न और मस्तिष्क निर्मल एवं विचारशक्ति पूर्णतया सक्षम थी। इसलिये उद्धृत श्लोक के पीछे निहित आशय, उसका लक्ष्य, उद्देश्य और प्रसंग नथूराम को सविस्तार लिखने की श्री रामदास ने आवश्यकता नहीं समझी।

उपरिनिर्दिष्ट पत्र और उसके प्रत्युत्तर का आशय समझने के पूर्व नथूराम के तात्त्विक ज्ञान की पृष्ठभूमि को समझना समयोचित होगा। भारत की राजनीति पर गांधी जी का उनकी मृत्यु पूर्व के ३५ वर्षों में कितना प्रभाव था, इसे प्रायः सभी जानते हैं। ऐसे महान और प्रभावशाली व्यक्ति के देहान्त के लिये नथूराम निमित्त बने थे। इसलिये उनके पूर्ववृत्त का किंचित अवलोकन अप्रासंगिक नहीं है।

संकट से घिर जाने पर ही मनुष्य दार्शनिक हो जाता है, ऐसी बात नहीं है। ईश्वर प्रदत्त बुद्धि पर वातावरणजन्य संस्कारों के द्वारा व्यक्ति का मानसिक स्तर निर्मित होता है। परंपराजन्य विचारों, रीतियों और रहन-सहन का जीवन पर बाल्यावस्था से ही प्रभाव पड़ता रहता है। उस प्रभाव का अंश भी मानसिक विकास का कारणभूत है। हम अनुभव करते हैं कि बुद्धि का वितरण व्यक्ति व्यक्ति में समसमान नहीं है। हो सकता है, प्रकृति ने अभी तक साम्यवाद को अंगीकार न किया हो, यही उसका कारण है। प्राय: इसलिये अन्य तत्त्वों के समान होते हुए प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक संरचना और ग्रहणशीलता पृथक्-पृथक् होती है। नीचे उद्धृत इस श्लोक में यह वस्तुस्थिति सोदाहरण समझायी गई है :

वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे।
न तु खलु तयोर्ज्ञाने वृद्धिर्धिकं रोत्यपहन्ति वा॥
भवति च पुनर्भूयान्भेदः फलंप्रति तद्यथा।
प्रभवति शुचिर्बिम्बग्राहे मणिर्न मृदांचयः॥

किसी व्यक्ति की तत्त्वचिंतन क्षमता के विकास का क्रम उसके पूर्वचरित्र के माध्यम से सरलतापूर्वक समझा जा सकता है। किसी के मर्मस्पर्शी व्यवहार का सम्बन्ध भी हम उसके पूर्वचरित्र में पा ही जाएँ, यह आवश्यक नहीं है। चाहे वह व्यवहार शास्त्रीय शोध से सम्बन्धित हो या अपने प्राणों पर संकट झेल कर दूसरे की प्राणरक्षा करने का हो अथवा किसी के संहार का हो। मेरे मत में इस प्रकार के अप्रत्याशित व्यवहार के पीछे सम्बन्धित व्यक्ति की मानसिक संरचना में सहायक जीवन के आरंभिक काल के वे तत्त्व हैं जो अज्ञात रह जाते हैं और ऊपरी निरीक्षण से जिनका ज्ञान नहीं हो पाता।

नर हत्या स्वयं में एक घृणित कार्य है। नथूराम को भी गांधी-वध के पूर्व और पश्चात् वह घृणित ही प्रतीत हुआ था। क्या नथूराम ऐसा अप्रिय कार्य कर सकते हैं, जैसे सन्देह करने पर समय व्यर्थ करने की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने यह अप्रिय कार्य किया था, यह एक वास्तविकता है। उनके इस अपराधी कार्य का उनके पूर्वचरित्र की ज्ञात घटनाओं से कहीं कोई सम्बन्ध हो तो पाठक स्वयं देख लें।

मानव मन के अध्ययन के लिए एक और बात पर विचार भी शिक्षाप्रद होगा। भारत की स्वाधीनता के उद्देश्य से असंख्य क्रांतिकारियों और सत्याग्रहियों ने प्रसन्नता से प्राण विसर्जित किए, यह हम जानते हैं, किन्तु मृत्यु का आह्वान करने की उनमें से अनेक की रीति विलक्षण थी। एक उदाहरण दृष्टव्य है। ऊपर से एक साधारण श्रमिक प्रतीत होने वाले बम्बई के हुतात्मा बाबू गेनू ने जिस प्रकार मृत्यु का वरण किया उसकी स्मृति से उनके हौतात्म्य के इतने वर्षों के पश्चात् आज भी शरीर रोमांचित हो उठता है। जिस निष्ठुर अंग्रेज सैनिक ने अपने सामने लेटे बाबू गेनू पर निर्दयतापूर्वक गाड़ी चला दी थी उसने भी तत्काल नीचे उतरकर मृत देशभक्त की धीरता, स्थिरता और मृत्यु के प्रति निर्भयता के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिये अपना सिर से टोप उतार कर उनका अभिवादन किया था। वह गोरा सैनिक बाबू गेनू का साक्षात् काल था, किन्तु वह काल भी उस अलौकिक धैर्य को देखकर सिहर उठा था।

तू मुझे डराता है या मैं तुझे? इस प्रतिस्पर्धा के साथ मृत्यु से आँखें मिलाकर उससे दो हाथ करके उस पर विजय प्राप्त करके अमर हो जाने वाले अनेक क्रांतिवीरों के वृत्त हमने पढ़े हैं। मृत्यु की छाया में अण्डमान की कालकोठरियों में वे किस प्रकार रहते होंगे, उनकी दिनचर्या कैसी रही होगी, उनकी स्थिरता किस प्रकार बनी रही होगी, इसका कुतूहल हमें हो तो वह स्वाभाविक है। मेरा विश्वास है कि नथूराम के उदाहरण से उन क्रान्तिवीरों की मन:स्थिति की कल्पना की जा सकती है। यह तुलना केवल उसी सीमा तक होनी चाहिए। नथूराम की घटना स्वाधीनता के पश्चात् हुई थी, इसलिये वह स्वातंत्र्यार्थ किए गये प्रयत्नों की श्रेणी में नहीं आती। मानव मन में अध्ययन के लिए नथूराम के उदाहरण की सहायता से केवल यह देखना है कि मृत्यु की छाया में मनुष्य किस प्रकार स्थिरचित्त रह सकता है। क्या उसके पूर्व चरित्र से उस दृढ़ता का कोई सम्बन्ध है?

मुझे नहीं लगता कि नथूराम की स्थितप्रज्ञता के लिए अब तक के लेखों में दिए गए अधिकृत प्रमाणों के अतिरिक्त किसी और प्रमाण की आवश्यकता है। केवल दो-चार क्षणों का यह प्रश्न नहीं था। प्रत्युत मृत्युपाश के अदृश्य स्पर्श को ग्रीवा पर अनुभव करते हुए, क्षणों से बनने वाले घंटों और घंटों से बनने वाले दिनों और दिनों से बनने वाले महिनों तक, कोई कैसे मन और मस्तिष्क से स्थिर रह सकता है, यह एक तर्कातीत स्थिति है, किन्तु अनेक लोग इस प्रकार रहे हैं, यह एक तथ्य है। गांधी-वध से फाँसी तक साढ़े इक्कीस महीने अथवा छः सौ पचपन दिन और यदि मृत्युदण्ड का निर्णय सुनने के बाद से गिनें तो भी पूरे दौ सौ सतहत्तर दिन नथूराम ने फाँसी की प्रतीक्षा करते हुए व्यतीत किए थे। इन सम्पूर्ण दिनों में नथूराम की दैनिक दिनचर्या, अपरिवर्तित, पूर्ववत और पूर्ण व्यवस्थित रूप में चलती रही। उन्हें न तो खान-पान से विरक्ति हुई थी, न उनकी निद्रा का ही ह्रास हुआ था। इतनी ही नहीं प्रत्युत इस अवधि में उन्हें ज्वर, सर्दी, खाँसी और मस्तक पीड़ा जैसी छोटी-छोटी व्याधियाँ भी नहीं हुईं। हो सकता है खानपान की अविछिन्न नियमबद्धता ही उसका कारण हो। अन्यथा कभी-कभी मस्तिष्क पीड़ा हो जाना नथूराम की एक स्थायी व्याधि थी। सिर एक बार दुखने लगता तो संध्या तक वे कोई काम नहीं कर पाते थे। दिन भर पड़े-पड़े बिताना पड़ता था। एक दिन एक साक्षी के समय न्यायालय को भी इसका ज्ञान हुआ था।

क्षमा आश्वासित साक्षीदाता बड़गे ने कहा है कि २० जनवरी को नथूराम का सिर दुख रहा था। इसी कारण नथूराम अपने साथियों के साथ, जिनमें बड़गे भी था बिड़ला भवन नहीं जा सकते थे। इस सम्बन्ध में आपटे का कहना था कि २० जनवरी को बिड़ला भवन जाने का उद्देश्य गांधी जी के समक्ष उनकी हिन्दूद्रोही नीतियों के विरुद्ध प्रदर्शन करना था। नथूराम ने इस विषय में उच्च न्यायालय में इस प्रकार अपना पक्ष प्रस्तुत किया—'बड़गे के कथनानुसार मेरा सिर दुख रहा था। उसी के कथनानुसार मैं उसके अथवा आपटे के साथ बिड़ला भवन की ओर नहीं गया। इसलिये न्यायमूर्ति को यह मान लेना चाहिए कि मैं उस दिन वहाँ गया ही नहीं।'

सिर दुख रहा था यह मानने में न्यायमूर्ति को कोई आपत्ति न थी, किन्तु नथूराम की

उपरोक्त युक्ति के दूसरे भाग के सम्बन्ध में अपने निर्णय में न्यायाधीश अछरूराम कहते हैं—'पाँच सप्ताह से यह याचिका हमारे सामने चल रही थी और विशेषतया उन आठ नौ दिनों की अवधि में, जब नथूराम ने अपनी याचिका पर स्वयं बहस की, हमने उसे बहुत कुछ देखा-समझा है। उस आधार पर मैं कल्पना भी नहीं कर सकता कि उस कोटि का मनुष्य स्वयं पीछे रह जाने का विचार भी मन में ला सकता है।

('We have seen quite enought of Nathuram during the period of more than five weeks while we were hearing these appeals and particularly during the eight or nine days while he was arguing his own case, and I cannot imagin that a man of his calibre could have even entertained the idea.' : Cyclostyled Judgement, Page 439.)

नथूराम का स्वास्थ्य और उनकी चित्तवृत्ति इतनी उत्तम थी कि घटना के पूर्व सिर का दर्द जैसी कोई व्याधि उन्हें हो सकती है, जिससे वे कार्य करने में असमर्थ हो जाएँ, ऐसा न्यायमूर्ति को विश्वास नहीं हुआ।

नथूराम का लेखन और अध्ययन अन्त तक चलता रहा। फाँसी के केवल एक दिन पूर्व ही उन्होंने श्री ग. त्र्यं. माडखोलकर के लिए एक लम्बा पत्र लिखा था। और भी कई पत्र उन्होंने उसी दिन लिखे थे। फाँसी के दिन भी अधिकारियों से अनुमति लेकर अनेक लोगों ने उनके हस्ताक्षर लिए थे।

नाना आपटे ने 'प्रशासन' (Administration) के विषय पर फाँसी की छाया में रहते हुए एक विस्तृत निबन्ध लिखा था। सम्प्रति वह शासन के नियन्त्रण में है।

समय तो अनादि-अनन्त रहता है। घड़ी और पलों से इनकी लम्बाई न घटती है, न बढ़ती है। दिन बड़ा है या छोटा, इस परिभाषा का प्रयोग हम पृथ्वी की परिक्रमा को दृष्टि में रखकर नहीं, प्रत्युत उस पूरी परिक्रमा के प्रकाश के पक्ष के आधार पर करते हैं। अन्यथा समय के दीर्घ या लघु होने की संज्ञा पूर्णतया तुलनात्मक है। अपने मन की दशा उस समय की भावना द्वारा प्रभावित होती है। सापेक्षवाद (Theory of Relativity) के तत्त्वों की समीक्षा करते हुए आइंस्टाइन ने एक मनोरंजक उदाहरण दिया है। प्रेयसी की प्रतीक्षा में बीते पाँच मिनिट हमें पाँच घण्टों जैसे प्रतीत होते हैं, किन्तु इसके विपरीत उसके सम्पर्क में बिताये गये पाँच घण्टे पाँच मिनिटों के समान तत्काल बीत जाते हैं। इस प्रकार मन की विशिष्ट अवस्था के कारण समय की न्यूनता या अधिकता का आभास होता है।

मरुप्रदेश की प्राणदाहक ऊष्णता में बिताये गए समय और वातानुकूलित सुविधा सम्पन्न विलासगृह में व्यतीत किए गए उतने ही समय की अनुभूति में कितना अन्तर होता है? एक को किसी प्रकार काट पाना भी कठिन हो जाता है, जबकि दूसरे के शीघ्रता से समाप्त होने का आभास तक नहीं होता। समय की दीर्घता तो उतनी ही होती है, किन्तु सुख-दुःखादि अनुभूति के कारण इसका ज्ञान बढ़ता या घटता प्रतीत होता है।

युद्ध के वातावरण का तनावपूर्ण समय सक्रिय युद्ध के क्रियाशील समय से अधिक बोझिल और उबा देने वाला होता है, ऐसा सैनिकों का प्रत्यक्ष अनुभव है।

फाँसी के दण्ड का क्रियान्वयन, वस्तुतः दण्ड की भयावहता नहीं है, प्रत्युत वह तो यातना से त्राण देने वाली एक अत्यंत साधारण घटना है। मृत्युदंड का सबसे अधिक त्रासदायक अंश हैं फाँसी के फन्दे की प्रतीक्षा में बिताया जाने वाला वह समय जो प्रायः पर्वत बन जाता है और काटे नहीं कटता।

फाँसी के दण्ड प्राप्त बंदी और साधारण बैन्दियों की स्थिति और मनोदशा में बड़ा अन्तर है। अन्य बहुत से कारावासी भी कारागार की प्राचीरों के भीतर होते हैं, किन्तु वे समूहबद्ध रखे जाते हैं। किसी अत्यंत उद्दंड या अनुशासनहीन बन्दी के लिये जो सबसे कठोर दण्ड कारागार के विधान में माना जाता है, वह है एकान्तवास। जिसे सामान्य भाषा में 'तनहाई' कहा जाता है। किसी भी मनुष्याकृति को देखने के लिए 'तनहाई' का बन्दी तरस जाता है। इसी प्रकार फाँसी की कोठरी में फाँसी की प्रतीक्षा करते हुए बंदी का यदि कोई प्रत्यक्षदर्शी होता है, तो वह होता है उसका मन। फाँसी की कोठरी में मन ही उसका संगी, साथी होता है। दिनभर फाँसी की कोठरी के दण्डित को इसी सीमा में रखा जाता है।

वास्तव में फाँसी के दण्ड से कारावास का कोई सम्बन्ध नहीं है। अपराधी को दण्ड फाँसी का दिया गया है, कारावास का नहीं। किन्तु यदि उसे कारावास भी सहना पड़ता है तो केवल अपरिहार्य सुरक्षा की दृष्टि से। मृत्युदंड प्राप्त अपराधी कहीं भाग न जाए, इस भय से उस पर कठोर प्रतिबंध रखा जाना अनिवार्य हो जाता है। इस प्रकार फाँसी के पूर्व का कारावास भोगना ही पड़ता है। ऐसा कारावास सब प्रकार के कारावासों से अधिक कठिन, अधिक कष्टदायक होता है।

फाँसी कोठरी के बन्दी को नित्यकर्म के लिये प्रातः दस-पन्द्रह मिनिटों के लिये बाहर निकाला जाता है। यदि और कभी उसे बाहर निकालना पड़े तो भी उसकी एक निश्चित विधि होती है। बन्दी कोठरी के सींकचों से अपना हाथ बाहर निकालता है। जिसमें बाहर खड़ा प्रहरी हथकड़ी पहना देता है। तद्नंतर द्वार खोलकर उसे बाहर निकाला जाता है। हथकड़ी में बंधे हाथों से ही बन्दी को हाथ-पैर मुँह आदि धोने की क्रिया सम्पन्न करनी पड़ती है। नित्यकर्म के पश्चात् उसे कोठरी के भीतर करके द्वार बन्द किए जाते हैं और फिर उसी प्रकार बन्दी सींकचों से हाथ निकाल कर अपनी हथकड़ी खुलवाता है।

सामान्यतया प्रातःकालीन भोजन साढ़े दस बजे बजे होता है। उसके पूर्व आधा घंटा या अधिकारियों के सौजन्य से एक घंटा बाहर आंगन में टहलने की सुविधा उसे मिलती है। संध्या में भी इसी प्रकार १५ मिनिट के लिए सारा क्रम दोहराया जाता है। कोठरी में एक कम्बल और एक चद्दर, इतना ही बन्दी का संसार होता है। रात्रि को आशंका होने पर शौच तथा मूत्रपात के लिये या तो कोठरी में ही मिट्टी के पात्र रख दिये जाते हैं या कोने में मिट्टी का ढेर रखा होता है। पानी की आवश्यकता हो तो बाहर से प्रहरी ही उसके हाथों पर पानी डालता है। इस प्रकार यह छोटी-सी कोठरी मानो शौचालय ही होती है।

दीपक होता है तो वह प्रहरी की सुविधा के लिए, कि उसके प्रकाश में वह कक्ष की गतिविधि देख सके। फाँसी का बन्दी रात को सुखपूर्वक सो भी नहीं सकता। वह जीवित है या नहीं, कहीं मर तो नहीं गया, यह देखकर आश्वस्त होने के लिए पहरा परिवर्तन के

समय नव नियुक्त प्रहरी हाँक देकर उसे जगा देता है। प्रत्येक तीन घंटे में पहरा परिवर्तत होता है। अर्थात् प्रति प्रहर निद्रा तोड़ दी जाती है। प्रहरी आया, उसने पुकारा, बन्दी की नींद टूटी और उसने उत्तर दिया तो प्रहरी द्वारा उसे फिर सात्वंना देने का मौखिक प्रयास— 'कुछ नहीं, सो जाओ, ऐसे ही पुकार लिया!' यह सब प्रपंच बन्दी को बहुत अप्रिय लगता है, किन्तु दो-चार दिनों में वह इसका अभ्यस्त हो जाता है। इस यातना से उसकी मुक्ति या तो फाँसी पर लटक जाने पर होती है या दण्ड का पुनर्निर्णय होने और फाँसी की कोठरी से निकाले जाने पर।

प्रात:, सायं और अधिकारियों की इच्छा पर कभी भी कैदी और उसकी कोठरी का परीक्षण होता है। सींकचों की कोई छड़ काटी हुई तो नहीं है, यह देखने के लिये प्रत्येक छड़ को डण्डे से बजाकर या हाथ से हिलाकर परखा जाता है। बन्दी को ऐसा कुछ करने का अवसर न मिले, इसके लिए प्रतिदिन उसकी कोठरी परिवर्तित की जाती है। उसके भोजन की प्रत्येक वस्तु को अधिकारी या प्रहरी चख कर देखते हैं। उसके पश्चात् वह वस्तु उसे खाने को दी जाती है।

नथूराम और आपटे को इनमें से किसी भी नियम में छूट प्राप्त नहीं थी। उन्हें सुविधा थी तो प्रकाश की और लेखन-सामग्री एवं साहित्य की। उनकी कोठरी के बाहर द्वार के निकट एक पटरे पर (मेज पर) उनके लिखने पढ़ने की सामग्री रखी रहती थी। एक पृथक् दीपक उन्हें उपयोग के लिए दिया जाता था। पहले लिखा जा चुका है कि सरदार वल्लभभाई पटेल के सौजन्य से उन्हें 'बी' श्रेणी दी गई थी। नथूराम और आपटे जब क्रमश: बाहर आते थे तब कभी-कभी पटरे पर शतरंज के दाँव लगाते थे। उनमें से एक कोठरी के अंदर और दूसरा बाहर सीकचों के पास बैठकर खेलता था। मनोरंजन के लिये कभी-कभी ताश भी खेलते थे। हम लोग भी उनके साथ कभी-कभी शतरंज खेल लेते थे। फाँसी के उन कैदियों को उस समय मिली इस छोटी-सी सुविधा के लिए मन में आज भी कृतज्ञता का अनुभव होता है।

घर में बैठकर कारावासी के जीवन की कल्पना करना कठिन है; फाँसी कोठरी के जीवन की तो और भी कठिन। स्वाधीनता-संग्राम के संदर्भ में कारावास भोगने वाले थोड़े बहुत लोग अब भी जीवित हैं। कारावास की कठोरता की उन्हें कल्पना है। फाँसी कोठरी के जीवन की कल्पना भी वे अधिक निकट से कर सकते हैं।

इन स्थितियों में भी फाँसी का बन्दी विवशता में जीवित रहता है। दण्ड सुनते ही दूसरे दिन उसे क्रियान्वित करने की पद्धति नहीं है। उच्च न्यायालय से पुनर्विचार की संभावना होती है। पुनर्विचार में मृत्युदंड दूसरे किसी दण्ड में परिवर्तित हो सकता है, पूर्णतया मुक्ति भी मिल सकती है। 'जब तक साँस तब तक आस' की यह भावना उसे आश्वस्त करती है। आशा की इस क्षीण डोरी से बंधा वह सभी यातनाएँ सहन करता रहता है, किन्तु नथूराम ने वैसी कोई आशा नहीं रखी थी। जिस निर्णय और आरोप के विरुद्ध दण्डित को कोई प्रतिवाद नहीं हो उस आरोप और उस पर किए गये निर्णय पर पुनर्विचार की कोई आवश्यकता नहीं रहती। नथूराम ने अपने मृत्युदंड के विरुद्ध पुनर्न्याय की माँग नहीं की

थी। उच्च न्यायालय ने भी ऐसा अभिमत अपने निर्णय-पत्र में व्यक्त किया है (निर्णय-पत्र, पृष्ठ २०४)। उन्होंने दया के लिये भी कोई याचना नहीं की थी। अत: मृत्युदण्ड से मुक्ति की आशा के बल पर फाँसी कोठरी का जीवन बिताने की स्थिति यहाँ न थी। फाँसी अवश्यंभावी है, यह जानते हुए वे कालकोठरी में अपने जीवन के अंतिम दिन बड़े धैर्य और निश्चिन्तता से बिता रहे थे।

नाना आपटे कुछ कम धैर्यवान नहीं थे। उनके व्यवहार की एक स्मृति मेरे मन पर अंकित हो गई है। नाना सिगरेट पिया करते थे। मैं जब उनके पास जाता था तो वे मुझसे अवश्य कहते—'गोपाल! सिगरेट?'

मैं नहीं पीता, यह उन्हें ज्ञात था तथापि मैं उनके साथ पीऊँ यह उनकी आंतरिक इच्छा रहती थी। किसी भी वस्तु के उपभोग का आनन्द किसी मित्र के साथ बढ़ जाता है, स्यात् उनके आग्रह के पीछे यही भावना थी, किन्तु मैं टाल जाता था।

केन्द्रीय शासन से अभी तक फाँसी के दिन का निर्देश नहीं आया था और हम सभी को आशा थी कि नाना को फाँसी नहीं होगी। उन्हीं दिनों एक बार मैं उनके पास गया। वे सिगरेट पी रहे थे। सदा की भाँति उन्होंने मुझसे कहा—'गोपाल! सिगरेट ले लो। पंडित (नथूराम) तो घनचक्कर है। वह नहीं पियेगा।'

'नाना! आप मुझसे सदा आग्रह करते हैं, यह ठीक है, किन्तु मेरी दृष्टि में सिगरेट जीवन के लिए कोई आवश्यक वस्तु नहीं है। यह तो एक व्यसन है और व्यसन किसी आनंद के अवसर पर ही अच्छा लगता है। आपको फाँसी नहीं होगी, यह निश्चय हो जाने दीजिये। तब मैं आपके साथ अवश्य सिगरेट पियूँगा।' मैंने उनसे कहा।

'कितना पगला है रे तू गोपाल!' नाना हँस कर बोले, 'जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएँ तो हमें दी गई हैं, उतनी ही हैं। रहने के लिए आश्रय, दोनों समय का भोजन और वस्त्र। क्या प्रत्येक घर में केवल इतनी ही वस्तुएँ होती हैं?'

'किन्तु अन्य सभी वस्तुएँ 'अनावश्यक' की परिभाषा में नहीं आतीं।' मैंने विरोध व्यक्त किया।

'अनावश्यक वस्तुएँ हमें कब आवश्यक प्रतीत होने लगती हैं, यह हम समझ भी नहीं पाते। अभ्यास के कारण वस्तु की 'अनावश्यकता' लुप्त हो जाती है और वह परमावश्यक बन जाती है।' नाना ने समझाना प्रारंभ किया, 'छोटे बालकों को हम खिलौने देते हैं। क्यों? इसलिये कि हम चाहते हैं कि वे खेलें, हँसें, प्रसन्न रहें। वास्तव में खिलौना भी जीवन के लिए आवश्यक वस्तु नहीं है। इधर-उधर की वस्तुएँ मनुष्य के मनोरंजन के लिए हैं। सुख के लिए हैं। उन्हें प्राप्त करने के लिए मनुष्य जीवन भर प्रयत्नशील रहता है। यथासंभव प्राप्य वस्तुओं का उपभोग प्रत्येक व्यक्ति करता है। मुझे लौकिक सुख किस वस्तु में मिलेगा यह निश्चय प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है।'

'कुछ अंशों में क्या यह भोग-वृत्ति नहीं है?' मैंने कहा।

'मैंने तुम्हें जीवन का उद्देश्य नहीं बताया है। जीवन का उद्देश्य क्या है, यह एक अलग बात है। प्राप्य सुख का भी स्वेच्छा से उपभोग न करने के भी कुछ कारण होते हैं। व्यक्ति

पर समाज का कुछ ऋण होता है। अपने-अपने संस्कारों के अनुरूप प्रत्येक व्यक्ति को इस ऋण का थोड़ा बहुत बोध होता है। कुछ प्रसंगों में यह बोध बहुत तीव्र हो जाता है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति अपनी जीवनोपयोगी प्रवृत्तियों में कटौती करने लगता है। जीने का यह भी एक उद्देश्य है। सामान्यतया इसे त्याग कहते हैं। दूसरी अवस्था में कोई व्यक्ति अपनी कमाई में से पाँच सौ, पाँच सहस्त्र या पाँच लाख रुपये सामाजिक कार्यों के लिए दान करता है. किन्तु अपनी प्रिय प्रवृत्तियों अथवा जीवनोपयोगी सामग्री में कोई कटौती नहीं करता। अपवाद की बात अलग है। इसके भी आगे की सीढ़ी है जीवनोपयोगी वस्तुओं और व्यसनों को ही नहीं अपने जीवन को भी तुच्छ समझ कर समाज का ऋण चुकाने के लिए उत्सर्ग कर देने की तत्परता, किन्तु तुम्हें मिलने वाले ऐहिक सुख का उपभोग करने पर तुम सामाजिक दायित्व को भूल रहे हो, यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता। हाँ! सामाजिक दायित्व की ओर आँखें मूँद कर सुखोपभोग में लिप्त हो जाना निस्संदेह भोगवृत्ति है। सामान्य दृष्टि से 'सेना पेट पर चलती है', ऐसा कहा जाता है। किन्तु सैनिक जीवन का उद्देश्य पेट की आग बुझाना तो नहीं होता। वह कुछ और होता है।

'मुझे फाँसी होती है या नहीं, यह नियति के वश की बात है। उस पर तुम निर्भर मत रहो। जिस कार्य में तुम्हें रस नहीं मिलता उस कार्य को करने के लिए बाध्य करना, मैं नहीं चाहता, किन्तु तुम जीवन की आवश्यकता का दर्शन मुझे सिखाने लगे थे, इसलिए मैंने किंचित तत्त्वज्ञान तुम्हें पिलाया है।'

नाना से थोड़ा समय और बात करके मैं लौट आया। मैंने सिगरेट नहीं पी। चार दिन पश्चात् मैं नाना से मिला तो उस दिन फाँसी का दिन निश्चित होने और नाना की फाँसी का दंड पूर्ववत रखने का निर्णय आ गया था। नथूराम की फाँसी तो पूर्व निश्चित और अवश्यंभावी थी ही। मैं नथूराम से पहले नाना के पास गया। उन्हें फाँसी न हो, यह मेरी आन्तरिक इच्छा थी, किन्तु निर्णय प्रतिकूल हुआ था। मेरे मन की खिन्नता मेरे मुख पर भी झलकती थी। नाना कुछ पढ़ रहे थे। निर्णय उन्हें ज्ञात था। उन्होंने सिर उठाकर मुझे देखा और सहास्य मुद्रा में मुझे मानो झिड़का—'हूँ, क्या है रे!' उनकी स्थिर मुद्रा को देखकर अपनी उदासीनता पर मैं लज्जित हुआ। प्रयत्नपूर्वक चित्तवृत्ति को नियंत्रित करके मैं आगे बढ़कर सींकचों के सामने जा खड़ा हुआ।

'नाना! आप इस कोठरी के बाहर हों, यह इच्छा थी। चार ही दिन पूर्व सुख की कल्पना के सम्बन्ध में आपने मुझे प्रवचन दिया था। मेरी कल्पना के सुख का उल्लास मुझे प्राप्त नहीं हुआ, परन्तु अपने वश के बाहर की बात पर मेरी सुख-कल्पना आधारित थी।' मैंने कहा, 'मुझे सिगरेट दीजिये। आज तो मैं आपके सम्पर्क में हूँ। जितना प्राप्य है उतने आनन्द का उपभोग तो अपने वश में है।'

'आज तू अच्छा लग रहा है। (Now you are a man)।' नाना प्रसन्न होकर बोले। उन्होंने डिब्बा खोलकर मुझे सिगरेट दी और स्वयं ली। धूम्र के छल्ले छोड़ते हुए उनके मन को मानो गति मिली। वे बोले—'गोपाल! अत्युच्च आनंद कौन-सा है। तुम जानते हो?'

मैंने प्रश्न-मुद्रा में उनकी ओर देखा।

'देखो, 'यत् पिंडे तत् ब्रह्मांडे' इसका अर्थ हुआ 'यत् ब्रह्मांडे तत् पिंडे'। जो ब्रह्माण्ड में है वही पिंड में है। हमारा मन, हमारी प्रज्ञा, ये सब उस ब्रह्माण्ड में व्याप्त, अज्ञात और अदृश्य सत्ता के ही अंश हैं। आनन्द ज्ञात हो जानने में नहीं प्रत्युत अज्ञात को खोजने में है। अन्तर्मन से उस अदृश्य-अज्ञात शक्ति से उस नियति से—एक रूप होने की स्थिति यह सर्वोच्च आनन्द है। इससे बढ़कर आनन्द आगे नहीं है। इससे अन्य कोई भी आनंद बाह्य साधनों पर निर्भर है। जिन साधनों पर वह निर्भर है उनका नाश होने पर वह भी लुप्त हो जाएगा, किन्तु ब्रह्मांड को नियंत्रित करने वाली शक्ति अविनाशी है। इसलिये उस शक्ति में एकरूपता का आनंद भी कभी नष्ट नहीं होता।

'अब परावलम्बी आनन्द की दशा भी देखो। मैं कल मरने वाला हूँ, इसलिये आज से ही रोने लगने से आज की उपलब्ध-उपभोग्य वस्तु से मिलने वाला आनन्द खो बैठता हूँ। अपने आनन्द की रक्षा करनी हो तो मृत्यु के पूर्व के क्षण तक मृत्यु का शोक न करने से ही वह प्राप्त होगा। और मरने के क्षण में तो हम हमारे रहते ही नहीं। हमारे अवयव आनन्द और दु:ख की सीमा से दूर पहुँच चुके होते हैं।'

हम अभियुक्त जब लालकिले के बंदीगृह में विचाराधीन बन्दी थे तब नथूराम, नाना और सावरकर जी के बीच यदा-कदा पातंजली योगसूत्रों पर चर्चा हुआ करती थी। पर्याप्त अवकाश होने के कारण नाना ने उन सूत्रों को कण्ठस्थ कर लिया था। ज्ञानेश्वरी, तुकाराम गाथा और गीता रहस्य आदि ग्रंथ वे पढ़ते ही थे। नथूराम का अध्ययन तुलनात्मक होता था। किस तात्त्विक विषय पर किस भाष्यकार ने क्या कहा है, यह उन्हें सदा स्मरण रहता था और प्रसंगानुसार वे उसे उद्धृत भी करते थे। नथूराम और नाना के बीच चर्चा होती रहती थी। इस समय नाना इन ग्रंथों का सार सरल भाषा में बता रहे थे। वे उत्साह में थे और उनकी वाणी में वेग आ गया था। मैं जान ही नहीं सका कि मेरे चित्त की खिन्नता उन्होंने कब दूर कर दी। उनके शब्दों में भावना का कोमल स्पर्श था। वे कह रहे थे—

'घर-द्वार का बन्धन छोड़कर, कठिन समय में साथ देने के लिए, तुम जैसे मित्र आज मेरे संपर्क में हैं। ज्ञात संसार की दृष्टि से मृत्यु के द्वार तक हाथों में हाथ डालकर साथ चलने वाले नथूराम की और मेरी दृढ़ एवं चिर मैत्री नियति ने मुझे प्रदान की है। इतना सब होते हुए अदृश्य शक्ति से एक रूप होने का अवसर मिलने पर मृत्यु का दु:ख क्यों माना जाय? गोपाल!'

मैंने पूछा, 'आप बहुत समय तक ध्यानस्थ होकर बैठते हैं, नाना! क्या आपको सिद्धि प्राप्त हो गयी है?'

'सिद्धि का अर्थ है—मैं और वह शक्ति दोनों पृथक् हैं, यह भावना नष्ट होना। इस सिद्धि की प्राप्ति के प्रयत्न में सुख का अनुभव मैं कर रहा हूँ। कुछ दिनों में सिद्धि भी प्राप्त होगी ही।' नाना ने अर्थपूर्ण शब्दों में कहा और कुछ समय बातें करके मैं अण्णा (नथूराम) की ओर बढ़ा।

मित्रगण नाना को विलासी और नथूराम को संन्यासी कहा करते थे, परन्तु यह कुछ अतिश्योक्ति हैं. किन्त मैं कुछ असाधारण करता हूँ, ऐसा विलास सम्बन्धी प्रदर्शन नाना

ने कभी नहीं किया और मैं अलिप्त हूँ अथवा मुझ में कुछ विशेषता है ऐसा घमंड नथूराम में भी किसी ने नहीं देखा। मैत्री के स्थायित्व के लिये स्वभाव में कहीं किंचित समानता बड़ी सहायक होती है। प्रदर्शन पराङ्मुखता का यह साम्य दोनों के स्वभाव के अन्य समान अंशों में से एक था। अपने वैयक्तिक जीवन में किस प्रकार जीना, इस विषय में अपना मत अथवा अभिरुचि दूसरे पर न लादना, यह उनके स्वभाव की दूसरी समान विशेषता थी।

नाना के जीवन को विलासी मान भी लिया जाए तो भी कालकोठरी में वह कितने स्थिरचित्त थे, यह जानने के लिए मेरे और उनके उन दिनों के उक्त वार्त्तालाप का उल्लेख पर्याप्त है।

मेरे विवरण में किसी को नथूराम और नाना का गुणगान प्रतीत हो या गांधी जी का अवमूल्यन लगे तो उसके लिए किंचित स्पष्टीकरण मुझे आवश्यक प्रतीत होता है। नथूराम हों, आपटे हों, या गांधी जी हों, भारत के इतिहास में नियति ने तीनों का विशिष्ट स्थान दिया है। तीनों अपने-अपने स्थान पर स्थिर हैं। जो अवांच्छनीय में घट चुका है उसकी पुनरावृत्ति फिर न हो, इसके लिए सभी सावधान रहने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु जो हो चुका है उसे बदल सकना यह किसी के वश की बात नहीं है। इसलिए इतिहास में उसके स्थान का मूल्य चढ़ाना या घटाना भी किसी के वश की बात नहीं है। इतिहास की खोज, उसका परीक्षण, विवेचन और पुनर्लेखन इतना ही हमारे वश में है।

हाथ में पृथ्वी का मानचित्र लेकर उसे फड़फड़ाने से भूकम्प नहीं होता, ऐसा 'गड़करी' ने कहां है। इसी प्रकार इतिहास के पन्नों को नष्ट करने से जो घट चुका है उसकी वास्तविकता और उसके परिणाम नष्ट नहीं हो सकते। भारतीय इतिहास की एक क्रान्तिकारी दुखद घटना के पत्रों का उनके परस्पर सम्बन्धों के इतिहास का हम निष्पक्ष भाव से अवलोकन कर रहे हैं। यह दृष्टिकोण सामने रखने पर अवमूल्यन अथवा मूल्य वृद्धि जैसा भ्रम मन में उत्पन्न नहीं होगा।

कानून की दृष्टि से हत्या निषिद्ध कृत्य है। गैरकानूनी कार्यों पर विचार करने के लिए हमीं ने अदालतें खड़ी की हैं, किन्तु केवल कागज-पत्रों पर अवैध कृत्य की निन्दा करके अदालतों की सत्ता सार्थक नहीं हो सकती। कोई देश किसी देश के मौलिक अधिकारों पर आक्रमण करता है तो आक्रांत देश आक्रामक को यदि कोई विरोध-पत्र ही भेजकर संतोष कर ले और आक्रामक देश उन पत्रों को उठाकर रद्दी की टोकरी में फेंकता रहे, ऐसी निरर्थक सत्ता न्यायपीठ की नहीं होती। क्योंकि न्यायपीठ के पीछे उसके निर्णयों को मनवाने के लिये हमने शक्ति दी है। अदालत कभी-कभी अपराधी के प्राणों का दण्ड देकर अपनी कार्यवाही से अवैध कार्य का निषेध करता है। जबकि ऐसी शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय अदालत के पास नहीं होती।

अब हत्या अथवा अन्य गैरकानूनी कार्य की बात अलग है, और सम्बन्धित अपराधी के गुण या भावना का प्रश्न पृथक् है। किसी व्यक्ति के प्राणों का अपने निर्णय द्वारा हरण करते हुए अदालत उस व्यक्ति के गुणों या विशिष्ट कार्यों के पीछे की भावनाओं की

आलोचना करने का तब तक प्रयत्न नहीं करता जब तक वह भावना ही निषिद्ध अथवा निन्दनीय न हो, क्योंकि न तो भावनाएँ अपराधी होती हैं और न विशिष्ट गुण। जरूरी नहीं कि निन्दनीय या अवैध होते हों। अनेक बार अपराधी के गुण और उसकी भावनाएँ सराहनीय, सहानुभूति के योग्य ही नहीं प्रत्युत अनुसरणीय भी होती हैं और शासनारूढ़ व्यक्ति भी उनका सम्मान करने में विवश होते हैं। एक उदाहरण अप्रासंगिक नहीं होगा।

सरदार भगतसिंह के निकट सहयोगी श्री बटुकेश्वरदत्त को भगतसिंह के पहले दिनांक १२-६-१९२९ को आजीवन कारावास का दण्ड मिला था। नौ वर्ष पश्चात् सन् १९३८ में मुक्त हुए। जुलाई, १९६५ में उनकी मृत्यु होने पर जिन्होंने उन्हें श्रद्धांजली समर्पित की उनमें राज्यासन पर अधिष्ठित वरिष्ठ पुरुष भी थे। राष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन ने भी उन्हें पुष्पांजलि समर्पित की। राष्ट्रपति ने किसका सम्मान किया? क्या उस अवैद्य कृत्य का जिसमें दत्त सहयोगी थे? ऐसी कल्पना करना तो राष्ट्रपति पर दोष आरोपित करना होगा। उन्होंने दत्त के विधि-विरोधी कृत्य का नहीं, प्रत्युत दत्त की देशभक्ति का, देश के लिये उनकी त्याग भावना का सम्मान किया। क्योंकि वह भावना अपराधी नहीं थी, निषिद्ध नहीं थी, प्रत्युत्त सराहनीय थी, वन्दनीय थी और अनुसरणीय थी।

अपराधियों के गुणों की सराहना के उदाहरण हमें अंग्रेजी शासनकाल में कहीं-कहीं दिखाई देते हैं। जुलाई, १९०९ में क्रांतिवीर मदनलाल ढींगरा का अभियोग लंदन में चल रहा था। उनका आचरण धीरोदात्त था। उस आचरण से अनेक अंग्रेज प्रभावित हुए थे। जिन्होंने किसी से भयभीत न होते हुए मदनलाल को फाँसी दिये जाने का सार्वजनिक रूप में विरोध किया। मदनलाल के प्रति सहानुभूति प्रकट करके उन्होंने उनके द्वारा की गई हत्या का समर्थन किया था, ऐसा नहीं माना जा सकता।

फरवरी-मार्च, १९१० में बम्बई न्यायालय में क्रांतिकारी अनंत कान्हेरे पर अभियोग चल रहा था। तीन न्यायाधीशों में से दो श्री स्टॉक और श्री हीटन अंग्रेज थे। बैरिस्टर जयकर भी अभियोग को सुनने के लिये न्यायालय में बैठते थे। उन्हीं दिनों उन दो अंग्रेज न्यायाधीशों में से एक की श्री जयकर से भेंट हुई तो सर्वथा अप्रत्याशित रूप में श्री जयकर से उन्होंने कहा, 'आप प्रतिदिन न्यायालय में बैठते हैं, कान्हेरे के सम्बन्ध में आप क्या सोचते हैं? ऐसे कोमल, सुन्दर और वीर युवक को मुझे फाँसी पर चढ़ाना पड़ रहा है! कैसा दुर्भाग्य है यह!'

(……What a pity that I have to send such a handsome and courageous youth to the gollows!) The story of my Life : M. R. Jaykar; Page 117, 118)

न्यायमूर्ति के इन उद्‌गारों में कान्हेरे की असीम वीरता की प्रशंसा थी। हत्या के कार्य का समर्थन नहीं।

उपरोक्त निरूपण के अतिरिक्त न्यायालय का एक और निर्णय पाठकों की दृष्टि में लाना उपयुक्त होगा उससे अपराध के उदात्तीकरण और अवमूल्यन जैसे भ्रमों का अनायास ही निराकरण होगा।

दिनांक १५-११-१९४९ को नथूराम और आपटे को अम्बाला केन्द्रीय कारागार में

फाँसी दी गई। उस दिन पूना के 'केसरी' (अर्ध साप्ताहिक) ने 'देहान्त शासनाचे राष्ट्रीय बली' शीर्षक से अग्रलेख प्रकाशित किया। दिनांक २९-१२-१९४९ को बम्बई-शासन के एक आदेश के द्वारा 'केसरी' से ३००० रुपये की प्रतिभूति (Security) माँगी गई। शासन का कहना था कि 'केसरी' ने इण्डियन प्रेस एक्ट (१९३१) की सीमा का अतिक्रमण किया है। क्योंकि उसने शासन द्वारा घोषित गांधी-वध के दण्डित अपराधियों की प्रशंसा की। 'केसरी' के तत्कालीन सम्पादक श्री ग. वि. केतकर ने बम्बई के उच्च-न्यायालय में प्रतिवेदन प्रस्तुत किया। जो Criminal application No. 136 of 1950 इस क्रमांक से पंजिकाबद्ध किया गया। न्यायपीठ पर न्यायमूर्ति श्री छागला, श्री बावडेकर और श्री शाह विराजमान थे। दिनांक १३-४-१९५० को दिये गये निर्णय को न्यायमूर्ति छागला ने लिखवाया (Dictate) था और अन्य न्यायमूर्तियों ने उसे मान्यता दी थी। न्यायमूर्ति श्री छागला के अनुसार केसरी ने विधान का उल्लंघन नहीं किया था। न्यायमूर्ति का तात्पर्य यह था कि हत्या का प्रत्यक्ष या परोक्ष समर्थन अथवा हत्या के लिए हत्यारे की प्रशंसा करना ही आपत्तिजनक है। अपने अभिप्राय को उदाहरण द्वारा समझाते हुए न्यायमूर्ति ने तर्क दिया कि मान लो किसी चित्रकार पर हत्या का आरोप लगाया जाए और फाँसी दे दी जाए तब उसकी मृत्यु के पश्चात् यदि कोई समाचार-पत्र दण्डित कलाकार की कला की प्रशंसा करता है तो उसका यह अर्थ लगाना कि वह उसके द्वारा की गई हत्या की प्रशंसा कर रहा है सर्वथा असंगत है। न्यायमूर्ति ने शासन के आदेश को निरस्त कर दिया।

किसी अपराध अथवा अपराध का संकल्प भी किए बिना मुझे कारावास भेजा जाए, यह बात मुझे सदा अनुचित अतएव अप्रिय लगी है, इसलिये ऊपर इसकी सविस्तार चर्चा करना मुझे आवश्यक प्रतीत हुआ। मैं जिसके प्रति निष्ठा रखता हूँ, ऐसा भारत के अतिरिक्त कोई देश संसार में नहीं है, किन्तु विडम्बना देखिये कि बिना किसी नियम और गणनाक्रम के निश्चित अवधि से अधिक समय तक आजीवन कारावास का दंड भोग कर मुक्त होने के ४० दिन पश्चात् ही मुझे पुनः बन्दी बनाया गया तो 'भारत सुरक्षा अधिनियम' के अधीन दिनांक २४-११-१९६४ से ३०-११-१९६५ तक मुझे एक वर्ष और ६ दिन पुनः कारावास भोगना पड़ा।

इस कारावास की अवधि में मैंने सम्बन्धित अधिकारियों को लिखा—'देश की सुरक्षा में सुविधा के लिये आप मुझे बन्दी रखना चाहते हैं न? देश मेरा है। उसकी रक्षा के लिये जो भी यातना मुझे भोगनी पड़ें, उन्हें भोगना मेरा कर्त्तव्य है। आप अपनी संतुष्टि तक मुझे बन्दी बनाए रखें, किन्तु मेरा दोष क्या है, यह तो मुझे समझा दीजिए।'

आजीवन कारावास की अवधि में जिस प्रकार किसी भाँति का प्रतिदान न लेते हुए मैंने अनेक बार रक्तदान किया था, उसी प्रकार इस बंदीवास के बीच भी पाकिस्तान का भारत पर आक्रमण होने पर रक्तदान मैंने किया। मूल्य की व्यवस्था होने पर भी मैंने कोई प्रतिदान नहीं लिया। देशनिष्ठा की भावना से मैंने यदि कुछ किया है तो उसके फलस्वरूप कुछ लेने की इच्छा मेरी कभी नहीं रही, किन्तु कोई बात का बतंगड़ खड़ा करे और किसी कार्य के पीछे का निहित अभिप्राय समझे बिना, कोई अपराध सिद्ध या आरोपित किये बिना

ही यदि किसी पर कारावास लाद दे तो उससे किसके मन को दु:ख नहीं होगा? मुझे फाँसी की कोठरी में रहने का अनुभव नहीं था। स्यात् इसी कमी को पूरा करने के लिये इस स्थानबद्धता के समय यरवदा बंदीगृह में मेरे निवास के लिये फाँसी कोठरी चुनी गई थी। कौन जाने The order is to be executed......के स्थान पर The Prisoner is to be executed... की कल्पना अधिकारियों को हुई हो। पाँच दिन पश्चात् मुझे औरंगाबाद (आज का सम्भाजी नगर) ले जाया गया। वहाँ तो मुझे एकान्त कोठरी से भी भयावना स्थान दिया गया। यह सब बात का बतंगड़ बनाकर किया जा रहा था। इसीलिये मुझे इसका क्षोभ था। अन्यथा उपरोक्त विवेचन की कोई आवश्यकता न थी।

दंडित अपराधियों के व्यक्तित्व की विशेषताओं की प्रशंसा के उपरोक्त उदाहरण अप्रत्यक्ष स्वरूप के हैं। किन्तु पंजाब उच्च-न्यायालय (शिमला) के न्यायमूर्ति ने नथूराम के व्यक्तित्व या कृतित्व की प्रत्यक्ष प्रशंसा की थी। उसी न्यायपीठ के एक न्यायाधीश न्यायमूर्ति खोसला ने पन्द्रह वर्ष पश्चात् लिखी अपनी पुस्तक 'Murder of the Mahatma' में नथूराम के वक्तव्य में कितनी तार्किकता थी, उसमें श्रोताओं के हृदय हिला देने की कैसी विलक्षण क्षमता थी, इसका स्वयंप्रेक्षित, स्वयंश्रुत विवरण प्रस्तुत किया है।

न्यायपीठासीन जिन न्यायाधीशों ने नथूराम के अवैध-कृत्य के कारण उनका मृत्युदंड सम्मोदित किया, उन्हीं ने उनके व्यक्तित्व में देखे गुणों की, उनके अपराधी होने पर भी, सार्वजनिक रूप में प्रशंसा की। न्याय का यह सन्तुलन न्यायमूर्तियों के लिए तो गर्व की बात है ही, हमारे लिए भी अपने न्यायपीठ पर गर्व करने योग्य है।

नथूराम के जिन गुणों के लिये इस प्रकार की प्रत्यक्ष और निर्भीक प्रशंसा की गई उनका आधार क्या है? नथूराम का आचरण क्या उनका कारण नहीं है? यह जानने के लिए इतिहास का किंचित अवलोकन आवश्यक है।

ब्रिटिश कार्यकाल के देशभक्त क्रांतिकारियों को गोरे शासकों को न्यायपरायणता पर विश्वास नहीं था। जिस शासक को वे छली, धूर्त और अन्यायी मानते थे उसके द्वारा खोली गई न्याय की दुकानों की तुला पर उन्हें कैसे विश्वास होता?

१८५७ के स्वातंत्र्य योद्धा तात्या टोपे पर चलाये गए अभियोग के संदर्भ में १० अप्रैल, १८५९ को न्यायालय में तात्या ने कहा—'तुम हमारा न्याय करने वाले कौन होते हो? तुम हमारे कोई नहीं हो? मैं तुम्हारा नागरिक नहीं हूँ। हमारा राज्य छीन लेने का अधिकार तुम्हें किसने दिया है? तुम लोगों के द्वारा अन्यायपूर्वक छीने गये अपने राज्य को पुन: प्राप्त करने का प्रयत्न करना हमारा अपराध नहीं है।'

'मेरा जन्म तुम्हारे राज्य में नहीं हुआ। जो मेरा राज्य नहीं उसके प्रति निष्ठा की शपथ मैं क्यों लूँ? मैं तुम्हारा दास नहीं, सेवक नहीं, तब मैं विद्रोही कैसे हो गया?'

'यह राज्य हमारा है। यह पेशवाओं का राज्य है। मैं यदि निष्ठावान हूँ तो केवल उनके प्रति। केवल उनकी आज्ञा ही मुझे मान्य है, मेरा सिर धड़ से अलग कर दिया जाए तो भी मैं उनका सेनापति हूँ।'

'भाग्य का पासा उलटा पड़ गया है। इसलिये मैं विजित हूँ और तुम विजेता, किन्तु

इसमें तुम्हारी वीरता सिद्ध नहीं होती। तुम्हारी न्यायपरायणता प्रमाणित नहीं होती। तुम्हारी सत्ता को मैं स्वीकार नहीं करता। मेरी निष्ठा मेरे देश के साथ है, मेरे राज्य के साथ है और मेरे स्वामी के साथ है।'

दिनांक १८-४-१८५९ के दिन तात्या को मृत्युदंड दिया गया और उसी दिन उन्हें फाँसी दे दी गई। यह पाठक जानते ही होंगे।

इसी प्रकार सरदार भगतसिंह और उनके साथियों ने हुतात्मा यतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु के पश्चात् न्यायालय का बहिष्कार कर दिया था। उनका कहना था कि जिस राज्य की आधारशिला ही अन्याय की मिट्टी पर टिकी है उनके द्वारा नियुक्त न्यायालय अपने अन्यायी शासन के मूलोच्छेद के लिए कृतसंकल्प देशभक्तों के साथ न्याय देंगे, यह असंभव है। स्वाधीनता-संग्राम की राजनीति के अखाड़े में उतरने वाले प्रत्येक देशभक्त को दण्ड विधान तथा अंग्रेजी न्यायालयों से कोई आशा नहीं करनी चाहिए, भगतसिंह का यह निश्चित मत था। १९३० के अक्टूबर में उन्हें दंड दिया गया और सुखदेव, भगतसिंह और राजगुरु को दिनांक २३-३-१९३१ की रात्रि में लाहौर कारागार में फाँसी दे दी गई।

तीसरा उदाहरण तनिक भिन्न होने पर भी उद्धरणीय है। १९१० के अभियोग में स्वातंत्र्यवीर सावरकर ने एक व्यवस्था का प्रश्न उठाया था। उनका कहना था कि वे ब्रिटिश राज्य के बन्दी नहीं हैं। उन्हें फ्रांस की भूमि से पकड़ कर लाया गया है। यह आबद्धता ही अवैध है। उन्हें फ्रांस के हाथों सौंप दिया जाना चाहिए। फिर भी यदि ब्रिटिश शासन उन पर अभियोग चलाती है तो उसमें तटस्थ रहेंगे, क्योंकि ब्रिटिश राज्य और न्यायालय को उन पर अभियोग चलाने का कोई अधिकार नहीं है। दिनांक २४-१२-१९१० के दिन उन्हें आजीवन कारावास हुआ और दिनांक ३०-१-१९११ को पुनः आजीवन कारावास दिया गया। उनकी सम्पूर्ण अचल सम्पत्ति पर शासन ने अधिकार कर लिया।

किन्तु गांधी-वध के इस प्रसंग में परिस्थिति भिन्न थी। अब राज्य अपना था। नथूराम एवं अन्य अभियुक्त स्वयं को इस राज्य का नागरिक मानते थे। वे न तो शासन को परकीय मानते थे और न ही राज्य उलटने के उद्देश्य से उन्होंने शस्त्र उठाये थे। शासन के प्रति निष्ठावान होने के कारण उसे उलटने की उनके मन में न तो कल्पना थी और न ही अभियोजकों ने ऐसा कोई असत्य आरोप उन पर लगाया था। शासन के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करने पर उसके द्वारा नियुक्त न्यायपीठ की सभी न्यायशालाओं के प्रति निष्ठा रखना स्वाभाविक है। न्यायालय को न्याय करने में सहयोग देना जिस प्रकार अभियोजकों का कर्त्तव्य है उसी प्रकार अभियुक्त या बचाव पक्ष का भी कर्त्तव्य है। इस दिशा में जो निर्णय मनोनुकूल हो उसे न्यायोचित और जो अपने प्रतिकूल हो उसे अन्यायपूर्ण मानने की प्रवृत्ति उचित नहीं है। इसी धारणा से नथूराम न्यायालय को अपना सम्पूर्ण सहयोग देने के लिये कृतसंकल्प थे। ३० जनवरी की घटना के सम्बन्ध में और साक्षियाँ प्रस्तुत करने की कोई आवश्यकता नहीं है, यह इसी भावना से नथूराम ने अभियोजकों के अधिवक्ताओं को समझाया था। थोड़ी बहुत असंगतियों को छोड़ कर मुख्य घटना की प्रामाणिकता में किसी को कोई सन्देह नहीं था। नथूराम स्वयं उसे स्वीकार कर रहे थे। इसलिये उसी घटना को

और अधिक आधारों से प्रमाणित करने के परिश्रम से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा, ऐसा नथूराम का अभिप्राय था। अभियोजक उन कन्याओं को न्यायाधीश के समक्ष प्रस्तुत करना चाहते थे, जो गांधी जी के साथ अन्तिम क्षणों तक थीं और जिनके कन्धों पर हाथ रखे गांधी जी प्रार्थनास्थल तक आए थे। गोलियों की ध्वनि के साथ गांधी जी के धराशायी होने पर वे कन्यायें इतनी भयभीत और स्तब्ध थीं कि उनके लिये खड़ी रह सकना कठिन हो गया था। वे गांधी जी के पास वहीं भूमि पर बैठ गई थीं। उनकी वह व्याकुलता, भय और आतंकित मुद्रा नथूराम को स्मरण थी। वे उन निर्दोष कन्याओं को भीड़ भरे न्यायालय में उस असहनीय हृदय को स्मरण कराने और दोहराने की मानसिक यन्त्रणा नहीं देना चाहते थे, विशेषतया उस स्थिति में जब उनकी साक्षी से अभियोग अधिक पुष्ट होने वाला न था। गांधी जी की हत्या प्रमाणित हो चुकी थी और नथूराम उसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व प्रारम्भ से ही अपने ऊपर ले चुके थे। नथूराम का अभिप्राय अभियोजकों ने समझा और उन कन्याओं एवं अन्य और बहुत से साक्षियों को प्रस्तुत करके पिष्टपेषण का विचार छोड़ दिया गया। मूल घटना का कारण स्वयं होना स्वीकार करके न्यायालय को पूरा-पूरा सहयोग देने का नथूराम ने जो निश्चय किया था, उस पर वे अन्त तक दृढ़ रहे।

न्यायालय ने जब मृत्युदण्ड सुना दिया तब नथूराम ने न्यायालय को आदर प्रदान करते हुए उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। उनका कहना था कि न्यायालय ने किसी द्वेषभाव से प्रेरित होकर मृत्युदण्ड नहीं दिया है, यह न्यायालय स्वतन्त्र भारत का अपना न्यायालय है। नथूराम मृत्युदण्ड के विरुद्ध पुनरावेदन (अपील) करते तो उससे उनकी देशनिष्ठा पर कोई कलंक लगने वाला नहीं था। क्योंकि इस न्यायालय के ऊपर उच्च-न्यायालय भी स्वतन्त्र भारत के अपने शासन ने ही स्थापित की थी; किन्तु उच्च-न्यायालय में उन्होंने अपने मृत्युदण्ड के विरुद्ध पुनरावेदन प्रस्तुत नहीं किया। उन्होंने जो प्रतिवेदन किया, वह षड्यन्त्र के आरोप के विरुद्ध था। गांधी जी को मैंने मारा है, इस कार्य के पीछे कोई योजना या कोई षड्यन्त्र नहीं है, इसलिये षड्यन्त्र की कल्पना करके जो अन्य निर्दोष लोगों को दण्डित किया जा रहा है, वह अनुचित है और उस पर पुनर्विचार होना चाहिए। यही उनका अभिप्राय था, किन्तु इस पर भी उच्च-न्यायालय जो निर्णय दे, उसे शिरोधार्य करने का उनका निश्चय था।

मृत्युदण्ड के आदेश के वास्तविक और विधिसम्मत कार्यानवयन से पूर्व आत्महत्या करना या उसका प्रयत्न करने के उदाहरण बहुत बार देखने को मिलते हैं। किन्तु प्राय: उनका उद्देश्य शासन को चकमा देने का होता है, किन्तु नथूराम की भूमिका यह नहीं थी। आत्महत्या करके शासन को वंचना अथवा चकमा देने का उनका विचार न था, क्योंकि उनकी पक्की धारणा थी कि शासन और न्यायालय, दोनों ही अपने हैं।

नथूराम के सैद्धान्तिक पक्ष की इस भूमिका को पंजाब उच्च-न्यायालय ने स्पष्ट अनुभव किया। वकील का कार्य, फिर चाहे वह अभियोजक पक्ष का हो अथवा बचाव पक्ष का, न्याय प्रदान कार्य में न्यायालय को सहयोग देना होता है। नथूराम ने भी अपने अभियोग की अवधि में वैसा ही सहयोग न्यायालय को दिया था, ऐसा न्यायालय की कार्यवाही पढ़ने

से ज्ञात होता है। मृत्युदण्ड के विरुद्ध उन्होंने एक भी शब्द नहीं कहा, किन्तु न्यायालय के सम्मुख उन्होंने अपना पक्ष जिस कुशलता से प्रस्तुत किया वह नितान्त प्रशंसनीय एवं सराहनीय माना जाएगा। यद्यपि पुनरावृत्ति होगी तथापि प्रस्तुत प्रसंग के परिपेक्ष्य में 'निर्णय-पत्र' के पृष्ठ २०४ पर अंकित शब्दों को यहाँ पर उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा।

'......of the appealants NathuRam V. Godse has not challanged his conviction under section 302 of the Indian Penal Code for the offence of the murder of Mahatma Gandhi on the 30th January 1948, nor has he appealed from the sentence of death passed on him in respect of that offence. He has confined his appeal and also has argument at the Bar,—he personally argued his appeal, I must say with conspicuous ability evidencing, a mastery of facts which would have done credit to any counsel—only to the other charges which have been found proved against him.........'

नथूराम द्वारा न्यायालय को सहयोग देने का न्यायाधीशों पर उपयुक्त प्रभाव पड़ा होगा।

न्यायाधीश यह भलीभाँति जानते थे कि देश की तत्कालीन परिस्थितियों से दुःखी एवं बाध्य होकर ही यह हत्या की गई है। देश-विभाजन के परिणामस्वरूप उनका प्रान्त और सम्भवतया वे स्वयं भी प्रपीड़ित थे। अतः उन्हें उसको प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं थी। १९२९ में सम्पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव लाहौर कांग्रेस में ही पारित हुआ था। जिसकी स्मृति में आज हम २६ जनवरी को गणतन्त्र-दिवस मनाते हैं। २६ जनवरी, १९२९ को कांग्रेस ने सम्पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पारित किया था। वही पवित्र स्थल भारत का भाग होते हुए भी अब स्वतन्त्रता के बाद पाकिस्तान का भाग बन गया था। हिन्दुओं के लिये वहाँ अब कोई स्थान नहीं, और अब वह मुस्लिमधर्माधिष्ठित राष्ट्र बन गया है। इस नाते वह पाक अथवा पवित्र बन गया है, यह ध्वनि भारतवासियों को सुनाई दे रही थी। इतिहास की यह विडम्बना न्यायमूर्तियों के सम्मुख ही घटित हुई थी और हो रही थी। लाहौर निवासी अन्यान्य हिन्दुओं की ही भाँति वहाँ की न्यायपीठ पर आसीन न्यायमूर्तियों को भी निर्वासित होना पड़ा था। पंजाब उच्च-न्यायालय जो किसी युग में लाहौर में स्थित था उसे विभाजित भारत में लाना पड़ा था और सुविधा-असुविधा की दृष्टि से अनेक वर्ष तक उसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण करते रहना पड़ा था, इसका अनुभव भी न्यायमूर्ति प्रतिक्षण करते रहते थे। यही कारण है कि हत्या के अपराध में विधानानुसार नथूराम को प्राणदण्ड देने पर भी उन्हें ऐसा नहीं प्रतीत हुआ कि नथूराम न्यायनिष्ठ अथवा देशभक्त नहीं हैं और यही कारण है कि इस अवधि में जो गुण उन्होंने नथूराम में देखे उनकी प्रशंसा उन्होंने स्पष्टतया निर्भीक होकर की। अपराधी को दण्ड देना जिस प्रकार जनता के प्रति न्याय प्रदर्शित करना है उसी प्रकार अपराधी की भावना का यथा-योग्य मूल्यांकन करना भी न्यायसंगत ही था! विदेशी और स्वदेशी, दो विभिन्न राज्यों में क्रान्तिकारी अभियुक्तों की भूमिका में और न्यायपीठ की अभियुक्तों की ओर देखने की भूमिका में जो अन्तर होता है, वह इस अभियोग की अवधि में देखने को मिला। इस प्रस्तावना के उपरान्त हम नथूराम के पूर्वचरित्र पर प्रकाश डालेंगे।

अंग्रेज शासकों के प्रति भारतीयों द्वारा किए जाने वाले शस्त्र प्रयोग की रोकथाम के उपायों पर विचार करने के लिये १९१७ में ब्रिटिश सरकार ने एक समिति का गठन किया था। न्यायमूर्ति एस. ए. टी. रोलेट इस समिति के संयोजक थे। दिनांक १५-४-१९१८ को उन्होंने अपनी छानबीन का विवरण प्रस्तुत किया। इस प्रतिवेदन को 'सिडिशस कमेटी रिपोर्ट' के नाम से जाना जाता है।

उनका कहना था कि लोकमान्य तिलक द्वारा प्रचारित एवं प्रसारित 'गणेशोत्सव' तथा 'शिव जयन्ती' कार्यक्रम क्रान्तिकारी षड्यन्त्रों के मूल सूत्र हैं। उन्होंने अपनी खोज में इसे भी महत्त्व दिया कि लोकमान्य तिलक, चाफेकर बन्धु, रानडे, कान्हेरे, शिवराम महादेव परांजपे तथा सावरकर बन्धु सदृश सभी उग्रवादी चितपावन ब्राह्मण हैं। अंग्रेजी शासन का भारत से मूलोच्छेद करने की भावना चितपावनों में अत्यन्त तीव्र है। उनका निष्कर्ष था कि सभी षड्यन्त्रकारी ब्राह्मण हैं।

भारतीय स्वतन्त्रता एवं क्रान्तिकारियों के इतिहास पर यदि हम दृष्टिपात करें तो हमें विदित होगा कि केवल एक छोटे से चितपावन ब्राह्मण समुदाय में ही ब्रिटिश राज्य के प्रति विरोध की भावना विद्यमान रही हो, ऐसा बात नहीं है। इतिहास पर साधारण दृष्टिपात से ही यह तथ्य समझ में आ सकता है। रौलेट कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में चितपावन ब्राह्मणों के प्रति जो अपनी भावना व्यक्त की है, यह उसका दुर्भावनापूर्ण एवं संकुचित दृष्टिकोण ही है। उक्त प्रतिवेदन की पृष्ठ संख्या १० पर अंकित है कि कान्हेरे के षड्यन्त्र के जिन सात व्यक्तियों को दण्ड दिया गया वे सबके सब चितपावन ब्राह्मण थे। इस षड्यन्त्र में कान्हेरे, कर्वे और देशपाण्डे को मृत्युदण्ड दिया गया था। इस प्रसंग में यह बता देना उचित होगा कि देशपाण्डे चितपावन ब्राह्मण नहीं थे, यह महाराष्ट्र के सभी लोग जानते हैं।

सामान्यत: भी इस रिपोर्ट में ब्राह्मणों के विरोध में जो लिखा गया है, वह सब उन्होंने पूर्वाग्रह से पीड़ित होकर ही लिखा है। सम्भवत: उनकी धारणा यह रही हो कि ब्राह्मणों को राजद्रोही बता कर जन-साधारण को यह समझा दें कि ब्राह्मणेतर-जन उनसे अच्छे हैं। इस प्रकार जातिवाद का प्रश्न उपस्थित कर परस्पर फूट के बीज बो उससे लाभ उठाने की लालसा समिति के सदस्यों की रही होगी। उनकी धारणा अथवा लालसा जो भी रही हो, किन्तु यह सत्य है कि अंग्रेज शासकों को फूटी आँखों न सुहाने वाले चितपावन ब्राह्मण कुल में ही नथूराम गोडसे का जन्म हुआ था। उनका कुल ऋग्वेदाभ्यासी एवं शाण्डिल्य गोत्रीय था।

इस सम्बन्ध में बहुत प्राचीन इतिहास की छानबीन करने की आवश्यकता नहीं है। कितना भी प्राचीन इतिहास क्यों न खोजें, किन्तु यह संभव नहीं कि किसी भी इतिहास का प्रथम पृष्ठ हस्तगत हो। नथूराम के पितामह श्री वामनराव विद्वान् ब्राह्मण थे। कृषि के साथ-साथ वे पौरोहित्य का कार्य भी करते थे। पूना जनपद में मावल उपभाग (तालुके) के अन्तर्गत ग्राम के वे निवासी थे। उन दिनों आवागमन का साधन बैलगाड़ी ही थी। मार्ग पर स्वाभाविक ही गाड़ी के चक्रों की लीक-सी बन जाती थी। उन दिनों तारकोल अथवा सीमेण्ट का प्रचलन नहीं था। इसी कारण से वर्षा ऋतु में लगभग चार मास तक आवागमन

बन्द रहता था, मार्ग में पानी भर जाने के कारण लम्बी यात्रा संभव नहीं हो सकती थी।

सर्वसाधारण रूप से प्राय: उस समय सभी ग्रामों का जीवन कठिन होता था। परिवहन की सुविधा नहीं थी और न उद्योग-धन्धे ही विकसित हो पाए थे। यही कारण है कि आजीविका के लिए ग्रामीण-साधन सर्वथा अपर्याप्त थे। अपनी सन्तति अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण करे, उससे उसे शासकीय-सेवा प्राप्त हो जिससे कि बढ़ते हुए परिवार का परिपालन हो सके, इस महत्त्वाकांक्षा के वशीभूत ग्रामवासियों की दृष्टि नगरोन्मुखी हो गई थी।

नथूराम के पितामह पण्डित वामनराव की तीन कन्याएँ तथा एक पुत्र था। सुपुत्र विनायक का जन्म १८७५ में हुआ था। कन्याओं की शिक्षा का प्रबन्ध उस युग में घर पर ही होता था। उनको कहीं बाहर नहीं भेजा जाता था। इसलिए उनकी शिक्षा का प्रश्न पं. वामनराव के सम्मुख नहीं था। पुत्र की प्राथमिक-शिक्षा उक्साण में ही पूर्ण कर उच्च-शिक्षा के लिये वे सपरिवार पूना आ गये। परिवार पूना में ही रहने लगा और वे स्वयं गाँव-घर का कार्य देखने के लिए समय-समय पर उक्साण आते-जाते रहे।

जब विनायक उच्च-शिक्षा के अन्तिम वर्ष में थे, उस समय उनके विवाह की चर्चा चली। तब उनको सत्रहवाँ वर्ष लग गया था। प्राचीन-प्रथा के अनुसार सत्रहवें वर्ष में उनका विवाह कर दिया गया। पूना के ही निवासी वैद्य श्री विनायकराव फड़के की सुकन्या सौ० गोदावरी से उनका पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ। गोदावरी की आयु उस समय १० वर्ष की थी। विवाहोपरान्त उनका नाम परिवर्तित कर लक्ष्मी रखा गया। उसी वर्ष परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त विनायक को पूना में ही प्रेषणालय की सेवा भी मिल गई। प्रथम तीन मास के लिए उनका मासिक वेतन पाँच रुपया निर्धारित हुआ और तदुपरांत पन्द्रह रुपये मासिक निश्चित किए गए।

पाँच अथवा पन्द्रह रुपये मासिक वेतन आज भले ही उपहास का विषय हो, किन्तु तत्कालीन स्थिति में यह पर्याप्त समझा जा सकता था। वस्तुएँ इतनी महँगी नहीं थीं। विनायक १० रुपये में अपना मासिक व्यय चला लेते थे और पाँच रुपया वे नियमितरूपेण अपने पिताजी को भेजते थे। उनके पिताजी कभी उक्साण में रहते थे और कभी उनके समीप पूना में। सदैव विनायक के पास रहना उनके लिये संभव नहीं था, क्योंकि सेवा के कारण विनायक का स्थानान्तरण होता रहता था। गाँव की कृषि उनकी आजीविका का मुख्य साधन थी।

विनायक की गृहस्थी वस्तुत: विवाह के आठ-दस वर्ष उपरान्त ही प्रारंभ हुई। ज्येष्ठ पुत्र के जन्म पर उनको पितृपद प्राप्त हुआ और अब वे विनायक से विनायकराव कहलाने लगे। सुपुत्र का नाम रामचन्द्र रखा गया, किन्तु दुर्दैव से दो वर्ष पश्चात् ही रामचन्द्र दैवगति प्राप्त कर गया। दूसरी, सन्तान के रूप में सुकन्या ने जन्म लिया उसका नाम मथुरा रखा गया। इसके बाद दो सुपुत्र और हुए, किन्तु वे भी एक-एक वर्ष से अधिक इस संसार में नहीं रहे। विशेषकर लड़कों के न रहने से माता-पिता एवं नाना-नानी को बहुत दु:ख होता था।

आज के इस यान्त्रिक युग में भी जब अभी अन्ध-विश्वास का पूर्ण लोप नहीं हुआ, तो उस युग में समाज पर अन्ध-विश्वास का जितना प्रबल प्रभाव था वह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। विनायकराव उस समय बारामती में रहते थे। धर्मपत्नी लक्ष्मी पुनः गर्भवती थी। तब विनायकराव के माता-पिता ने कुलदेवता के मन्दिर में जाकर मनौती मानी कि उनकी पुत्रवधू के सुपुत्र उत्पन्न हो, उसे वे दायी की गोद में दे देंगे। दायी का पुत्र समझ कर ही उसका पालन-पोषण करेंगे, उसकी उपनयनादि भी मन्दिर में ही करेंगे, आदि-आदि।

सौभाग्य से १९ मई, १९१० को सौ० लक्ष्मीबाई ने पुत्ररत्न को जन्म दिया। पारिवारिक लोगों की धारणा दृढ़ हो गई कि कुलदेवता ने उनकी मनौती स्वीकार कर ली है। पुत्र को दायी की गोद में दिया गया। उसका नाम रामचन्द्र रखा गया। उसकी नाक छेदी गयी। नाक छेदने के कारण सभी लोग प्यार के भाव से उसको नथू (नकछेद) कहने लगे, किन्तु कालान्तर में नथूराम नाम ही प्रचलित हो गया।

बारामती के बाद विनायकराव का स्थानान्तरण खेड, लोनावला, तलेगाँव, कर्जत और रत्नागिरि आदि स्थानों पर हुआ। नथूराम के बाद १९१५ में बारामती में दत्तात्रय, १९१७ में खेड़ में शांता, १२ जून १९२० को गोपाल और १९२१ में तलेगाँव में गोविन्द उत्पन्न हुए।

नथूराम की प्राथमिक शिक्षा बारामती में ही प्रारंभ हुई। उनका यज्ञोपवीत संस्कार कुलदेवता के सम्मुख मनौती के अनुसार बारामती के राम मन्दिर में हुआ। सन्ध्या-वन्दन और सूर्य नमस्कार सभी माता-पिता उन दिनों अपने घरों में अपनी सन्तान को सिखाते ही थे। नथूराम का भी वही उपक्रम चलता रहा। स्कूली शिक्षा के साथ-साथ उन दिनों यह प्रथा भी थी कि पुत्र को संस्कृत तथा मराठी शिक्षात्मक कविताएँ भी कठस्थ कराई जाती थीं। ऐसी मान्यता थी कि इससे बुद्धि का विकास होता है। यह कार्य घर पर ही होता था।

नथूराम की स्मरण-शक्ति बहुत ही तीव्र थी। शाम को नवनीत के चुने हुए श्लोक मनुस्मृति के श्लोक, करुणाष्टक, आरती, रामायण और महाभारत के चुने हुए श्लोक पढ़ाने तथा उनके सुन लेने की प्रथा होने के कारण नथूराम को बहुत कुछ कंठस्थ था।

महाराष्ट्र के, विशेष कर तथा पूना के राष्ट्रीय विचारधारा के समाचार-पत्रों को रौलट ने चितपावन प्रेस संज्ञा से ही सम्बोधित किया है। सिडिशस कमेटी की रिपोर्ट के पृष्ठ १३ पर ऐसा स्पष्ट अंकित है। 'केसरी' उस समय का प्रमुख-पत्र माना जाता था। अंग्रेज-भक्त कर्मचारियों ने 'केसरी' की नीति को अंग्रेजी राज्य का विरोध करने के लिये जनता में असन्तोष निर्माण करने वाली नीति कहकर अलिखित रूप से केसरी के पठन को आपत्तिजनक घोषित किया हुआ था, किन्तु इसके विपरीत वस्तुस्थिति यह थी कि प्रेमी पाठकों से भी अधिक उत्कण्ठा ऐसे लोगों में ही 'केसरी' पढ़ने के लिये देखी जाती थी। किसी कृति पर प्रतिबन्ध लगाने से उसके प्रति कौतूहल बढ़ता है। यही कारण है कि नथूराम के पिता ने अपने ऊपर कोई आरोपण न हो सके, इस संभावना से बचने के लिए नथूराम के नाम से, जिसकी आयु उस समय सात-आठ वर्ष की होगी, 'केसरी' मंगवाना आरंभ किया।

नथूराम को छोटी-सी अवस्था में पढ़ने का चस्का लग गया था। वह 'केसरी' पढ़कर उसको समझता भी था। स्वातन्त्र्य-समर की जो सामग्री उसमें प्रकाशित होती थी उसे नथूराम बाल्यावस्था में तो अनजाने में, किन्तु बाद में समझ कर निरन्तर रुचि से पढ़ते थे। इसका उनके मन पर प्रभाव हुआ। इस सम्बन्ध में होने वाली चर्चा तथा भाषणों में भी उनकी रुचि बढ़ने लगी थी। एक बार वे अपने पिताजी के साथ एक भाषण सुनने के लिये गए। भाषण के विषय के अनुसार घर लौटने पर उन्होंने विदेशी शक्कर के बहिष्कार का आग्रह किया। उनके पिताजी जानते थे कि यह हठ केवल बाल-स्वभाव के कारण है, किसी विषय को पूर्णरूप से समझकर करने की प्रतिक्रिया नहीं है। इतना जानते हुए भी केवल पुत्र का हठ पूर्ण करने के विचार से और यह समझते हुए भी कि इस हठ को पूर्ण करने में कोई हानि भी नहीं है उन्होंने उस समय से घर में विदेशी शक्कर का लाना बन्द कर दिया, किन्तु इस क्रिया ने एक परम्परा डाल दी और भविष्य में घर में विदेशी वस्तुओं का न लाना नियम-सा बन गया।

नथूराम के पिता का स्थानान्तरण छोटे-छोटे ग्रामों में होते रहने के कारण उनकी शिक्षा का समुचित प्रबन्ध न हो पा रहा था। मराठी की चतुर्थ श्रेणी उत्तीर्ण कर अंग्रेजी शिक्षा के लिये उनको पूना में उनकी बुआ के पास रखा गया। बाद में तीन-चार छात्रों ने मिलकर एक अलग कक्ष लिया तो नथूराम भी वहीं जाकर रहने लगे। अवकाश के दिन नथूराम अपने घर आया करते थे।

कविता पढ़ना, उसे कंठस्थ करना और स्वयं भी कविता रचना, यह अभिरुचि पाठशाला के दिनों में ही नथूराम में जागृत हो गई थी। लोकमान्य तिलक की शिक्षा के अनुसार उस समय गणपति समारोह का सदुपयोग राष्ट्रभक्ति प्रज्वलित करने के लिये ही किया जाता था। लोकमान्य के बाद में भी यह प्रथा प्रचलित रही, खण्डित नहीं हुई। नथूराम उन दिनों मेले में गाए जाने योग्य देशप्रेम से ओतप्रोत रचनाएँ रचने लगे थे। उन दिनों ही उन्होंने 'लक्ष्मीतनय' नाम से एक छोटा-सा पद्य-संग्रह भी प्रकाशित कराया था। 'रामरक्षा स्तोत्र' का छन्दोबद्ध रूपान्तर भी उन्होंने किया।

यद्यपि नथूराम की विवेचन-शैली पूर्णतः तर्कयुक्त थी, किन्तु बाल्यावस्था में तार्किक की अपेक्षा वह अत्यन्त भावुक प्रकृति के थे। बड़ी बहिन मथुरा का विवाह हो चुका था। उसका स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता था। अतः निश्चय किया गया कि उसको मायके लाया जाए और यहाँ पर उसकी चिकित्सा की जाए। सब प्रकार का औषधोपचार किया गया, किन्तु उसका सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकला। किसी ने सुझाव दिया कि कहीं इसको दैवी प्रकोप न हो, इस कारण घर में 'करपुतली' की पूजा कराई जाय। घर पर उसकी पूजा कराई जाने लगी और संयोग की बात यह है कि बहिन का स्वास्थ्य सुधरने लगा।

यह पूजा नथूराम ही करते थे। पूजा की विधि थी कि कांसे की थाली के बीच में काजल पोता जाता था, देवस्थान या अन्य किसी भी सुविधाजनक स्थान पर भित्ति के समीप भूमि को गोबर से लीपा-पोता जाता था, पीढ़ा रख कर वह थाली उस भित्ति के समीप रखी जाती थी, पीढे पर दो दीपक प्रज्वलित रहते थे, उनका प्रतिबिम्ब काजल में पड़ता था।

यह पूजा प्रायः सायंकाल सन्ध्या के बाद होती थी। पूजा करने वाला उस थाली के सामने बैठता था, वह गंधाक्षत से पूजा करता था। एक दृष्टि से वह थाली के काजल की ओर देखता रहता था।

पूजा करने वाले से प्रश्न पूछे जाते थे। उसके मुख से निकलने वाला उत्तर देवी का उत्तर माना जाता था। पूजा करने वाले को उस कागज़ में कभी मूर्ति, कभी आकृति और कभी अक्षर दिखाई देते थे। प्रश्न पूछे जाने पर पूजा करने वाले को उस समय काजल में जो दीखता था वह बता देता था। कई बार उसे उस प्रश्न का प्रत्यक्ष उत्तर समझ में नहीं आता था। तब उसका अर्थ समझने के लिये तर्क किए जाते थे। इस प्रकार नित्य आधा घंटे तक यह प्रक्रिया चलती थी।

घर के सभी व्यक्तियों ने काजल में कुछ देखने का यत्न किया, किन्तु किसी को कुछ नहीं दीखा, केवल नथूराम को ही ये दृश्य दिखाई देते थे। कभी-कभी तो प्रश्न न पूछे जाने पर भी नथूराम को किसी समय में कहीं अन्यत्र देखे हुए देवी-देवता अथवा मूर्तियाँ दिखाई देतीं। कभी-कभी तो उनको अपने पढ़े हुए, किन्तु जो कण्ठस्थ न हो पाए हों, ऐसे श्लोकों के अक्षर उस पर दीखते थे जो द्रुतगति से लहर की भाँति आते और आगे बढ़ते जाते थे। नथूराम उनको पढ़ने का यत्न करते तो उनके मुख से कोई श्लोकबद्ध स्तोत्र अथवा रुद्राष्टक का भाग निकलता था।

पूजा समाप्त होने पर नथूराम को जब काजल में दीखने वाला स्तोत्र अथवा श्लोक पढ़कर कहने के लिए कहा जाता तो वे सुना नहीं पाते थे, तब तक वे पुनः विस्मरण हो जाते थे। कण्ठाभरण के लिए यह अच्छा उपाय है, इस भावना से वह 'करपुतली' की पूजा प्रत्येक मंगलवार और शुक्रवार को करने लगे, किन्तु अगली पूजा में पिछली पूजा के अक्षर ही दिखाई दें, ऐसी बात नहीं होती थी। तब किसी अन्य स्तोत्र अथवा श्लोक के अक्षर उभर आते थे। नथूराम में भी कुछ दैवी शक्ति है, ऐसी घर वालों की भावना बनने लगी थी।

यह उन दिनों की बात है जब नथूराम की शिक्षा पूना में हो रही थी और वे छुट्टी बिताने के लिए घर पर आए हुए थे। यह पूजा इन्हीं दिनों की गई थी। तब उनकी आयु १५-१६ वर्ष की रही होगी। उसके बाद उन्होंने पूजा छोड़ दी। इसके लिए उनका कहना था कि उनकी श्रद्धा लुप्त होने लगी है।

नथूराम को उस काजल में मूर्ति या अक्षर दीखता था, यह बात भौतिक विज्ञान की कसौटी पर खरी नहीं उतरती थी, भले ही अध्यात्मवादी इसको सत्य सिद्ध करने का यत्न करते रहें।

आदि शक्ति या माया सत्, रज् और तम, इन तीन गुणों से युक्त है ऐसा हम मानते हैं। मानव प्राणी उस शक्ति का ही परिणाम माना जाता है। इन तीन गुणों और माया की शक्ति के जीवन से मनुष्य के मन का वातावरण बनता है। मनुष्य जिस समय जैसा व्यवहार करता है, उस समय उसमें उस गुण-विशेष का होना माना जाता है।

मन को एकाग्र करने का तात्पर्य है स्वयं में सत्वगुण की वृद्धि करना, अर्थात् रज,

तम के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली शक्ति को समाप्त करना। तब मन की एकाग्रता किस प्रयोजन से की जा रही है, यह प्रश्न गौण है।

किसी विषय में मनुष्य का विश्वास अथवा श्रद्धा मन को एकाग्र करने में सहायक होती है। अतीत में देखी कोई घटना, पढ़ी हुई पंक्तियाँ अथवा सुनी हुई वार्ता का प्रभाव मन पर अंकित होता है। यह बात मनोविज्ञान शास्त्र भी मानता है। उदाहरणार्थ जब कभी कोई व्यक्ति हमको मिलता है, हम उसको पहचानने का यत्न करते हैं, किन्तु उसका नाम स्मरण नहीं आता, इससे हमको अड़चन होती है। बाद में जब पुन: वह व्यक्ति कभी हमारे सम्मुख न भी हो तो सहसा उसका नाम स्मरण हो आता है। मन का प्रभाव जागृत होता है।

मन एकाग्र होने पर वह किसी भाव विशेष पर केन्द्रित हो जाता होगा और सामने अक्षर दीखने पर कण्ठस्थ किए स्तोत्र अथवा श्लोक के अनुसार मुख से शब्द निकलने लगते होंगे। अक्षर दिखाई दे रहे हैं, इस धारणा का मूलाधार भी अक्षरों का ज्ञान होना ही होगा। एक प्रकार की समाधि अवस्था की स्थिति, बढ़ी हुई आयु में विक्षेप शक्ति का प्रभाव अधिक होने के कारण मन का उस विषय विशेष पर एकाग्र होना कठिन हो जाता होगा।

सार्वजनिक कार्य में उत्साह दिखाना यह युवकों का स्वभाव होता है। किसी में यह गुण विशेष होता है। ऐसे विशेष गुणों वाले युवक प्रत्येक पीढ़ी में होते हैं। नथूराम उस आयु में सार्वजनिक कार्यों में सोत्साह भाग लेते थे। सार्वजनिक कार्य का उस समय का अर्थ इतना ही होता था कि वह काम स्वयं के अपने कार्यों से अतिरिक्त हो। उदाहरणार्थ, कुओं को स्वच्छ कर देना, उसकी घास निकाल देना, किसी को यात्रा के लिये सहायता दे देना, मन्दिरों में होने वाले समारोहों में अग्रसर रहना, रोगियों की सेवा करना, विवाह समारोह में पानी की व्यवस्था करना, भोजन के समय सहायता देना आदि कार्य सार्वजनिक माने जाते थे।

नथूराम को तैरने का बहुत शौक था। वे और उनके मित्र जब जुटते थे तब वे मिल कर एक बड़ा-सा पत्थर नदी के उस पार ले जाने का खेल खेला करते थे।

जिन दिनों वे लोनावला में थे, उन दिनों अल्पायु होने पर भी वे तैराकी में निपुण हो गए थे। एक बार एक लड़का कुएँ में गिर गया। उसकी माता तथा उपस्थित अन्य महिलाएँ रोने-चिल्लाने लगीं। संयोगवश नथूराम और उनका एक मित्र उधर से जा रहे थे। नथूराम ने रोना-चिल्लाना सुना तो उन्होंने कुएँ में झांका, लड़के को डूबता देख कुएँ में छलांग लगाई और बच्चे को निकाल कर ले आए।

घर वालों को जब पता चला तो नथूराम को डांटा-डपटा गया। वह इसलिये नहीं कि उन्होंने कुएँ में से लड़के को क्यों निकाला अपितु इसलिए कि उन्होंने महार के लड़के को कुएँ से निकाल कर घर आकर स्नान क्यों नहीं किया। महार 'हरिजन' कहलाते हैं। अपनी यौवनावस्था में जातिभेद को मिटाने का जो कार्य नथूराम ने किया उसकी पृष्ठभूमि में एक यह घटना भी सम्भवतया मुख्य रही होगी।

एक बार उनकी छोटी बहन शान्ता घाट पर से नदी में गिर पड़ी और बहने लगी। कुछ

दूरी पर नथूराम इस घाट पर तैर रहे थे। लड़की के डूबने पर चिल्लाहट हुई तो वे तैरते हुए उस पार गए और बहिन को उठा कर घाट पर ले आए। उसके पेट में बहुत पानी चला गया था, अत: उसे उल्टी द्वारा पानी निकाला और अन्त में घर ले आए।

कण्ठाभरण, भाषा, इतिहास आदि में विशिष्टता प्राप्त करते हुए भी अन्यान्य सभी अभ्यासों में भी वे उतने ही प्रखर हों, यह बात नहीं थी। अंग्रेजी उनके लिये बहुत कठिन विषय था। एक समय ऐसा भी आया कि जब उनमें आवारा लड़कों के चिह्न देखे जाने लगे। उनके एक पुराने सहपाठी कुछ दिन पूर्व ही मुझे मिले। वे इस समय किसी उच्च-पद पर प्रतिष्ठित हैं। वे कहने लगे कि मैं भी उस आवारगी में सम्मिलित होता था। सात रुपयों में हमें दो बार का भोजन मिलता था। उन दिनों चित्रपट पर मूक चित्रों का प्रदर्शन होता था। हमें चित्रपट देखने का दुर्व्यसन लग गया। जब देखा कि पैसे अपर्याप्त होने लगे हैं तो हमने दो बार की अपेक्षा एक बार भोजन करना आरंभ कर दिया। उसके लिये चार रुपये दिए जाते थे। जब फिर भी पैसों की न्यूनता अनुभव होने लगी तो विचार किया गया कि भोजन घर पर ही बनाना आरंभ किया जाए। इसके लिए सबने अपने घर वालों को कह दिया कि भोजनालय का भोजन महँगा पड़ता है, इसलिए हम सब स्वयं घर पर भोजन बनाया करेंगे। इस प्रकार अपने घर वालों से सबने प्राथमिक आवश्यकता की वस्तुओं के कुछ न कुछ पैसे ले लिए।

उनका कहना था, 'हमने घर पर भोजन बनाने की योजना बनाई। तदनुसार प्रात:काल एक बार ही दो पदार्थ बना कर दोनों समय का भोजन करने का कार्यक्रम था।' परन्तु अन्न और शाक-भाजी आदि छोड़कर तवा, परात आदि बर्तन हमने खरीदे नहीं, अपितु किसी से माँग कर काम चलाया। घर से आवश्यक सामग्री के लिये जो पैसे मँगाए गए थे, उससे हमने चित्रपट देखे। एक बार हममें से किसी के पिताजी अचानक हमारे कक्ष में आ गए। कक्ष बन्द था। उन्होंने पड़ोस में रहने वाले लोगों से पूछताछ की। किसी पड़ौसी ने भली प्रकार हमारी आत्मनिर्भरता का बखान उनके सम्मुख कर दिया। वे हमारे आने तक प्रतीक्षा करते रहे।

'अपने पिताजी को एकाएक आया देख कर उक्त लड़का चौक गया। उसने अपनी अनुपस्थिति का यह निमित्त बता दिया कि हम सब लोग पढ़ाई के लिये बाहर गए हुए थे। उसके पिताजी उससे कुछ बोले नहीं। कुछ आगे बढ़े और सहसा अपने पुत्र की जेब में हाथ डाल दिया।

दुर्भाग्य कि बात कि चारों लकड़ों के चित्रपट के टिकट उस समय उसी की जेब में थे। पिताजी को क्रोध आ गया और पुत्र की जेब में पड़ा हुआ हाथ आवेग से उसके गाल पर लगा।

'थोड़ा बहुत समझा-बुझा कर और कुछ डरा-धमकाकर उस लड़के के पिताजी दूसरे दिन अपने घर चले गये। 'सस्ते ही छूटे' यह समझकर हम लोगों ने सुख की सांस ली।

'किन्तु हमने देखा कि आठ-दस दिनों के भीतर सभी लड़कों के घर से पत्र आए

कि अब तक जो पैसा तुम्हें भोजन व्यवस्था के लिये दिया गया है उसका विवरण दो और जो वस्तुएँ खरीदी हैं, उनके देयक आदि भेजो।

'हम लोगों के घर वालों को यह बात उस लड़के के पिताजी ने लिखी थी। इसी के आधार पर हमसे यह स्पष्टीकरण माँगा गया था। इससे भी अनिष्ट बात यह हुई थी कि उन्होंने एक पत्र मुख्याध्यापक को भी लिखा था जिसमें उनसे प्रार्थना की गई थी कि वे उन चारों लड़कों पर दृष्टि रखें। इसका प्रत्यक्ष परिणाम यह हुआ कि जब कभी भी हमको पढ़ाई में कमजोर पाते तो छड़ियों से हमारी पिटाई करते और कहा जाता कि आवारागर्दी के कारण हम पढ़ाई में कमजोर हो गए हैं। भले ही कमजोरी का कोई अन्य कारण भी रहा हो।

'परीक्षायें समीप थीं, इसलिये हम भी सब कुछ छोड़कर पढ़ाई में जुट गए।'

नथूराम का ध्यान राजनीतिक हलचल की ओर अधिक रहता था। इसका परिणाम यह हुआ कि पढ़ाई से उनका ध्यान हटने लगा। उन दिनों गांधी के नेतृत्व में सत्याग्रह आन्दोलन बल पकड़ रहा था। उन्होंने पिताजी से सत्याग्रह में भाग लेने की अनुमति माँगी। पिताजी ने उनको सुझाव दिया कि अन्य बातें बाद में सर्वप्रथम शिक्षा को महत्त्व दिया जाना चाहिए। फिर उन्होंने अपनी सेवावृत्ति जाने का भय भी दिखाया। नथूराम यदि सत्याग्रह में भाग लेंगे तो पिताजी की नौकरी जाने का पूरा भय था। इन सब बातों पर गम्भीरता से विचार कर उन्होंने सत्याग्रह में भाग न लेने का निश्चय किया।

परन्तु इससे नथूराम को सन्तोष नहीं हुआ। तब उन्होंने सोचा कि बाहर से ही इस कार्य में कुछ सहायता की जाए, किन्तु जो स्वयं परावलम्बी हो वह बाहर से किस प्रकार सहायता कर सकता था। पुत्र होने के नाते थोड़ा बहुत हठ करने का अधिकार उसका होता है, इस दृष्टि से उन्होंने आग्रह करने का निश्चय किया। उस समय उनके पिताजी बम्बई-पूना मार्ग स्थित कर्जत में नियुक्त थे। छुट्टी के दिनों में नथूराम कर्जत जाया करते थे। इस बार दस-पन्द्रह सत्याग्रहियों का एक दल बम्बई जा रहा था। मार्ग में वह कर्जत में रुका था। गाँव के मन्दिर में उन्होंने निवास किया। गाँव छोटा-सा होने के कारण उनके वहाँ ठहरने का समाचार सर्वत्र फैल गया और सत्याग्रह के विषय में जनसमूह में कुतूहल जागृत हुआ। पूरे गाँव में वार्ता आग जैसी फैल गई। नथूराम अवकाश के कारण कर्जत आए हुए थे, अतः वे भी सत्याग्रहियों के दर्शनार्थ मन्दिर में गए। उस दल के प्रमुख से उन्होंने भेंट की और उन्होंने उनसे भोजन के विषय में पूछा तो विदित हुआ कि कोई निश्चित प्रबन्ध नहीं है तब उन्होंने सत्याग्रहियों को उस दिन का भोजन अपने यहाँ करने का निमन्त्रण दे दिया। यह निमन्त्रण उन्होंने अपने पिता की ओर से दे दिया और अपने घर का पता बता दिया। दल-प्रमुख द्वारा निमन्त्रण स्वीकार किए जाने पर नथूराम घर आ गए।

घर आकर इस विषय में उन्होंने कुछ नहीं बताया। समय से कुछ पूर्व ही भोजन करके वे पुनः मन्दिर में चले गए। वहाँ जाकर उन्होंने कहा कि भोजन बन रहा है, आप तब तक चलकर स्नान ध्यान करिए। इस कार्य में भी लगभग दो घंटे तो लग ही जाएँगे। बात सुनकर सत्याग्रही उनके साथ उनके घर के लिये चल दिए।

नथूराम के पीछे पन्द्रह लोगों को कन्धे में तौलिया डाले आते देख माताजी विस्मय करने लगीं। नथूराम ने आगे बढ़कर माताजी को कहा कि इन लोगों ने अभी भोजन नहीं किया है। केवल बेसन-भात ही यदि बन जाए तो काम चल जाएगा। दोपहर बाद चार बजे की गाड़ी से इन लोगों को आगे जाना भी है।

माँ कुछ उत्तेजित स्वर में बोली, 'यह बात तुमने पहले क्यों नहीं बताई? अब क्या तुरन्त ही यह सब हो सकता है? न्यूनतम डेढ़-दो घंटा तो लग ही जावेगा भोजन तय्यार करने में?'

'डेढ़-दो घंटे तक वे लोग यहाँ बैठेंगे, स्नान-ध्यान करेंगे। तात्या क्रोध करेंगे, इस भय से पहले तुमको नहीं बताया था।' नथूराम ने स्पष्टीकरण करते हुए बता दिया।

शीघ्रता में जितनी अच्छी रसोई बन सकती थी, वह माताजी ने यथासमय बनाकर तय्यार कर दी, इसमें भात, पापड़, अचार, छाछ आदि था। पत्तल परोसने से जूठन उठाने तक की सहायता नथूराम ने कर दी। माँ को पुत्र की दक्षता देख आनन्दमय आश्चर्य हो रहा था, जैसाकि सभी माताओं को प्राय: होता है।

सत्याग्रही भोजन कर ही रहे थे कि बीच में पिताजी आ गए। डाकखाने से जुड़ा हुआ ही घर था। उन्होंने देखा और स्थिति को समझा। सत्याग्रही-जन शासकीय बस्ती में और एक शासकीय कर्मचारी के यहाँ भोजन कर रहे थे, यह एक भयंकर-सी घटना थी। छोटा-सा गाँव। उच्चाधिकारियों को विदित हुआ नहीं कि नौकरी गई।

माताजी इस बात को न जानती हों, ऐसी बात नहीं थी। किन्तु वे व्यवहार कुशल थीं। पिताजी की मन:स्थिति को उन्होंने भांप लिया और बोलीं, 'दोपहर के भोजन के समय घर पर आए हुए अतिथियों को क्या कभी हमने लौटाया है? ये सत्याग्रही हैं अथवा तीर्थयात्री, हमें इससे क्या? क्या हमने कभी अतिथि से पूछा है कि वे कहाँ जाने वाले हैं?'

जैसे भी हो, पिताजी का थोड़ा बहुत समाधान हुआ। क्योंकि अब इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय भी तो नहीं था, क्योंकि भोजन करने वाले तो भोजन कर ही रहे थे। बाद में भी बहुत दिनों तक उनके मन में अशान्ति तो रही, किन्तु उन्होंने इस विषय में नथूराम पर कभी किसी प्रकार का क्रोध प्रकट नहीं किया, किन्तु उन्होंने उनको इतना ही कहा कि फिर कभी ऐसा अवसर आए तो बिना उन्हें सूचना दिए ऐसा काम न किया जाए! उन्हें बता दिया जाए। वे स्वयं उसकी समुचित व्यवस्था कर देंगे। गाँव में उनका अच्छा मान हैं, वे अपने घर के अतिरिक्त इस व्यवस्था को भली-भाँति करा सकते हैं।

सत्याग्रहियों ने उनके घर पर भोजन किया। इस प्रकार का स्वल्प सन्तोष-सा बहुत दिनों तक नथूराम के मन में रहा।

नूतन मराठी विद्यालय में नथूराम अध्ययन कर रहे थे। विद्यालय की अन्तिम परीक्षा में बैठे, किन्तु अनुत्तीर्ण रहे। तब वे कर्जत आकर रहने लगे।

पिताजी ने पुन: परीक्षा में बैठने का आग्रह किया, किन्तु नथूराम सोचते थे कि अध्ययन में उनकी बुद्धि नहीं चल रही है, अत: कोई कला या हस्तव्यवसाय सीख लिया जाए। इस दृष्टि से काष्ठकारिता से सम्बन्धित कुछ साहित्य उन्होंने एकत्रित किया और घर पर छोटे-

मोटे उपकरण रख कर कार्य प्रारंभ करने की ठानी।

उन्हीं दिनों पिताजी का स्थानान्तरण रत्नागिरी को हो गया। १९२९-३० की यह बात है। यद्यपि पिताजी को तो नहीं, किन्तु स्थानान्तरण की यह घटना नथूराम के जीवन को एक नया मोड़ देने वाली सिद्ध हुई।

उन दिनों स्वातन्त्र्यवीर सावरकर रत्नागिरी में ही रह रहे थे। रत्नागिरी की सीमा लांघने पर उन पर प्रतिबन्ध था। उनके राजनीति पर चर्चा करने, व्याख्यान देने और लिखने आदि पर भी प्रतिबन्ध था।

उस समय सावरकर जी को लोग कठिनाई से ही पहचानते थे। उसी समय उनकी लेखमाला 'जन्मठेप' प्रकाशित हुई थी और कुछ समय बाद ही सरकार ने पुस्तक को प्रतिबन्धित कर दिया था। जिस पुस्तक पर प्रतिबन्ध होता है उसके विषय में उत्सुकता बढ़ जाया करती है। उस पुस्तक में अवश्य ऐसा कुछ विशेष होगा जिससे उस पर प्रतिबन्ध लगा है, ऐसी लोगों की साधारण धारणा बन जाया करती है। विषयवस्तु से सम्बन्धित समाज का एक वर्ग-विशेष उस पुस्तक की ओर आकर्षित होता है और येन-केन-प्रकारेण उसको हस्तगत करने का यत्न करता है।

नथूराम को सावरकर जी की महत्ता का ज्ञान हो गया था। हिन्दुस्तान की स्वाधीनता के लिये जो-जो महापुरुष प्रयत्नशील थे उनके प्रति नथूराम के मन में सदा आदर भाव होता था। इस प्रकार वे सावरकर जी को प्रखर देशभक्त समझते थे। जब उनको यह विदित हुआ कि पिताजी का स्थानान्तरण रत्नागिरी के लिए हो गया है तो यह समाचार सुनकर उनको उल्लास मिश्रित आनन्द हुआ। उनको यह स्पष्ट होने लगा कि अब वे वीर सावरकर सदृश क्रान्तिकारी के दर्शन सुगमता से कर सकेंगे।

कर्जत से पूना-कोल्हापुर मार्ग से होते हुए हम रत्नागिरी पहुँचे। आठ-दस दिन एक घर में रहे। उसे असुविधाजनक समझकर छोड़ दिया गया और बीच की गली में एक अन्य घर भाडे पर लिया।

वह घर तत्कालीन बम्बई के मुख्यमंत्री स्वर्गीय बाल गंगाधर खेर के पिताजी का था। उनके पिताजी उसी घर में रह रहे थे। उसके एक भाग में हम रहने लगे।

घर में रहने वाले लोग जब किसी घर को छोड़ कर दूसरा घर बसा लेते हैं तो उस मिट्टी, चूना, पत्थर मिश्रित ढाँचे के प्रति कोई विशेष मोह अथवा भावना नहीं रखते। जाने अथवा अनजाने हमारे साथ हुआ यह कि उस घर के जिस भाग में हम् रहने लगे थे उसमें किसी समय जब सावरकर जी प्रथम बार रत्नागिरी आए थे तो रहते थे। बाद में वे उसी गली के एक छोर में अन्य गृह में रहने लगे थे। रत्नागिरी में हमारा पूरा डेढ़ वर्ष का वास श्री खेर के उस घर में ही रहा। सावरकर जी कभी-कभी अपने व्याख्यानों में कहा करते थे; जिस किसी का भी मेरे साथ दूर अथवा निकट का सम्बन्ध आएगा उन्हें आग में जलना नहीं तो झुलसना तो होगा ही, ऐसा दैव का विधान दीखता है। गोडसे परिवार से सावरकर जी का १९२९ के लगभग हुआ सम्बन्ध लगभग बीस वर्ष बाद शब्दश: वैसा ही चरितार्थ हुआ, जैसा सावरकर जी कहा करते थे।

हमारे रत्नागिरी पहुँचने के तीन दिन बाद ही नथूराम सावरकर जी से मिलने गए थे। वह उनकी प्रथम भेंट थी। उसके बाद वे नित्य ही उनके पास जाने लगे। १९-२० वर्ष के इस युवक में सावरकर जी ने कई गुणों को देखा। उन्होंने देखा कि उसका अध्ययन उसकी आयु के अन्य युवकों से कहीं अधिक है। उन्हें प्रतीत हुआ कि नथूराम ने न केवल कहानी उपन्यास का ही अध्ययन किया है अपितु, इतिहास, तत्त्वज्ञान के ग्रन्थ एवं धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन भी किया हुआ है। उन्हें विदित हुआ कि नथूराम की स्मरण-शक्ति भी तीव्र है और अपनी चर्चा में इसी आधार पर समय-समय पर महान ग्रन्थों का उल्लेख करता रहता है। थोड़े दिनों बाद ही वे यह भी समझ गये कि नथूराम की वक्तृत्व शक्ति भी अद्‌भुत है।

सावरकर जी की लंदन की गाथा नथूराम को कभी-कभी उनके ही मुख से सुनने को मिलती रहती थी। वे सावरकर जी से 'वार ऑफ इंडिपेन्डेन्स' की एक प्रति माँग लाए और रात को बैठकर उसका अध्ययन करने लगे। जहाँ कहीं अर्थ उनकी समझ में न आता वे पिताजी से समझ लेते थे। जब वे पढ़ने बैठते तो पिताजी और माताजी सुनने बैठ जाते। सुनता तो दत्ता भी था, किन्तु अल्पायु के कारण यह बात उसकी समझ से परे थी। समझदार श्रोता तो दो ही थे—माँ और पिताजी।

सावरकर जी उन दिनों जो लिखते थे उसकी प्रतिलिपि करने में नथूराम को आनन्द मिलता था। उन्हें इस बात का भी गर्व था कि सावरकर जी की रचना के प्रथम पाठक वे ही हैं। नथूराम कभी-कभी सावरकर जी के सन्दर्भ-ग्रन्थों को घर पर ले आया करते थे। सावरकर जी को जब आवश्यकता होती तो वे उनसे पुनः मँगवाते थे। नथूराम सोचते थे कि जिस ग्रन्थ का एक बार उपयोग कर लिया उसको पुनः देखने की क्या आवश्यकता है। एक बार अपनी शंका उन्होंने सावरकर जी के सम्मुख रख भी दी। तब सावरकर जी ने उन्हें समझाया कि उनकी रचना में किसी प्रकार की भूल न रह जाए, उद्धरणों का उचित अर्थ एवं उपयोग हो रहा है इसका ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है; इसके लिये थोड़ा-सा सन्देह होने पर सन्दर्भ-ग्रन्थों को बार-बार देखना उपयुक्त होता है जिससे कि किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी अथवा आलोचना-प्रत्यालोचना बाद में सुननी न पड़े।

लेखन के विषय में सावरकर जी सदा ही नथूराम का पथ-प्रदर्शन किया करते थे। क्या पढ़ना चाहिए, किस प्रकार की टिप्पणी करनी चाहिए, विषय का किस प्रकार प्रतिपादन होना चाहिए, यह सब वे उसको समझाया करते थे। उनके सम्पर्क से ही नथूराम राजनैतिक सभाओं में भी भाग लेने लग गए थे।

उस समय गान्धी जी के सत्याग्रह आन्दोलन का जो निर्णय हुआ था, सावरकर जी भी समझते थे कि येन-केन-प्रकारेण जनता में जागृति तो आ रही है। वे स्वयं तो बन्दी का जीवन व्यतीत कर रहे थे। इस अवस्था में वे जनता का पथ-प्रदर्शन नहीं कर सकते थे।

रत्नागिरी के विट्ठल मन्दिर में समय-समय पर धार्मिक विषयों पर व्याख्यान हुआ करते थे। एक बार ध्रुवाख्यान पर व्याख्यान था। नथूराम तो प्रत्येक व्याख्यान सुनने के लिए

अवश्य ही जाते थे। पौराणिक विषयों एवं मंदिरों के धार्मिक मंच का देशभक्ति के प्रचार के लिए प्रयोग हो, ऐसी उनकी धारणा बनती जाती थी। उन्हें यह भी विश्वास था कि इसके द्वारा जागृति सहज सम्भव है। जिस दिन ध्रुवाख्यान वहाँ होने वाला था, उस दिन उन्होंने भी कुछ बोलने के लिये अनुमति चाही। उनको अनुमति मिल गई।

अपने व्याख्यान में नथूराम ने कहा, जिस प्रकार ध्रुव का स्वाभिमान जागृत हो उसने अपने लिए सुस्थिर स्थान चाहा था, आज उसी प्रकार हमारा भी स्वाभिमान जागृत हो चुका है और हम भी अपने लिये सुस्थिर स्थान चाहते हैं। हम अपनी स्वाधीनता चाहते हैं। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये ध्रुव ने कठिन तप किया था, पिता द्वारा दिये गये प्रलोभनों में वह नहीं पड़ा था। इतना ही नहीं उसने सम्पूर्ण राज्य प्राप्ति के प्रस्ताव को भी अस्वीकार कर दिया था। उसने पिता की अपेक्षा वास्तविक दाता भगवान 'जगन्नाथ' को जान लिया था और उसी से प्रार्थना किया करता था।

'हमने तप करना आरंभ कर दिया है। क्रूर विदेशी-शासन कितने ही आघात करें, हमारे नेताओं को भले ही पकड़ लें, उन पर अभियोग चलाएं, उन्हें फाँसी दें अथवा हमें प्रलोभित करें तो भी हमें अब पीछे नहीं मुड़ना है। हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि बिना कष्ट सहन किए कोई भी फल सुलभ नहीं होता। सन्त तुकाराम ने कहा है कि कठिन प्रतीत होने वाला कार्य भी अपने प्रयत्नों से ही सरल हो सकता है, असाध्य को साध्य करना होगा। इस प्रकार विचार कर स्वतन्त्रतारूपी ध्रुवतारे को अपनी दृष्टि के सम्मुख रखते हुए भक्त ध्रुव के समान स्थिरता, एक कष्टसाध्यता को अपना लक्ष्य बनाना होगा, तभी हम अपने उद्देश्य में सफल हो सकते हैं।'

अपने भाषण में उन्हें सन्त तुकाराम की वाणी, दासबोध का तत्त्वज्ञान और नवनीत की सूक्तियों को उद्धरित करने के लिये कभी कठिनाई नहीं हुई और न किसी उक्ति विशेष को स्मरण करने के लिये उन्हें कोई विशेष प्रयत्न ही करना पड़ा था। सभी बातें मुख से अनायास इसी प्रकार निकल रही थीं मानों वे उनके अपने ही वाक्य हों। उपस्थित श्रोताओं को अपने भाषण से उन्होंने मन्त्रमुग्ध- सा कर दिया था। सावरकर जी को जब नथूराम के बारे में ज्ञात हुआ तो उन्होंने उनकी पीठ ठोककर उसको प्रोत्साहित किया।

यद्यपि उन दिनों सावरकर जी एक प्रकार से बन्दी का-सा जीवन व्यतीत कर रहे थे, किन्तु तब भी अछूतोद्धार का उनका कार्य चल रहा था। इस विषय में उनसे चर्चा करने के लिए देश-भर के माननीय जन उनके पास आते रहते थे। इस प्रकार की परिचर्चा में नथूराम तन्मयता से भाग लेते थे।

रत्नागिरी का पतित पावन मन्दिर समस्त भारत में संभवतः ऐसा पहला ही मन्दिर था जिसमें चतुर्वर्ण हिन्दुओं का प्रवेश होता था। पूजा के लिये उस मन्दिर के द्वार सभी वर्ग एवं वर्ण के हिन्दुओं के लिए खुले रहते थे। कभी-कभी वहाँ सहभोज के कार्यक्रम भी आयोजित किए जाते थे। नथूराम उनमें सोत्साह भाग लेते थे, किन्तु हमारे घर में इसको स्वीकार नहीं किया जाता था। हिन्दुओं के अन्ध-विश्वासों के विषय में सावरकर जी के जो विचार थे, उनको भी हमारे घर में मान्य नहीं किया जाता था। नथूराम अब बालक तो

थे नहीं कि उनको इन सब बातों में भाग न लेने के लिये रोका जा सके। अत: मौन विरोध होने पर भी वह अपने मन की बात किसी प्रकार मनवा ही लेते थे और इस प्रकार के समाज-सुधार के कार्यों में अग्रणी रहते थे।

सावरकर जी के निमन्त्रण पर एक बार नेपाल के राजकुमार एवं वहाँ के प्रधानमन्त्री रत्नागिरी आए थे। पतित पावन मन्दिर के प्रांगण में ही उनके और सावरकर जी के भाषण हुए थे। इस सारे आयोजन के प्रबन्ध का मुख्य भार नथूराम पर ही था।

नथूराम को इस बात का आभास था कि हम लोग परिवार-पालन के लिये किसी प्रकार का कार्य नहीं करते। पिताजी की प्रबल इच्छा थी कि नथूराम को डाकघर में भरती कराया जाए, किन्तु नथूराम ने निश्चय किया था कि वे शासकीय सेवा नहीं करेंगे। तथापि वे उस अवसर की प्रतीक्षा में थे जबकि वे अपनी पसंद के किसी उद्योग को चला सकें।

बड़ी बहिन मथुरा एक बार मायके में रहने के लिये रत्नागिरी आई थी। जब वह अपने पतिदेव के पास जाने लगी तो नथूराम उनको छोड़ने के लिए गए। हमारे बहनोई ईटारसी में रेलवे के कर्मचारी थे। नथूराम कुछ दिन वहाँ रहे तो अपने बहनोई की सहायता से उन्होंने कुछ औजार एकत्रित कर बढ़ई कार्य सीखा और इस कार्य में उन्होंने वहाँ रहते पर्याप्त प्रगति भी कर ली थी।

परन्तु उनका मन किसी एक कार्य में स्थिर नहीं रहता था। उन्हें इस बात का खेद रहता था कि देश के इस संकटमय काल में भी वे राजनीतिक कार्यों से दूर हो रहे हैं। इटारसी में हिन्दी का प्रचलन अधिक था, इस कारण उन्होंने यहाँ रहते हिन्दी भली-भाँति सीख ली थी। लोक जागरण के लिए उन्होंने वहाँ रहकर हिन्दी में कथा-कीर्तन करना आरंभ कर दिया। कभी-कभी वे वहाँ लगने वाले मेले में व्याख्यान भी देते थे।

इन सब गतिविधियों से वे वहाँ रहते पुलिस की दृष्टि में चुभने लगे। एकाध बार उनको थाने पर बुलाकर वहाँ सारा दिन रोका भी गया और प्रयत्न से उनको वहाँ से छुड़वाया गया। साथ ही इस बात के लिये बहनोई एवं पिताजी को सावधान किया गया कि लड़के पर नियन्त्रण रखा जाए। पिताजी को इसकी सूचना रत्नागिरी भेजी गई थी।

पिताजी को जब सारा विवरण विदित हुआ तो इस दृष्टि से कि कम से कम में अपन लड़का अपनी दृष्टि में रहेगा, नथूराम को इटारसी से रत्नागिरी बुला लिया, किन्तु रत्नागिरी आकर नथूराम सावरकर जी के सम्पर्क में आए और इटारसी में सीखा लकड़ी की शिल्प कला का काम, यहाँ बिलकुल भी नहीं चल पाया।

कुछ काल बाद पिताजी डाक-विभाग सेवा से निवृत्त हुए। दत्ता, शांता, गोपाल और गोविन्द की शिक्षा तब तक पूर्ण नहीं हो पाई थी। परिवार सांगली में स्थाई हुआ, क्योंकि पूना की अपेक्षा सांगली सस्ता था। एक वर्ष बाद शान्ता का विवाह हो गया। अन्य लड़कों की शिक्षा चलती रही। नथूराम ने दर्जी का काम सीखा और 'उद्यम मण्डल' नाम से दूकान की स्थापना कर दर्जी का कार्य आरंभ किया।

उन दिनों हिन्दुओं के सुदृढ़ संगठन के रूप में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ प्रसिद्ध होता जा रहा था। डॉ० हेडगेवार इस संघ के प्रमुख थे। डॉक्टर मुंजे और बाबाराव सावरकर का

डॉक्टर हेडगेवार को सक्रिय सहयोग प्राप्त था। रत्नागिरी में रहते हुए सावरकर को भी संघ कार्य की सूचना मिलती रहती थी, किन्तु सांगली आने से पूर्व नथूराम को इस संस्था के विषय में केवल परोक्ष ज्ञान ही था। कुछ इधर-उधर पढ़कर और कुछ लोगों के मुख से सुन कर। तब तक उनका संघ से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं हुआ था।

स्वाधीनता प्राप्ति के संघर्ष में मुस्लिम समाज की प्रवृत्ति कभी उदासीनता की होती थी तो कभी स्पष्ट विरोध की। इस कमी की पूर्ति के लिए हमारा हिन्दू समाज संगठित एवं बलवान बने, यह उस समय संघ की दृष्टि समझी जाती थी। सावरकर जी ने इसी दृष्टिकोण को कालान्तर में सूत्रबद्ध किया था। 'यदि तुम साथ दो, तो तुम्हारे सहयोग से अन्यथा इसके बिना भी, और तुम्हारे विरोध पर भी उसका सामना करते हुए हम स्वाधीनता प्राप्त करेंगे।'

नथूराम को संघ की भूमिका उपयुक्त प्रतीत हुई। रत्नागिरी का पतित पावन मन्दिर तो ईंट पत्थर का एक ढांचा मात्र था और वह भी रत्नागिरी तक ही सीमित। किन्तु संघ तो सभी हिन्दुओं को आत्मसात करने, निस्सीम एवं विशाल वास्तुविहिन मन्दिर था। समस्त भारत उसका कार्य क्षेत्र था। राष्ट्र को बलवान बनाने का संघ का संकल्प था। अत: स्वाभाविक ही स्वराज्य प्राप्ति का संकल्प संघ की प्रतिज्ञा में समाविष्ट था। संघ की शाखाएँ शनै: शनै: बढ़ रही थीं।

सांगली में भी संघ की शाखा चालू हुई। श्री काशीनाथ पंत लिमये उसके संघचालक थे। नथूराम तन्मयता से संघ के कार्य में जुट गए। थोड़े दिनों में वे वहाँ के बौद्धिक कार्यवाह हो गए।

सावरकर जी उन दिनों 'किर्लोस्कर' मासिक में हिन्दू समाज की विसंगतियों, संकुचित भावनाओं और हानिकर रूढ़ियों पर आलोचनात्मक लेख लिखा करते थे। सावरकर जी से प्रत्यक्ष परिचय होने के कारण उनकी तर्कपूर्ण रचनाएँ नथूराम अवश्य पढ़ते थे। उनके लेखों से भी वे प्रभावित थे।

यद्यपि नथूराम का सिलाई कार्य चल रहा था, किन्तु इससे पर्याप्त धनार्जन न होने के कारण परिवार में अभाव रहता था। उन्होंने फल बेचने का एक अन्य व्यवसाय भी करना चाहा, किन्तु अर्थाभाव के कारण सफलता नहीं मिली।

पिताजी स्थानान्तरित होकर रत्नागिरी आये थे, तभी से नथूराम के विवाह की चर्चा चल पड़ी थी, किन्तु उनकी बहिन भी विवाह योग्य हो गई थीं अत: बहिन का विवाह पहले करना आवश्यक था, इस कारण नथूराम के विवाह के प्रश्न को कभी महत्त्व नहीं दिया गया, किन्तु जब कभी भी इस प्रकार का प्रश्न उपस्थित होता तो नथूराम स्पष्ट कह देते 'मैं विवाह नहीं करूँगा।' हमारे माता-पिता समझते थे कि अभी छोटा है, ज्यों-ज्यों आयु बढ़ेगी, वह स्वयं ही विवाह की इच्छा करने लगेगा।

सांगली में रहते हुए दत्ता ने इण्टर साइंस की परीक्षा दी, क्योंकि उसे परीक्षा में उच्च-श्रेणी प्राप्त नहीं हुई थी, अत: छात्रवृत्ति नहीं मिली। उसने आगे पढ़ने का विचार त्याग दिया और कुछ तकनीकी प्रशिक्षण प्राप्त कर अपना छोटा-सा उद्योग प्रारम्भ कर दिया। उसकी

आयु भी विवाह योग्य हो गई थी। शान्ता का विवाह हो चुका था।

एक बार पिताजी अत्यधिक अस्वस्थ हो गए। उन्होंने आग्रह किया कि नथूराम विवाह कर ले। नथूराम के लिए परीक्षा की घड़ी थी। एक ओर रुग्ण पिता का आग्रह, दूसरी ओर अपना संकल्प।

पिताजी के आग्रह के उत्तर में उनका कहना था कि विवाह के विषय में मैंने कभी विचार ही नहीं किया, यदि कभी करने किया भी तो वह यही कि मुझे विवाह नहीं करना है। आपकी यह धारणा है कि विवाह पर मैं सुखी जीवन व्यतीत करूँगा, किन्तु मैं समझता हूँ कि विवाह करने से मेरा जीवन सुखी नहीं हो सकता। मेरा मन गृहस्थी के लिए नहीं करता। आपके आग्रह पर यदि मैं विवाह कर भी लूँ और बाद में फिर मुझे कष्ट और दु:ख हुआ तो इससे आपको भी तो कष्ट और दु:ख होगा। परिवार के सबसे बड़े लड़के के नाते दूसरों की सुखी गृहस्थी देखने से ही मुझे सन्तोष होगा। अत: दत्ता के लिए विवाह का प्रबन्ध कीजिए। वह अब विवाह-योग्य हो गया है। मुझसे विवाह का आग्रह एवं अनुरोध अब मत कीजिए।

नथूराम के इस उत्तर को सुन कर माता-पिता विवश हो गए और पिताजी ने उसके विवाह का विचार मन से निकाल दिया। कुछ दिनों बाद पिताजी का स्वास्थ्य भी ठीक हो गया और उसी वर्ष दत्ता का विवाह भी कर दिया गया।

१९३७ में जब जमनादास मन्त्रिमण्डल बना तो सावरकर जी पर से प्रतिबन्ध उठाया गया। उन्होंने रत्नागिरी से बम्बई के लिए प्रस्थान किया। बम्बई जाते हुए मार्ग में कोल्हापुर, मिरज, सांगली आदि स्थानों पर सावरकर जी के व्याख्यान आयोजित किए गए।

इस यात्रा में नथूराम सावरकर जी के साथ स्थान-स्थान पर घूमने लगे। उनके मन में यह कल्पना स्पष्ट हो गई कि समस्त हिन्दू समाज को संघबद्ध एक माला में पिरोना अत्यावश्यक है। संघ कार्य को राजनीतिक उत्थान की ओर मोड़ने की कल्पना भी उनके मन में आने लगी। दिन-प्रतिदिन उनकी दृष्टि व्यापक होती जा रही थी। उन्हें प्रतीत हुआ कि उनके कार्य के लिए सांगली छोटा स्थान है।

नथूराम सांगली छोड़कर पूना चले गए। जीविकोपार्जन का धन्धा कपड़े सीने का ही था, किन्तु उनका अधिकांश समय संघ और हिन्दू महासभा के कार्य में ही बीत जाता था।

सावरकर जी अपने ओज एवं तेज से भारत की राजनीति को एक नई दिशा प्रदान कर रहे थे। संभ्रम की आंधी में अभी तक भारतवासी विनय द्वारा भारत की स्वाधीनता की माँग करते रहे। विनयी मन में यह कल्पना कभी नहीं आई कि स्वाधीनता प्राप्ति के लिए स्वाभिमान का होना आवश्यक है। राजनीतिक स्वाभिमान शब्द से अपरिचित थे। सावरकर जी का कथन था कि आत्महीनता की भावना को त्याग कर देशवासियों को अपना स्वाभिमान जागृत करना होगा।

उन्हीं दिनों पूना की एक सभा में स्व० आचार्य अत्रे ने सावरकर जी को 'स्वातन्त्र्यवीर' की उपाधि से विभूषित किया। तब से सावरकर के नाम के साथ 'स्वातंत्र्यवीर' जुड़ गया। सावरकर जी में अथाह आत्म-विश्वास था। वे कहा करते थे कि १९३८ में जो लोग कहते

हैं कि उन्हें १९०८ की सावरकर की बातें तथ्यपूर्ण प्रतीत होती हैं, उन्हें १९३८ के सावरकर को समझने के लिए १९६८ तक प्रतीक्षा करनी होगी। सावरकर जी में इतना अथाह आत्म-विश्वास था इसी कारण हिमालय से कन्याकुमारी तक असंख्य युवक उनकी विचारप्रणाली से प्रभावित हुए थे। नथूराम तो बहुत प्रारम्भ में ही उनसे प्रभावित हो चुके थे।

हैदराबाद में हिन्दुओं पर जो अत्याचार हो रहे थे, उनके प्रति जो अन्याय हो रहा था उसके प्रतिकार के लिए हिन्दू महासभा ने वर्ष १९३८ में एक आन्दोलन करने का निश्चय किया। उस आन्दोलन को 'नि:शस्त्र प्रतिकार' संज्ञा दी गई थी। सत्याग्रह और नि:शस्त्र प्रतिकार में यद्यपि लोगों को समानता प्रतीत होती थी, किन्तु इसमें आधारभूत अन्तर था। सत्याग्रह में तो शस्त्रधारण करना ही पाप समझा जाता है जब कि नि:शस्त्र प्रतिकार में यदि आवश्यकता पड़े अर्थात् इस प्रक्रिया से कार्य सिद्ध न हो तो फिर शस्त्र भी धारण किया जा सकता था। यदि बिना शस्त्र के ही कार्य सम्पन्न हो जाए तो शस्त्र धारण करने की क्या आवश्यकता? केवल यही भावना इस नि:शस्त्र प्रतिकार आन्दोलन की थी। शस्त्र धारण न करने की कोई शपथ नहीं ली गई थी।

इस आन्दोलन में नथूराम ने पहले जत्थे का नेतृत्व किया। उनको तथा उनके सभी साथियों को एक वर्ष का कारावास का दण्ड मिला, जिसे उन्होंने हैदराबाद के कारागार में बिताया। आन्दोलन के परिणामस्वरूप हैदराबाद के निजाम और हिन्दू महासभा के नेताओं के मध्य एक समझौता हुआ। जिससे हिन्दुओं को कुछ अधिकार दिए गए। इस प्रकार यह आन्दोलन समाप्त हुआ।

अपने हाथ में किसी प्रकार का प्रचार तन्त्र न होने से हिन्दू संगठन के कार्य में पर्याप्त अड़चन आती थी। इस कमी को ध्यान में रखते हुए नथूराम ने अपने साथियों से परामर्श किया और विचार-विनिमय के उपरान्त निश्चय किया गया कि हिन्दू महासभा के ध्येय के प्रचार-प्रसार के लिए एक दैनिक-पत्र का होना नितान्त आवश्यक है। फलस्वरूप १९४४ के मार्च मास में 'अग्रणी' नामक समाचार-पत्र, जो पहले कभी प्रकाशित होता था, उसको पुनर्जागरित किया गया। उस समय द्वितीय विश्वयुद्ध चल ही रहा था, इस कारण कोई नया समाचार-पत्र प्रारम्भ करने की अनुमति शासन नहीं देता था। कालान्तर में अनेक वर्ष बाद उसी 'अग्रणी' को 'हिन्दूराष्ट्र' से नामांतरित किया गया।

'अग्रणी को अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता था। उससे एक के बाद एक अनेक बार शासन की ओर प्रतिभूति (सिक्योरिटी) माँगी जाती थी। नथूराम इसके सम्पादक थे और नाना आप्टे संचालक। ३१ जनवरी, १९४८ को इसका अंतिम संस्करण प्रकाशित हुआ था। उसके बाद यह समाचार-पत्र बन्द हो गया।

१९४८ से पूर्व नथूराम के जीवन का ७-८ वर्ष का काल लेख, यात्रा, व्याख्यान, समाचार-पत्र चलाने आदि जैसे कार्यों में ही बीता था जिसके विवरण के लिए एक अन्य अध्याय लिखना पड़ेगा। संक्षेप में कहा जाए तो इतना ही पर्याप्त होगा कि हिन्दू-संगठन के कार्य के लिए ही उनका तन-मन-धन समर्पित था।

नथूराम शान्त प्रकृति तथा उदार प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। अपने ओजस्वी भाषणों में भी उन्होंने कभी संयम नहीं खोया। राजनीतिक क्षेत्र में उन्होंने अनेक लोगों की कार्यविधि एवं ध्येय की आलोचना की होगी, किन्तु उन्होंने कभी किसी की व्यक्तिगत आलोचना नहीं की। हिन्दुत्व विरोधी राजनैतिक दलों के अनेक लोगों से उनकी मित्रता थी। एक बार पूना में एक छविगृह के उद्घाटन के अवसर पर संचालकों ने काका गाडगिल जो पक्के कांग्रेसी थे, वे बाद में पूर्व-पंजाब के राज्यपाल बने (नरहरि विष्णु गाडगिल) और नथूराम, दोनों को ही एक साथ आमन्त्रित किया था। दोनों को परस्पर प्रेमालाप करते हुए देख लोगों को बड़ा विचित्र-सा प्रतीत हो रहा था। इन्हें विस्मय होता था कि दो अत्यन्त विरोधी विचारों के व्यक्ति भी इस प्रकार प्रेमपूर्वक वार्त्तालाप कर सकते हैं।

एक बार नथूराम एक मेले में गए। वहाँ हास्य विनोद का वातावरण था। स्वभावानुसार उन्होंने वहीं पर व्याख्यान आरम्भ कर दिया। तब वहीं कुछ समवयस्क लोगों ने बीच में ही उनको रोकते हुए कहा, 'पण्डित! आज का दिन तुम्हारा नहीं है। तुम्हारा व्याख्यान सुनने के लिए हम शनिवार बाड़े के सामने एकत्रित होंगे।' जिस सद्भावना और मनोरंजनमय वातावरण में ये शब्द कहे थे सभी सुनने वाले इससे हँस पड़े और नथूराम को भी इससे कोई अपमान की अनुभूति नहीं हुई। उन्होंने भी उसे मनोरंजन ही समझा था। इस अवसर पर कोई अन्य व्यक्ति होता तो वह प्रतिकार करता, किन्तु नथूराम ने उसे स्वीकार किया था। तभी किसी ने गीत गाना आरम्भ कर दिया। नथूराम उसको संकेत से चुप करते हुए उस घर के भीतर चले गए और वहाँ से हारमोनियम निकाल लाए। किसी को कल्पना नहीं थी कि नथूराम बाजा भी बजा लेंगे। अत: उन्होंने गायक से कहा कि तुम उसकी ओर ध्यान नहीं दो और अपना गाना गाते जाओ।

किन्तु जब लोगों ने देखा कि नथूराम ने थोड़ी अवधि में स्वर साध लिए हैं और वे लय के साथ बाजा बजा रहे हैं तो उन्हें आश्चर्य मिश्रित आनन्द हुआ, क्योंकि नथूराम को सबके सामने बाजा बजाने का अवसर नहीं आया था। अत: साथियों की धारणा भी उसी आधार पर बनी थी। इतना ही नहीं, बाद में स्वयं नथूराम ने भी दो-तीन गीत सुनाए। उन्होंने अपना प्रिय गीत 'दे हाता या शरणागता' भी हारमोनियम पर बजाकर सुनाया। नथूराम को शास्त्रीय-संगीत का ज्ञान था। वे बाँसुरी भी अच्छी बजाते थे।

कॉफी नथूराम का प्रिय पेय था। जब से उन्होंने होश संभाला होगा सम्भवतया चाय उन्होंने कभी नहीं पी, किन्तु कॉफी बहुत पीते थे। तथापि उसको उनका व्यसन नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कॉफी के बिना कभी उनका काम रुक गया हो, ऐसी बात नहीं हुई। कॉफी न मिलने पर बिना काफी के भी वे काम कर सकते थे।

जिन दिनों वे कालकोठरी में थे, एक बार मैं और करकरे उनके पास गए। अनायास ही बन्दीगृह के अधीक्षक भी वहाँ आ गए। नथूराम ने करकरे को कॉफी भेजने के लिये कहा। अधीक्षक ने पूछा, क्यों? शाम की कॉफी अभी तक क्यों नहीं आई, उसे भेजने में क्यों विलम्ब हुआ है? 'अधीक्षक का अभिप्राय यह नहीं था कि एक बार कॉफी पी लेने के बाद दुबारा नहीं मिलेगी, किन्तु वे तो जानना चाहते थे कि कहीं कॉफी लाने में विलम्ब तो नहीं हुआ है।'

नथूराम ने कहा, 'मैं शाम की कॉफी पी चुका हूँ। दुबारा पीने की इच्छा हो रही है। इसलिये मँगाई है। आप भी थोड़ी पी लीजिएगा। फिर वे हँसकर कहने लगे, 'फाँसी तो आप लोग देंगे ही, उसकी क्या चिन्ता करना पर उससे पहले एक बार एक कप कॉफी तो दिलवा दीजिये। (I do not mind the gallows but I must have a cup of coffee before the execution)

यही है संक्षेप में नथूराम का पूर्व चरित्र। अनेकानेक क्रान्तिकारियों का चरित्र पढ़ने एवं सुनने से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उनका अपना एक पृथक् अध्यात्मवाद होता है। उसी के आधार पर वे मृत्यु से जूझते हैं, विचलित नहीं होते।

श्री रामदास गांधी के पत्र के उत्तर में नथूराम ने अपने पूर्वचरित्र के बारे में कुछ परिचय देने के लिए उन्हें लिखा था। जैसा कि प्रारंभ में मैंने श्री रामदास गांधी और नथूराम के उत्तर का संकेत दिया है। उन पत्रों के अनुवाद के साथ इस अध्याय को समाप्त कर रहा हूँ।

श्री रामदास गांधी का पत्र

खलासी लाइंस, नागपुर

दिनांक १३ जून, १९४९

प्रिय श्री नथूराम गोडसे,

आपका दिनांक ३ जून, १९४९ का पत्र प्राप्त हुआ।

आप सदैव विचार ग्रहण के लिए उद्यत हैं, यह जानकर प्रसन्नता हुई। आपने जो मार्ग अपनाया हुआ है, जिसके माध्यम से आप मातृभूमि की एकता बनाए रखने तथा अन्य धर्मों में भेदभाव में विश्वास न रखने वाले चिरंतन हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए इन पद्धतियों के भविष्य में सफलता की सम्भावनाओं के विषय में मुझसे अथवा मेरे पिताजी के सहयोगियों से मुक्त हृदय से विचार-विनिमय करने की आपकी आकांक्षा उत्साहवर्द्धक है।

तदनुसार भारतीय प्रशासन की ओर से तथा मेरे एवं मेरे साथ जो भी आवेंगे उनकी ओर से, आपसे बातचीत करने के विषय पर किसी भी प्रकार का आश्वासन न देते हुए मैंने आज पण्डित जवाहरलाल नेहरू से श्री विनोबा भावे, श्री किशोरीलाल मश्रूवाला और मेरे स्वयं आपके साथ उपरिनिर्दिष्ट विषय पर चर्चा करने की अनुमति देने के लिए प्रार्थना की है। क्योंकि वह आपकी हार्दिक इच्छा थी, अतः मैंने ऐसा करना उपयुक्त समझा है।

यह चर्चा यदि ईश्वर ने चाही तो २५ जून, १९४९ के बाद ही सम्भव हो सकेगी, क्योंकि नागपुर से दिल्ली तक उससे आगे जहाँ आपको रखा गया है वहाँ तक पहुँचना हमारे लिए २५ जून से पूर्व संभव नहीं होगा। इस बात को आप ध्यान में रखिएगा।

मैं समझता हूँ कि 'हम लोगों को सत्य ही बोलना चाहिए।' इस प्रकार की आपकी ओर से जो माँग है, वह वांछनीय नहीं। क्योंकि वह न तो मेरे सम्बन्ध में आवश्यक थी और न ही मेरे पिताजी के निकट सहयोगियों के ही सम्बन्ध में आवश्यक थी।

मेरा सुझाव है कि इस बीच का पूर्ण समय आप आत्म-संशोधन में व्यतीत कीजिए। और वह भी परमेश्वर पर पूर्ण श्रद्धा के साथ। 'वही' आप पर कृपापूर्ण सुदृष्टि रखें, ऐसी प्रार्थना कीजिए। क्योंकि वैसी कृपा ही आपको आपका अपराध स्वीकार कराने में सहायक होगी, ऐसी मेरी धारणा है। अनादार और आक्रमण से अपनी मातृभूमि और विशेषतया हिन्दू-धर्म की रक्षा किस प्रकार की जा सकती है, इस बात को अन्त में गांधी जी भली-भाँति जान गए थे; इस सत्य का साक्षात्कार भी आपको होगा। यदि आपने ऐसा किया तो मैं समझता हूँ कि आपकी और हमारी जो प्रस्तावित भेंट है उसके अन्त में सौंदर्य और अर्थ से परिपूर्ण भगवद्गीता के १८वें अध्याय के ७३वें श्लोक को आप हमारे साथ प्रसन्नता से उच्चारण कर सकेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गत सन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

सद्भावनाओं सहित

आर. एम. गांधी

नथूराम का उत्तर

मध्यवर्ती बन्दीगृह, अम्बाला
दिनांक २४-६-१९४९

प्रिय श्री रामदास गांधी,

इसी मास के दिनांक तेरह का आपका पत्र मुझे २३ जून को प्राप्त हुआ और मैं आपके आशय से अवगत हुआ।

आपने मेरी विनती को स्वीकार कर लिया है, यह जान कर मुझे आनन्द हुआ। आपको जब भी सुविधा हो आ जाइयेगा। मेरी फाँसी से एक दिन पूर्व भी आप मुझसे मिल सकते हैं। उस भेंट के लिये मैं अत्यधिक उतावला नहीं हूँ। मुझसे मिलने का आपका विचार है, यह जान कर ही मुझे पर्याप्त सन्तोष हुआ है। यदि किसी अड़चन के कारण आप मुझे न भी मिल सकें तो भी मुझे किसी प्रकार का खेद नहीं होगा, क्योंकि मुझसे मिलने की सहमति आपने व्यक्त की है, इससे ही आपकी आस्था का आभास प्राप्त हो रहा है, मेरे लिये यही पर्याप्त है। तथापि मेरी आपसे केवल यही विनती है कि मुझे मिलने की चेष्टा कीजिएगा।

'जो सत्य है वही बोला जाये।' यह अपेक्षा मुझे नहीं लिखनी चाहिए थी, आपके इस प्रकार के विचार से मैं सहमत हूँ। विश्वास कीजिए, वैसा लिखते समय आपके हृदय को ठेस पहुँचाने की मेरी मनोभावना किंचित् भी नहीं थी, परन्तु ऐसा लिखने के लिये मेरे पास दो कारण थे। इस युग में 'सत्य' के अनेक तथाकथित पुजारी मुझे मिले हैं, किन्तु उनके प्रत्यक्ष व्यवहार में मैंने इस प्रकार की कोई बात नहीं पाई। मैंने न्यायालय के कठघरे में

शपथपूर्वक तोड़-मरोड़ कर सत्य बोलते हुए अनेक लोगों को खड़े देखा है। और दूसरा कारण था कि हमारे वार्त्तालाप के समय मुझे कडुआ सत्य बोलना पड़ेगा, वह चाहे जो हो, कम से कम मेरी धारणा के आधार पर वह कटुसत्य ही होगा।

कुछ भी हो, 'निडरता से बोलने का भय मुझे नहीं रहना चाहिए,' आपके पत्र से मुझे ऐसा आश्वासन प्राप्त हुआ है।

'नष्टो मोह: स्मृतिर्लब्धा' भगवद्गीता का यह श्लोक आपने मुझे स्मरण कराया, इसके लिये आपको धन्यवाद। मुझसे यदि आप पूछें तो गोता का न केवल यही श्लोक अपितु सम्पूर्ण गीता ही अर्थ और सौन्दर्य से परिपूर्ण है।

'करिष्ये वचनम् तव' अर्जुन से ऐसा कहने के बाद श्रीकृष्ण ने उसको यह भी कहा था—'मामनुसर युद्ध च।' और अर्जुन ने इसे प्रत्यक्ष करके दिखाया।

श्री विनोबा भावे जन्म से ही महाराष्ट्रीय हैं, उनके माध्यम से अथवा किसी अन्य व्यक्ति के माध्यम से मेरे साधारण चरित्र के बारे में अथवा व्यवहार के बारे में जितनी अधिक जानकारी आप प्राप्त कर सकें, यदि करें तो उत्तम होगा। जिस व्यक्ति ने ऐसा क्रूर एवं अवैध कर्म किया है उसका पूर्व चरित्र समझ लेना कदाचित आपके लिये उपयुक्त होगा।

सम्प्रति अधिक कुछ नहीं।

सद्भावनाओं सहित, आपका

नथूराम वि. गोडसे

२४-६-१९४९

६ उत्सर्ग

दिल्ली के लाल किले में दिनांक १०-२-१९४९ के दिन गांधी-वध के सम्बन्ध में गठित विशेष न्यायालय के न्यायाधीश स्वर्गीय आत्माचरण ने अभियोग का निर्णय घोषित किया। उन्होंने निर्णय में नथूराम गोडसे और नाना आपटे को तो मृत्यु-दण्ड की घोषणा की थी और विष्णु करकरे, मदनलाल पहवा, गोपाल गोडसे, शंकर किस्तैया और डॉक्टर परचुरे को आजीवन कारावास का दण्ड दिया। इसके अतिरिक्त भी अन्य अनेक दण्डों का विधान था, किन्तु वे उस मुख्य दण्ड के साथ-साथ भुगतने थे। दिगम्बर बड़गे को क्षमा आश्वासित साक्षी के रूप में क्षमा प्रदान कर दी गई थी और सावरकर जी को निष्कलंक मुक्त कर दिया गया था।

देशगौरव सुभाषचन्द्र बोस के आजाद हिन्द फौज के अभियुक्तों के लिये लालकिले के जिस एक भाग को बन्दीगृह में परिवर्तित किया गया था, उसी भाग को कुछ ठीक-ठाक करके गांधी- वध के अभियुक्तों के मुकदमे के लिए प्रयुक्त किया गया था।

किले की प्राचीर की मोटी भित्ति के भीतर जो कक्ष (कमरे) निकाले जाते हैं उन कक्षों की पंक्ति को ही सामयिक बन्दीगृह के रूप में परिवर्तित किया गया था। सात कक्ष अभियुक्तों के लिये नियत थे। कक्षों के सामने प्रांगण था। प्रांगण को काँटेदार तारों से बन्द किया गया था। दो कक्षों के बीच प्रांगण को दीवार देकर बन्द करके उनको शेष भाग से पृथक् कर दिया गया था।

बड़गे शासकीय साक्षी बन गया था और शंकर किस्तैया से अपेक्षा की जा रही थी कि वह बड़गे की साक्षी की पुष्टि करेगा। इसलिए उन दोनों को उन पृथक् किए गए कक्षों में रखा गया था। शेष पाँच कक्षों में से एक में मदनलाल, दूसरे में नथूराम गोडसे और गोपाल गोडसे, तीसरे में डॉक्टर परचुरे, चौथे में नाना आपटे और विष्णु करकरे और पाँचवें में वीर सावरकर को रखा गया था।

निर्णय होते ही दण्डितों को इसी बन्दीगृह में लाया गया था। नथूराम और नाना आपटे को मृत्यु-दण्ड घोषित हुआ था, इसलिए उन्हें उस अलग भाग में रखा गया था। शेष पाँच दण्डितों को दूसरे भाग में, एक-एक कक्ष में अलग-अलग रखा गया था।

नित्य ही कक्ष परिवर्तित किया जाता था। इस प्रक्रिया को 'उड़दी' कहते हैं। एक ही कक्ष में रखने से बन्दी दीवार में छेद करके, छड़ काटकर या किसी अन्य प्रकार से भाग जाने का प्रयत्न कर सकता है, ऐसी सम्भावना सदैव बनी रहती है, इसलिये पूर्व सावधानी के उद्देश्य से ऐसा किया जाता है।

दीर्घकालावधि के बन्दी को तीन सेर वाली डंडा बेड़ी पहनाने का नियम था। अतः शाम को हम पाँच बन्दियों के पैरों में डंडा बेड़ी पहनाई गई।

आजन्म कारावास कालापानी का दण्ड होता है। इस दण्डावधि तक बन्दी को बन्दीगृह में रखना अनिवार्य होता है। और जब तक वह बन्दीगृह में होता है, उसे सश्रम कारावास भुगतना पड़ता है। इस नियम के अनुसार दूसरे दिन हमें पत्रावरण (लिफाफे) बनाने के लिए दिए गए। यह कार्य प्रातः से सायंकाल चलता था, भोजन के समय अवकाश मिलता था।

अभियोग के निर्णय तक हम सभी को 'बी' श्रेणी दी गई थी, किन्तु निर्णय-पत्र में बन्दियों के लिये किसी श्रेणी का निर्देश नहीं दिया था। अतः दण्ड प्रारम्भ होते ही हमें 'सी' श्रेणी में रखा गया।

श्रेणी निर्धारण के लिये हमने आन्दोलन प्रारम्भ करने का निश्चय किया। ३-४ दिन बाद मदनलाल ने अनशन प्रारम्भ कर दिया। अनशन ६ दिन तक चला, फिर उसने वह छोड़ दिया। ३७ दिन बाद हम सात बन्दियों में ६ को 'बी' श्रेणी मिल गई। वे ६ थे, नथूराम गोडसे, नाना आपटे, मदनलाल, करकरे, गोपाल गोडसे और डॉक्टर परचुरे। शंकर किस्तैया को यहश्रेणी नहीं दी गई।

मेरे विचार से मृत्युदण्ड घोषित कैदियों को तत्कालीन गृहमन्त्री सरदार वल्लभभाई पटेल की उदारता से 'बी' श्रेणी प्राप्त हुई थी।

दण्ड के विरोध में पुनरावेदन करने के लिए पन्द्रह दिन का अवसर दिया गया था। दिल्ली क्षेत्र उस समय पंजाब उच्च-न्यायालय के अधीन था। उस समय पंजाब उच्च-न्यायालय की पीठ शिमला में थी।

निश्चित अवधि के अंदर दण्डित व्यक्तियों ने अपने आवेदन-पत्र (अपीलें) दाखिल किए। नथूराम को दण्डसंहिता की धारा ३०२ के अंतर्गत जो दण्ड हुआ था उसके विरोध में उन्होंने पुनर्न्याय की माँग नहीं की। उन पर जो अन्य आरोप लगाए गए थे, उसके विरोध में उन्होंने याचिका प्रस्तुत की थी।

अपनी याचिका पर स्वयं बहस करने की अनुमति के लिए भी उन्होंने प्रार्थना की। उसको स्वीकार कर लिया गया था।

किसी विशेष कारागार में मृत्युदंड का प्रबन्ध करने की अपेक्षा जहाँ इसकी व्यवस्था हो और जहाँ से नथूराम को शिमला लाने-ले जाने में सुविधा हो, ऐसे कारागार में हम लोगों को भेजना निश्चित किया गया। तदनुसार दिनांक ९-४-१९४९ को मोटर द्वारा पानीपत होते हुए हमें अम्बाला केन्द्रीय कारागार में प्रविष्ट कराया गया।

हम सभी बन्दी एक ही मोटर में थे। मृत्युदण्ड प्राप्त बन्दी भी हमारे साथ थे और बहुत दिनों बाद हम लोग मन खोल कर मिले थे। अतः सभी के मन प्रफुल्लित थे। वार्त्तालाप में हँसी-विनोद की बहार थी।

हमें किस मार्ग से अम्बाला ले जाया जा रहा है, इसका हमें ज्ञान नहीं था। जिस प्रदेश से हमको ले जाया जा रहा था, वह भी हमें अपरिचित-सा प्रतीत हो रहा था। हमारे साथ

जाने वाले पुलिस-दल के व्यक्ति एवं उनके अधीक्षक सभी अच्छे व्यक्ति थे। हमारे वार्त्तालाप में भी वे लोग कभी-कभी भाग ले लेते थे। हमारा वाहन किस मार्ग से जा रहा था, यह वे समय-समय पर हमें बताते जाते थे।

जब अधिकारी महोदय ने कहा कि पानीपत आने वाला है, यह सुनकर हमारे मन में विचार आया कि क्षण भर के लिये उस भूमि पर उतर पड़ें। प्रश्न केवल भावनाओं का ही होता है। महाराष्ट्र का पानीपत से बहुत निकट का नाता है। लगभग दो सौ वर्षों बाद भी हमारे मन में से वह भावना मिटी नहीं थी। मराठा सेना ने १७६१ में अहमदशाह अब्दाली से पानीपत में युद्ध किया था, पर हार गई थी। लगभग एक लाख लोग मारे गए थे।

जब हमने अधिकारियों से कहा कि हम यहाँ पर थोड़ा समय टहलना चाहते हैं, आपकी कृपा होगी, यदि वाहन रुकवा दें तो। उन्होंने वाहन रुकवा दिया। हम सब नीचे उतर गए। मार्ग की सीमा पर छायादार वृक्ष थे, उसी छाया में हमने कुछ क्षण विश्राम किया और युद्ध-भूमि को उदासी से, परन्तु गर्व सहित देखा। फिर गाड़ी में बैठे और वहाँ से चलकर गाड़ी ने अम्बाला कारागार में जाकर ही विश्राम लिया।

उस कारागार में चार कालकोठरियाँ थीं। नथूराम और नाना आपटे को तो वहाँ ले जाया गया। हम पाँचों के लिये कारागार के प्रवेश द्वार के निंकट का एक भाग खाली किया गया था। उसमें दो बड़े कक्ष थे, एक पाकशाला थी। शौचालय अलग था, सामने आंगन था, जिसके चारों ओर ऊँची प्राचीर थी।

वहाँ हमें बेंत की कुर्सियाँ बुनने तथा बाँस की तीलियों से परदे बनाने का कार्य दिया गया।

फाँसी की कोठी के समीप जाकर नथूराम तथा नाना से बार-बार मिलने की हमें छूट थी। उनका भोजन भी हमारी रसोई में ही बनता था। दिल्ली के लाल किले के बन्दीगृह की अपेक्षा यह स्थान खुला था और बड़ा भी। इस कारण यहाँ घूमना, फिरना और खेल-कूद सम्भव था।

इससे भी अधिक सन्तोष अथवा आनन्द की बात थी अम्बाला कारागार के अधिकारियों का सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार।

मेरी दृष्टि में इस सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार के दो कारण थे। एक तो यह कि कुछ दिन तक हम सभी को अधिकारियों ने भली-भाँति परखा था। यद्यपि विधि की दृष्टि से हमको 'क्रूरकर्मी' की संज्ञा दी गई थी तथापि अधिकारियों ने हमको किसी प्रकार का भी क्रूरकर्म अथवा व्यवहार करते नहीं पाया। दूसरा कारण था, देश-विभाजन। पाकिस्तान बन जाने पर वहाँ जो मार-काट हुई थी उनमें उन अधिकारियों के परिवार भी वहीं विनष्ट हो गए थे। अचल सम्पत्ति तो सबकी नष्ट हुई ही थी। किसी के माता-पिता मारे गए, किसी की माँ-बहिनों का अपहरण हुआ था तो कोई स्वयं ही घायल अवस्था में भारत पहुँचा था।

गांधी जी का वध क्यों हुआ? शासकीय सेवा में होने के कारण वे इस विषय में कुछ बोल नहीं सकते थे, तथापि उसके कारणों को वे भली-भाँति जानते थे। अपने अधिकारों में जो कुछ भी अधिकाधिक सुविधाएँ वे हमें दे सकते थे, वह सब उन्होंने हमें दीं। इसके

अतिरिक्त मनुष्य स्वभावानुसार परस्पर व्यवहार से जो प्रेम प्रतिफलित होता है, वह भी उनकी ओर से हमें प्राप्त हुआ।

हमारा आवेदन सुनने के लिये उच्च-न्यायालय के तीन न्यायाधीश श्री भण्डारी, श्री अच्छरूराम और श्री खोसला की एक खण्डपीठ का गठन किया गया था। आवेदन सुनने का दिन भी निश्चित किया गया और जो भी अभियोग थे, उनको टाईप कराकर उनकी एक-एक प्रति हम लोगों को दी गई थी। हमने वह प्रति अपने अधिवक्ता को दी थी। नथूराम को स्वयं अपनी याचिका प्रस्तुत करने की अनुमति मिल गई थी, इसलिए उन्होंने स्वयं ही उन कागजपत्रों का अध्ययन आरम्भ कर दिया।

नथूराम स्वयं ही अपना पक्ष प्रस्तुत करने वाले थे, इसलिए उनको शिमला ले जाया गया था। उनका वहाँ निवास और उच्च-न्यायालय के वक्तव्य पृथक् अध्यायों के विषय हैं। संक्षेप में यदि उनके वहाँ के निवास के बारे में कहा जाए तो यही कि वे स्वयं अपना पक्ष प्रस्तुत करने वाले हैं, यह सबके लिए कौतुहल का विषय बन गया था। और उस पर भी मृत्युदण्ड के विरोध में उन्होंने कोई आवेदन नहीं किया था, न ही इस विषय में किसी प्रकार का प्रतिवाद था। तदपि मृत्युदण्ड रूपी खड्ग के सिर पर लटकते होने पर भी न्यायालय जैसे स्थान पर सम्बन्धित विषय का सुसंगत विवेचन वह व्यक्ति स्थिरचित्त होकर किस प्रकार कर पाएगा, यह जिज्ञासा सभी के मन में रहती थी।

न्यायालय में जाने के लिए अनुमति प्राप्त करनी पड़ती थी, उसके अभाव में किसी को प्रविष्ट होने नहीं दिया जाता था। स्थानीय लोग जो इसमें रुचि रखते थे वे प्रवेश-पत्र प्राप्त करते थे और तब न्यायालय में अभियोग सुनने के लिए जाया करते थे। जिस दिन से नथूराम का वक्तव्य प्रारम्भ हुआ उस दिन से ही न्यायालय खचाखच भरा रहने लगा।

पुलिस अधिकारियों और न्यायालय के अधिकारियों की सुकृपा से अनेक लोग नथूराम को उनके बन्दीगृह में मिलने भी जाया करते थे। ऐसे अवसरों पर कभी-कभी आगन्तुकों को उनके साथ थोड़ी बहुत गम्भीर चर्चा का अवसर भी सुलभ हो जाता था।

शिमला न्यायालय का प्रेक्षक समुदाय उच्चवर्ग से सम्बन्धित ही होता था, क्योंकि शिमला में प्राय: उच्चवर्ग के व्यक्ति ही निवास करते हैं। मौलाना आजाद ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'इण्डिया विन्स फ्रीडम' के पृष्ठ २२५ पर लिखा है 'संभ्रात परिवारों की कतिपय महिलाओं ने अपने हाथ से बुनकर नथूराम को ऊनी स्वेटर भेजे थे।' उस उद्धरण को उद्धृत करने का हमारा उद्देश्य केवल यह समझाना है कि उच्च कहे जाने वाले परिवारों में भी नथूराम को वीर पुरुष माना जाता था।

मौलाना आजाद ने असत्य लिखा हो, ऐसी भी बात नहीं है। उनका उल्लेख ठीक ही है। सहानुभूति रखने वाले जेल अधिकारियों के माध्यम से नथूराम को यह सन्देश मिलता था कि हम सभी मिलकर यह स्वेटर आपको भेंट कर रहे हैं। कृपया आगामी उपस्थिति के अवसर पर इसी स्वेटर को पहनकर न्यायालय में आइए। नथूराम को भी इस प्रकार का निवेदन स्वीकार कर लेने में कुछ आपत्ति अथवा अड़चन नहीं थी। क्योंकि इससे अभियोग पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता था। शिमला में शीत थी ही और स्वेटर भी नथूराम

पहनते ही थे। फिर, इस अथवा उस स्वेटर में उनको कोई अन्तर नहीं था। अत: भेंटकर्ताओं की प्रसन्नता के लिए वह उनका आग्रह मान लेते थे।

नथूराम के बयान से लोग कितने प्रभावित हुए थे, इसका उल्लेख तत्कालीन न्यायाधीश श्री खोसला ने अपनी पुस्तक में किया है। उनका कहना है 'दर्शक वर्ग के लिए नथूराम का बयान ही एकमात्र आकर्षण का विषय था।

दर्शकों से भरे हुए न्यायालय में कितना भावावेश था, इसका आभास कभी जनसमुदाय के उच्छ्‌वास अथवा सिसकियों से मिलता रहता था। उनके अश्रुपूरित नेत्र अथवा झरते हुए अश्रु भी दिखाई देते थे। यदि न्यायालय में समुपस्थित उन सभी प्रेक्षकों से कहा जाता कि वे इस अभियोग में न्यायदान का कार्य करें तो मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि 'नथूराम निर्दोष है', यह निर्णय प्रचण्ड बहुमत से दिया जाता।'

'The high light of the appeal before us was the discourse delivered by Nathuram Godse in his deference. He spoke for several hours discussing, in the first instance, the facts of the case and then the motive which had prompted him to take Mahatma Gandhi's life.........' (The murder of the Mahatma, P. 338)

'The audience was visibly and audibly moved. There was a deep silence when he ceased speaking. Many women were in tears and men were coughing and searching for their handkerchiefs. The silence was accentuated and made deeper by the sound of an occasional subdued sniff or a muffled cough...'

'I have however no doubt that had the audience of that day been constituted into jury and entrusted with the task of deciding Godse's appeal, they would have brought in a verdict of 'not guilty' by an overwhelming majority'

(The Murder of the Mahatma, P. 234)

न्यायालय को नथूराम की वास्तव में यह याचना तो थी भी नहीं कि उनको निर्दोष घोषित कर उन्हें मृत्युदण्ड से मुक्त किया जाए। उच्च-न्यायालय के निर्णय-पत्र में ही न्यायमूर्ति ने लिखा था—'नथूराम ने भारतीय दण्ड संहिता की धारा ३०२ के अन्तर्गत सुनाई गई फाँसी के दण्ड के विरोध में पुनर्न्याय की माँग नहीं की थी। उन्होंने अपनी अपील अन्य सिद्ध किए गए अभियोगों के विरुद्ध की और अपने तर्कों को उन अभियोगों तक ही सीमित रखा।

'of all the appellants Nathuram V. Godse has not challenged his conviction under sec. 302 of the Indian Penal code......nor has he appealed from the sentence of death passed on him in respect of the offence. He has confined his appeal and also his arguments at the Bar only to the other charges which have been found proved against him' (High Court Judgement).

अन्त तक उनके मन में यही भावना थी कि मैंने मानव-हत्या की है, अत: उसके दण्डस्वरूप मैं मृत्युदण्ड सहर्ष स्वीकार करता हूँ। यदि मुझे मृत्युदण्ड नहीं दिया गया तो वह न्याय के साथ ही अन्याय हो जाएगा। मेरी भावनाओं की हत्या की चरमसीमा पर पहुँचने में जो पृष्ठभूमि कारण बनी, वह यदि सत्य सिद्ध हो तो उस पर विचार होना चाहिए। क्योंकि

उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। यही आशय उन्होंने अपने वक्तव्य के समापन अंश में स्पष्ट किया था।

अभियुक्त द्वारा की गई हत्या उपयुक्त है अथवा नहीं, इसका निर्णय करने के लिए उसकी पार्श्वभूमि को देखने की न्यायालय की कुछ सीमित एवं विशिष्ट मर्यादाएँ होती हैं। किन्तु नथूराम द्वारा की गई हत्या की पृष्ठभूमि तो अत्यन्त विशाल थी, दशाब्दियों का इतिहास था, न्यायालय की विचार-परिधि में उसका आना सम्भव नहीं था। नथूराम यह जानते थे। अन्यथा प्रेक्षक-वर्ग क्यों, न्यायालय ही उनको निर्दोष घोषित कर देता है, यदि उस पृष्ठभूमि को परखने की उसकी सीमा होती तो न्यायमूर्ति श्री खोसला के उपर्युक्त अभिमत का निष्कर्ष केवल इतना ही था कि यदि उस विशाल पृष्ठभूमि को 'सत्यासत्य की कसौटी' मान लिया जाता और प्रेक्षक-वर्ग को न्यायासन पर आसीन मान लिया जाता तो निश्चय ही वह नथूराम के कृत्य का समर्थन कर उसे निर्दोष घोषित कर देता।

उपरि उल्लिखित नथूराम के शिमला निवास तथा उनके द्वारा दिया गया वहाँ का वक्तव्य, इनका उल्लेख आगे के पृष्ठों में किया जाएगा।

उच्च-न्यायालय ने दिनांक २२-६-४९ को अपना निर्णय घोषित किया। तदनुसार शंकर किस्तैया और डॉ० परचुरे को मुक्त कर दिया गया। अन्य पाँचों अभियुक्तों का दण्ड पूर्ववत् ही रहा। गोपाल गोडसे के सम्बन्ध में न्यायालय ने अपने निर्णय में शासन से अपने अधिकार द्वारा उस पर दया करने की संस्तुति की।

नथूराम शिमला से अम्बाला लौट आए थे। वहाँ हमारी भेंट होती रहती थी। इन अभियुक्तों द्वारा भारत का तत्कालीन सर्वोच्च न्यायालय/प्रिवी कौंसिल, इंग्लैण्ड में अपील की गई, परन्तु आरंभिक श्रवण के समय उसे अस्वीकार कर दिया गया और दण्ड की अंतिम पुष्टि हो गई। दिनांक १५-११-१९४९ का दिन फाँसी का निश्चित किया गया था। मृत्युदण्ड प्राप्त दोनों व्यक्ति नथूराम गोडसे और नाना आपटे तथा आजीवन कारावास का दण्ड प्राप्त करने वाले अन्य तीनों बन्दी विष्णु करकरे, मदनलाल पाहवा और गोपाल गोडसे, ये सभी अम्बाला बन्दीगृह में ही थे। अधिकारियों की कृपा से मृत्यु-दण्ड प्राप्त एवं आजीवन कारावास का दण्ड प्राप्त करने वालों में परस्पर भेंट होती रहती थी।

मृत्युदण्ड की तिथि निश्चित हो जाने पर दोनों मृत्युदण्ड प्राप्त व्यक्तियों के सम्बन्धियों के अंतिम बार मिल लेने की दृष्टि से उनके घर वालों को अधिकारियों की ओर से पत्र भेजे गए थे।

नथूराम ने आवेदन किया था कि मेरे माता-पिता वृद्ध हैं और वे पूना में रहते हैं। इतनी लम्बी यात्रा वे नहीं कर सकते, अतः मुझे येरवड़ा (पूना) बंदीगृह में ले जाया जाए जिससे कि माता-पिता के अन्तिम समय में दर्शन कर सकूँ, किन्तु शासन ने इस आवेदन को स्वीकार नहीं किया।

जो सम्बन्धी और नातेदार मिलने के लिए अम्बाला आ सकते थे, वे सब दिनांक १३-११-१९४९ को अम्बाला पहुँच गए थे, किन्तु उनकी भेंट दिनांक १४-११-१९४९ को कराई गई।

भेंट के लिए आए हुए व्यक्तियों की संख्या ३०-३५ के लगभग थी। दिनांक १४-११-१९४९ को प्रात:काल १० बजे से ७-८ के समूह के रूप में मिलने का कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। नथूराम और आपटे, दोनों ही मिलने वालों से बड़ी सरलता और सहजरूप में बात करते थे। किसी भी भेंटकर्ता ने यह महसूस नहीं किया कि कल प्राप्त होने वाले मृत्युदण्ड के कारण वे किंचित भी विचलित हुए हों। उनके मन पर मृत्यु का किसी प्रकार का प्रभाव नहीं दीखता था। भेंट के लिए आने वालों का भावाभिभूत होना स्वाभाविक था। परन्तु उन्हें इस बात का भी स्पष्ट ज्ञान था कि यह मृत्यु असहाय अवस्था में ही आ रही है ऐसी बात नहीं, अपितु स्वयं ही इन्होंने इसका वरण किया है। अत: उन्होंने भी अपना संतुलन बनाए रखा था।

नाना आपटे और उनकी पत्नी सौ० चंपूताई की भेंट बड़ी हृदयस्पर्शी थी। नाना बोले, 'कल से तो तुम्हें रोना ही है। मैं यदि कहूँ कि किसी प्रकार का भी दु:ख नहीं मानना चाहिए। तो भी दु:ख तो होगा ही और होता ही रहेगा। कोई कितना भी कुछ कहे। फिर भी, ये कुछ क्षण हमको परस्पर वार्त्तालाप के लिए मिले हैं, अत: दु:ख मनाने की अपेक्षा यदि हम इन्हें आमोद-प्रमोद में वार्त्तालाप में बिताएँ तो उपयुक्त होगा।'

पति की यह अंतिम इच्छा थी। अपने हृदय पर पत्थर रख कर पत्नी को इसे निभाना था। किसी भी प्रकार से मन की भावनाओं को दबाकर पति की उस इच्छा को पूर्ण करने में चंपूताई सफल हुईं। नाना अपनी पत्नी से परिजनों की कुशलक्षेम पूछते रहे। चंपूताई ने शान्तचित्त से उनके सब प्रश्नों का उत्तर दिया। कारागार की आध घंटे की पति-पत्नी की वह अंतिम भेंट बहुत ही महत्त्वपूर्ण और साथ ही उतनी ही संयमपूर्ण मन:स्थिति में सम्पन्न हुई।

भेंट करने के लिए आए हुए लोग बहुत सारे खाद्य पदार्थ लाए थे। अधिकारियों ने भली प्रकार उनका परीक्षण कर सब वस्तुएँ हमें सौंप दीं। भेंट का यह भावुकतापूर्ण कार्यक्रम शाम के पाँच बजे तक चलता रहा।

नथूराम गोडसे और नाना आपटे, जिनको दूसरे दिन ही फाँसी के फंदे में लटकना था, उनको मिलने आए हुए परिजनों एवं मित्रों की मर्मस्पर्शी भेंट का दृश्य कारागृह के अधिकारियों ने भी देखा। मृत्युदण्ड प्राप्त बन्दियों की धीरोदात्तता का ऐसा उदाहरण उनकी दृष्टि में कभी नहीं आया था। उन लोगों को अब तक ऐसे साक्षातों में रोदन-क्रन्दन ही देखते-सुनने को मिला था। इस भेंट के अवसर पर अधिकारी भी अनेक बार भावविभोर होते देखे गए। अन्तत: वे भी तो मनुष्य ही थे।

नथूराम और नाना का भोजन हमारी ओर से ही जाता था। भेंटकर्त्ता जो खाद्यान्न लाए थे उस शाम वही हमने उनके भोजन के लिए भेजा था। कल आने वाली मृत्यु का विचार कर न तो उनकी भूख भाग गई थी और न ही उनके मन में यह भावना थी कि कल तो मरना ही है अत: आज जितना अधिक से अधिक खाया जा सके उतना खा लिया जाए। वे जानते थे कि ये पदार्थ उनके आत्मीय व्यक्तियों द्वारा भेजे हुए हैं, उनसे सम्बद्ध भावना का मूल्य भी वे समझते थे। अत: प्रत्येक वस्तु को उन्होंने उसी भावना से चखा और हमारे

द्वारा सम्बन्धियों तक उन्होंने यह भी सन्देश दिलवाया कि पदार्थ बहुत ही स्वादिष्ट थे, जिससे कि क्षणिक ही क्यों न हो, उनको भी कुछ समाधान हो।

रात्रि के आठ बजे मैं, करकरे और मदनलाल, तीनों नथूराम और नाना आपटे से मिलने के लिए गए। हम लोगों ने गीता के कतिपय अध्यायों का वहाँ अध्ययन एवं पारायण किया। नथूराम गीता के दूसरे, ग्यारहवें और अठारहवें अध्याय को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे। कभी-कभी हम उन विषयों पर चर्चा किया करते थे। प्रस्तुत भेंट में भी गीता-पाठ के अनंतर हमारी बहुत बातचीत हुई। भेंट करने के लिए आए जनों का बोलना, उनके साथ किया गया विनोद, पूर्व स्मृतियाँ आदि अनेकानेक विषयों पर हमारा वार्त्तालाप होता रहा। इस प्रकार दो घंटे वहाँ उनके साथ व्यतीत कर हम अपने निवास में लौट आए।

देश का वर्तमान पश्चिमी प्रदेश पंजाब प्रान्त भारत-विभाजन के कारण अत्यधिक एवं प्रत्यक्ष रूप में उलझा हुआ था। जनमानस में इसकी जो प्रतिक्रिया थीं वह हमारी भावनाओं को भली-भाँति समझता था। हमसे भेंट करने के लिए आने वाले व्यक्तियों ने भी इस विषय में अपने अनेक अनुभव सुनाए। दिल्ली से अम्बाला वाली गाड़ी में अधिक भीड़ का उनको सामना करना पड़ा था, रात्रि गाड़ी में खड़े-खड़े ही बितानी पड़ी थी। अन्य यात्रियों ने अनुभव किया कि वे कुछ लोग देश के इस भाग के नहीं हैं, अपितु किसी अन्य भाग के हैं और जब उन लोगों को यह विदित हुआ कि ये लोग महाराष्ट्र के हैं तथा गांधी-वध काण्ड में मृत्युदण्ड प्राप्त नथूराम गोडसे एवं नाना आपटे से मिलने के लिए जा रहे हैं तो उन लोगों ने अपनी सीट इन लोगों को दे दी तथा वे स्वयं खड़े हो गए।

कुछ यात्री उनके साथ ही अम्बाला स्टेशन पर उतरे। उन लोगों ने इन भेंट करने के लिए आए हुए यात्रियों से अम्बाला में ठहरने के प्रबन्ध के विषय में पूछताछ की। अब उनको विदित हुआ कि अमुक स्थान पर उनके निवास की व्यवस्था की गई है तो फिर उन्होंने ताँगे आदि की व्यवस्था कर दी। उन्होंने ताँगे वालों को भी समझा दिया कि ये परदेसी यात्री किस विशेष कारण से अम्बाला आए हैं। परिणामस्वरूप जब ये लोग निश्चित स्थान पर उतरे तो ताँगे वालों ने भाड़ा लेने से ही इन्कार कर दिया। उनका कहना था कि हमारे लिए आपके लोग, जिनसे आप भेंट करने के लिए आए हैं, प्राणों पर खेले हैं। अतः उनका आग्रह था कि सहानुभूति के इस आदान-प्रदान में हमें भी कुछ भाग लेने का अवसर प्रदान किया जाए।

अम्बाला के भोजनालय अथवा उपहारगृह में जाने पर प्रथम अपरिचित से लगने वाले इन व्यक्तियों से साधारण पूछताछ की जाती थी, किन्तु जब उनको उनके आने का कारण विदित होता था तो वे लोग भोजन आदि का मूल्य नहीं लेते थे। ऐसे भावनापूर्ण दृश्य, उन लोगों को देखने को मिले।

फाँसी लगने से दूसरे दिन जब ये भेंटकर्त्ता अपने स्थान को लौट रहे थे, उस दिन अम्बाला स्टेशन पर स्थानीय लोगों की भारी भीड़ उपस्थित थी। उन लोगों ने स्टेशन को '........की जय' के उद्घोषों से गुँजा कर अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति की।

फाँसी मिलने के पहले दिन की घटना है कि दो युवक इन भेंटकर्ताओं के पास आए

और प्रार्थना करने लगे कि हम लोग भी गोडसे और आपटे के दर्शन करना चाहते हैं, आप कृपा कर अपने साथ ही हमारा नाम भी सम्बन्धी-जनों के साथ लिखवा दीजिए, किन्तु सम्बन्धी-जन इन अपरिचितों को इस प्रकार अपने साथ लेने के लिए उद्यत नहीं थे। उनको शंका थी कि कौन जाने गुप्तचर विभाग ने ही इन व्यक्तियों को अपना कार्य करने के लिए भेजा हो। अत: उन्होंने कह दिया कि हम आप लोगों को इस प्रकार अपने समूह में सम्मिलित नहीं करेंगे। उन्होंने कह दिया कि अधिकारियों से मिलकर आप अपनी भेंट का सीधा प्रबन्ध कर सकते हों तो कर लीजिए। विवश उन लोगों को वहाँ से जाना पड़ा।

जब से हम लोगों को अम्बाला कारागार में लाया गया था, तब से ही हम पर विशेष पहरेदारों की नियुक्ति की गई थी। उनका सारा व्यय केन्द्रीय सरकार को वहन करना पड़ता था। किसी भी फाँसी के पूर्व दिन विशेष पहरे की व्यवस्था करके सावधानी बरती जाती थी। फिर, नथूराम गोडसे और नाना आपटे की फाँसी तो अत्यधिक महत्त्व की थी। अत: इस अवसर पर और भी अधिक सावधानी बरतने का आदेश था। इस अवसर पर विशेष पहरा दिया जा रहा था।

लगभग रात के पौने दो बजे एक पहरेदार ने देखा कि दो नवयुवक प्राचीर पर खड़े हैं, उनको देखते ही उसको तो कंपकती आ गई। उसने सोचा कि ये दो बन्दी हैं जो भागने का प्रयत्न कर रहे हैं। उसके पास शस्त्र था, कुछ साहस बटोर उसने उनको रोका। आगन्तुक युवक निश्चल खड़े रहे। उन्होंने केवल इतना ही कहा, 'हमें नथूराम गोडसे और नाना आपटे के दर्शन भर करा दो, फिर हम चुपचाप लौट जाएँगे।' यह सुन रक्षक को कुछ सन्तोष हुआ। वह उनके समीप गया, उनकी तलाशी ली और जब देखा कि उनके पास कोई शस्त्र नहीं है तो फिर वह उनको अपने प्रमुख सुरक्षा अधिकारी के समीप ले गया।

इस घटना से अधिकारियों में भागदौड़ आरम्भ हो गई। एक बार किसी बात का सन्देह हुआ कि फिर वह असीम हो जाता है। वे सोचने लगे कि कहीं फाँसी वालों को भगाकर ले जाने की कोई चाल तो ये लोग नहीं चल रहे हैं। इन लोगों के पीछे और भी कोई है अथवा नहीं, इस बात की छानबीन होने लगी। आरक्षक दल को सावधान कर दिया गया और कारागार के चारों ओर पहरेदारों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि कर दी गई।

अधिकारियों ने जब उन नवयुवकों से पूछताछ की तो उन्होंने अपने साथ बीती घटना को स्पष्ट कर दिया। उनका कथन था कि वे बनारस से केवल इस निमित्त आये हैं कि नथूराम गोडसे और नाना आपटे के अन्तिम दर्शन कर सकें। एतदर्थ उन्होंने उस दिन मध्याह्न के समय बन्दीगृह के अधिकारियों से प्रार्थना की थी, किन्तु उन्होंने अस्वीकार कर दी। फिर वे मृत्युदण्ड प्राप्त व्यक्तियों के सम्बन्धियों से मिले, उनसे विनती की कि वे उनको अपने दल में सम्मिलित कर दर्शन का सुअवसर प्रदान करें। उन्होंने भी उनकी विनती को स्वीकार नहीं किया। तब उन्होंने इस प्रकार का कृत्य किया। क्योंकि यदि वे आज रात तक उनके दर्शन नहीं कर पाते हैं तो कल प्रात:काल तो उनको फाँसी दे दी जाएगी, जिससे उनका भौतिक शरीर सदा-सर्वदा के लिए दृष्टि से दूर हो जाएगा। फिर तो वे कभी दर्शन कर ही नहीं पाएंगे।

बन्दीगृह की सीमा को बढ़ाने का कार्य चालू था। इसके लिए प्राचीर के समीप तत्सम्बन्धी सामग्री अर्थात् ईंट, रोड़ा आदि पड़े थे। उसी ढेर में उनको दो सीढ़ियाँ दिखाई दीं। उनको उठाकर उन्होंने भित्ति के सहारे लगाया। उनका विचार था कि वहाँ तक तो पहुँच जाएँ, फिर अन्दर जाने की बात सोचेंगे। इसी विचार से उन्होंने यह साहसिक कार्य किया था, किन्तु इस पर भी भेंट का अवसर प्रदान नहीं किया गया और बाद में हमने सुना कि कई दिनों बाद उन दोनों युवकों की पर्याप्त छानबीन के बाद कारागार से मुक्त कर दिया गया।

जिन दिन फाँसी का कार्यान्वयन होना था उस दिन बहुत प्रातः पुनः हम उन लोगों से मिले। रात को बारी-बारी से बन्दीगृह के पहरेदार रात भर उनके द्वार पर पहरा देते रहे। उन लोगों के साथ हमारे सम्बन्ध इतने बढ़ गए थे कि एक प्रकार की आत्मीयता-सी अनुभव होने लगी थी। इस कारण रात के सारे पहरेदार भी उस समय वहीं थे, और उनके साथ बातें करते रहे। उनका विचार था कि प्रातःकाल बन्दीजनों से फिर साक्षात् कर उनसे दो-दो बात कर लेंगे। उसके बाद फिर न उनसे भेंट हो सकती है और न सम्भाषण।

प्रातः मिलने पर हमने गीता के १-२ अध्यायों का पाठ किया। दोनों ने प्रातर्विधि समाप्त कर स्नान किया। दोनों ही प्रसन्नचित्त प्रतीत होते थे।

मैं नथूराम को अण्णा कहकर सम्बोधित करता था। मैंने कहा, 'अण्णा! दाढ़ी बनाओगे क्या?' 'किसलिए? किसी सभा-समाज में थोड़े ही जाना है।'

'नहीं, सभा-समाज में तो नहीं जाना है। आपने स्नान किया, इसीलिए मैंने पूछा था।'

'अपनी स्वतः की प्रसन्नता भी तो कोई वस्तु होती है न? अभी तो मुझे ढाई घण्टा और जीना है न? मन की प्रसन्नता के लिए शारीरिक स्वच्छता सहायक होती है। दाढ़ी तो कल ही बनाई थी, उसकी आज कोई बात नहीं है। और कुछ समय बाद तो यह सारा शरीर ही भस्मीभूत होने वाला है, अतः दाढ़ी बनाने अथवा न बनाने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। जितना समय मैं दाढ़ी बनाने में लगाऊँगा उतना ही वार्त्तालाप में भली प्रकार व्यतीत कर सकता हूँ। यह देखो ये पहरेदारों के अधीक्षक अभी आये हैं, इन्हें मुझसे बात करनी है।'

उपरिलिखित दो युवकों की कथा हमें रात को हमारे प्रकोष्ठ के पहरेदार ने सुना दी थी। वह कहानी मैंने प्रातःकाल नथूराम को सुनाई। मेरी बात सुनकर नथूराम बोले, 'मुझे यह पहले से ही ज्ञात है और मैं अपनी बात अधिकारियों को बता चुका हूँ।'

मैंने फाँसी के समय अपने उपस्थित रहने की अनुमति चाही तो उस समय वे कहने लगे कि वे कोई उच्चाधिकारी तो हैं नहीं जो इस प्रकार की अनुमति प्रदान करें। फिर उन्होंने कहा था, 'परन्तु फाँसी से पूर्व आधे घंटे तक मेरा अधिकार है, तब तक तुम प्रसन्नता से मिलो।'

नथूराम कॉफी पिया करते थे, उन्हें चाय नहीं सुहाती थी। हमने कॉफी और चाय मँगवाई। सभी ने अपना-अपना पेय पदार्थ पिया। दूर की यात्रा के लिए जब मनुष्य जाने लगता है तो उसका जिस प्रकार बिदाई दी जाती है, उसी प्रकार हमने उन्हें बिदाई दी।

दोनों मृत्युदण्ड प्राप्त बन्दियों ने अपने माता-पिता के चित्रों (फोटो) का पूजन किया। हम लोगों को उन्होंने सावधानी से रहने का उपदेश भी दिया।

उस समय हममें से कोई भी शोकाकुल प्रतीत नहीं होता था। यदि वे प्रसन्न थे तो हम भी स्थिर चित्त थे, उदास तो निश्चित ही हम लोग नहीं थे।

आगे की विधि की तय्यारी में आरक्षकगण फाँसी वालों को देने के लिए काले कपड़े लिए खड़े थे, तब हमने उनसे अन्तिम विदाई ली और वहाँ से चले आए।

अखण्ड भारत का मानचित्र, भगवाध्वज और भगवद्गीता, ये वस्तुएँ दोनों ही व्यक्तियों के हाथों में थीं। प्रात: के ८ बजने वाले थे। सूरज की किरणें मृदु लग रही थीं।

फाँसी का मंच फाँसी कोठरी के पिछली ओर था। कोठरी से बाहर आते ही उनको सूर्यकिरण दृष्टिगोचर हुई। वे किरणें उनके अंग पर पड़ीं। नथूराम तो एक बार शिमला जाने के लिए इस कोठरी से बाहर निकले भी थे, किन्तु आपटे आज प्रथम और अन्तिम बार ही कोठरी से बाहर निकले थे। सूर्य का प्रकाश उनको बहुत भाया और बोले, 'पण्डित! सूर्य की किरणें कितनी कोमल एवं मनमोहक हैं।'

नथूराम ने उसके उत्तर में कहा, 'शिमला में तो लगभग सदैव ही ऐसा आह्लादकारी दृश्य रहता है।'

फाँसी के बरामदे में पहुँचकर दोनों ने 'अखण्ड भारत अमरे रहे' और 'वन्देमातरम्' का घोष किया और ऊँचे स्वर में यह प्रार्थना की—

नमस्ते सदा वत्सले मातृभूमे,
त्वया हिन्दुभूमे सुखं वर्द्धितोऽहं।
महामंगले पुण्यभूमे त्वदर्थे,
पतत्वेष कायो नमस्ते नमस्ते।

एक बार कारागार के वायुमण्डल में यह स्वर गुंजायमान हुआ और फिर फाँसी देने वालों ने फाँसी का फंदा खींचा कि दो प्राण पंचतत्त्व में विलीन हो गए।

७ 'मेरी राख सिंधु-सरिता में बहा देना!'

'देखो पण्डित! मैं पहले ही तुमसे कहता था कि पैसों का हिसाब लिखने के झंझट में मत पड़ो। तुम्हारे इस कार्य से अब अभियोजक जो कुछ भी अर्थ लगावेंगे उससे पुलिस का पक्ष अधिक सुदृढ़ होगा।' इस प्रकार नाना आपटे सदा स्पष्ट रूप में पिछली बातों का छिद्रान्वेषण किया करते थे। जिन दिनों हमारा अभियोग विचाराधीन था उन दिनों हमारे लिए वार्त्तालाप का विषय उस दिन की साक्षी में दिए गए बयान का हुआ करता था।

नथूराम ने अपने को जब पुलिस के अधीन किया तो उनके पास से जो वस्तुएँ मिलीं उनकी सूची बनाई गई। उन वस्तुओं में उनकी एक दैनिकी (डायरी) भी थी जिसमें संक्षेप में स्मृति के लिए अनेक नाम, अनेक स्थान, नियत किए गए भेंट के समय, यात्रा का व्यय, रुपये-पैसों का थोड़ा बहुत आय-व्यय, इस प्रकार की बातें अंकित थीं। उस दैनिकी को भी आयोजकों ने प्रमाण के रूप में न्यायालय में प्रस्तुत किया था। उन्होंने न्यायालय का ध्यान रुपयों-पैसों की उस लिखत की ओर आकृष्ट किया था और वे उसके अर्थ अपनी इच्छानुसार लगाने का यत्न कर रहे थे।

एक स्थान पर अंकित था 'बंडोपंत को पैसे दिए।' बड़गे ने अपनी साक्षी में बंडोपंत से अभिप्राय स्वयं को बताया था। उसमें यह भी लिखा था कि नाना आपटे को इतनी राशि दी अथवा गोपाल को इतनी राशि दी, इतनी राशि अपने पास रखी, इस प्रकार की कुछ बातें उसमें अंकित थीं। षड्यन्त्र सिद्ध करने के लिए नथूराम का यह लिपिबद्ध लेख बहुत काम आएगा, अभियोजकों की ऐसी धारणा बन जाना स्वाभाविक था।

ऐसे कार्य में संलग्न व्यक्ति का अपने पास दैनिकी रखना बहुत हानिकारक होता है। क्योंकि जिनका उस षड्यन्त्र में किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, यदि उनका नाम किसी प्रसंग में उसमें अंकित है तो उन्हें भी कष्ट भोगना पड़ जाता है। इसके अतिरिक्त षड्यन्त्र से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों का सूत्रबद्ध समावेश उसमें प्राप्त हो जाता है। उसका उपयोग अभियोजक के लिए लाभप्रद सिद्ध होता है।

अतः ऐसे समय में दैनिकी का अपने पास होना बहुत ही हानिकर है, परन्तु धन का ब्यौरा रखने के विषय में नथूराम की अपनी एक धारणा थी। उनका कहना था, 'हम लोगों से पैसे लेते हैं, हिन्दूराष्ट्र लिमिटेड नामक संस्था के लिए। उसमें से एक निश्चित राशि हम अपने लिए भी व्यय करते हैं। उसके अतिरिक्त होने वाले व्यय की गणना यदि हम अपने लिए न भी करें तो भी कभी कोई हमसे आय-व्यय का ब्यौरा माँग ले तो कुछ तो उसको समझा सकने की स्थिति में हमें होना चाहिए। इसके अभाव में तो न किसी प्रकार का विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है और न स्पष्टीकरण ही।'

नाना कहते थे, 'लोग क्या कहेंगे? यही कि इन दोनों ने पैसे खा लिए। उन्हें वैसा कहने दो। हम यह भली-भाँति जानते हैं कि हमारी स्थिति क्या है? उनके आरोप से जब हमारा तनिक भी सम्बन्ध नहीं तो फिर हमें उससे विचलित होने की क्या आवश्यकता है?'

नथूराम नाना से पूछते, 'हम कुछ न कर पाए और सारा धन व्यय करते गए तो फिर लोगों को क्या कहेंगे?'

नाना कहा करते, 'क्या तुम प्रत्येक को यह स्पष्टीकरण देते फिरोगे कि हमारे पास अमुक योजना थी, वह असफल हो गई, उसी में यह व्यय हुआ है। लोगों का तुम पर विश्वास होना चाहिए। हमारे हाथ से कुछ होने वाला होगा तो होगा, नहीं तो नहीं, किन्तु तुम यह आय-व्यय मत रखा करो।'

परन्तु नथूराम ने उनका यह कहना नहीं स्वीकार किया। 'हिन्दूराष्ट्र मर्यादित' इस संस्था के हम अधिकारी हैं। हमने लोगों से ऋण लिया है, उसके प्रति हम उत्तरदायी हैं, लोगों ने जिस विश्वास के साथ इस संस्था की सहायता की है, हमको उस विश्वास के योग्य होना चाहिए। उनकी यह हार्दिक इच्छा थी। यह इच्छा इतनी प्रभावी थी कि उसके आचरण के जोश में, अग्नि के समीप बैठकर गोला-बारूद की गिनती की तरह उन्होंने ज्वालामुखी पर्वत पर बैठकर पैसे के व्यवहार के संकट में डालने योग्य टिप्पण कर रखे थे और अन्त में सावधानी रखने का विचार मन में होते हुए भी असावधानीवश वह दैनिकी उनके अपने पास ही रह गई थी।

अभियुक्तों को दोषी सिद्ध करने के लिए अभियोजकों की ओर से उस दैनिकी का भी लाभ प्राप्त हुआ था।

त्रुटियाँ अनेक से हुई थीं, परन्तु जो त्रुटि सामने आती थी उसके सम्बन्ध में उस दिन चर्चा हुआ करती थी। मानों पुनः नए सिरे से वह भूल हुई है, इस धारणा से सम्बन्धित व्यक्ति अन्य अभियुक्तों का लक्ष्य बनता था।

आज नथूराम की बारी थी। नाना आपटे और नथूराम परस्पर समान स्तर के नाते से बोलते थे। न्यायालय ने भी उनसे समानता का ही व्यवहार किया, क्योंकि नाना आपटे को भी नथूराम के साथ ही फाँसी का दण्ड सुनाया गया था।

नथूराम ने गोली चलाई और उन गोलियों से गांधी का देहांत हुआ, यही आरोप उन पर था और उन्होंने उसे स्वीकार भी किया था तथा इस अपराध के लिए उनको फाँसी का दण्ड दिया गया, यह भी उन्होंने स्वीकार किया। परन्तु नाना आपटे ने गोली चलाई और उनके कारण गांधी की मृत्यु हुई, ऐसा आरोप तो नाना पर नहीं था। षड्यंत्र में एक व्यक्ति को जो दण्ड हुआ वह सभी व्यक्ति को हो सकता है, यह निर्बंध ध्यान में रखते हुए भी अपराधियों को फाँसी का दण्ड नहीं दिया गया था। जितना नथूराम का दोष था उतना अन्य अभियुक्तों का नहीं था, यह तो स्पष्ट है। नाना का कृत्य भी नथूराम के कृत्य के समान नहीं था, परन्तु उन्हें भी फाँसी का दण्ड हुआ था। अर्थात् नथूराम को जो दण्ड मिला उसके अनुपात में उनको कुछ अधिक दण्ड मिला था। इसे न्यायालय का नाना पर रोप कहा जाए तो उच्च-न्यायालय ने भी उनका फाँसी के दण्ड की पुष्टि की। क्या नाना का दोष अनुपात

में नथूराम से अधिक था?

न्यायालय ने अपने निष्कर्ष में बताया था कि इस षड्यंत्र का सारा संचालन नाना के आदेश पर किया जा रहा था। उपलब्ध प्रमाणों की छानबीन करके ही न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुँचा था। उच्च-न्यायालय ने भी उसी निष्कर्ष की पुष्टि की थी।

गणपति महोत्सव जैसे किसी धार्मिक समारोह में अनेक लोगों को एकत्रित कर लेना सरल होता है, क्योंकि उसमें भावना प्रधान होती है, यद्यपि उसके लिए संगठन चातुरी चाहिए, परन्तु पहले से ही सम्बन्धित विषय में श्रद्धा विद्यमान होने से समारोह सम्पन्न करने में सुविधा होती है। इस प्रकार किसी राजनीतिक विषय पर समान विचार वाले विभिन्न जनों को एकत्रित कर लेना भी सम्भव हो जाता है, परन्तु अपने प्राणों को हथेली पर लेने के लिए लोगों को सिद्ध करना और फिर उन्हें एक मंच पर एकत्रित कर देने के लिए संगठनकर्ता को एक चुनौती का सामना करना होता है। सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक विषयों पर तीव्र भावनाएँ तो अनेक की होती हैं, परन्तु उनमें भी श्रेणियाँ हुआ करती हैं। ऐसे अवसरों पर अनेक लोग अनेक प्रकार की बात करते हैं और चाहते हैं कि श्रेय का कार्य उन्हें सौंपा जाए, अन्य छोटे-मोटे सहायक कार्य कोई अन्य करे। कुछ ऐसे भी होते हैं जो तात्कालिक उत्साह दिखाकर समय आने पर खिसक जाया करते हैं।

मुझे इस अवसर पर बचपन का एक प्रसंग स्मरण आ रहा है। मैं उस समय प्राथमिक पाठशाला में था। उन दिनों संत पाचलेगाँवकर महाराज साँपों के सम्बन्ध में सप्रयोग जानकारी दिया करते थे। किन साँपों में विष होता है, किन में नहीं होता और मनुष्य सामान्यतया भय से ही कैसे मर जाया करते हैं, इस विषय में उन्होंने अनेक व्याख्यान दिए थे। उन्हें सर्पदंश की औषधि भी आती थी। साँप से डँसवाकर दिखाना भी उनका एक कृत्य हुआ करता था। अपने व्याख्यान के अन्त में वे कहते, 'बोलो, कौन है जो साँप डँसवाने का प्रयोग करने के लिए उद्यत है?'

लोग उत्साह से भरे हुए थे, संत महाराज के व्याख्यान से प्रभावित हुए थे। बीस-तीस व्यक्तियों ने हाथ ऊपर उठा दिए।

'वाह, बहुत आनन्द की बात है। अपने हाथों को उठाये रखिए।' ऐसा कहकर उन्होंने अपने समीप बैठे शिष्य से कहा, 'जाओ, किंचित् भीतर से टोकरी तो ले आओ।'

टोकरी लाई गई। जब उसे खोला गया तो उसमें से पूरा पाँच फुट लम्बा साँप निकल कर महाराज के पास आकर रुक गया।

महाराज ने अपने शिष्य से कहा, 'गिनो तो कितने लोगों के हाथ ऊपर हैं?'

तब तक देखा तो चार-पाँच हाथ ही उठे हुए शेष थे। महाराज ने जिस समय टोकरी लाने का आदेश दिया था तभी से कई लोगों के हाथ ऐंठने से लग गए थे। धीरे-धीरे उन्होंने हाथ नीचे कर लिए। कई लोगों ने तो सम्भवतः यह सोचा कि कदाचित् प्रसाद-वितरण करने के लिए टोकरी मँगाई जा रही है, किन्तु जब उन्होंने लाई जाने वाली टोकरी की प्रसाद की टोकरी से कुछ भिन्न आकृति देखी तो प्रसाद का मोह त्याग अपने हाथ नीचे कर लिए। कई लोगों ने नाग को देखा तो अनजाने में ही उनके हाथ नीचे लटक गए।

वहाँ बैठे हुए बालकों में कोलाहल मच गया। किसी ने कहा कि वर्षा तो हुई नहीं, फिर यह आर्द्रता कहाँ से आ गई? आस-पास के लड़के 'मैंने नहीं, मैंने नहीं' का शोर मचाने लगे।

अन्त में केवल तीन व्यक्ति निश्चय से खड़े हुए। महाराज ने उनमें से एक को चुन लिया और फिर उन्होंने उस पर सर्पदंश कराया तथा उसका विष उतारने का तात्कालिक प्रयोग वहीं पर किया।

मैं स्वयं किस वर्ग में था, यह बात न बोलना ही अच्छा रहेगा। लोगों की भावनाओं को जागृत कर उन्हें एकत्रित करने पर भी कौन अन्त तक संगठनकर्ता का साथ निभाएगा, इसका निश्चय करना अति कठिन होता है। इस अभियोग में न्यायालय का कथन था कि प्राणों की आहुति देने की सिद्धता रखने वाले लोगों का संगठन करने में नाना आपटे का भाग प्रमुख था।

नाना से अच्छा परिचय रखने वाले आज भी अनेक हैं। कभी-कभी इस संसार में ऐसी भी घटनाएँ घटित होती हैं कि उन पर विश्वास करना कठिन हो जाता है। मेरा और नाना का परस्पर थोड़ा-सा ही परिचय पहले से था। इसलिए कैसे उनका पालन-पोषण हुआ। उनका आसपास का वातावरण कैसा था, इस सम्बन्ध में मुझे प्रत्यक्ष जानकारी नहीं है, परन्तु जो व्यक्ति उनसे परिचित हैं वे कहते हैं कि नाना और षड्यंत्र यह बात तो विश्वसनीय है ही नहीं। यह विचित्र घटना है। नाना को इस षड्यंत्र का सूत्रधार मानना, यह तो विरोधाभास की चरम सीमा है।

महाराष्ट्र के इतिहास के अन्वेषण में साठोत्तरी के जो व्यक्ति विद्यमान हैं वे सभी नाना आपटे के पिता स्वर्गीय श्री दत्तोपन्त आपटे से परिचित हैं। उनमें से अनेक के वे गुरु भी थे। स्वर्गीय महादेव चिमणाजी आपटे के ट्रस्ट द्वारा पूना की आनन्दाश्रम संस्था का संचालन होता है। स्वर्गीय श्री दत्तोपन्त उस संस्था के व्यवस्थापक थे। स्वयं भी इतिहासज्ञ थे। इसके अतिरिक्त इतिहास संशोधन के लिए कई आवश्यक भाषाओं और लिपियों का अध्ययन भी उन्होंने किया था। संस्कृत, गणित, भूगोल, खगोलशास्त्र आदि विषयों में भी उनका प्रवेश था। जब लोकमान्य तिलक का क्रान्तिकारियों से सम्बन्ध आया था तो इस प्रसंग में विदेश से शस्त्रास्त्रों के मँगाने में दत्तोपन्त भी एक माध्यम थे, परन्तु बाद में वे विद्या अध्ययन में मस्त हो गए थे।

नाना आपटे का जन्म सन् १९११ में हुआ था। उनकी बड़ी बहिन तपस्वी बाबा परांजपे की बहू थी। उनकी दो और बहनें थीं। नाना के चार भाई थे, बलवंत, विष्णु, माधव और मनोहर। वे सब अपने-अपने व्यवसाय में हैं। मनोहर तो उच्चशिक्षा के लिए विदेश भी हो आए हैं।

नाना ने बी. एस-सी. उत्तीर्ण की थी और अहमदनगर में उनको शिक्षक की सेवावृत्ति मिल गई थी। उन्हीं दिनों उनका विवाह भी हो गया। उनके एक सुपुत्र उत्पन्न हुआ, किन्तु बाद में वह नहीं रहा।

अध्यापन क्षेत्र में नाना ने उन्नति की, उनकी ख्याति बढ़ने लगी थी। वे शिक्षा के लिए ट्यूशन की कक्षा चलाते थे। प्रत्येक विद्यार्थी चाहता था कि वह उनसे पढ़े। नाना ने अनुभव किया कि उनकी लोकप्रियता बढ़ रही है। उन्होंने बी. टी. करने का निश्चय किया और वह परीक्षा भी उत्तीर्ण कर ली।

गौरवर्ण, सुडौल, स्वस्थ शरीर, प्रसन्नवदन नाना आपटे मित्र एवं परिजनों में प्रिय थे। सजधज कर रहने का उन्हें बहुत चाव था। बचपन के दिन उनके निर्धनता में बीते थे, किन्तु आज पैसा उनके पीछे लगा था। अपने बचपन के दिनों से मानों प्रतिशोध ले रहे हों। इस प्रकार खान-पान एवं परिधान में जो उत्तम वस्तु हो, उसका ही प्रयोग वे उन दिनों किया करते थे।

महाराष्ट्रीय सुसंस्कृत घरों में हिन्दुत्वनिष्ठा की सहज प्रवृत्ति है। घर के संस्कार वैसे होने के कारण नाना के मन पर भी हिन्दुत्वनिष्ठा का प्रभाव था। जब उनकी बुद्धि कुछ विकसित हुई तो थोथी निष्ठा विलुप्त हो गई। अब वे प्रत्येक बात को विज्ञान की कसौटी पर कस उसको ग्रहण करते थे। इसी क्रम में १९३७ में उनकी भेंट स्वातन्त्र्यवीर सावरकर से हो गई। वे उनसे प्रभावित हुए और उनके द्वारा प्रतिपादित हिन्दुत्ववाद की ओर आकृष्ट हो गए। नाना ईसाइयों द्वारा संचालित विद्यालय में शिक्षक थे। उस विद्यालय में हिन्दू विद्यार्थी भी अध्ययन के लिए आते थे। प्रत्येक विद्यार्थी को वह चाहे किसी भी मत, पंथ अथवा सम्प्रदाय का हो, अनिवार्यरूपेण ईसाई प्रार्थना विद्यालय में करवाई जाती थी। नाना ने इस परिपाटी को रुकवा दिया। यही उनकी हिन्दुत्व निष्ठा का प्रथम प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रायोगिक कार्य था।

हिन्दू महासभा की नीति के अनुसार सैनिकीकरण के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए नाना ने स्थान-स्थान पर 'राइफल क्लबों' की स्थापना की। कांग्रेस का शासन होने पर भी इस कार्य के लिए नाना ने सम्बन्धित पदाधिकारियों से मान्यता प्राप्त कर ली थी।

नाना का संगठन-सौष्ठव विकसित हो रहा था। हिन्दू महासभा के अधिवेशनों के माध्यम से नाना और नथूराम का सम्पर्क बढ़ रहा था। अधिक सम्पर्क में आने पर दोनों ने परस्पर यह अनुभव किया कि दोनों में कुछ न कुछ गुण अवश्य हैं। १९४४ के आरम्भ में दोनों ने मिलकर योजना बनाई कि दैनिक-पत्र का प्रकाशन किया जाए। इस योजना के अन्तर्गत 'अग्रणी' का जन्म हुआ। जिसका संचालकत्व नाना ने और सम्पादकत्व नथूराम ने सँभाला। उन दोनों का संचालक-सम्पादक का नाता इतना अटूट रहा कि गांधी-वध अभियोग के अवसर पर भी न्यायालय ने इन दोनों को ही तदरूप षड्यंत्र के संचालक-सम्पादक की संज्ञा से विभूषित किया।

समय-समय पर योग्य एवं उपयुक्त व्यक्तियों को ये 'अग्रणी' अथवा हिन्दूराष्ट्र संस्था में बुलाकर उन्हें समाचार-पत्र के महत्त्व से अवगत कराना तथा वृत्तपत्र के प्रति एवं अपने कार्य के प्रति उनमें विश्वास जोड़ने का कार्य नाना बड़ी कुशलता के साथ करते थे। कहीं पर किसी से मिलने जाना हो तो उनको किसी सहायक की अपेक्षा नहीं होती थी। संयोग कहिए अथवा उनका व्यक्तित्व कि जहाँ कहीं भी वे जाते उनको सफलता ही मिलती थी।

किसी भी अधिकारी से वे अपना कार्य करवा लेते थे।

उस समय हिन्दुत्व के जागरण की वृत्ति शासकों को रुचिकर नहीं थी। क्योंकि शासन कांग्रेस का था। हिन्दुत्ववादी जन मुस्लिमपरस्ती अथवा मुस्लिम तुष्टीकरण का घोर विरोध करते थे। कांग्रेसी जानते थे कि वे पाकिस्तान-निर्माण की ओर अग्रसर हैं और वे यह जानते थे कि पाकिस्तान-निर्माण में हिन्दुत्ववादी कदाचित् बाधा उपस्थित करें। इसलिए तत्कालीन कांग्रेसी शासकों ने हिन्दुत्ववादी समाचार-पत्रों को दबाने के लिए अपने अधिकार का दुरुपयोग किया। इसी प्रकरण में 'अग्रणी' से भी एक के बाद एक, इस प्रकार अनेक प्रतिभूतियाँ (सिक्योरिटी) माँगी गईं। शासकों का उस समय का यह इतिहास गांधी-वध अभियोग के अभिलेख में समाविष्ट हुआ है। नाना और नथूराम को परेशान किया जाता था। भीतर के तूफान को दबाकर वे लोग प्रसन्नवदन इन घटनाओं का सामना करते थे। भावी घटनाओं के विश्लेषण के आधार पर अब हम यह कह सकते हैं कि गांधी पर नाना के क्रोध का एक कारण यह भी रहा होगा।

गांधी के समक्ष उस समय एक यही समस्या प्रमुख थी कि कांग्रेस जनों से लेकर अन्य जनसाधारण तक के गले में मुस्लिम तुष्टीकरण को किस प्रकार उतारा जाए। समकालिक लेखकों की कृतियों का अध्ययन करने से हमें इस तथ्य का आभास मिलता है। एक बार गांधी पंचगणी आए तो पच्चीस युवकों के एक गुट ने उनके आगमन का विरोध किया। नाना उस गुट के प्रमुख थे। यह घटना दिनांक २२-७-१९४४ की है। श्री देउलकर नामक एक पुलिस अधिकारी उन दिनों पंचगणी में गांधी की सुरक्षा के लिए नियत थे। गांधी-वध अभियोग में उनकी भी साक्षी हुई थी। नाना के गुट द्वारा गांधी के उस आगमन के विरोध का उन्होंने अपनी साक्षी में उल्लेख किया था।

जब गांधी जी ने आकर नई दिल्ली की भंगी बस्ती में अपना डेरा डाला तो उस समय भी नाना ने उनके विरोध में एक प्रदर्शन का आयोजन किया था। उस समय नाना का गांधी से कहना था, 'हिन्दुओं की खून-पसीने की कमाई को छीन कर मुसलमानों को मत दो, क्योंकि इससे भी वे सन्तुष्ट होने वाले नहीं हैं। इस दान से उनकी तृप्ति नहीं होगी। देश का विभाजन मत कराओ। नोआखाली के हिन्दू हत्याकाण्ड से कुछ शिक्षा ग्रहण करो। मुसलमानों की भपकियों से मत डरो। हिन्दू युवकों का आह्वान करो। प्रतिकार के लिए वे प्राणपण से सन्नद्ध रहेंगे।' इतनी बात बताना मात्र उनका केवल उद्देश्य था।

गांधी जी की सभी प्रतिज्ञाएँ और आश्वासन व्यर्थ अथवा विफल सिद्ध हुए। देश का विभाजन हुआ। देश में रक्त की नदियाँ बहीं। कश्मीर पर पाकिस्तान समर्थित कबाइलियों का आक्रमण हुआ। हमारे सैनिकों की क्षति हुई। पाकिस्तान को दिए जाने वाले ५५ करोड़ रुपयों के समर्पण न करने का निर्णय गांधी जी के आग्रह पर बदल दिया गया था। परिणामत: गांधी की हत्या हुई।

न्यायालय के सम्मुख नाना ने अपनी नीति के प्रतिपादन को स्पष्ट करते हुए कहा कि गांधी की मुस्लिम तुष्टीकरण नीति उनको तनिक भी स्वीकार नहीं थी। उन्होंने उसके विरोध में समय-समय पर प्रदर्शन किए। ऐसा ही एक अन्य प्रदर्शन दिनांक २०-१-१९४८ को

भी करने की उनकी योजना थी। दिनांक ३०-१-१९४८ की हत्या की घटना से उनका किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं था। उनमें और नथूराम में मतभेद हो गया था। नथूराम क्या करने वाले थे, इसका उन्हें ज्ञान नहीं था। हम दोनों की दिशाएँ अलग-अलग हो गई थीं।

परन्तु न्यायालय ने स्पष्ट परिलक्षित किया कि नाना का अनेक लोगों से सम्बन्ध था। शस्त्र और पैसा एकत्रित करने के लिए नाना ने किस प्रकार अथक प्रयास किया था, इसका चित्रण करने के लिए भी कई साक्ष्य न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किए गए। भिन्न-भिन्न स्तर के लोगों को षड्यंत्र में गूँथा गया था। बिना किसी सूत्रधार के इस प्रकार का गुट निर्मित हो जाना नितान्त असम्भव है और नाना में वे सभी गुण विद्यमान हैं तथा किसी न किसी प्रकार से वे षड्यन्त्रकारियों से सम्बन्धित अथवा परिचित हैं, अतः इस षड्यन्त्र का अधिकाधिक भार नाना पर डालकर ही उन्हें फाँसी का दण्ड सुनाया गया था।

जिन दिनों हम पर अभियोग चल रहा था, उन्हीं दिनों भारत शासन ने हैदराबाद के रजाकारों का 'पुलिस कार्यवाही' द्वारा दमन कर राज्य की सत्ता को अपने हाथ में लिया था। सरदार पटेल के इस साहसिक कार्य से नाना और नथूराम को इतनी प्रसन्नता हुई थी कि इस महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादन के लिए उन्होंने सरदार वल्लभभाई पटेल को बधाई का सन्देश भेजा था। यह बात दिनांक १९ या २०-९-१९४८ की है। आगे चलकर मैं औरंगाबाद बन्दीगृह में अपना बन्दीवास भुगत रहा था। वहाँ के बन्दीजन उस समय की पुलिस कार्यवाही का वर्णन किया करते थे। वे लोग यह भी सुनाया करते थे कि वहाँ के मुसलमान कहा करते थे कि यदि आज गांधी जी जीवित होते तो उन पर और गांधी के माध्यम से उनके राज पर यह विपत्ति नहीं आती। मुसलमानों के उन उद्‌गारों से गांधी-भक्ति नहीं, अपितु अपना उल्लू सीधा करने की वृत्ति झलकती थी।

फाँसी का दण्ड निश्चित हो जाने पर नथूराम और नाना ने अपनी एक ही इच्छा व्यक्त की थी कि उनकी अस्थियों को सिन्धु नदी में विसर्जित किया जाए। अपने मृत्युपत्र में उन लोगों ने लिखा था कि भारत भू का भाग बन जाने पर सिन्धु नदी भारत में आएगी तो उस समय यह अस्थियाँ उसमें विसर्जित की जाएं। इसमें चाहे कितने ही वर्ष लगें अथवा कितनी ही पीढ़ियाँ बीतें, किन्तु यह तभी किया जाए जब सिन्धु नदी भारत का अंग बन जाए।

मैंने उस समय उनसे पूछा था कि उनको सिन्धु का स्मरण कैसे हो आया। नथूराम से तो इस विषय पर मेरा वार्त्तालाप हुआ था। नाना से मैंने पृथक् में यों ही कहा था कि 'नाना! बहुत हुआ तो हम इन अस्थियों को गंगा जी में विसर्जित कर देंगे।'

तब नाना का कहना था, 'गोपाल! मनुष्य के मर जाने पर उनका प्रेत अथवा उसकी भस्म का किस प्रकार क्या करना है, मृतक की दृष्टि से इसका कोई मूल्य नहीं होता, परन्तु मनुष्य तो मृतक की भावनाओं को समझने और उनका आदर करने की चेष्टा करता है। हमारी निष्ठा पुराणपन्थी निष्ठा मात्र नहीं है। साधारण रूप से हमारे यहाँ गंगाजी में ही अस्थि-विसर्जन किया जाता है, किन्तु फिर भी गंगा, सिन्धु, सरस्वती आदि सभी नदियों को ही पवित्र मानते हैं। हमारी मृत्यु राजनीतिक एवं राष्ट्रीय स्वरूप की है। तदनुसार हमारी राष्ट्रीय-भावना को ध्यान में रखना भी स्वाभाविक है। फिर भी जब तुमने प्रश्न पूछा है

तो उसका उत्तर देना परमावश्यक है। हमारे मन में दो घाव हैं, उनका ज्ञान आप लोगों को हो इसलिए ही सिन्धु नदी में अस्थि-विसर्जन का आग्रह हमने किया है। यह इच्छापत्र हमने मृत्यु के पूर्व ही लिख कर रख दिया है।'

उन्होंने अपने वार्त्तालाप में घाव शब्द का प्रयोग किया था, अतः मुझे उत्कण्ठा हुई तो उनसे पूछा, 'अपने घावों के बारे में तो आपने बताया नहीं?

नाना बड़े क्षोभ से बोले, 'हिन्दूराष्ट्र की भूमि पर हिन्दू रस का शोषण करके पला हुआ यह पाकिस्तान स्वतंत्र और पृथक् स्वरूप प्राप्त करते ही उसने शेष हिन्दुस्थान को अपमानित करने का उपक्रम प्रारम्भ कर दिया है। हमने स्वयं से सम्बन्धित बातों तक ही विचार किया, क्योंकि हमारी मर्यादा उतनी ही थी। गांधी जी के देहान्त के बाद यदि किसी ने उनका अपमान किया है तो वह पाकिस्तान ने ही किया है। तुम्हें जिन्ना का शोक-सन्देश स्मरण है?'

'हाँ, भली भान्ति।'

'क्या था वह सन्देश?'

'हिन्दुओं का एक नेता मर गया।'

'है न यह अपमान की बात?' नाना बोले, 'जिस गांधी ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए हिन्दुओं को दबाए रखा और इस प्रकार मुसलमानों की स्वतंत्र एवं पृथकतावादी मनोवृत्ति में निरन्तर वृद्धि के कारण बने, उन गांधी के प्रति न्यूनतम उनकी मृत्यु के बाद तो वे कृतज्ञता-ज्ञापन कर अपने कर्त्तव्य का पालन करते? विभाजन से पूर्व गांधी जी को यदि हिन्दुस्थान का ऐसा नेता कहा जाता तो भी उसमें उनका अपमान नहीं था। क्योंकि तब यह समझ सकते थे कि जिन्ना ने अपने राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए ऐसा कहा था। इसलिए जिस राष्ट्र में गांधी जी केवल हिन्दू के नाते अपमानित हुए हैं उस हिन्दू द्वेष पर खड़े हुए राष्ट्र को तोड़कर तथा सम्पूर्ण सिन्धु नदी अपने ध्वज के नीचे आने के बाद उसमें हमारी अस्थियाँ विसर्जित की जाएँ, यही हमारी इच्छा है।'

मैंने कहा, 'मरते समय गांधी जी ने 'हे राम' बोला था। क्या ऐसा प्रचार गांधी के शिष्यों ने नहीं किया? तब यदि जिन्ना ने उन्हें हिन्दुओं का नेता कहा तो क्या विसंगति की?'

नाना बोले, 'शिष्य द्वारा गुरु के उद्देश्य को पराजित करने का यह पहला ही उदाहरण नहीं है गोपाल! गांधी जी को या तो शिष्य समझे नहीं या फिर वे ढोंगी थे। सीधा-सा तथ्य विचारणीय है। राम-रहीम, कृष्ण-करीम, ईश्वर-अल्ला, इस प्रकार साथ-साथ नामोच्चारण में ही जिस व्यक्ति ने अपना जीवन व्यतीत किया हो वह व्यक्ति मरते समय रहीम छोड़कर केवल राम कहे, करीम छोड़कर केवल कृष्ण कहे या अल्ला छोड़कर केवल ईश्वर कहे और मरते समय तो केवल राम नाम ही सच्चा है, ऐसा मानों लोगों को कहें; क्या शिष्यों का यह प्रचार गांधी जी पर कठोर अन्याय करने वाला नहीं? गांधी जी को यदि विचार करने का अवसर होता तो वह राम ही क्यों कहते, रहीम क्यों नहीं बोलते अथवा राम और रहीम क्यों नहीं बोलते? केवल हिन्दुओं की भावनाओं को उभारने के लिए उनके भक्तों ने गांधी जी के मुख में सहसा 'राम' शब्द ठूँस दिया। और वे चाहे कुछ भी उपदेश देते

रहे हों, अन्त में वे थे हिन्दू ही। मुस्लिम विश्व के ध्यान में यह बात बिठाने के लिए मुस्लिम राष्ट्र के नेताओं ने उनको केवल हिन्दुओं का नेता बनाकर उनका अपमान किया है। यह घाव हमारे मन में है, हमारे शरीर में है, इसलिए हमारी हड्डियों में भी उसका अस्तित्व रहने वाला है। स्वतंत्र सिन्धु नदी के जल में निमग्न होने के बाद ही वह रिसता हुआ घाव भर सकता है।'

मैंने पूछा, 'आपका दूसरा घाव कौन-सा है?'

'गांधी जी की अस्थियों का क्या हुआ? इसका तुम्हें कुछ स्मरण है?'

'हाँ, उसे संसार की सभी प्रमुख नदियों में विसर्जित किया गया।'

'ठीक है। उनकी अस्थियों को संसार की प्रमुख नदियों में विर्सजित करने की योजना भारत सरकार की थी। विदेशियों की धार्मिक भावनाओं का हिन्दुस्थान ने सदा आदर किया है, यह ज्ञात हो जाने पर किसी भी देश की किसी भी नदी में उन अस्थियों को विसर्जित करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं आई। किसी भी नदी में उन अस्थियों के विसर्जित किए जाने से उस नदी का जल अपवित्र हो जाएगा, ऐसा किसी भी देश के किसी निवासी ने दुर्भावना व्यक्त नहीं की।

'और पाकिस्तान।' नाना बड़े क्षुब्ध से बोल रहे थे, 'श्रीयुत श्रीप्रकाश उस समय वहाँ भारत के उच्चायुक्त थे। उन्होंने बड़ी निराशा के-से स्वर में कहा कि 'पाकिस्तान सिन्धु नदी में गांधी जी की अस्थियाँ विसर्जित करने की अनुमति नहीं दे रहा है।' मानो वह अस्थियाँ कोई इस प्रकार युद्धपोत हो जिसके प्रवेश पर पाकिस्तान को आपत्ति होना स्वाभाविक है। सम्भवतया पाकिस्तान किसी अवसर पर युद्धपोत जाने की अनुमति दे देता, क्योंकि उसमें प्रश्न भावना का नहीं, अपितु राजनीति का होता है, किन्तु यहाँ तो प्रश्न भावनाओं का था, वह भी हिन्दू भावनाओं का। अपनी दृष्टि से उन्होंने हिन्दुओं की भूमि पर अपने लिए एक 'पाक' अर्थात् पवित्र स्थान निर्माण किया था, उस पर वे चिपक कर बैठे थे। उस पवित्र स्थान का पवित्र जलप्रवाह एक काफिर की राख से अपवित्र हो जाता, ऐसा वे क्यों करने देते। 'हमारे पवित्र मुस्लिम राज्य में हिन्दुओं के 'नापाक' आचार हमें सह्य नहीं', ऐसा तक कहने की उद्दंडता पाकिस्तान में पनपने लगी।

'हमारी धारणा थी कि हमारा शासन गांधी जी की अस्थियों के एक पात्र (कुम्भ) को सिन्धु में विसर्जित करने के लिए सुरक्षित रखेगा और जब भी अवसर सुलभ होगा उसमें विसर्जित कर देगा, किन्तु पाकिस्तान की अस्वीकृति को किसी प्रकार का अपमान नहीं माना गया। यद्यपि भारत को इस बात से सबसे अधिक चिढ़ उत्पन्न होनी चाहिए थी कि जिन कांग्रेसियों ने पाकिस्तान के निर्माण के लिए अपने दो-दो हाथों से मत प्रदान किए थे, उन गांधी जी के शिष्य कहलाने वालों को जिन्होंने सद्भावना से ही पाकिस्तान दे दिया था, उनकी भावनाओं को पाकिस्तान के उस दुष्कृत्य से किसी प्रकार की ठेस ही नहीं लगी। वर्षों तक जिनकी अस्मिता को अस्तित्वहीन कर दिया गया तो उनको पाकिस्तान द्वारा किया हुआ वह अपमान कोई अपमान ही प्रतीत नहीं हुआ, किन्तु जो कुएँ में नहीं है वह डोलची में कैसे आ पाएगा। सत्य की रक्षा करने का अभिप्राय अर्थात् संकुचित वृत्ति की यह शिक्षा

जिनके कानों में निरन्तर पड़ती रही हो उनको मानापमान की भावना क्या समझ में आएगी। अहिंसा ही जीवन का सर्वोच्च तत्त्व है, इसका उपदेश देते हुए कायरता अथवा भययुक्त व्यवहार को ही वे अहिंसा के परिप्रेक्ष्य में उच्च तत्त्व का चिह्न मानने लगे। गांधी जी की अस्थियों का जो अपमान हुआ है, उसका प्रतिशोध भी सिन्धु नदी के उस पवित्र जल में प्रवाहित करने से ही धोया जा सकेगा। फिर चाहे कभी वह जल का प्रवाह कुछ समय के लिए रक्त का प्रवाह ही क्यों न बने। उसके बाद ही यह अस्थि-विसर्जन हो, यही हमारी इच्छा है।'

मैंने पूछा, 'नाना! क्या हम कभी अपमान की चोट को समझेंगे भी?'

नाना बोले, 'ऐसी बात नहीं। अपमान की चोट, यह भी एक प्राकृतिक प्रक्रिया होती है। मनुष्य का ऐसा स्वभाव है। यदि ऐसी भावना विद्यमान न होती तो क्या गांधी-वध के बाद महाराष्ट्र में लूटमार एवं अग्निकाण्ड हो सकते थे? इतने लोग जो मारे गए, क्या वैसा हो सकता था? हेतु का आरोप यदि हम न लगाएं तो हमें मानना पड़ेगा कि जो लोग गांधी को देवता समान मानते थे। उनकी दृष्टि में एक ब्राह्मण द्वारा गांधी की हत्या हुई, इसलिए उन्होंने सम्पूर्ण ब्राह्मण जाति से उसका प्रतिशोध लेने का निश्चय किया। कल्पना करो, यदि लोगों के मन में यह भावना भरी गई होती कि अपना देश अर्थात् भारतमाता जननी एवं देवीस्वरूपा है तो यही अस्मिता जननी एवं देवीस्वरूपिणी इस भारतमाता के खण्डित होते समय धधक उठती और पाकिस्तान न बनने देने के लिए विकराल रूप धारण कर लेती। पाकिस्तान ने सिन्धु नदी में गांधी की अस्थियों को विसर्जित करने नहीं दिया, इससे हमारा अपमान हुआ है, इसका भी यदि संकेत हमारे नेताओं ने किया होता तो भारतवासी पाकिस्तान को शिक्षा देने के लिए सहस्रादपि भुजाओं में शस्त्रधारण कर अपने अपमान का प्रतिकार करने के लिए उद्यत हो जाते।

'निदान, महाराष्ट्र में तो यह अनुभव नया नहीं है। सम्भाजी की मृत्यु के बाद दक्षिण स्थित औरंगजेब की सत्ता को इन्हीं लोगों के पूर्वजों ने ही तो सीमित कर दिया था। मनुष्य में प्रतिकार की भावना तो विद्यमान रहती ही है, उसको मोड़ देने वाला कुशल नेता होना चाहिए। वह दिशा यदि मिल जाए तो इसी अस्मिता के बल पर सारे भारतवर्ष की रक्षा कर पाना संभव है।'

'क्या आपने इस विषय पर नथूराम से वार्त्तालाप किया था?' मैंने उनसे पूछा।

वे बोले, 'ठीक इसी विषय पर तो नहीं, परन्तु हम सदा विचार-विमर्श करते रहते हैं। क्यों, 'तुम्हारा पूछने का अभिप्राय क्या है?'

'यों ही। आप संघ को दोष देते हैं। परन्तु आप स्वयंसेवकों की ऊँची श्रेणी के स्वयंसेवक प्रतीत होते हैं। इसलिए मैंने पूछा था।'

'मैं तुम्हारा अभिप्राय नहीं समझा।'

'परसों ही इस बात पर मेरी नथूराम से चर्चा हुई थी। जिस प्रकार आपने सूत्र रूप से बात बताई वैसे ही उन्होंने भी कहा था। यदि कुछ अन्तर था तो वह केवल शब्द-प्रयोग का ही। एक विचार, एक आचार और एक ही प्रकार की अभिव्यक्ति यह संघीय प्रणाली

आप दोनों में शतश: चरितार्थ हुई है। इसमें मुझे कुतूहल हो रहा था।'

नाना हँस पड़े। कहने लगे, 'विचारों के सम्बन्ध में यदि पूछोगे तो देखोगे कि अनेक बार हमारे विचार एक जैसे ही होते हैं। यह पिछले चार, साढ़े चार वर्षों का हमारा अनुभव है। ऐसा बहुत बार हुआ है कि नथूराम ने कहीं से अग्रलेख लिख कर भेजा हो और मैंने उसी प्रकार का अग्रलेख लिखकर मुद्रित किया हो। और यदि संघ के सम्बन्ध में कहोगे तो 'पतत्वेष कायो नमस्ते नमस्ते', इस प्रतिज्ञा को कार्यान्वित करने वाले स्वयंसेवक हम दोनों ही हैं।'

मैं मुस्कराया।

'गोपाल! मुझे तुमसे एक प्रश्न करना है। मैं समझता हूँ कि प्रश्न करने का मेरा अधिकार भी है।' उत्तेजित विचार-विमर्श से नाना ने कहा।

'नाना! आपका अधिकार न भी हो तो भी आप प्रश्न पूछिए।'

वे बोले, 'गधे! मेरा इतना समय क्यों नष्ट किया? तुमने पहले क्यों नहीं बताया कि इस विषय पर तुम नथूराम से विचार-विमर्श कर चुके हो।'

'नाना आपको कोई कहीं की गाड़ी थोड़ी पकड़नी है जो मेरे वार्तालाप से छूट जाती। फाँसी ही तो चढ़ना है, वह समय टलने नहीं देंगे। क्यों व्यर्थ में खिन्न होते हैं।'

'गोपाल! तू बहुत बोलने लगा है। पड़ोस की कोठरी रिक्त है। जमादार को यदि कह दिया जाए तो वह तुरन्त तुमको वहाँ बन्द कर देगा।'

मैंने कहा, 'नाना! यदि कल्पना ही करनी है तो फिर ऐसे ही करेंगे कि आप अपनी कोठी खाली करो मैं उसमें आकर रह लूँगा। आप लोगों का नेतृत्व कर सकेंगे। आप अपने स्वप्नों का हिन्दूराष्ट्र कुछ ही वर्षों में खड़ा भी कर लेंगे। कम से कम उसकी योजना तो बना ही सकेंगे।'

फाँसी की छाया तले कालकोठरी में हुए गम्भीर संवादों के मध्य कभी-कभी इस प्रकार का उपहास भी हो जाता था, इसको सहजता से सच नहीं समझा जा सकता, किन्तु उस भूमिका में चलने-फिरने से मनुष्य अभ्यस्त हो जाता है और रणभूमि पर सैनिकों में जिस प्रकार की एक निश्चिन्तता की वृत्ति दृष्टिगोचर होती है, वही यहाँ भी दृष्टिगोचर होती थी। यह मैंने अपने ही नहीं, अपितु अन्य भी अनेक लोगों के सम्बन्ध में देखा है।

सौभाग्यवती चम्पूताई को नाना ने कहा था, 'मनुष्य की अमरता पर यदि तुम्हारा विश्वास हो तो फिर समझो कि तुम सौभाग्यवती ही हो। अपने बाह्य सौभाग्यचिह्नों के साथ ही तुम चल-फिर सकती हो। उससे ही तुम्हें मेरे अस्तित्व का भान होता रहेगा।'

सौ० चम्पूताई रानी लक्ष्मीबाई स्मारक मण्डल में बालकों की पाठशाला में अध्यापिका का कार्य करती हैं।

मित्रता कितनी दृढ़ होनी चाहिए? 'राजद्वारे श्मशाने च' स्थिर रहने वाली मित्रता सच्ची होती है, ऐसी लोकोक्ति है। इसको यदि चरितार्थ में देखना हो तो वह नथूराम और नाना के मध्य टिकी हुई अभंग मित्रता को देखा जा सकता है। यह भी संयोग की बात है। विपत्ति समुपस्थित होने पर कौन सहायता के लिए सम्मुख आता है? इसका उत्तर नाना ने अपनी

मित्रता से निभाया है। तुम आगे बढ़ो, मैं तुम्हारा अनुगमन करूँगा, ऐसा कह कर पीछे और पीछे की ही ओर खिसकने वाले लोग गांधीजी के सत्याग्रह में भी अनेक हुआ करते थे।

दिनांक ३१-१-१९४८ को नाना ने बम्बई से दिल्ली एक तार भेजा था। उससे नथूराम को अपने बचाव की ओर ध्यान देने के लिए आग्रह किया गया था। वह तार उनके प्रति आरोपित अभियोग में प्रमाण के रूप में भी प्रस्तुत किया जा सकता था, किन्तु नाना तो नथूराम के पग पर पग रखने के लिए ही सदा उद्यत रहने वाले व्यक्ति थे और इस प्रकार की उन्होंने सिद्धता भी रखी थी। नाना ने वह तार पहले ही लिखकर श्रीमती मनोरमा सालवी के माध्यम से भेजने का प्रबन्ध किया था, ऐसा सुनने में आया था। श्रीमती मनोरमा की साक्षी नहीं हुई थी, क्योंकि अभियोजकों का कथन था कि वह विरुद्ध जाने वाली अर्थात् होस्टाइल साक्षी है।

मैंने १९६१ में अपनी आबद्धता के सम्बन्ध में प्रबन्ध आदि के विषय का एक आवेदन मुद्रित करके सर्वोच्च न्यायालय को भेजा था। परिमाण में वह बहुत बड़ा हो गया था, अतः उसके साथ एक समर्पण-पत्रिका भी नत्थी कर दी गई थी। आवेदन की क्रम संख्या पिटीशन सं० १६, १९६२ थी।

जब उसको ग्रन्थ का रूप दिया गया तो मैंने उसके साथ अपना समर्पण भी प्रस्तुत किया। मैंने उसे नथूराम और नाना को समर्पित किया था। नथूराम के गुणों की प्रशंसा तो न्यायालय ने भी की थी। उनके गुणों के लिए उनका और नाना ने जो उनके साथ अन्त तक मित्रता निभाई, उनकी इस दृढ़ मित्रता की भावना के लिए उनको भी मैंने वह समर्पित किया था। उस समर्पण में मैंने लिखा था—

'आदरणीय बन्धु नथूराम को और नथूराम के मित्र नारायण दत्तात्रय आपटे को, जिन्होंने जिस प्रकार सुख के दिनों में मित्रता निभाई, उसी प्रकार दुःख के दिनों में भी वे विमुख नहीं हुए, जो अन्त में नथूराम के साथ हाथ में हाथ देकर, कंधे से कंधा लगाकर संसार की दृष्टि में सर्वाधिक अमूल्य वस्तु प्राणों का भी उत्सर्ग कर ज्ञात और अज्ञात विश्व को जोड़ने वाले सेतु पर खड़े हुए। जिन्होंने नथूराम के साथ मनीषि बंकिम के मंत्रमुग्ध करने वाले 'वन्देमातरम्' शब्दोच्चारण के साथ इन चर्मचक्षुओं के दृष्टिमान विश्व से विदा ली।

उनको सादर समर्पित।

८ अभियुक्त विनायक दामोदर सावरकर

गांधी-वध के अभियोग में दिल्ली की विशेष न्यायालय के सम्मुख प्रत्यक्षतः नौ अभियुक्तों को लाया गया था। उन नौ अभियुक्तों में से आठवें अभियुक्त थे स्वातन्त्र्यवीर श्री विनायक दामोदर सावरकर।

किसी अवैधानिक कार्य को सम्पन्न करने के लिए जब एक से अधिक व्यक्ति उसमें सम्मिलित होकर गुप्त संकेतों द्वारा कार्य निष्पन्न करने की योजना बनाते हैं, उसे षड्यंत्र मान लिया जाता है। वे दो या उससे अधिक व्यक्ति उस षड्यंत्र के सहायक माने जाते हैं। अतः षड्यंत्र के एक सहायक को जो दण्ड दिया जाएगा, अन्य सहायक भी उसी दण्ड के पात्र समझे जाएंगे।

इस षड्यन्त्र में प्रत्यक्षरूपेण किसी व्यक्ति से भी यदि किसी षड्यन्त्रकारी को उन दिनों कोई थोड़ी-सी सहायता प्राप्त हुई हो तो उस व्यक्ति को भी उस षड्यन्त्र में सम्मिलित समझा जाता है। वह सहायता फिर उस अवैध घटना के समय एवं स्थान पर उपस्थिति की हो, धन आदि की हो, शस्त्र प्रदान की हो अथवा अन्य भी जिस किसी प्रकार की हो, उस सहायक का उस षड्यन्त्र में भाग एवं हाथ है, ऐसा माना जाता है। किसी व्यक्ति ने उन भावी षड्यन्त्रकारियों को यदि किसी प्रकार का आशीर्वाद दिया हो अथवा उनके किसी कार्य के प्रति शुभकामनाएँ व्यक्त की हों, तो भी वह शुभचिन्तक उस षड्यन्त्र का सहायक मान लिया जाता है।

किसी को षड्यन्त्र का घटक सिद्ध करने के लिए न्यायालय मूलतः दो बातों को देखता है। एक तो यह कि किसी द्वारा सम्पन्न किसी अवैध कार्य का उस दूसरे व्यक्ति को जिसको कि सहायक सिद्ध करना है, कार्य सम्पन्न होने से पूर्व उस कार्य का आभास था और यदि उसको ज्ञान था तो उसके उस कार्य को सम्पन्न करने के लिए उसने किसी प्रकार की सहायता प्रदान की थी? केवल ज्ञान हो, किन्तु इस घटना का वह सहायक न हो तो उसको षड्यन्त्र का भागीदार नहीं माना जाता। इसी अभियोग में इसका उदाहरण है प्राध्यापक जगदीशचन्द्र जैन। उन्होंने अपनी साक्षी में कहा था कि इस षड्यन्त्र के सम्बन्ध में मदनलाल ने उनको पूर्व सूचना दी थी। दिनांक २०-१-१९४८ को मदनलाल ने गांधी जी की प्रार्थना-सभा में बम विस्फोट किया, यह समाचार उन्होंने २१-१-१९४८ को समाचार-पत्रों में पढ़ा था और वे भी इस सम्बन्ध में तत्कालीन महाराष्ट्र के गृहमंत्री मोरारजी देसाई से मिले थे और मदनलाल ने जो कहा था वह उन्हें बताया था, ऐसा उन्होंने अपनी साक्षी के समय कहा, किन्तु वह पूर्वज्ञान प्राध्यापक जगदीशचन्द्र जैन को इस षड्यन्त्र का घटक सिद्ध करने के लिए अपर्याप्त था।

हम यह कल्पना भी यदि कर लें कि प्राध्यापक जैन ने अपने कथन के अनुसार मदनलाल ने उनसे जो कुछ कहा था, उन्होंने वह सब किसी को नहीं बताया, किन्तु पुलिस को किसी प्रकार उस बात का ज्ञान हो गया और फिर प्राध्यापक जैन ने भी उसकी पुष्टि कर दी तो भी इस स्थिति में भी जैन का पूर्वज्ञान उन्हें षड्यन्त्र में सम्मिलिति करने के लिए पर्याप्त नहीं समझा जा सकता था। क्योंकि उनका इस कार्य का पूर्व ज्ञान और उस पर भी उनका मौन धारण करना इस घटना की उद्देश्यपूर्ति में कहीं भी किसी प्रकार भी सहायक नहीं सिद्ध किया जा सकता, उसके लिए कोई प्रमाण भी नहीं था।

दूसरी बात जो न्यायालय देखता है, वह है षड्यन्त्रकारियों को सहायता देना। वह सहायता फिर धन की हो, साहित्य की हो, शस्त्रास्त्र की हो अथवा केवल षड्यन्त्रकारियों के प्रति शुभकामना मात्र हो। यदि यह सिद्ध भी हो जाए कि षड्यन्त्र में सहायता दी गई तो फिर यह भी देखना होता है कि वह सहायता षड्यंत्र के उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हुई अथवा नहीं। यदि छानबीन करने के बाद यह सिद्ध हो जाए कि अमुक व्यक्ति की अमुक प्रकार की सहायता षड्यन्त्र के उद्देश्य में सफलता के लिए हुई है तो फिर उस व्यक्ति को भी षड्यन्त्रकारी मान लिया जाता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकरण में इसी अभियोग का एक उदाहरण है।

अभियोग के मध्य शासकीय पक्ष की ओर से दो साक्षियों, श्री दीक्षित और श्रीकृष्ण जीवन को न्यायालय में प्रस्तुत किया गया। उन्होंने अपनी साक्षी में बताया कि उन्होंने नाना आपटे को शस्त्रास्त्र क्रय करने के लिए धन से सहायता की थी। शस्त्रास्त्र के क्रय के लिए सहायता करना स्वतंत्र रूप में एक अवैधानिक कृत्य हो सकता है, किन्तु इस विशिष्ट उद्देश्य के लिए उन्होंने सहायता की थी अथवा उनकी सहायता का इसके लिए उपयोग किया गया, यह आरोप सिद्ध न हो सकने के कारण उनको षड्यन्त्र का सहायक अथवा षड्यन्त्रकारी नहीं माना गया। पूर्व लेख में इसका विस्तार से उल्लेख किया जा चुका है अतः यहाँ संक्षेप में उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया गया है।

दिनांक २७-५-१९४८ को पहले-पहल अभियुक्तों को न्यायालय में लाया गया था। उस दिन और उसके एक-दो दिन बाद भी प्रारम्भिक व्यवस्था की दृष्टि से न्यायालय खुला था। अभियुक्तों पर दिनांक २१-६-१९४८ को आरोप लगाए गए। पहले दिन ही अभियुक्त क्रमांक ४, दिगम्बर रामचन्द्र बड़गे को न्यायालय में प्रस्तुत किया गया। क्योंकि वह शासकीय क्षमा दान साक्षी बन गया था, अतः उसे क्षमा प्रदान की गई तथा अभियुक्तों की सूची में से पृथक् कर दिया गया। परिणामस्वरूप उसके आगे के अभियुक्तों की क्रमसंख्या में भी परिवर्तन हो गया। अब सावरकर जी अभियुक्त क्रमांक ८ से अभियुक्त क्रमांक ७ हो गए। शासन की ओर से प्रमुख अधिवक्ता श्री दफ्तरी ने न्यायालय के सम्मुख अभियोग की रूपरेखा प्रस्तुत की।

(ग्रन्थ ६, पृष्ठ ४६)

श्री सावरकर जी पर लगाए गए आरोप

सावरकरजी के विरुद्ध अभियोजकों को जो कहना था वह मुद्रित अभिलेख के

विभिन्न भागों में अलग-अलग आया है। उन सब आरोपों को संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है—

'नथूराम और नाना आपटे का सावरकर जी से घनिष्ठ परिचय था। नथूराम और नाना आपटे द्वारा संचालित 'हिन्दूराष्ट्र' दैनिक में सावरकर जी का चित्र और उनकी विचारधारा का चित्रण हुआ करता था। न केवल नथूराम और नाना आपटे को सावरकर जी ने आर्थिक सहायता दी थी, अपितु नथूराम और नाना आपटे का सावरकर जी से परस्पर पत्र-व्यवहार होता रहता था। गांधी-वध का ज्ञान सावरकर जी को घटना से पूर्व ही था। इस हत्या की पूर्ति में सावरकर जी ने भी हाथ बटाया था। सावरकर जी के साथ इस घटना से सम्बन्धित अन्य कुछ अभियुक्तों की भेंट हुई थी। सावरकर जी ने इस षड्यन्त्र के घटकों को शुभकामना एवं आशीर्वाद प्रदान किया था। अभियुक्तों ने दिल्ली पहुँचने पर भी दिनांक १९-१-१९४८ को टेलीफोन द्वारा श्री सावरकर जी से सम्पर्क स्थापित करने का यत्न किया गया था।'

अभियोजकों ने इसमें एक और तीखापन भी जोड़ दिया। उनका तो यहाँ तक कहना था कि अभियुक्त क्रमांक ७, विनायक दामोदर सावरकर ने ही नथूराम और आपटे के माध्यम से गांधी की हत्या करवाई थी। ये दोनों व्यक्ति सावरकर को गुरु के स्थान पर मानते थे। वे सदा मार्गदर्शक के नाते उनका आदर करते रहते थे। परदे के पीछे रहकर सावरकर जी ने यह सारा कृत्य करवाया था।

अभियोजकों ने न्यायालय को वचन दिया था कि वे अपने आरोपों को सप्रमाण सिद्ध करेंगे।

अभियोजकों के कथनानुसार यदि आरोप सिद्ध हो जाता तो इस घटना का सम्पूर्ण दायित्व सावरकर जी पर आने वाला था और फिर यह भी निश्चित था कि मृत्युदण्ड के अतिरिक्त इससे कम उनको दण्ड भी नहीं दिया जाता।

अभियोग सिद्ध करने का कार्य आरम्भ हुआ और सावरकर जी के विरुद्ध एक-एक करके प्रमाण प्रस्तुत किए जाने लगे। कालक्रमानुसार उन प्रमाणों का सम्बन्ध जोड़ा जाने लगा।

अभियुक्तों के साथ पत्र-व्यवहार

गांधी-वध के ठीक अगले दिन दिनांक ३१-१-१९४८ को पुलिस अधिकारी श्री नागरवाला और श्री प्रधान ने सावरकर जी के घर की तलाशी ली। वहाँ से उन्होंने पत्र-व्यवहार की कई फाइलें और कुछ अन्य कागजात अपने अधीन में लिए। वह पंचनामा प्रमाण क्र. पी. २४४ के नाम से न्यायालय में प्रस्तुत है। (अभिलेख ग्रन्थ ४, पृष्ठ १८२-८४)

पत्र-व्यवहार की १४३ फाइलें थीं। उनमें लगभग दस हजार कागजात होंगे। इन सबकी छानबीन में गुप्तचर विभाग को तीन मास लग गए।

उन पत्रों में नथूराम और आपटे के सम्मिलित तथा अलग-अलग लिखे हुए पत्र भी मिले। बड़गे के भी दो-तीन पत्र थे। उन सब पत्रों के ढेर में से प्रमाण के लिए २०-२५ पत्र न्यायालय में प्रस्तुत किए गए। उनको क्रमांक संख्या २७७ से २९९ दी गई। उनमें

सावरकर जी द्वारा लिखित पत्र भी थे।

जब साक्षी से पूछा गया कि नथूराम के लिए कितने पत्र मिले तो उन्होंने बताया कि उनके द्वारा लिखित १०१ पत्र हैं। क्योंकि वे पत्र प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत नहीं किए गए थे इसलिए न्यायाधीश ने इस प्रश्न एवं इसके उत्तर को भी कार्यवाही में अंकित न करने का आदेश दिया।

यद्यपि इस पत्र-व्यवहार में किसी प्रकार की कोई भी बात आपत्तिजनक नहीं थी, परन्तु पत्रों के प्रमाण से शासकीय-पक्ष यह सिद्ध करना चाहता था कि (१) नथूराम और आपटे की सावरकर जी से घनिष्ठता थी और उसी प्रकार बड़गे का भी उनसे परिचय था। (२) नथूराम और आपटे सावरकर जी के साथ प्रवास पर जाया करते थे और (३) नथूराम और आपटे के केवल वचन-पत्र के आधार पर ही सावरकर जी ने उन्हें १५ हजार रुपए ऋण दिए थे।

इन आरापों में से किसी एक को भी सावरकर जी ने अस्वीकार नहीं किया। उन्होंने प्रत्येक बात का स्पष्टीकरण दिया था। बड़गे के पत्रों को पी. ८७, ८८ और ८९ क्रमांक दिया गया था। बड़गे हिन्दूसभा का कार्यकर्ता था। हिन्दूसभा का वह सवैतनिक एवं अवैतनिक, दोनों प्रकार का कार्यकर्ता रहा। बड़गे शस्त्रभंडार का संचालन करता था। बड़गे का कथन था कि १९४७ तक उस शस्त्र भण्डार में ऐसे शस्त्र रखे जाते थे जिन पर लाइसेन्स आवश्यक था। बड़गे के द्वारा लिखे गए पत्रों में दो पत्र सन् १९४३ के थे। उन पत्रों में उसने सावरकर जी को अपने शस्त्र-भण्डार का विवरण प्रस्तुत करते हुए उनसे उसके लिए आर्थिक सहायता का निवेदन किया था।

सावरकर जी ने दिनांक २०-११-१९४८ को न्यायालय में अपना वक्तव्य दिया था। बड़गे के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था—

'मैं यह प्रचार करता था कि शस्त्रों पर से रोक-प्रणाली को समाप्त किया जाए। शस्त्रों को बेचने और उनके प्रयोग के लिए मुक्तहस्त से लाइसेंस प्रदान किए जाएँ और युवकों को सैनिक-शिक्षा दी जाए। मैं इस प्रकार का प्रचार किया करता था। हिन्दू महासभा के अध्यक्ष के नाते शस्त्रवितरण कार्य का विवरण मेरे पास आया करता था और उसके लिए आर्थिक सहायता की माँग करने से सम्बन्धित अनेक पत्र मेरे पास आते रहते थे।'

(ग्रन्थ २, पृष्ठ १९१)

बड़गे का तीसरा पत्र दिनांक २६-३-४७ का था। हिन्दू महासभा के बम्बई कार्यालय से विभिन्न पुस्तकालयों को पुस्तकों की भेंट दी जाया करती थी। बड़गे शस्त्र-भण्डार के साथ-साथ एक पुस्तक-भण्डार भी चलाता था। उसकी सहायता के लिए ३६ ग्रन्थ और 'तुकाराम गाथा' की दो प्रतियाँ तथा अन्य भी कई ग्रन्थ भेजे गए थे। बड़गे का वह पत्र उन ग्रन्थों की साभार पहुँच की सूचना थी। सावरकर जी ने कहा, 'अभियोजकों के हाथों में मेरे पत्रों की फाइलें हैं। उसमें इस प्रकार अनेक प्राप्ति-पत्र प्राप्त होंगे। उनसे यह प्रतीत होगा कि मेरा कार्यालय प्रतिवर्ष सैकड़ों रुपयों के ग्रन्थ भेंट के रूप में भेजा करता था।

प्रस्तुत अभियोग से सामने लाए गए प्रमाण का तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। पत्र-व्यवहार में आपत्तिजनक कोई बात नहीं है। यही मेरा कथन है।' (ग्रन्थ २, पृष्ठ १९१)

सैनिकीकरण हिन्दू महासभा का एक प्रमुख कार्यक्रम हुआ करता था। नाना आपटे उन दिनों नगर (अहमदनगर : महाराष्ट्र) में थे। उन्होंने वहाँ सैनिकीकरण और शस्त्रविद्या की शिक्षा का कार्य चलाया था। वे हिन्दू महासभा के कार्यकर्ता थे। नगर में इस बार हिन्दू महासभा के बहुसंख्या में सदस्य निर्वाचित होकर आए थे। वह सारा विवरण आपटे ने सावरकर जी को भेजा था। आपटे ने उस समय के गृहमंत्री श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुन्शी की अनुमति से एक 'राइफल क्लब' चलाया हुआ था। उन दिनों आपटे की नियुक्ति 'आनरेरी टेक्नीकल रिक्रूटिंग आफिसर' के पद पर थी। आगे चलकर उन्हें विमान दल में 'किंग्ज कमीशन' मिला था। आपटे के पत्रों में बहुत करके सैनिकीकरण के कार्य का वृत्तान्त और हिन्दूसभा के कार्य की चर्चा होती थी।

नाना आपटे के प्रमाण में लाया गया पहला पत्र दिनांक १३-२-१९३८ का था। (अभिलेख ग्रन्थ ५, पृष्ठ ९, प्रमाण डी-२२) बम्बई के मुख्यमंत्री श्री खेर और गृहमंत्री श्री मुन्शी को नगर के जिला अधिकारी के माध्यम से राइफल क्लब के लिए अनुज्ञा-पत्र देने के लिए प्रार्थना करने का अनुरोध उसमें है। आगे के पत्रों में आपटे की जिले में प्रवास करने और राइफल क्लब चलाने की माँग की प्रार्थना के अनुरोध का वर्णन है। पूना के राइफल क्लब का उद्‌घाटन श्री न. वि. गाडगिल के द्वारा होने की सूचना भी दिनांक १०-५-१९३९ के पत्र में है। (ग्रन्थ ५, पृष्ठ १२) में आगे चलकर इस सम्बन्ध में सावकर जी से मार्गदर्शन की प्रार्थना की है। 'हिन्दूराष्ट्र', 'अग्रणी' इन समाचार-पत्रों का जब आरम्भ करने का विचार हो रहा था, तब के कुछ पत्र हैं और कुछ पत्र बाद के समाचार-पत्रों को आरम्भ होने के पत्र हैं।

नथूराम का पहला पत्र दिनांक २८-२-१९३८ का है (ग्रन्थ ५, पृष्ठ १७) उस पत्र में उन्होंने कांग्रेस के ५७वें अधिवेशन में हुए देशगौरव,सुभाषचन्द्र बोस के अध्यक्षीय भाषण की समालोचना की है। जातीय समस्या, राष्ट्रभाषा, राष्ट्रलिपि के सम्बन्ध में हिन्दुस्थान का दृष्टिकोण समझने के लिए विदेश में प्रचार, आर्थिक और औद्योगिक विकास, सामाजिक समस्या के तत्त्व का स्वीकार, अंग्रेजों से लड़ने के विषय में स्पष्ट चुनौती, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ स्थापित करने का महत्त्व आदि प्रश्नों पर अपना मत व्यक्त करते हुए हिन्दू महासभा के अध्यक्ष के नाते सावरकर जी को भी क्या-क्या करना अपेक्षित है, इस प्रकार का उल्लेख इस पत्र में किया गया है।

उसके बाद के अन्य पत्रों में भी हिन्दू महासभा के कार्यक्रम, कार्य का इतिवृत्त तथा उनके सावरकर जी के साथ प्रवास पर जाने की प्रार्थना आदि बातें लिखी गई हैं। 'अग्रणी' जो कालान्तर में 'हिन्दूराष्ट्र' नाम से प्रचलित किया गया, के प्रारम्भ करने के उद्देश्य के विषय में भी पत्र लिखे गए। हिन्दूराष्ट्र दल के कार्य का विवरण आदि-आदि विषयों पर पत्र लिखे जाते रहे। इस प्रकार पत्र सावरकरजी को नाना आपटे और नथूराम गोडसे, दोनों ही लिखा करते थे। कभी-कभी दोनों मिलकर भी लिखते थे।

हिन्दू महासभा के कार्यकर्त्ताओं में अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा सावरकर जी के प्रति अधिक आदर-सम्मान की भावना होती थी और सावरकर जी भी 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' की नीति के आधार पर निष्ठावान कार्यकर्ताओं के प्रति अधिक प्रेमभाव रखते थे। 'अग्रणी' या 'हिन्दूराष्ट्र' नामक समाचार-पत्र के लिए नथूराम और नाना आपटे के मात्र वचनपत्र के आधार पर सावरकर जी ने उनको पन्द्रह हजार रुपये दिए थे। इस दैनिक-पत्र की रीति-नीति का संचालन केवल नथूराम और नाना आपटे द्वारा ही हो, इस प्रकार की विधिवत् परामर्श व्यवस्था अन्य सम्बन्धित व्यक्तियों से कर लेनी चाहिए, इस विषय में उन्होंने एक पत्र द्वारा उनको सूचित किया था। (पत्र दिनांक ४-४-१९४५, प्रमाण पी. ३०२, अभिलेख ग्रन्थ ४ पृष्ठ २२४)। इनमें से किसी एक बात को भी अस्वीकार करने की आवश्यकता सावरकर जी ने नहीं समझी और न ही उनको इन बातों को स्वीकार करने में किसी प्रकार के भय की प्रतीति होती थी। उन्होंने अपना स्पष्टीकरण देते हुए कहा—

'हिन्दू महासभा के अनेक कार्यकर्ता होते थे। नथूराम और नाना आपटे भी उनमें से ही थे। कार्यकर्त्ता के नाते मेरा और उनका परस्पर अच्छा परिचय था। मैंने उनको दैनिक-पत्र के लिए आर्थिक सहायता भी दी थी। न केवल उनको ही अपितु 'विक्रम' और 'फ्री हिन्दुस्तान' आदि अन्य समाचार-पत्रों को भी मैंने सहायता दी थी। नथूराम द्वारा लिखे गए पत्रों में इसका उल्लेख प्राप्त हो सकता है। प्रवास पर जाने पर मेरे साथ अनेक लोग हुआ करते थे, उनमें से ये दो व्यक्ति भी होते थे। दैनिक-पत्र की रीति-नीति निश्चित करने के लिए ये दोनों स्वतंत्र थे। आपटे अथवा नथूराम से मेरा किसी प्रकार का अवैध सम्बन्ध था, इस प्रकार का प्रमाण आपको किसी भी पत्र में प्राप्त नहीं होगा।'

दैनिक-पत्र के शीर्ष पर प्रकाशित होने वाला चित्र

'अग्रणी' या 'हिन्दूराष्ट्र' दैनिक-पत्र के प्रथम पृष्ठ के शीर्ष पर सावरकर जी का चित्र प्रकाशित हुआ करता था। अभियोजकों ने इस बात का विशेष उल्लेख किया था। उनका कहना था कि इस चित्र को देखकर यह स्पष्ट होता है कि 'अग्रणी' की नीति से सावरकर जी की सहमति थी। सावरकर जी ने कहा, 'समाचार-पत्रों में इस प्रकार के चित्र प्रकाशित करने की इस देश में सामान्य प्रथा-सी बन गई है। अनेक समाचार-पत्रों पर गांधी जी का चित्र प्रकाशित हुआ करता था। ऐसे पत्रों पर भी उनका चित्र प्रकाशित होता था जिनको कभी गांधी जी ने पढ़ा तो क्या, देखा भी नहीं होगा। पूना के सुविख्यात समाचार-पत्र 'केसरी' पर लोकमान्य तिलक का चित्र होता है, परन्तु उस पत्र की आज की नीति के लिए स्वर्गीय लोकमान्य जी की आत्मा उत्तरदायी है, ऐसा तो कोई अध्यात्मवादी भी आज किसी न्यायालय में ऐसा कहने का दुस्साहस नहीं करेगा। वास्तव में और न्याय की दृष्टि से भी नेताओं के चित्र प्रकाशित करने के लिए समाचार-पत्र का सम्पादक ही उत्तरदायी माना जाना चाहिए। जिन नेताओं का चित्र समाचार-पत्र के मुखपृष्ठ पर प्रकाशित होता है, उन्हें उसकी नीति के लिए उत्तरदायी नहीं माना जाना चाहिए।'

अभियोजकों का आरोप था कि नाना आपटे और नथूराम, दोनों ही सावरकर जी को अपना गुरु मानते थे, अतः गांधी-वध करने से पूर्व उन्होंने उनके साथ विचार-विनिमय अवश्य ही किया होगा। इसके उत्तर में सावरकरजी ने कहा, 'अनेक अभियुक्त किसी न किसी धर्मोपदेशक या गुरु के अनुयायी कहलाते हैं, किन्तु अपराध करने से पूर्व उन्होंने अपने गुरु से परामर्श किया होगा, इस प्रकार का अभिप्राय निकालना क्या उचित एवं उपयुक्त है? गांधीजी पर श्रद्धा रखने वाले अनेक व्यक्तियों ने जिन्हें उनका शिष्य कहा जाता था १९४२ में गुप्त रूपेण हिंसा का आलम्बन किया था। विदेशी राज के विरोध के लिए इस प्रकार का भूमिगत आन्दोलन उचित था अथवा अनुचित, यह इस समय विचारणीय नहीं है, किन्तु केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि गांधी जी ने इस प्रकार के शस्त्र-प्रयोग का निषेध किया था, किन्तु गांधी जी के उन शिष्यों के मार्गदर्शन में लोगों ने विप्लव किया, रक्तपात किया और ऐसा करते हुए वे लोग 'महात्मा गांधी की जय' के उद्घोष भी लगाते रहते थे। वे लोग जो गांधी जी के प्रति आदर व्यक्त करते हैं और अपना कार्य करते समय गांधी जी की जय भी बोलते हैं, अतः इसका अभिप्राय यह हुआ कि उन्होंने विदेशी घात-पात और लूटपाट करने के लिए गांधीजी से परामर्श किया ही होगा, ऐसा आरोप तो ब्रिटिश शासन ने भी नहीं लगाया था। अभियोजकों के प्रमाण—'ऐसा हुआ होगा' अथवा 'ऐसा होना सम्भव है', इस प्रकार के सन्देहास्पद निष्कर्षों पर आधारित हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ज्यों-ज्यों ठोस और प्रत्यक्ष प्रमाण मिलने असंभव होते गए त्यों-त्यों अभियोजक विवश, असम्बद्ध एवं असंगत तर्कों का आश्रय लेने लगे। इसको प्रतिष्ठा का प्रश्न समझकर उसकी सुरक्षा के लिए वे इस प्रकार के अनुपयुक्त एवं तर्कहीन प्रमाण प्रस्तुत करने के लिए उद्यत हुए हैं।'

मदनलाल की प्रशंसा

अभियोजक चाहते थे कि प्रो० जगदीशचन्द्र जैन, श्री मोरारजी देसाई और अंगदसिंह के कथन का एक भाग पृष्ठभूमि के रूप में श्री सावरकर जी के विरुद्ध प्रयुक्त किया जाए। डॉ० जैन का कथन था कि दिल्ली जाने के पहले मदनलाल प्राय: एक-दो दिन बाद उनसे मिला करता था। इस प्रकार की एक भेंट के अवसर पर अंगदसिंह थोड़े समय के लिए उनके वहाँ उपस्थित था। तब मदनलाल ने जो कुछ कहा था उसका सारांश डॉ० जैन ने बताया था। मदनलाल ने अहमदनगर में निर्वासितों के पुनर्वास की व्यवस्था के लिए एक संस्था की स्थापना कर ली थी। करकरे उनको आर्थिक सहायता दिया करते थे। उस संस्था ने अनेक शस्त्रास्त्र एवं विस्फोटक पदार्थ एकत्रित कर लिए थे। इस सब सामग्री को एक वन में छिपाकर रखा गया था। हिन्दू महासभा के अध्यक्ष वीर सावरकर जी को जब मदनलाल के क्रिया-कलाप का ज्ञान हुआ तो उन्होंने उसको अपने पास बुलवाया और उससे दो घंटे तक चर्चा की। उन्होंने उसकी पीठ थपथपाई थी और 'चलने दो', इस प्रकार का उसको प्रोत्साहन प्रदान किया था। मदनलाल ने तब कहा था कि उन्होंने एक नेता को मारने का निश्चय किया है।

'अहमदनगर के निर्वासितों के पुनर्वास की व्यवस्था के लिए हमने एक संघ स्थापित किया है,' इस कथन के पूर्व ही अंगदसिंह वहाँ से चले गए थे, ऐसा श्री जैन का कथन था। अंगदसिंह के कथनानुसार वह जब श्री जैन से पुन: मिले तो उन्होंने उनको मदनलाल द्वारा बताई गई बात को बताया था।

श्री जैन ने बम्बई के चीफ प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट श्री आस्कर ब्राउन के समक्ष दिनांक २६-२-१९४८ को निवेदन दिया था। जब उनसे इस विषय पर प्रश्न पूछा गया तो श्री जैन ने कहा, 'मैंने उस कथन में ऐसा नहीं कहा था कि मदनलाल ने उनसे कहा था कि उसने लोगों से शस्त्र एकत्रित कर जंगल में छिपाकर रखे हैं और वीर सावरकर ने उसको बुलाकर प्रोत्साहित करते हुए उसकी पीठ थपथपाई थी।' उनका कहना था कि उन्होंने उस वक्तव्य में अंगदसिंह का भी उल्लेख नहीं किया था।' (ग्रन्थ १, पृष्ठ १३३)

श्री जैन ने अपने वक्तव्य में कहा था कि मदनलाल की बात को उन्होंने दिनांक २१-१-१९४८ को श्री मोरारजी देसाई के समक्ष रखा था, श्री मोरारजी देसाई ने अपने कथन में इसका उल्लेख किया था। यदि उन दोनों के कथन से सावरकर जी का सम्बन्ध हो सकता है तो केवल यही कि उसने जब अहमदनगर में पुनर्वास शिविर की स्थापना का उल्लेख किया होगा तो उसके लिए उन्होंने उसकी पीठ थपथपाई होगी। किन्तु अंगदसिंह को अपनी साक्षी में कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता आ पड़ी होगी। अंगदसिंह का कहना था कि मदनलाल ने श्री जैन को कहा था कि इस षड्यन्त्र की पृष्ठभूमि में सावरकर जी हैं और यह बात श्री जैन ने उनको बताई थी। (ग्रन्थ १, पृष्ठ १४८)

सावरकर जी ने न्यायालय के सम्मुख यह सिद्ध किया था कि यह साक्षी सारहीन एवं अविश्वसनीय है। उनके कथन का सारांश निम्न प्रकार है—

'मूलत: इन तीनों साक्षियों में से एक भी अपने-अपने वक्तव्य तथा परस्पर एक-दूसरे की बातों को कहीं भी लेख रूप दे कर सुरक्षित नहीं रखा था और मोरारजी देसाई ने भी स्वीकार किया है कि उन्होंने भी कभी इस प्रकार की किसी बात को लिखित रूप में अंकित कर सुरक्षित नहीं रखा। स्मृति पानी समान फिसलती है। मनुष्य स्वभाव विस्मरणीय है तथा सुनी-सुनाई बात कितनी विकृत हो जाती है, यह अंगदसिंह की साक्षी से स्पष्ट परिलक्षित होता है। सम्भावना यही है कि श्री जैन और मदनलाल में परस्पर लेन-देन का सम्बन्ध और पत्र-व्यवहार होने के कारण कहीं भविष्य में मदनलाल से उनका सामीप्य सिद्ध न हो जाए, इस भय से बचने के लिए श्री जैन तुरन्त गृहमंत्री के पास गए होंगे, क्योंकि उस दिन के समाचार-पत्रों में इस प्रकार का समाचार प्रकाशित हुआ था कि यह कोई षड्यंत्र होगा। श्री जैन ने अवसर से लाभ उठाने के लिए और स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने की दृष्टि से यह कथा रची होगी। मदनलाल से षड्यंत्रकारियों के नाम जानने की कदाचित् उनको आवश्यकता नहीं पड़ी होगी। अन्यथा वे उनका भी नामोल्लेख करते जो कि वे कर नहीं सके। एक बात और, जिस समय मदनलाल षड्यन्त्र के बारे में बताते हैं, ठीक उसी समय अंगदसिंह कैसे अनुपस्थित हो जाते हैं?

'श्री जैन ने जब मजिस्ट्रेट के समक्ष अपना निवेदन दिया तो उस समय उन्होंने मेरी

और मदनलाल की भेंट का कोई उल्लेख नहीं किया। जब उनसे इसके विषय में पूछा गया तो वे कहने लगे कि मैंने पुलिस वालों को और गृहमंत्री को इसके विषय में बता दिया था, किन्तु उन दोनों में से किसी ने भी उनकी बात को लिखित रूप में सुरक्षित नहीं रखा। जबकि इसके अतिरिक्त पुलिस और गृहमंत्री को मदनलाल द्वारा बेची गई पुस्तकों, पटाखों आदि अन्य साधारण बातों का श्री जैन ने मजिस्ट्रेट के सम्मुख उल्लेख किया है।'

'यदि समझ लें कि मदनलाल ने जैन के सम्मुख कुछ बताया होगा तो मदनलाल से मेरा सम्बन्ध नगर की हलचल से उन्होंने जोड़ लिया। किन्तु उस प्रमाण की पुष्टि करने में वे असमर्थ रहे हैं। मदनलाल का कहना है कि ऐसी कोई बात कभी नहीं हुई है। डॉ० जैन और अंगदसिंह, दोनों 'मदनलाल को बातूनी व्यक्ति मानते हैं जो अपने काम की डींग मारता रहता था।' अत: यदि ठीक दृष्टि से देखें तो लगता है कि मदनलाल ने केवल अहमदनगर में अपने कारनामों की ही सावरकर जी से चर्चा की थी, जैसा कि डॉ० जैन ने बताया है, न कि गांधी-हत्या की योजना की, परन्तु यह सबूत भी तथ्यों से मेल नहीं खाता, जबकि मदनलाल ने कहा कि उसने ऐसी कोई बात नहीं कहीं। अत: मेरा कहना है कि प्राध्यापक जैन से मंत्रियों तक की सारी साक्षी असंपुष्टित, अविश्वसनीय एवं सुनी-सुनाई मानकर उसको रद्दी की टोकरी में डाल देना चाहिए।'

नथूराम, आपटे की सावरकर-सदन में भेंट, दिनांक १४-१-१९४८

दिनांक १४-१-१९४८ को नथूराम और आपटे की सावरकर सदन में हुई भेंट का विवरण बाद में प्रस्तुत किया गया। दिनांक १४-१-१९४८ को नथूराम और नाना आपटे दोपहर की गाड़ी से पूना से बम्बई आए थे। जिस गाड़ी से वे लोग आए थे उसी गाड़ी में श्रीमती शान्ता मोडक भी थीं। दिनांक ३-८-१९४८ को उनकी साक्षी हुई। उन्होंने कहा, 'मेरा टिकट दूसरी श्रेणी का था। डिब्बे में चढ़कर मैं खिड़की के समीप की जगह खोजने लगी। किसी ने मुझसे पूछा, 'आप क्या खोज रही हैं?' 'खिड़की के समीप स्थान,' मैंने उत्तर दिया। तो वे सज्जन बोले, 'लीजिए, आप इस मेरे स्थान पर ही बैठ जाइए। ठीक रहेगा?' इतना कहते हुए वे उठ खड़े हुए। मैं उस स्थान पर जाकर बैठ गई। मेरे सामने वाला स्थान खाली था, वे सज्जन उस स्थान पर जाकर बैठ गए। गाड़ी चलने ही वाली थी कि इतने में एक अन्य सज्जन आ गए। वे उस पहले वाले सज्जन के पास में आकर बैठ गए। मुझे ऐसा लगा कि दोनों का कुछ पूर्व परिचय-सा था।' श्रीमती शान्ता मोडक ने पहचान के अवसर पर नाना आपटे को पहला सज्जन और नथूराम को दूसरा सज्जन बताया। आगे उन्होंने बताया—

जिन्होंने स्थान दिया उन्होंने मुझसे पूछा, 'आप बिंबा तो नहीं?' मैंने स्वीकृति में सिर हिलाया। यह मेरा चित्रपट पर कार्य करने का नाम था। अपने बातचीत के क्रम में इतना और बताया था कि मुझे दादर उतरना है। इस बीच और कोई बातचीत नहीं हुई। जब दादर समीप आने लगा तो उन्होंने मेरा पता पूछा। मैंने 'शिवाजी उद्यान' बता दिया। वे बोले, यदि आप अकेली ही जाने वाली हों तो हम आपको वहाँ तक छोड़ देंगे। उनके बोलने से मुझे

ऐसा प्रतीत हुआ कि वे सावरकर सदन में जाने वाले हैं। मैंने कहा कि मुझे लेने के लिए मेरा भाई स्टेशन पर आने वाला है, यदि वह नहीं आया तो मैं आपके साथ चलूँगी।

'हम दादर पहुँचे। मुझे लेने के लिए मेरा भाई आया हुआ था। उसके पास जीप थी। तब मैंने उन दोनों को कहा कि, मैं ही आपको शिवाजी उद्यान पर छोड़ दूँगी। उन्होंने निमंत्रण स्वीकार कर लिया। मेरा घर और सावरकर सदन एक ही मार्ग पर तथा सड़क के एक ही ओर हैं। पहले हमारा घर आता है, उसके बाद सावरकर सदन। हमने सावरकर सदन के पास गाड़ी रोक दी। वे दोनों जब उतर गए तो हमने गाड़ी घुमा ली।'

प्रतिप्रश्न करने पर श्रीमती शान्ता मोडक ने कहा, 'मैंने उन्हें सावरकर सदन में प्रविष्ट होते हुए देखा नहीं था।' (ग्रन्थ १, पृष्ठ १२२-१२४)

सावरकर सदन में नीचे की भूमि पर श्री अ. स. भिडे रहते थे। सावरकर जी के कार्यवाह श्री दामले और श्री अप्पा कासार भी नीचे की मंजिल पर ही रहा करते थे। उस तल का बीच का भाग हिन्दू महासभा के कार्यकर्ताओं के लिए कार्यालय के रूप में था। सावरकर जी पहली मंजिल पर रहते थे। सावरकर सदन में या कार्यालय में आने वाले लोग सावरकर जी के यहाँ जाते ही थे, ऐसा कोई नियम नहीं था। उनसे मिलने के लिए पहले सचिव से अनुमति लेनी होती थी। ये सब बातें प्रमाण में आई थीं।

नथूराम और आपटे सावरकर जी के यहाँ जाने वाले थे, ऐसा कोई आभास उन्होंने दिया हो, यह भी शान्ता मोडक ने अपनी साक्षी में नहीं कहा था। साक्षी में यह कहा कि उसने उन्हें सावरकर सदन में प्रविष्ट होते हुए नहीं देखा था। यदि सावरकर सदन में जाते हुए देखा भी होता तो भी वे सावरकर जी के ही पास गए थे अथवा जाने वाले थे, ऐसा भी सिद्ध नहीं हो सकता था। वे लोग सावरकर जी के यहाँ गए, इतना कहने मात्र से ही सावरकर जी को इस षड्यन्त्र में गूँथना युक्ति-हीन था, किन्तु यहाँ पर तो इसी साक्षी की ओर से भी यह प्रश्न उपस्थित नहीं किया गया था। सावरकर सदन की ओर उसकी निचली मंजिल की अवस्था क्या थी, इसका निर्देश सावरकर जी ने किया था और इस साक्षी का कोई भी सम्बन्ध इस बात से नहीं आता, ऐसा सावरकर जी का कथन था।

(ग्रन्थ २, पृष्ठ १९१)

बड़गे का बयान

क्षमा के साक्षी बड़गे की साक्ष का कुछ अंश सावरकर जी की ओर संकेत करता था। ऐसी बातों को क्षमा आश्वस्त साक्षी के मुख बलात् कहलवाया जाता है। बड़गे और सावरकर जी का परस्पर परिचय था। अपनी साक्ष्य में यह सिद्ध करने के लिए बड़गे ने पृष्ठभूमि के रूप में प्राथमिक वक्तव्य-सा दिया। उसने अपने वक्तव्य में कहा, '१९४४-४५ में गवालिया टैंक पर सावरकर जी का भाषण हुआ। उसके बाद ३०-४० व्यक्ति उन्हें मिलने के लिए उनके घर गए थे। मैं भी उनमें से एक था। वहाँ एक अनौपचारिक सभा हुई, इसमें भी सावरकर जी ने भाषण दिया। उसके बाद परिचय कराते हुए मैंने अपने आपको शस्त्र-भण्डार का स्वामी बताया और साथ ही उन्होंने एक प्रकार से सन्तोष व्यक्त करते हुए यह

भी कहा कि मैं वहाँ पर अच्छा कार्य कर रहा हूँ। अन्त में उन्होंने मुझे वही कार्य करते रहने का परामर्श दिया।

'हिन्दू महासभा शस्त्रों पर से प्रतिबन्ध हटाने के लिए प्रयत्न किया करती थी। बड़गे जो शस्त्र बेचता था उनकी गणना निर्बन्धित शस्त्रों में आती थी। मैंने उसके लिए प्रशंसोद्गार प्रकट किए थे, यह यदि मान भी लें तो इसमें आक्षेप के योग्य भी तो कुछ भी नहीं है', ऐसा वीर सावरकरजी का कथन था।

बड़गे ने १९४६ के अन्त अथवा १९४७ के आरम्भ की किसी अनौपचारिक बैठक का उल्लेख किया था। उसके कथनानुसार उस बैठक में सावरकर जी ने कहा था, 'कांग्रेस की नीति हिन्दुओं के लिए हानिकारक है। मुसलमानों का आर्थिक बहिष्कार करना चाहिए और यदि उन्होंने हम पर आक्रमण किया तो हिन्दुओं को उसके प्रतिकार की सिद्धता रखनी चाहिए। इसलिए हिन्दुओं को शस्त्र-विद्या सीखनी चाहिए।'

इस विषय में सावरकर जी का कहना था कि ऐसी कोई भी बैठक उनके घर पर नहीं हुई थी और यदि ऐसा मान भी लिया जाए कि ऐसी बैठक हुई भी हो तो बड़गे के कथन में कोई ऐसी बात नहीं है जिसके शब्दों को आपत्तिजनक सिद्ध किया जा सके। प्रस्तुत तथाकथित षड्यन्त्र से उस बैठक का कोई सम्बन्ध भी नहीं जोड़ा जा सकता।

किसी समय श्री परमेकर, श्री बखले, डॉ० मुंजे, वीर सावरकर आदि का एक सामूहिक चित्र खिंचवाया गया था। उसमें बड़गे भी था, ऐसा उसका कहना था। यह प्रमाण भी निरर्थक एवं असम्बद्ध होने से निकाल देना चाहिए, ऐसा सावरकर जी का कथन था।

पुनः सावरकर सदन : बड़गे की साक्षी

इस पृष्ठभूमि के उपरान्त बड़गे ने सावरकर जी के विषय में क्रमशः बताना आरम्भ किया। उसने कहा, 'दिनांक १४-१-१९४८ की रात को ९ बजे के आसपास नथूराम, आपटे और मैं, अर्थात् बड़गे सावरकर सदन की ओर से निकले। वहाँ पहुँचने पर आपटे ने मुझसे शस्त्रास्त्रों की थैली ली और मुझे बाहर ही ठहरने के लिए कहा। आपटे और गोडसे भीतर गए। पाँच-दस मिनट में ही वे लोग लौट कर आ गए। बाहर आने पर वही थैली आपटे के ही हाथ में थी।'

इसके प्रतिवाद में सावरकर जी का कहना था, 'सावरकर सदन में जाने का अभिप्राय सावरकर के यहाँ जाना नहीं होता और बड़गे यह भी नहीं कहता कि उसने वह शस्त्रों की थैली सावरकर सदन में रखी थी। बड़गे का कहना है कि वह थैली दीक्षित जी महाराज के यहाँ रखी गई। फिर नथूराम और आपटे इस भेंट से इनकार करते हैं। इस घटना का कोई संबंध दीखता नहीं है। अभियोग के प्रमाण की दृष्टि से 'बड़गे और थैली', इस काल्पनिक कथा का कुछ भी मूल्य नहीं है।'

बड़गे का आगे का कथन इस प्रकार था, 'आपटे, गोडसे और मैं दीक्षित जी महाराज के घर से बाहर निकले और आँगन में खड़े रहे। दिनांक १५-१-१९४८ को आपटे ने मुझसे कहा कि मैं उनके साथ दिल्ली चलूँ। मैंने कार्य के विषय में पूछा तो आपटे ने कहा कि

सावरकर जी ने निश्चय किया है कि गांधी, नेहरू और सोहरावर्दी को समाप्त किया जाए और वह कार्य उन्होंने हमारे अर्थात् गोडसे एवं आपटे के ऊपर छोड़ा है।'

इसके उत्तर में सावरकर जी ने कहा, 'बड़गे ने यह नहीं कहा कि आपटे अथवा नथूराम को ऐसा कहते हुए मैंने सुना। उसका कथन सुनी-सुनाई बात पर है। मान लीजिए कि यदि आपटे ने बड़गे को ऐसा कहा भी हो तो उसने सच ही कहा है, इसका क्या प्रमाण है? आपटे और गोडसे इस घटना को भी स्वीकार नहीं करते। पुलिस के दबाव में आकर बड़गे संभवत: इस प्रकार की साक्षी दे रहा होगा। इस घटना की कहीं से भी संपुष्टि नहीं होती।'

'यशस्वी होकर आइये'

इसके बाद के एक प्रसंग का उल्लेख करते हुए बड़गे ने कहा, ''गोडसे, आपटे और मैं तथा शंकर किस्तैया एक दिन टैक्सी में घूम रहे थे कि नथूराम ने कहा, 'हमें सावरकरजी के अंतिम दर्शन कर लेने चाहिएं।' उसके कहने पर हम सावरकर सदन गए। शंकर को आँगन में बाहर ठहरने के लिए कहा गया। हम तीनों सावरकर सदन में गए। आपटे ने मुझसे निचली मंजिल पर ही ठहरने के लिए कहा। गोडसे और आपटे ऊपर गए। पाँच-दस मिनट में ही वे पुन: नीचे आ गए। उनके पीछे तुरन्त ही तात्याराव (सावरकर) आए। वह बोले, 'यशस्वी होकर आइए।' यह शब्द उन्होंने आपटे और गोडसे के लिए कहे थे। इसके बाद हम बाहर आ गए। बाहर आकर हम चारों टैक्सी में बैठे और रुइया कॉलेज की ओर निकले। टैक्सी में आपटे ने मुझसे कहा, 'तात्याराव का कहना है कि गांधी जी की आयु पूरी हो चुकी है, अपना काम पूर्ण रूप से सफल होगा इसमें सन्देह नहीं। इसके बाद हम अफजुलपुरकर के घर की ओर चले गए।'' यह घटना दिनांक १७-१-१९४८ की है।

सावरकर जी ने इस प्रसंग को अस्वीकार करते हुए कहा, 'आपटे और गोडसे मुझसे नहीं मिले थे। 'यशस्वी होकर आइए,' ऐसा मैंने किसी से नहीं कहा। गांधी जी की आयु पूरी हो चुकी है, इस प्रकार की भविष्यवाणी भी मैंने नहीं की। बड़गे के कथनानुसार आपटे, गोडसे और बड़गे मेरे पास मिलने के लिए आए थे, यदि इसे मान भी लिया जाए तो भी वह आगे यह कहता है कि गोडसे और आपटे मुझसे मिलने ऊपर आए थे। वे मुझसे मिलने आए थे या घर में किसी अन्य से मिलने के लिए आए थे, यह समझना उसके लिए सम्भव नहीं है। यदि यह भी मान लिया जाए कि वे लोग मेरे पास आए थे तो भी हमने परस्पर क्या वार्त्तालाप किया यह तो वह जान नहीं सकता। अत: उन लोगों ने मुझसे षड्यन्त्र के विषय में बात की थी, ऐसा बड़गे के वक्तव्य के आधार पर यह मान लेना न्यायोचित नहीं होगा। उस दिन आपटे और गोडसे बहुत स्थानों पर गए और अनेक लोगों से बोले, हैदराबाद राज्य का स्वतंत्रता आन्दोलन तथा 'हिन्दूराष्ट्र' के प्रकाशन के सम्बन्ध में उन्होंने बहुत लोगों से वार्त्तालाप किया तथा पैसा एकत्रित किया, ऐसा अभियोजकों का कथन है, किन्तु मेरे साथ वे केवल षड्यन्त्र के विषय में ही बोले, ऐसा आरोप लगाना क्या न्यायोचित होगा? यदि बड़गे का यह कथन मान लिया जाए कि मैंने उन्हें 'यशस्वी होकर आइए' ऐसा कहा भी, तो यह कथन किसी अन्य कार्य के लिए क्यों नहीं हो सकता? गांधी जी की आयु

पूरी हो चुकी है, मेरा यह कथन बड़गे ने स्वयं सुना, ऐसा वह नहीं कहता। उसका कहना है कि यह उसको आपटे ने कहा है, अतः उसके लिए मैं किस प्रकार उत्तरदायी हो सकता हूँ? विशेषकर जब आपटे और गोडसे इस घटना को भी अस्वीकार करते हैं।

टैक्सी ड्राइवर की साक्षी

बम्बई के एक टैक्सी ड्राइवर का नाम ऐतप्पा कोटियन था, जिसकी टैक्सी एक दिन सावरकर सदन के आसपास चक्कर काटती रही। बड़गे, शंकर किस्तैया, नथूराम और आपटे उसमें बैठकर सावरकर सदन गए थे, ऐसा अभियोजकों का आरोप था। साक्षी के कथनानुसार उसकी गाड़ी शिवाजी उद्यान के एक ओर खड़ी की गई, चारों सवारियाँ नीचे उतर गईं, वे लोग कोने के दाईं ओर को मुड़ कर दूसरे घर तक गए, इतना ही उस ड्राइवर ऐतप्पा को दिखाई दिया था।

उसकी साक्षी से यह किंचित् भी आभास नहीं मिलता कि जिस घर में उसकी टैक्सी की सवारियाँ गई हैं, उस घर का नाम सावरकर सदन था और साक्षी को उसका ठिकाना ज्ञात है, वे लोग उतर कर कहाँ गए इसका उसको तनिक भी ज्ञान नहीं। वह ऐसा भी नहीं कहता कि वे लोग उतरकर उस दूसरे घर में गए थे। उसका कहना है कि वे लोग पाँच मिनट में ही वापिस आ गए थे। किन्तु बड़गे की साक्षी के आधार पर टैक्सी से घर तक जाने के पाँच मिनट और फिर घर के भीतर ऊपर की मंजिल में जाने-जाने में पाँच-दस मिनट तथा पाँच मिनट पुनः टैक्सी पर पहुँचने में, इस प्रकार बीस-पच्चीस मिनट का समय लगता है। दोनों साक्षियों के कथन में इस प्रकार की विसंगतियों का ध्यान सावरकर जी ने न्यायालय को दिलाया। आपटे और गोडसे ने पहले ही इस प्रसंग को, बड़गे की कल्पना कहा था। न्यायमूर्ति के पूछने पर शंकर किस्तैया ने कहा था कि शिवाजी उद्यान तक वह उन लोगों के साथ टैक्सी में गया था, किन्तु आपटे, बड़गे और नथूराम टैक्सी से उतरकर कहीं गए थे, वह स्वयं टैक्सी में ही बैठा रहा। सावरकर तथा सावरकर सदन का तो उसने नाम तक नहीं सुना था। वस्तुस्थिति से इसकी भी विसंगति की ओर सावरकर जी ने ध्यान आकर्षित किया।

सावरकर जी द्वारा गांधी जी की आयु के विषय में की गई भविष्यवाणी की शंकर किस्तैया के निवेदन में पुष्टि होनी चाहिए थी, क्योंकि बड़गे के कथनानुसार आपटे ने उसको यह बात टैक्सी में बैठने के बाद बताई थी। न्यायमूर्ति के पूछने पर शंकर किस्तैया ने कहा, 'मैं ड्राइवर के पास बैठा था। शेष तीनों पिछली सीट पर बैठे थे। वे मराठी और अंग्रेजी, दोनों भाषाओं में बोलते थे। मुझे न तो उनका बोलना स्पष्ट सुनाई देता था और न ही मेरी समझ में आता था।'

बड़गे के कथन की दोनों साक्षियों में से किसी एक ने भी पुष्टि नहीं की। सावरकरजी ने न्यायमूर्ति के ध्यान में यह बात दिलाई और कहा कि उसकी बात को सीधे ही काटा जा सकता है।

मैं सावरकर जी की आज्ञा से षड्यन्त्र में गया : बड़गे

मैं सावरकर जी का एकनिष्ठ अनुचर था, अतः सावरकर जी के विषय में कहा गया

मेरा कथन प्रामाणिक होना चाहिए, इस बात को सिद्ध करने के लिए बड़गे ने एक अन्य विचित्र बयान दिया। बड़गे स्वयं इस षड्यन्त्र में क्यों सम्मिलित हुआ, इसके विषय में बताते हुए उसने कहा कि गोडसे और आपटे ने अनेक बार उसकी आर्थिक सहायता की थी। उनका आभारी होने के कारण वह सदैव ही उनके कथनानुसार कार्य करता था। अतः नथूराम और आपटे के कहने पर ही वह गांधी जी तथा अन्यों को मारने के लिए उनके साथ दिल्ली गया था। इस पर भी इस काम को करने की सावरकर जी की आज्ञा थी, इस प्रकार आपटे ने उसको समझाया था, इसलिए उनकी अर्थात् सावरकर जी की आज्ञा का पालन करना वह अपना कर्त्तव्य समझ कर उनके साथ गया था।

इस प्रकार इस षड्यन्त्र से सावरकर जी का सम्बन्ध जोड़ने के लिए बड़गे का उपरिलिखित कथन सबसे अधिक हानिकर एवं छद्मपूर्ण था। सावरकर जी की आज्ञा है ऐसा यदि उसको नहीं कहा जाता तो वह इस षड्यंत्र में सम्मिलित नहीं होता। न केवल इतना, नथूराम और आपटे भी इस दुष्कर कार्य को अपने कंधे पर नहीं ले सकते थे। इस प्रकार की भावना बड़गे के इस कथन से परिलक्षित होती है।

यह प्रमाण भी सुनी-सुनाई बातों पर आधारित होने के कारण उसका उत्तर देने के लिए सावरकर जी की कोई विशेष श्रम करने की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई। बड़गे के इस कथन के लिए किसी प्रकार की स्वतंत्र पुष्टि नहीं थी। सावरकर जी ने कहा, 'बड़गे जैसा साहसी, धैर्यवान, सुपरिचित व्यक्ति मनुष्य के सहज स्वभाव के अनुसार स्वयं मुझसे ही उस आज्ञा के सम्बन्ध में पूछ सकता था। 'यशस्वी होकर आइए' ऐसा मैंने कहा, यह उसने सुना और देखा, ऐसा उसका कथन है। आपटे और गोडसे समीप ही थे। उससे भी अधिक वह अपने को समीप बताता है तो मुझसे स्वयं पूछ सकता था, 'यह आज्ञा आपकी ही की है न?' परन्तु बड़गे ने ऐसा नहीं किया। यदि बड़गे स्वयं को इतना एकनिष्ठ आज्ञाकारी मानता है तो वह २० जनवरी को गांधी जी पर सामने से आघात करना छोड़कर अपने प्राण बचाने के लिए क्यों भाग खड़ा हुआ? मैं समझता हूँ कि यदि बड़गे दिल्ली गया भी होगा तो उसका एकमात्र उद्देश्य यही रहा होगा कि किसी प्रकार निर्वासितों को अपने अवैध अस्त्र बेचकर अधिक धन कमाने की इच्छा से या किसी अन्य उद्देश्य से ही गया होगा।'

बड़गे झूठा है, कपटी है

बड़गे की साक्षी के कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर सावरकर जी ने उसके चरित्र एवं व्यवहार का न्यायालय के सम्मुख प्रत्यक्षीकरण करते हुए कहा कि बड़गे कहता है—'मैं बिना लाइसेंस के बम तथा पिस्तौल आदि बेचता था। मैंने खरात के घर में शस्त्रास्त्र का थैला रखा था, क्योंकि यदि मैं पकड़ा जाऊँ तो शस्त्रास्त्र मेरे पास न मिलें, यह मेरा हेतु था। दिल्ली में ड्राइवर की जानकारी के बिना मैंने दोनों पिस्तौल टैक्सी में रखीं, क्योंकि यदि वे पकड़ी जातीं तो टैक्सी वाला संकट में पड़ जाता और मैं बच जाता। मैं बिना टिकट यात्रा करता था और टिकट-कलेक्टरों को रिश्वत देता था। मैं पैसा चाहता था। मैं चाहता था कि मुझसे पिस्तौल लेकर दीक्षित जी महाराज मुझे न्यूनतम ३५० रुपए दें। इसलिए वह पिस्तौल मुझे

बदले में मिलने पर भी उसे मैंने मोल लिया है, ऐसा मैंने उनसे झूठ ही कहा था।' यह सब बड़गे ने अपनी साक्षी में विभिन्न अवसरों पर कहा था। इससे स्पष्ट है कि बड़गे झूठा एवं कपटी है, और अपने प्राण बचाने के लिए दूसरे के प्राण विपदा में डाल सकता है।

ट्रंक-कॉल : दिल्ली से

दिनांक १९-१-१९४८ की प्रातः ९.२० पर दिल्ली के टेलीफोन नं. ८०२४ से बम्बई के टेलिफोन नं. ६०२१० पर एक ट्रंक कॉल बुक कराई गई। दिल्ली का नम्बर हिन्दू महासभा भवन का है और बम्बई का सावरकर सदन का। अभियोजकों की ओर से यह आरोप लगाया गया था। उनका कथन था कि ट्रंक कॉल वैयक्तिक था, ऐसा उनके कागज-पत्रों से विदित होता था। नथूराम, आपटे, करकरे, मदनलाल, बड़गे और शंकर, ये लोग दिल्ली में थे और हिन्दू महासभा भवन में ठहरे थे, यह अभियोजक पहले ही कह चुके थे। अभियोजकों का कथन था कि वह ट्रंक कॉल कासार या दामले के नाम से था। कासार सावरकर जी के अंगरक्षक का नाम था और दामले उनके कार्यवाह का। आपटे और नथूराम उन दोनों से परिचित थे। इसलिए उन्होंने ही वह कॉल बुक कराई होगी और वह सावरकर जी के लिए ही होगी, ऐसा तर्क अभियोजक प्रस्तुत करते थे।

टेलीफोन सावरकर सदन में निचली मंजिल पर था। निचली मंजिल पर हिन्दू संघटन का कार्यालय था और उस कार्यालय में अनेकानेक कार्यकर्ता आते-जाते रहते थे, यह भी न्यायालय को ज्ञात है।

वह ट्रंक-कॉल अनुत्तरित हुआ था। उसमें कोई बातचीत नहीं हुई थी, क्योंकि बम्बई कार्यालय से यह कहा गया कि अपेक्षित व्यक्ति उपस्थित नहीं है। दिल्ली की ओर से कॉल को केंसिल करा दिया गया था और उसको रजिस्टर में 'निरस्त' अंकित कर दिया गया था।

प्रतिप्रश्नों के अवसर पर एडवोकेट भोपटकर जी ने इस कथन की धज्जियाँ उड़ा दीं और सावरकर जी ने अपने कथन का युक्तियुक्त स्पष्टीकरण किया। वह दूरध्वनि कासार और दामले के लिए नहीं था। वह वकीलों ने उस साक्षी से ही कहलवा दिया था। चिट्ठी पर एक नाम था 'कसैया' और दूसरा था 'दलाल'। आगे चलकर दलाल काटकर डी मैलो लिखा गया था। यह दोनों नाम कासार और दामले से सादृश्य रखते हुए भी दूसरी ओर इस नाम के व्यक्ति न मिलने पर किसी भी प्रकार का निष्कर्ष इस कथन से निकाल लेना न्याय के विरुद्ध हो जाता था।

उस ट्रंक कॉल का भुगतान दो रुपया बारह आना १९-५-१९४८ को दिया गया था। हिन्दू महासभा के कार्य के लिए एक कार्यालय से दूसरे कार्यालय को कॉल बुक कराई गई होगी, ऐसा स्पष्टीकरण युक्तियुक्त था। दिल्ली से किसने कॉल बुक कराई इसका कोई लेखा-जोखा और प्रमाण प्राप्य नहीं था। यह इस प्रमाण की अप्रामाणिकता है।

जो दूरध्वनि जन्म से पूर्व ही मर चुकी थी उसके विषय में क्या पूछना, जो जन्मा ही नहीं अथवा जो हुआ ही नहीं, उसकी क्या वार्त्ता करना। इस रीति से सावरकर जी ने अपने वक्तव्य में इसका उल्लेख किया था।

विधायक अंग

अपने विरोध में प्रस्तुत साक्षियों एवं प्रमाणों का सटीक सप्रमाण उत्तर देने के उपरान्त सावरकर जी ने अपने निवेदन में रचनात्मक उत्तर प्रस्तुत किया और उन्होंने यह कहा कि, अभियोजक, जो कुछ भी प्रमाणित करना चाहते थे, उसे प्रमाणित करने में नितान्त असफल रहे। रचनात्मक प्रमाणों के लिए उन्होंने समय-समय पर प्रकाशित किए गए अपने बयानों को प्रस्तुत किया। उनमें एक बयान दिनांक ६-११-१९४० को प्रकाशित किया गया था। जिसमें नेहरू को सजा होते ही उनके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हुए नेहरू की देशभक्ति की प्रशंसा की गई थी। अगस्त, १९४२ में जब कांग्रेसी नेताओं को बिना किसी प्रकार के आरोप एवं प्रमाण के जेलों में ठूँसा गया था, उस समय सावरकर जी ने जो बयान प्रकाशित किया था वह उन्होंने प्रस्तुत किया। गांधी जी के अनशन की समाप्ति के लिए उन्होंने दिनांक २२-२-१९४३ को एक बयान प्रकाशित किया था, वह भी प्रस्तुत किया गया। कस्तूरबा के देहान्त पर दिनांक २३-२-४४ को गांधी को भेजे गए संवेदनात्मक-पत्र की प्रतिलिपि, गांधीजी की जेल से मुक्ति के बाद दिनांक ७-५-१९४४ को प्रकाशित किया गया बयान आदि ये सब बयान उसमें समाविष्ट थे।

सावरकर जी के ऊपर टेढ़ी दृष्टि क्यों?

सावरकर जी की काव्य-रचना आज आकाशवाणी पर अनेक बार सुनाई जाती है। १९६६ में सावरकर जी की मृत्यु के उपरान्त उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए कई उच्च पदासीन व्यक्तियों ने उनकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। मैंने कहीं पढ़ा है अथवा सुना है कि तत्कालीन मुख्य- मंत्री माननीय श्री बालासाहेब देसाई ने कहा है कि सावरकर जी जैसा ज्वलन्त देशभक्त आज तक संसार में कोई हुआ ही नहीं। आकाशवाणी पर भी सावरकरजी की जीवनी सुनाई गई और उनका यशोगान किया गया।

कश्मीर पर आक्रमण करने के लिए पाकिस्तान ने १९६५ में संग्राम छेड़ा था। उसके प्रत्युत्तर में हमारी भारतीय सेना ने पाकिस्तानी घुसपैठियों को भारत की सीमा से खदेड़ते हुए लाहौर तक मार भगाया था। इस स्वाभिमानयुक्त कार्य से वीर सावरकर जी आनन्दित होंगे, इस धारणा के वशीभूत होकर शासन की ओर से उनको शीघ्र युद्धवार्त्ता सुनाने का प्रबन्ध किया गया था, यह भी हमने पढ़ा अथवा सुना था। केन्द्रीय गृहमंत्री श्री गुलजारीलाल नन्दा ने सावरकर जी को मानधन देने का प्रस्ताव किया था और प्रादेशिक शासन ने भी उनको अन्तिम दिनों में वृद्धावस्था का सम्मान वेतन देने का कुछ निश्चय किया था। इस प्रकार का समाचार भी सुनने में आया था। सावरकर जी को अमुक मान नहीं दिया गया, अथवा उनको अमुक उपाधि से विभूषित नहीं किया गया, इस प्रकार के विचार कभी-कभी अपने मन में आते हैं, परन्तु उन्हें कुछ न कुछ दिया गया था, इससे ऐसा निष्कर्ष अवश्य निकाला जा सकता है कि सावरकर जी के प्रति शासन की दृष्टि सुधरने लगी थी, द्वेष भावना कम होने लगी थी, शासन की दृष्टि आदर्शवादी राजनीति से व्यावहारिक राजनीति की ओर मुड़ रही थी। पुराने रोग में सहसा सुधार नहीं होता। अत: जितना भी

सुधार हो रहा हो उसका यथावत् मूल्यांकन होना चाहिए। हम कहाँ थे और कहाँ तक पहुँचे हैं, यह देखने पर पुराना रोग तथा उससे होने वाली निवृत्ति ध्यान में आएगी। उसी प्रकार सावरकर जी पर कठोर दृष्टि क्यों थी, यह भी समझ में आयेगा।

उच्चशिक्षा के लिए इंग्लैंड जाने से पूर्व ही सावरकर जी ने देशमुक्ति के लिए प्रयत्न आरंभ किया था। स्वतंत्रता का स्तोत्र, चाफेकर बन्धु का पवाडा आदि काव्य से और मित्र मेला या अभिनव भारत इन संस्थाओं की स्थापना से और विदेशी कपड़ों के अग्निकाण्ड से उनकी स्वयंभू स्वतंत्र प्रेरणा स्पष्ट हो चुकी थी। राष्ट्र स्वतंत्रता के ध्येय के लिए यथासंभव सभी साधनों का अपनाना केवल समर्थनीय ही नहीं, आवश्यक भी होता है, यह उनका विश्वास था। उस विश्वास के अनुसार उनका व्यवहार भी समय पर रक्तलिप्त हो जाना स्वाभाविक है।

लंदन में इंडिया हाउस में जो युवक एकत्रित हो जाते थे उनको राष्ट्रप्रेम की दीक्षा दी जाती थी। पंडित श्याम जी कृष्ण वर्मा, लाला हरदयाल आदि का पथ-प्रदर्शन उन्हें प्राप्त होता रहता था। स्वयंप्रज्ञ सावरकर जी ने उस समय भारतभवन को सर्वाधिक प्रभावित किया था।

गांधी जी और सावरकरजी की प्रथम भेंट इंग्लैंड में ही हुई थी। राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में परस्पर मतभिन्नता एवं विचारभिन्नता उस समय से ही चली आ रही थी।

गांधी जी के चरित्र को हमने बिना किसी पूर्वाग्रह के शुद्ध मन से देखा और परखा तो भी गांधी जी जिन सिद्धान्तों के लिए प्रसिद्ध थे, क्या उनका व्यवहार उन सिद्धान्तों के अनुरूप था? ऐसा प्रश्न समुपस्थित होता है। मन में ऐसी शंका होती है कि उन्होंने जीवन का प्रमुख मार्गदर्शक सिद्धान्त अहिंसा को माना था, या स्वतंत्रता को माना था, या राजनिष्ठा को माना था।

गांधी जी को सावरकर गुट का हिंसा का मार्ग अच्छा नहीं लगता था। 'मारो काटो का पंथ' नामक पुस्तिका में उन्होंने क्रांतिमार्ग एवं क्रांतिकारियों की निन्दा की थी। इसका उल्लेख श्री शि. ल. करंदीकर ने अपनी पुस्तक सावरकर जी की जीवनी के पृष्ठ १५५ पर किया है। क्रांतिकारियों के झुण्डे की ओर खिंचते चले जाने वाले युवकों को वे ऐसा करने से रोकना चाहते थे। श्री इंदुलाल याज्ञिक ने लाला हरदयाल की जीवनी लिखी है। दिनांक ३-१२-१९०६ को गांधी ने जो पत्र डॉ० पी. जे. मेहता को लिखा है उसका उसमें उल्लेख है। उस पत्र में गांधी जी लिखते हैं—'श्याम जी का मार्ग सत्य से दूर है। उनकी कार्य-पद्धति भी धर्मानुकूल नहीं है। वे न तो ईश्वर के अस्तित्व को मानते हैं और न पुनर्जन्म को। भारतभवन के आसपास केवल विषाक्त वायुमण्डल ही बना रहता है। आप श्यामजी की सीख का अनुकरण करते हैं, ऐसा मैं समझता हूँ। मेरी उनसे बातचीत हुई है। उसके परिणामस्वरूप मुझे उस मार्ग से भय उत्पन्न हुआ है और घृणा हुई है।'

वास्तव में हिंसा करना क्रांतिकारियों का ध्येय न कभी था और न हुआ है। लोगों को केवल मारना, यह भी उनका उद्देश्य नहीं होता। इस बात को गांधी जी ने कभी गम्भीरता से सोचा ही नहीं। सरदार भगतसिंह ने लोकसभा भवन में जो पत्रक फेंका था उसमें

क्रांतिकारियों के जीवन- दर्शन का सम्यक् दिग्दर्शन कराया गया था। उस पत्रक में कहा गया था—

'हम मनुष्य के जीवन को बहुत पवित्र मानते हैं। हम ऐसे उज्ज्वल भविष्य पर विश्वास करते हैं जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण शान्ति का और स्वातन्त्र्य का अवसर सुलभ होगा। हमको अनिवार्गरूप से जब मानवी-रक्त प्रवाहित करना पड़ता है तब हमें दु:ख भी बहुत होता है, परन्तु कांति के माध्यम से सभी को समान स्वतंत्रता प्रदान करना और मनुष्य द्वारा मनुष्य के ही किए जाने वाले शोषण को समाप्त करना ही हमारा उद्देश्य है। ऐसा क्रांति में कुछ न कुछ रक्तपात होना अनिवार्य है।' क्रांति के प्रारम्भ से ही क्रांतिकारियों का यही दृष्टिकोण रहा है। यदि सहज ही स्वतंत्रता प्राप्त हो जाती तो शस्त्र-प्रयोग द्वारा अपने शीश हथेली पर रखकर प्राणों की आहुति देने का दुष्कर कार्य वे कभी न करते।

अहिंसा के सिद्धान्त का सहारा लेने के कारण गांधी जी को क्रांतिकारियों का मार्ग अनुचित प्रतीत हुआ, यदि इस बात को मान लिया जाए तो फिर जो कोई भी शस्त्र प्रयोग करने वाले होंगे, उन सभी का मार्ग उनको अनुचित ही प्रतीत होना चाहिए। परन्तु ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा किया जाने वाला हिंसा का मार्ग उन्हें अनुचित एवं अधर्म्य प्रतीत नहीं हुआ, इसका उल्लेख उन्हीं के चरित्र में मिलता है। अंग्रेजों ने झुलुओं के विरोध में युद्ध प्रारम्भ किया था। उसके सम्बन्ध में गांधी जी लिखते हैं 'झुलू लोगों ने हिन्दुस्तानी लोगों को भी कोई हानि नहीं पहुँचाई थी। उन लोगों पर विद्रोह करने का आरोप भी ठीक नहीं था। उन लोगों की बड़ी क्रूरता से हत्या हो रही थी, परन्तु फिर भी उन लोगों के विरोध में अंग्रेजों ने युद्ध घोषित करके स्वयंसेवकों की माँग की यह सुनते ही मैंने स्वयंसेवक बन कर अंग्रेजों की सेना में भरती हो लड़ाई में यत्किंचित् भाग लेने का निश्चय किया। क्योंकि मैं अंग्रेजी साम्राज्य को विश्व पर उपकार करने वाला साम्राज्य समझता था। उस साम्राज्य का विनाश न हो, यह मेरी हार्दिक इच्छा थी।'

गांधी जी जो अहिंसा के पुजारी बनते थे उन्हें ऐसे अवसर पर कहना चाहिए था, 'ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा झुलू समुदाय पर किए जाने वाले अत्याचार निन्दनीय हैं, क्योंकि वह हिंसक अत्याचार हैं,इसलिए अधर्म्य हैं। संसार पर उपकार के नाम पर की गई अहिंसा वन्दनीय और क्रूरता करने के नाम से की गई अहिंसा निन्दनीय है, अहिंसा की ऐसी द्विविध व्याख्या नहीं हो सकती। कोई भी भारतीय अंग्रेजों के इस हिंसक युद्ध के लिए कोई सहायता न करे।' गांधी जी इन सिद्धान्तों के प्रति सदा निष्ठावान थे, ऐसा हम तभी कह सकते हैं, यदि उन्होंने इस प्रकार के विचार व्यक्त किए होते।

भारत में आकर गांधी जी ने 'अप्रत्यक्ष प्रतिकार' (सत्याग्रह) पद्धति अपनाई थी। केवल वह उपाय पर्याप्त नहीं होगा, ऐसा सावरकर जी का विचार था। इस विषय पर उनकी 'काल' नाम दैनिक के लिए लिखी हुई एक वार्त्ता हमें देखने के लिए मिली। उन्होंने उस वार्त्ता में दक्षिण फ्रांस के बागवानों, वहाँ के शासकों के साथ हुए कलह और उसके विरोध के लिए अपनाए गए उपायों के विषय में संकेत किया है। इस सम्बन्ध में दिनांक १९-७-१९०७ को सावरकर जी द्वारा लिखे गए पत्र का सारांश इस प्रकार है—'दक्षिण

फ्रांस में संघटित रूप से अप्रत्यक्ष क्रांति का मार्ग अपनाया गया था। शासन की सेवा न करना, शासन के अधिकार क्षेत्र में स्थित पाठशालाओं, न्यायालयों आदि का बहिष्कार करना, शासन के बैंक में धन जमा न करना, शासन को ऋण न देना, लगान न देना आदि प्रकार से वे विरोध व्यक्त कर रहे थे। राज्यद्रोह के अभियोग के बिना ही हाथ में शस्त्र धारण न करते हुए, और रक्त की एक भी बूँद न गिराते हुए अप्रत्यक्ष प्रतिरोध या सत्याग्रह से राज्यक्रांति इस प्रकार की एक नई पद्धति का प्रारम्भ होने लगा। किन्तु ज्यों ही यह आन्दोलन अपनी सफलता की चरम सीमा पर पहुँचा त्यों ही शासकों ने सेना और शस्त्र के बल से उसको विफल करने का विचार कर लिया। उस समय आन्दोलनकारियों ने भी अप्रत्यक्ष प्रतिरोध का विचार छोड़ शस्त्र हाथ में लिए। इससे यह सिद्ध होता है कि अप्रत्यक्ष प्रतिरोध की सफलता के लिए भी शस्त्रों को दृष्टि में रखना आवश्यक होता है।'

'अप्रत्यक्ष प्रतिरोध के इस सिद्धान्त में हम दो बातें मान लेते हैं। एक यह कि प्रत्येक व्यक्ति उदात्त होगा और वह पूर्णरूप से सहयोग देगा। सभी लोग शासकीय सेवा का त्याग करेंगे, यह मान लेने पर यह बात हम भूल जाते हैं कि भूखे व्यक्तियों में, इच्छा होते हुए भी, इतनी उच्च त्यागवृत्ति नहीं पनपती। दूसरी बात यह कि विरोधी पक्ष बहुत ही प्रबल है, नियम एवं निबन्धों को वह भंग नहीं करेगा, डंडे का प्रयोग वह नहीं करेगा, गला घोंटने वाला नियम वह लागू नहीं करेगा, ऐसा हम मान लेते हैं। जो शासन लोकमत के विरुद्ध जाने की चिन्ता नहीं करता है वह समय पर नया नियम बनाकर और पुराने नियमों को लागू करने के लिए बल से दबा देने की सीमा तक क्रूर भी होता है, यह हमें ध्यान में रखना चाहिए।'

'विश्वामित्र ने वशिष्ठ से कामधेनु की माँग की थी। वशिष्ठ के इंकार करने पर विश्वामित्र ने तुरन्त निश्चय किया कि वह उसे बलपूर्वक ले जाएंगे। यदि विश्वामित्र से कहा जाए कि वे उदात्त हैं, तो वह कदाचित् सुनने के लिए राजी हो जाएं, इस भावना से वरिष्ठ ने उनसे कहने का निश्चय किया और यह दिखाने का यत्न किया कि कम से कम उनके गाय ले जाने के दुष्प्रयत्न का हम प्रतिरोध नहीं करते, इससे कदाचित् उनमें बुद्धि का विकास हो जाए और वह गाय न ले जाना स्वीकार कर लें। किन्तु विश्वामित्र में तो वह उदात्तता थी नहीं। कामधेनु के रक्षार्थ शस्त्रधारियों का वशिष्ठ ने आह्वान किया तो उन्होंने विश्वामित्र के सैनिकों को पराभूत कर कामधेनु का अपहरण होने से बचाया। ऐसी पुराणों में कथा आती है।'

स्वराज्य प्राप्ति के इतिहास पर यदि हम दृष्टिपात करें तो उसमें भी इस प्रकार का विचार प्रतिफलित होता प्रतीत होता है। असहयोग आन्दोलन को दबाने के लिए अंग्रेजों ने बल प्रयोग किया। भारतीयों का गला घोटने के लिए भाँति-भाँति के नियम बनाए गए। रौलट-ऐक्ट के विरुद्ध स्वर उठाने का लोगों को साहस ही न हो, इसके लिए जलियाँवाला बाग का हत्याकाण्ड किया गया। १९४२ के आन्दोलन में आन्दोलनकारियों ने अहिंसा का परित्याग कर दिया।

सावरकरजी ने इस सन्देश का कि—'सेना में जाकर शस्त्र-विद्या प्राप्त करो,' नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने २४-६-१९४४ को एक व्याख्यान द्वारा इस संदेश का सम्मान किया। सेना में भरती हुए भारतीयों का उपयोग कर नेताजी ने अंग्रेजों की सेना के छक्के छुड़ाए थे। युद्ध में अंग्रेजों की विजय होने पर भी उन्हें यह भली-भाँति आभास हो गया था कि अब वे अधिक काल तक भारत पर एक-छत्र राज्य नहीं कर पाएंगे। इंडियन फ्रीडम ऐक्ट प्रसारित करते समय इंग्लैंड के तत्कालीन प्रधानमंत्री एटली ने भूतपूर्व प्रधानमंत्री चर्चिल से कहा था। (१) भारतीय सेना की अब अंग्रेजों के प्रति निष्ठा समाप्त हो गई है, (२) हिन्दुस्थान को अपनी मुट्ठी में रखने के लिए अंग्रेजों की बहुत बड़ी सेना को भारत में रखना ब्रिटेन के सामर्थ से बाहर है। इसलिए ब्रिटेन सत्ता का हस्तान्तरण कर रहा है।

Britain is transfering power due to the fact that (1) the Indian Mercinary Army is no longer loyal to Britain and (2) Britain cannot afford to have a large British Army to hold down India.

उपरिलिखित अनुभव एटली को अभी-अभी हुआ था। १९४६ के प्रारम्भ से ब्रिटिश अधिकारीगण एवं भारतीय सैनिकों के मध्य मन-मुटाव का वातावरण एक विशिष्ट रूप धारण करता जा रहा था। करांची, लाहौर, बम्बई और दिल्ली के वायुसैनिकों ने हड़ताल करके एक ऐसा कार्य किया था जो कि सेना के इतिहास में अभूतपूर्व घटना थी। इस प्रकार की अपेक्षा सैनिकों से कभी नहीं की जा सकती थी। १९ और २१ फरवरी, १९४६ को नौसैनिकों ने आन्दोलन किया। दोनों ओर से मुक्तरूप से गोलियों की वर्षा हुई थी। अंग्रेज सत्ताधारियों को स्पष्ट अनुभव हो रहा था कि सेना अब उनके अधिकार में अधिक समय तक रहने वाली नहीं है। शस्त्रबल स्वराज्य के आन्दोलन की सहायता करता है, यही इतिहास का नूतन उदाहरण है। अतः सेना स्वतंत्रता-संग्राम में सहायता कर सकती है।

१९२० में लोकमान्य तिलक के देहान्त के उपरान्त भारतीय राजनीति का नेतृत्व गांधी के हाथ में आ गया था। सावरकर जी उस समय बन्दीगृह में आजीवन कारावास भुगत रहे थे। कारागार से मुक्त होने पर भी १९२४ से उन्हें रत्नागिरी में इस बन्धन वचन पर रखा गया था कि वे वहाँ से बाहर नहीं जा सकते। यद्यपि वे कारागृह में नहीं थे, किन्तु किसी भी प्रकार की राजनीति में भाग लेने का उन पर प्रतिबन्ध था। न वे किसी प्रकार का भाषण दे सकते थे और न ही कोई लेख प्रकाशित कर सकते थे। फिर भी गुप्त रूप से कभी-कभी वे राजनीति के विषय पर अपने विचार व्यक्त करते रहते थे।

सावरकर जी चाहते थे कि गांधी सशस्त्र क्रांतिकारियों को भले ही प्रोत्साहित अथवा पुरस्कृत न करें, किन्तु कम से कम उनसे घृणा तो न करें। वे युवकों में जागृत चेतना को कुचलें नहीं, उनको अपमानित न करें। सावरकर जी का मत था कि जो समाज शस्त्र-हीन हो चुका है उसे अहिंसा की घूँट पिलाकर पूरे देश का ही विनाश किया जा रहा है। सावरकर जी बड़ी प्रखरता से क्रांतिकारियों की देशभक्ति की प्रशंसा एवं गांधी जी के अहिंसावाद की आलोचना किया करते थे। गांधी जी के वक्तव्यों में व्यक्त परस्पर विरोधी विचारों की वे खुलकर आलोचना करते थे। गांधी जी अपने लोगों से कहा करते थे कि जो सच्चा

सत्याग्रही है वह कभी मन में इस प्रकार का विचार उत्पन्न नहीं होने दे सकता कि वह शस्त्र का स्पर्श भी कभी कर सकता है। यहाँ तक कि हाथ में लाठी धारण करना भी सत्याग्रही के लिए निषिद्ध है। प्रथम विश्वयुद्ध में बिना प्रतिफल की अपेक्षा रखे अंग्रेजों की सहायता करने के लिए सेना में भरती होने का विचार गांधी जी ने दिया था। इस विषय में उनका कहना था कि ऐसा उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य के प्रेम के कारण किया था। गांधी जी के इन कार्यों का सावरकर जी अपने लोगों को आभास देते रहते थे। अंग्रेज लोग किंचित भी सज्जन नहीं और न ही उनका इस देश पर राज्य करना किसी न्यायाधिकरण द्वारा प्रदत्त आज्ञा के अधीन है और न ही उनको यहाँ से भगाना अन्याययुक्त है। इसके लिए अपनाए गए किसी मार्ग को पापमय नहीं माना जाना चाहिए। इस प्रकार का प्रतिपादन सावरकर जी करते रहते थे। गांधी जी के प्रेममूलक प्रचार से वे बहुत दु:खी होते थे। एक स्थान पर उन्होंने लिखा था—'इस किंकर्त्तव्य विमूढ़ता ने राष्ट्र का कितना अहित किया है और राष्ट्र को कितना अपमानित किया तथा उसे किस प्रकार अकर्मण्य बनाकर रख दिया है, जब इसका विचार मन में आता है तो मन क्रोध एवं घृणा से भर जाता है।' यह उन्होंने दिनांक ११-८-१९२७ को लिखा था।

क्रांतिकारियों का किसी प्रकार भी उल्लेख न करना अथवा उनके कार्य की निन्दा करते हुए अपमानपूर्ण लेख लिखना सावरकर जी को सह्य नहीं था। एक बार गांधी जी ने अपने 'यंग इंडिया' में क्रान्तिकारी गोपानाथ साहा का उल्लेख कर उनका अपमान करते हुए 'अपराधी' तक लिख डाला था। गांधी जी ने लिखा था 'उनके उद्देश्य की प्रशंसा करना भी पाप है।' क्योंकि क्रांतिकारी हिंसक प्रवृत्ति के होते हैं। सारे देश में गांधी जी के इस विचार की बहुत आलोचना हुई थी। जब क्रांतिकारी यतीन्द्रनाथ का देहान्त हुआ तो उनके विषय में बोलते अथवा लिखते हुए गांधी ने उनके सम्मान में 'हुतात्मा' शब्द का प्रयोग नहीं किया था। केवल इतना कहकर गांधी ने अपनी झेंप मिटानी चाही थी कि 'वे अपराधी नहीं थे।' किन्तु अपने पत्र में यतीन्द्रनाथ के बलिदान की गाथा प्रकाशित करने को उन्होंने टाल दिया था।

मेरठ षड्यंत्र के क्रांतिकारियों के बचाव के लिए देश भर में न्याय-सहायता-निधि स्थापित की गई थी, किन्तु गांधी जी ने उसके लिए किंचित् भी सहायता नहीं दी थी। सहायता न करने मात्र से ही गांधी जी को सन्तोष नहीं हुआ, अपितु अपने विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने यह भी कहने की धृष्टता की थी कि इस प्रकार की सहायता-निधि एकत्रित करना अनुपयुक्त है।

ऐसा प्रतीत होता है कि गांधी जी को यह अनुभव होने लगा था कि उनके इन दुष्कत्यों से उनकी कुख्याति फैल रही थी। उससे बचने के लिए उन्होंने एक चाल चली। वह यह कि वे कारागार में क्रांतिकारियों से मिलने के लिए गए। वहाँ जब उनसे आड़े हाथों यह पूछा गया कि आपने उस निधि का विरोध क्यों किया तो गांधी जी ने अपना अंचल बचाने के लिए उत्तर दिया, 'इसलिए कि कोई अच्छा बड़ा अधिवक्ता बिना पारिश्रमिक के पैरवी के लिए आगे आ सके।'

क्रांतिवीर यतीन्द्रनाथ का उल्लेख न करके और मेरठ अभियोग निधि के विषय में गांधी जी के संदिग्ध उत्तरों की आलोचना करते हुए १६-११-१९२९ को सावरकर जी ने लिखा—'हुतात्मा यतीन्द्रनाथ सशस्त्र क्रांतिकारी था। आग से खेलने वाले भगतसिंह, दत्त, साहा, यतीन्द्र आदि क्रांतिवीरों का सम्पूर्ण देश ने हुतात्मा, देशभक्त, देशवीर कहकर सम्मान किया तो इससे मेरे अर्थशून्य, ढलाऊ अहिंसा के सिद्धान्त पर से देशवासियों का विश्वास हटने लगा और उस अनुपात में यद्यपि मेरा व्यक्तिगत नहीं, क्योंकि व्यक्तिगत प्रश्न पृथक् है, तो भी लोगों की दृष्टि में प्रभाव कम होता है, इसलिए मैं यतीन्द्रनाथ को हुतात्मा नहीं कहता, ऐसा यदि गांधी जी स्पष्ट रूप से कहते तो इससे बहुत कुछ बात स्पष्ट हो जाती। इसी प्रकार मेरठ के लोग भी सशस्त्र क्रांति के आरोप में बन्दी थे। उनके लिए यदि देशवासी निधि स्थापित करते हैं तो इससे उनका सम्मान होता है अन्यथा किसी एक अधिवक्ता के निःशुल्क पैरवी के लिए उद्यत हो जाने पर उसका राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त नहीं हो सकता, इसलिए निधि स्थापित करने से ही उसको राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त हो सकता है, ऐसा विचार कर ही यह कार्य किया गया था। यह सोच समझकर ही मेरठ सहायता-निधि स्थापित की गई थी। परन्तु देश में मेरे होते हुए क्रांतिकारियों की इतनी प्रशंसा हो इससे मुझे चिढ़ होती है। (गांधी जी को इस विषय में बोलते समय कितनी चिढ़ उठती थी, इसका ज्ञान उन अनेक सज्जनों को है जिनका गांधी जी की इस विचारधारा से विरोध था) ऐसे हुतात्माओं की जय-जयकार का अभिप्राय है मेरे सदृश्य अहिंसावादी सिद्धान्त प्रतिवादक का अपमान। ऐसे क्रांतिकारियों के समर्थन के लिए एकत्रित की जाने वाली निधि अहिंसावादियों की राष्ट्रीय निन्दा के समान है, यह मैं भली-भाँति जानता था, इसलिए कोई भी ऐसे क्रांतिकारियों की प्रशंसा करे, यह मुझसे सहा नहीं जाता, इसलिए मैंने मेरठ अभियोग निधि का विरोध किया, ऐसा यदि गांधी जी स्पष्ट रूप से कह डालें तो सच-मुच निमित्त खोजने की आवश्यकता ही न रहे। कम से कम भविष्य में ही वे ऐसे झूठे कारण बनाना छोड़ दें, क्योंकि किसी को भी उन पर विश्वास नहीं हो पाएगा। इससे उनका मत कितना ही विरुद्ध क्यों न हो, किसी को फिर किसी प्रकार का दुःख नहीं होगा।'

हिन्दू मुस्लिम एकता के प्रयोग में भी गांधी जी का अहिंसा तत्त्व कसौटी पर खरा नहीं उतर रहा था। गांधी जी ने अपने यंग इंडिया में इस्लाम को शान्ति का प्रतीक घोषित किया था और उसी लेख में उन्होंने यह भी लिखा था—'इस्लाम का तलवार के साथ अधिक सम्पर्क है, यह सच है, परन्तु यह तो प्रतिकूल परिस्थितियों का परिणाम है।' तलवार को हिंसा का प्रतीक मानकर फिर परिस्थितिवश उसके उपयोग को उपयुक्त सिद्ध करना गांधी जी के सिद्धान्त के विरुद्ध होना चाहिए। यह प्रश्न तो पूर्णतया पृथक् ही है कि इस्लाम में तलवार का उपयोग करना उसकी शान्तिप्रियता की ओर इंगित करता है अथवा आक्रामक नीति की ओर, किन्तु गांधी जी ने तो प्रतिपक्षियों के अन्याय एवं अत्याचार तथा हिंसाचार के प्रतिकार में भी स्वयं हिंसा का मार्ग नहीं अपनाया, इसके विपरीत हिन्दुओं को अहिंसा सिखाने के लिए अपनी सारी शक्ति का अपव्यय किया, ऐसा हमें उनके जीवन की घटनाओं को देखने से प्रतीत होता है।

सावरकर जी गांधी जी के एकपक्षीय प्रयोगों पर सदा शंका एवं सन्देह व्यक्त करते थे। उन्हें उनकी अहिंसा की नीति पर कभी विश्वास नहीं जमा। उन्हें इससे स्पष्ट आभास मिलता था कि उससे मुसलमानों की आक्रामक नीति को प्रोत्साहन मिलता है। दिनांक ७-१-१९२७ को लिखे अपने लेख में उनके विचार इस प्रकार व्यक्त किए गए थे— 'वास्तविकता तो यह है कि अधिकांश मुसलमानों को यह हिन्दुस्तान अपना देश प्रतीत नहीं होता। और उसमें भी हिन्दुओं का निवास तो उनको काँटों की भाँति चुभता है। देश भर में ये जो दंगे-फसाद होते हैं, उनकी पृष्ठभूमि में यही भावना कार्य करती है। कतिपय समझदार मुसलमानों को छोड़कर अधिकांश मुसलमानों के मन में यही भावना उभर रही है कि तुर्किस्तान, अफगानिस्तान अथवा ईरान की भाँति यह हिन्दुस्तान भी एकमात्र सम्पूर्ण इस्लामी राज्य बन जाए। इस देश को ऐसा बनाने पर ही वे इसके साथ अपने देश का-सा व्यवहार कर सकेंगे और इसके प्रति अपना प्रेम प्रकट कर सकेंगे।

'गांधी महात्मा होने के कारण पक्षपात से परे हैं, यदि यह मान लिया जाए तो जिस प्रकार अपनी जाति के साथ पक्षपात करना अनुचित है उसी प्रकार दूसरी जाति की ओर झुकना भी पक्षपात ही कहलाएगा। शब्दकोष में इसके लिए कोई अन्य शब्द उपलब्ध नहीं हो सकता।'

इसमें यदि सुधार किया जाए तो उचित होगा। इस्लाम के शान्ति, सहिष्णुता और पशुओं पर दया के जो उपदेश गांधी जी को ज्ञात हैं वे सब वस्तुतः यंग इंडिया के माध्यम से गांधी जी अपने मुसलमान भाइयों को ही सिखाएँ तो उत्तम होगा। और उनके शिष्य अली बन्धुओं के जिस प्रकार खिलाफत आन्दोलन के विषय में व्याख्यान हुए, उस प्रकार के व्याख्यान इस्लामी धार्मिक ग्रन्थों पर करवाने चाहिएं। कभी-कभी मुसलमानों को राष्ट्रभक्ति जगाने के लिए कड़वा, किन्तु प्रभावी उपदेश भी देना चाहिए।

गांधी जी द्वारा इस देश में मुसलमानों की आक्रामक प्रवृत्ति को परिपोषण प्राप्त हुआ जिसका प्रत्यक्ष परिणाम हम आज पाकिस्तान के रूप में देख रहे हैं।

१९३७ में सावरकर जी पर से प्रतिबन्ध हटाए गए। अब वे रत्नागिरी से अन्यत्र आने-जाने के लिए स्वतंत्र थे। इन्हीं दिनों से सावरकरवाद और गांधीवाद का प्रत्यक्ष रूप में आमना-सामना होना प्रारम्भ हुआ। स्वराज्य प्राप्ति के लिए आन्दोलन करने के साथ ही सावरकर जी को एक अन्य कार्यक्रम भी अपने हाथ में लेना पड़ा और वह था गांधी जी की एक-पक्षीय अहिंसा-प्रणाली की घातक शिक्षा का खण्डन करना। उसी का विधायक स्वरूप था हिन्दूसंघटन।

राजनीति में गांधी जी का प्रवेश होने से पूर्व अर्थात् १९०३ में ही सावरकर जी ने स्वतंत्रता देवी स्तोत्र की रचना की थी। आज तो वह आकाशवाणी पर भी सुनने में आ जाता है। उन्होंने स्वतंत्रता की देवी का आह्वान करते हुए कहा था—**'तुज साठि मरण ते जनन, तुजवीण जनन ते मरण।'** अर्थात् तुम्हारे लिए मरना यह जीवन है और तुम्हारे बिना जीना मृत्यु है। स्वयं उन्होंने देश की स्वतंत्रता के लिए कितनी यातनाएँ सहीं इसका उल्लेख करने की हम आवश्यकता नहीं समझते। स्वराज्य के लिए बलिदान करने वालों का वे सदा सम्मान

करते थे। १९३७ के बाद तो प्रकट रूप से सभाओं में वे उनका गुणगान एवं अभिवादन करते थे। हिन्दू संगठन के अन्तर्गत हिन्दुओं को ही केवल एकाधिकार प्राप्त हो, ऐसी उनकी भावना नहीं थी, परन्तु सहिष्णुता के नाम पर हिन्दुओं के अधिकार छीन कर दूसरों को दे देने के वे विरोधी थे। हिन्दुओं पर अन्याय किया जाए तथा उनके साथ पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया जाए, यह उन्हें स्वीकार नहीं था। हिन्दू महासभा और कांग्रेस में यदि परस्पर विरोध अथवा संघर्ष का विषय था तो केवल यही था।

हिन्दू महासभा तो राजनीति में पदार्पण कर रही थी, कांग्रेस के प्रचारतन्त्र की व्यवस्था दृढ़ थी। सावरकर जी के नेतृत्व में हिन्दू महासभा का ध्येय था : हिन्दू संगठन और गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस की हिन्दू-मुस्लिम एकता की नीति का विरोध। इस बात को लेकर गांधी जी एवं कांग्रेस का प्रचार-तन्त्र यह प्रचार करता था कि हिन्दू महासभा स्वराज्य विरोधी है, वह प्रतिगामी है, आदि आदि। और इस प्रकार का प्रचार उस वातावरण में सहजता से खप जाता था। शस्त्रविद्या सीखने के लिए सेना में भर्ती होना चाहिए, स्वयं सुलभ इस प्रकार के सुअवसर को ऐसे समय में ठुकरा नहीं देना चाहिए, यथोचित समय पर शस्त्र का उपयोग किस प्रकार करना है इसको समझना चाहिए। सावरकर जी के इस प्रकार के प्रचार का विपरीत अर्थ लगाया जाता था। उसका परिणाम यह हो रहा था कि हिन्दू-हितों के विरोध को देश-भक्ति का नाम दिया जा रहा था और हिन्दू महासभा के कार्यकर्ताओं पर किए जाने वाले आक्रमणों को स्वराज्य प्राप्ति का मार्ग माना जाने लगा था।

इस प्रकार के छद्म प्रचार का उत्तर देने के लिए कभी तो स्वतंत्र विचारों के समाचार-पत्र आगे आ जाते थे, किन्तु सर्वदा एवं सुसंगठित रूप से ऐसा कोई प्रयत्न सम्भव नहीं हो पाया था। तब साधारण-कोटि के दो-चार समाचार-पत्रों का संचालन हिन्दू महासभा के लिए किया जाने लगा। आज यदि कोई कहे कि मद्य बन्दी का कार्यक्रम सफल हो गया है तो सम्भवतया हम लोग हँसते हैं, किन्तु उस समय कोई यदि कहता कि हिन्दू-मुस्लिम एकता का प्रयास सफल हुआ है, तो उस समय हँसने की सुविधा नहीं थी। उस हिन्दू-मुस्लिम एकता के विरोध में कोई ठोस सप्रमाण लेख भी यदि लिखा जाए तो उस लेख को प्रकाशित करने वाले समाचार-पत्र को दण्डित किया जाता था।

युद्धकाल में शासकीय-स्तर का प्रचार-तन्त्र विपक्षी को चकमा देने के लिए किया जाता है। उस समय कांग्रेस ने इस बात का भी ध्यान नहीं किया कि उनका अपना कौन है और पराया कौन? यदि उन्होंने प्रचारतन्त्र का भी उपयोग किया तो आत्मवंचना एवम् जनवंचना के लिए ही। मुस्लिम राष्ट्र का यदि निर्माण हुआ तो वह हिन्दुओं की भूमि पर ही हुआ, भारत के बाहर के किसी देश की भूमि पर नहीं। अखण्ड हिन्दुस्तान यही हमारे देशभक्तों की कर्मभूमि थी। जिस लाहौर में दिनांक २६-१-१९२९ को पण्डित नेहरू ने सम्पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव पारित किया था, विभाजन के बाद वही लाहौर भारतवासियों के लिए विदेश बन गया। भले ही प्रचार-तन्त्र के आधार पर कांग्रेस ने यह प्रचलित किया हो कि उसने द्विराष्ट्रवाद का सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया। स्वराज्य प्राप्ति के समय १९४२ के आन्दोलन के आसपास अंग्रेज शासकों ने पूरे देश में १५ सहस्र से अधिक लोगों को

मार डाला, कांग्रेस महासमिति की कार्यवाही में ऐसा माना गया है। सुभाष बाबू की आजाद हिन्द सेना तो आमने-सामने ही लड़ी थी। नौसेना ने जब विद्रोह किया था तो उस समय भी अनेक का बलिदान हुआ था। स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए हिन्दू-मुस्लिम एकता के जो मार्ग अपनाए गए उसकी परिणति हुई स्वतंत्रता प्राप्ति के अवसर पर, कई प्रान्तों में सामूहिक रक्तपात के रूप में। और उसी प्रचार-तंत्र की एक तूलिका से वे यह रक्तरंजित अध्याय पोंछते हैं और तनिक भी न हिचकिचाते हुए कहते हैं—'रक्त की एक बूँद भी न गिराते हुए हमने स्वतंत्रता प्राप्त की।' उस प्रचार-तन्त्र में अपने शत्रुओं को भ्रमित करने की शक्ति तो थी नहीं। हाँ, अपने ही बन्धुओं को वंचना देने में हमने अपना और अपने देश का गौरव समझा।

गांधी जी को इस देश की जनता ने नेतृत्व दिया। इस बात को भले ही अस्वीकार न किया जाए, किन्तु शासन की धारणा तो आज यह बन गई है कि यदि उनकी असफलताओं का कोई बखान करेगा तो उससे उनकी प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचेगी। इसलिए गांधी की झूठी प्रशंसा को स्थायी बनाने के लिए अथवा उसको बढ़ाने के लिए भारी प्रचार किया गया।

उस समय वस्तुस्थिति का वर्णन करने वाले व्यक्ति या दल बहुत थोड़े थे। ऐसे ही थोड़े लोगों में सावरकर जी सबसे आगे थे, परन्तु उनकी आवाज किसी ने नहीं सुनी और अन्त में हमको सदा के लिए पीड़ा पहुँचाने वाले पाकिस्तान का निर्माण हो गया और भारत को भी स्वतंत्रता प्राप्त हुई।

उस खण्डित हिन्दुस्तान में तो निंदा पक्ष में हिन्दू हितों का होम न होने दो, क्योंकि इससे स्वतंत्रता फिर संकट में पड़ जाएगी, इसके लिए शस्त्र-शक्ति का संचय करो। एक-पक्षीय अहिंसा का प्रचार मत करो आदि आदि बातों पर ही सावरकर जी का आग्रह था। सावरकरवाद और गांधीवाद में यही मूलभूत अन्तर था।

केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में भी एक गुट ऐसा बन गया था जिसको गांधी जी की नीति का खोखलापन दृष्टिगोचर होने लगा था। नेहरू और मौलाना आजाद का गुट यदि गांधी जी की क्षीण हो रही मान-प्रतिष्ठा को बनाए रखने के लिए लिए प्रयत्नशील था तो सरदार पटेल के नेतृत्व वाले गुट का झुकाव वास्तविकता की राजनीति की ओर था। इस प्रकार का आभास हमें मौलाना आजाद लिखित पुस्तक 'इंडिया विंस फ्रीडम' से भी स्पष्ट मिलता है। इस खींचातानी के बीच में ही गांधी जी ने पाकिस्तान को ५५ करोड़ रुपया दिलाने के लिए अनशन तक की चेतावनी दी और उन्हीं दिनों गांधी जी का अनशन, दिल्ली के हिन्दुओं पर लादी गई शर्तें, गांधी जी की प्रार्थना-सभा में बम का विस्फोट और १० दिन बाद गांधी जी का वध, ये सारी घटनाएँ बड़ी शीघ्रता से सम्पन्न होती गईं।

हिन्दू-हितों की हठपूर्वक उपेक्षा करने के कारण ही गांधी जी का वध हुआ, ऐसा समझने में शासन को कोई समय नहीं लगा। हिन्दू हितों की रक्षा करने वाले नेता सावरकर जी ही थे, इसलिए शासन का सीधा उन पर रोष होना भी स्वाभाविक-सी बात थी। यही कारण है कि प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त न होने पर भी किसी दूर सूत्र द्वारा उन्होंने इस हत्याकांड में सावरकर जी को फँसाने का निश्चय किया। मंत्रीमण्डल में यद्यपि मतभेद रखने वाला एक गुट था, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने भी उस समय चुप रहने का निर्णय

किया और अपने विचारों को सार्वजनिक रूप में प्रकट नहीं किया। कारण कि अभियोजकों को शासन का पक्ष बलवान करना था इसलिए सावरकर जी की प्रेरणा से और आदेश से गांधी-वध किया गया होगा, ऐसा तर्क न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत किया गया।

शासन की ओर से हिन्दू हितों को हानि पहुँचाने के उद्देश्य से सावरकरवादी गुट पर येन-केन-प्रकारेण किसी प्रकार से प्रतिबन्ध लगाकर फिर अपनी मनमानी करने के उदाहरण हमें उसके बाद भी मिले हैं। ज्यों हीं नेहरू-लियाकत चर्चा का विषय प्रारम्भ हुआ था, त्यों ही सावरकर जी तथा अन्य अनेक कार्यकर्त्ताओं को १९५० में स्थानबद्धता का दण्ड दिया गया था। मानो हिन्दुओं का अहित करके ही हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के सम्बन्ध सुदृढ़ हो सकते थे। हिन्दू-हितों की आहुति देकर धर्मनिरपेक्षता को निभाने के लिए उस समय के शासकों में इस प्रकार का हिन्दू द्वेष विद्यमान था। इसी धारणा के वशीभूत सावरकर जी को गांधी-वध काण्ड में शासन द्वारा फंसाया गया था। सावरकर जी के प्रति इस द्वेष भावना को कम होने में अनेक वर्ष लगे।

अभियोग के कार्यकाल में बन्दी के रूप में सावरकर जी का व्यवहार

जब सावरकर जी को गांधी-वध काण्ड में फंसाकर कारागर में रखा गया तो उन्होंने अन्य अभियुक्तों को इस प्रकार नहीं कहा कि वे लोग उनके साथ किसी प्रकार सम्पर्क सूत्र न रखें, क्योंकि इससे अभियोजकों को अपने पक्ष को पुष्ट करने के प्रमाण प्राप्त होंगे। जिन दिनों गांधी हत्याकाण्ड के सहयोगियों की खोज जारी थी, उन दिनों बन्दी बनाए गए सभी अभियुक्तों को बम्बई के गुप्तचर विभाग के कार्यालय में रखा गया था। सावरकरजी को आर्थर रोड के बन्दीगृह में रखा गया था। अधिक समय माँगने के लिए एक बार उनको चीफ प्रेसिडेंसी मजिस्टेट के न्यायालय में उपस्थित किया गया, उसी दिन अन्य अभियुक्तों के लिए भी अधिक समय की माँग करनी थी, अत: उनको भी वहाँ उपस्थित किया गया था। सावरकर जी को सम्मुख देखते ही जो पहला प्रश्न मन में उठा, वह यह था कि क्या वे बोलने की मनस्थिति में हैं?

वाहन की प्रतीक्षा में कुछ क्षणों के लिए हम लोग बारामदे में रुके थे। कुछ तो भी बोलने के उद्देश्य से नाना आपटे सावरकर जी से बोले, 'ये पुलिस के अधिकारी बोलते समय तो ऐसा प्रतीत होता है कि मुख में शक्कर भरकर बोलते हैं?' सावरकर जी ने खुले मन से उत्तर देते हुए कहा, 'इसके लिए आपको उन्हें धन्यवाद देना चाहिए। क्योंकि वैसा करने के लिए उन पर कोई बन्धन नहीं है।'

सावरकर जी का उत्तर सुनकर यह प्रतीत होता था कि इस गिरफ्तारी से सावरकर जी हताश अथवा खिन्न नहीं हैं। ऐसा प्रतीत होता था कि उन्होंने यह धारणा बना ली थी कि जो हो न्यायालयीय कार्यविधि से उनको गुजरना ही पड़ेगा। इस दृष्टि से उन्होंने अपनी मानसिक स्थिति बना ली होगी। आज तक हमने सावरकर जी को संकट में छाती तान कर ही खड़े हुए पाया था और आज हम उनको उसी प्रकार (उसी रूप में) देख रहे थे।

दिल्ली के लालकिले वाले बन्दीगृह में शंकर किस्तैया और बड़गे को छोड़कर शेष

सभी एक साथ ही रहते थे। हम सबकी पहली खुली भेंट दिनांक २७-५-१९४८ को हुई थी। आपटे और नथूराम के साथ सावरकर जी का घनिष्ट सम्बन्ध था। न्यायालय अथवा कारागार में भी उसी प्रकार का घनिष्ठ सम्बन्ध निभाने से किसी प्रकार का सन्देह हो सकता है, अत: वैसा न किया जाए, यह बात सावरकर जी के मन में कभी नहीं आई। जेल के अतिरिक्त न्यायालय में भी अवकाश के क्षणों में हम लोगों के साथ वे वार्त्ता में बिना संकोच निमग्न रहते थे।

जब हम प्रथम बार मिले तो उन्होंने प्रत्येक से पूछा कि पहली भेंट में पुलिस ने तथा न्यायालय ने किससे क्या कहलवा लिया है। हम लोगों की बातों को सुनकर उन्होंने बताया कि हमारे कथनों से किसके विरुद्ध क्या-क्या प्रमाण एकत्रित किए जा सकते हैं। सारी सम्भावनाएँ उन्होंने हमारे सम्मुख स्पष्ट कीं।

नथूराम को सावरकर जी 'पण्डित' शब्द से गौरवान्वित किया करते थे। इससे उन पर किसी प्रकार की आँच आएगी, ऐसा उन्होंने कभी नहीं सोचा। अपने लिखित उत्तर में भी उन्होंने नथूराम के साथ पण्डित शब्द को जोड़ा था। बहुत वर्ष पूर्व किसी एक व्याख्यान में जिसको टेपरिकार्ड पर लिया गया था, उसमें भी उन्होंने नथूराम को 'पण्डित' विशेषण से ही सम्बोधित किया है।

नथूराम और आपटे के समान ही अन्य अभियुक्तों के साथ भी उनका स्नेह सम्बन्ध था। एक दिन जब नाना के विरुद्ध साक्षी हुई तो उन्होंने आपटे से पूछा, 'यह साक्षी आपके विरुद्ध आने का क्या कारण है?' नाना बोले, 'कभी पुलिस से बात करते हुए मेरे मुख से कोई बात निकली होगी, मेरी उस बात की छानबीन करने के लिए जब प्रयत्न किया गया तो उनको यह साक्षी मिल गई।' सावरकर जी ने कहा, अकारण ही आप लोगों ने अपने चारों ओर एक विचित्र वातावरण का निर्माण कर लिया है। मुझे लगता है कि यह हानिप्रद सिद्ध होगा। क्या सभी ने गरदन कटवाने का निश्चय कर लिया है?' बात तो हो चुकी थी, यह तो सच था। नाना इस पर क्या बोलते?

यद्यपि सावरकर जी का अभियुक्त क्रमांक ७ था, तथापि न्यायालय में उनके बैठने की इस प्रकार व्यवस्था की गई थी कि जिससे वे न्यायाधीश के निकट रहें। उनके समीप ही नथूराम बैठते थे। कई बार साक्षियों के बयान दूसरों के बचाव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते थे, अथवा कभी किसी साक्षी से किसी विधान से उससे कोई विशिष्ट प्रश्न पूछा जाना चाहिए, ऐसा विचार उनके मन में उत्पन्न होता था। ऐसे अवसर पर वे नथूराम को संकेत से उस भाग को लिखकर रखने अथवा स्मरण रखने के लिए कहते थे। उसके बाद न्यायालय के मध्यान्तर अथवा बन्दीगृह में उस पर चर्चा होती थी।

डॉ० परचुरे के विरुद्ध उपस्थित किए गए एक साक्षी से डॉ० परचुरे को पहचानने के लिए कहा गया। बड़े विश्वास के साथ साक्षी बन्दियों के कटरे के समीप आया और उसने उँगली से संकेत कर बताया, किन्तु उसकी उँगली संदिग्ध रूप में उठी हुई थी। न्यायमूर्ति ने साक्षी को और निकट जाकर संकेत करने के लिए कहा। न केवल इतना ही अपितु उन्होंने परचुरे को हाथ से स्पर्श करने का आदेश दिया। साक्षी ने आगे बढ़कर जो

हाथ रखा वह डॉ० परचुरे पर न होकर सावरकर जी पर था।

न्यायालय में इससे हँसी का मानो विस्फोट-सा हुआ। साक्षी को लगा उससे कुछ भूल हो गई है। क्षण भर उसने इधर-उधर देखा और फिर उसने डॉ० परचुरे को स्पर्श किया।

बचाव पक्ष ने न्यायमूर्ति को कहा कि बाद का संकेत मान्य न माना जाए। इसके विपरीत अभियोजकों का कहना था कि कदाचित प्रकाश की चकाचौंध में वह साक्षी को पहचानने में प्रथम बार भूल कर गया हो।

सावरकर जी खड़े हुए और न्यायमूर्ति से बोले, 'साक्षी ने मुझे प्रत्यक्ष रूप से छुआ है।' न्यायमूर्ति बोले, 'मैंने इसे नोट कर लिया है।' इस प्रकार यह विवाद बन्द हो गया।

साक्षी क्र. पी. डब्ल्यू. ५३ जगन्नाथसिंह, को (दिनांक १५-७-४७, अभिलेख ग्रन्थ १ पृष्ठ ७४-७५) साक्षी बनाकर लाया गया था। सावरकर जी का विचार था कि इस बात को यदि न्यायाधीश के ध्यान में लाया जाए तो उससे डॉ० परचुरे को लाभ होगा।

तत्कालीन बम्बई राज्य के गृहमंत्री श्री मोरारजी देसाई की साक्षी चल रही थी। प्रति परीक्षण में अपने अधिवक्ता के द्वारा नथूराम ने न्यायालय के सम्मुख यह स्पष्ट किया कि अग्रणी और हिन्दूराष्ट्र दैनिक को मोरारजी देसाई ने किस प्रकार तंग किया था। इस वस्तुस्थिति से गांधी-वध की पृष्ठभूमि का ज्ञान करवाया था। मोरारजी देसाई स्पष्ट उत्तर देने की अपेक्षा घुमा-फिरा कर उत्तर देते थे। कुछ समय तक नथूराम यह देखते रहे। एक उत्तर से तो उन्हें बहुत क्रोध हुआ। वे तुरन्त खड़े होकर न्यायमूर्ति से बोले, 'मन्त्री महोदय उचित उत्तर नहीं दे रहे हैं। ३० जनवरी को मैंने जो कार्य किया है, उसका एक कारण है कि गृहमंत्री द्वारा मुझे अत्यधिक सताया जाना, अत: इस वध के लिए ये गृहमंत्री महोदय भी उतने ही उत्तरदायी हैं।'

क्षण भर तक को न्यायालय में स्तब्धता-सी छा गई। नथूराम के 'मेरे कार्य के लिए' यह शब्द अभियोजकों को महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुए, क्योंकि वह उनकी स्वीकारोक्ति थी। नथूराम का यह वक्तव्य लिख लेने की प्रार्थना उन्होंने न्यायमूर्ति से की। 'मैं अपना वक्तव्य आपको यथासमय लिखकर देने वाला हूँ, परन्तु इस पर भी यदि आप इस वाक्य को अभी लिख लेना चाहते हों तो मुझे उसमें कोई आपत्ति नहीं है' ऐसा नथूराम ने कहा था। परन्तु तभी नथूराम के अधिवक्ता श्री ओक ने न्यायमूर्ति को ध्यान दिलाया कि यह समय अभियुक्तों के वक्तव्यों का नहीं है। न्यायमूर्ति ने उसे स्वीकार कर लिया। अभियोजकों ने भी अधिक आग्रह नहीं किया। इस प्रकार नथूराम के वे उद्‌गार लिखे नहीं गए। किन्तु इसमें उपस्थित-जनों को यह आभास मिल गया कि अर्धसत्य अथवा असत्य या घुमाफिरा कर दी गई साक्षियों अथवा उत्तरों से नथूराम कितने उद्विग्न होते हैं।

न्यायालय से बन्दीगृह में आते समय सावरकर जी ने नथूराम से कहा, 'नथूराम! आज तुमने मोरारजी को सह्याद्रि दिखा दिया।'

नथूराम स्वीकारोक्ति दें, इस प्रकार की सूचना वकीलों के द्वारा कभी-कभी सावरकर जी के पास पहुँचती थी। तब सावरकर जी कहते, 'उनसे कहो, सेती का सतुवा, नानी का सराध' करना सुगम है। स्वयं उस भूमिका में नथूराम के स्थान पर अपने को रख कर देखो।

ऐसा क्षण भर सोचकर फिर उस पर सम्मत्ति दी जानी चाहिए।'

हिन्दुओं में स्वाभिमान जागृत करने की सावरकर जी में आकांक्षा थी। उनकी जीवन-पद्धति में अन्यों पर अन्याय करने के लिए स्थान नहीं था, किन्तु अपना स्वाभिमान त्याग न करने के लिए किसी भी प्रकार का त्याग करने की तत्परता मनुष्य में होनी चाहिए, यही उनकी विचारप्रणाली थी। अपने और अपने कुल के बलिदान के लिए वह सदा प्रस्तुत थे, और उन्होंने इस प्रकार का त्याग किया भी : 'हे आपुले कुलही त्यामधि ईश्वरांश निर्वंश होउनि ठरेल अखंड वंश।' अर्थात् अपना कुल भी ईश्वर का अंश है और निर्वंश होकर भी उसका अखण्डवंश ठहरेगा। अथवा 'अशीच सर्व फुल खुडावी श्रीराम चरणी अर्पण करावी, काही सार्थकता घडावी या नश्वर देहाची।' 'अमर होय ती वंशलता निर्वंश जिचा देवा करिता' अर्थात् इसी प्रकार सभी पुष्प तोड़े जाएँ और श्रीराम के चरणों में समर्पित होकर इस नश्वर देह को सार्थक करें। वह वंशलता अमर होती है। जिसको भगवान् पर चढ़ावा चढ़ाने के लिए तोड़कर निर्वंश किया जाता है। हिन्दू जाति स्वत्वरक्षण में से गांधी-वध की पृष्ठभूमि सिद्ध हुई, यह स्पष्ट प्रतीत होते हुए भी तथा उस तत्त्वज्ञान के जनक सावरकर जी स्वयं ही मृत्यु की छाया में विचरण कर रहे थे, फिर भी उन्होंने अपने तत्त्वज्ञान को कभी असंगत नहीं समझा। नथूराम या आपटे उस तत्त्वज्ञान के या हिन्दू महासभा के समर्थक नहीं थे, इस प्रकार का बचाव उन्होंने कभी नहीं किया। नथूराम या आपटे अपने वक्तव्य में हिन्दू महासभा या सावरकर जी के तत्त्वज्ञान से स्वयं को सम्बन्धित न दिखावें, ऐसा निर्देश भी सावरकर जी ने कभी उनको नहीं दिया था।

नथूराम अपना वक्तव्य स्वयं तो मराठी में लिखते थे फिर उसका बाद में अंग्रेजी में अनुवाद किया जाता था। नथूराम चाहते थे कि सावरकर जी भी कुछ भाग लिखें। सावरकर जी कहते—'तुम्हारे लिए मुझे लिखने की आवश्यकता नहीं। अपना लिखा हुआ मुझे दिखाते जाओ, यदि आवश्यकता हुई तो कुछ हेर-फेर मैं सुझा दूँगा।'

क्योंकि समय बहुत कम रह गया था, इस कारण अपने वक्तव्य के कुछ पृष्ठ नथूराम ने हडबड़ी में लिखे थे। उनकी इच्छा थी कि विषयवस्तु की प्रस्तुति अच्छे ढंग से की जाए, किन्तु उपलब्ध समय में वह सब सम्भव नहीं प्रतीत हो रहा था। सावरकर जी ने उनको सान्त्वना देते हुए कहा, 'जो वक्तव्य सिद्ध हो गया है उसमें कोई विशेष कमी नहीं है। यदि इस समय उसमें कुछ हेर-फेर किया गया तो इससे उसकी सुसूत्रता को हानि पहुँचेगी। यह कोई मंच पर दिया जाने वाला उपदेश तो है नहीं। अपने प्राणों को देश के लिए बलिदान करने की भावना से उनको तुच्छ समझने की पराकोटि तक किस प्रकार मन की स्थिति पहुँची है, उसका प्रकटीकरण करने वाले ये मन के बुलबुले, तरंग अथवा आवेग हैं। अतीव दु:ख के बाद जिस प्रकार सिसकियाँ मुक्तता धारण कर लेती हैं अथवा अतीव आनन्द के उपरान्त जैसा अनिर्बन्ध हास्य प्रस्फुटित होता है, वैसे ही यह मन का आवेग भी मुक्त या अनिर्बन्ध प्रतीत हो तो भी उसकी पृष्ठभूमि की भावना निश्चित रूप में और अकृत्रिमता से समझी जा सकती है। इस दृष्टि से तुम्हारा वक्तव्य परिपूर्ण है।'

नथूराम ने यह तो निश्चय किया कि उसके वक्तव्य के लिए न्यायालय में तर्क-वितर्क वे स्वयं करेंगे, किन्तु उसमें उनको कठिनाई थी तो एक यही कि वे अंग्रेजी में भाषण नहीं कर सकते थे। उन्हें दु:ख था कि विश्वविद्यालय की उपाधि तो दूर रही साधारण पाठशाला का प्रमाण-पत्र भी वे प्राप्त नहीं कर पाए थे तो न्यायालय में अंग्रेजी में संभाषण किस प्रकार कर पाएंगे।

दिनांक १६-१२-१९४८ को नथूराम ने अपना प्रतिवेदन प्रारंभ किया जो दूसरे दिन पूर्ण हुआ। वक्तव्य प्रारम्भ करने के कुछ क्षणों बाद ही ऐसा प्रतीत होने लगा कि न केवल न्यायालय में उपस्थित जनसमुदाय अपितु न्यायाधीश एवं शासकीय-पक्ष के अधिवक्ता तक को उन्होंने अपने वक्तव्य से अभिभूत कर लिया है। बिना किसी स्थान पर अटकते हुए, किसी उपयुक्त शब्द की किसी प्रकार की खोज न करते हुए विषय को पकड़ कर तथा समय-समय पर सन्दर्भ देते हुए वे घंटों तक बोलते रहे।

अपना वक्तव्य देते समय सम्भवतया नथूराम यह भूल गए थे कि उसकी ग्रीवा के चारों ओर फाँसी की रस्सी लटक रही है। वे निर्भीकता से वक्तव्य दे रहे थे, किन्तु कोई भी श्रोता अपने अन्तर्मन से उस रस्से को उनके गले में लिपटा स्पष्ट देख सकता था। अन्यथा नथूराम का वक्तव्य कैसा था, इसका इतना महत्त्व नहीं था अपितु इससे अधिक महत्त्व था इस बात का कि फाँसी के फँदे में फँसी हुई ग्रीवा के बाद भी नथूराम ने किस प्रकार अपना वक्तव्य दिया। श्रोताओं के लिए इसका महत्त्व अधिक था।

नथूराम ने अपने वक्तव्य में कहा, 'जिसको सुखी जीवन कह सकते हैं, उस प्रकार का ही मेरा जीवन था, परन्तु कदाचित् मनुष्य इतने पर सन्तुष्ट नहीं रह पाता। सहजीवन की कल्पना में से राष्ट्र की कल्पना का निर्माण हुआ। विश्व कुटुम्ब की कल्पना के लिए राष्ट्र की धारणा आवश्यक है। बिखरा हुआ समाज राष्ट्र नहीं कहा जा सकता। कहा भी जाए तो राष्ट्र के नाते वह टिक नहीं सकता। क्योंकि उसके घटकों के हित समान नहीं होंगे और समाज के घटक इस दृष्टि से सहजीवन की कल्पना से एक रस नहीं होंगे। सुसंघटित राष्ट्रों का सहजीवन ही विश्व-कुटुम्ब होता है। सुसंगठित राष्ट्र विश्व-कुटुम्ब की योजना रच सकता है। व्यक्ति की मर्यादा राष्ट्र की भावना तक सीमित रहती है।

राष्ट्र की कल्पना में से ही संवेदना और सहानुभूति के भावों का परिपोषण होता है। जनसमूहों के किसी घटक के राष्ट्रीय-स्तर का जो दु:ख होगा, वही मेरा भी दु:ख होगा। राष्ट्र का हित ही मेरा हित, राष्ट्र के स्वातन्त्र्य की रक्षा ही मेरी स्वातन्त्र्य रक्षा होगी, इस प्रकार की भावना हृदय में उत्पन्न होती है।' वैष्णव जन तो तेणे कहिए, जे पीर पराई जाणे रे' इस प्रकार के अनेक सन्तों की शिक्षा मन में गुँजायमान होती रहती है।

अपने वैयक्तिक एवं आनन्दमय जीवन में भी मुझे असन्तोष-सा प्रतीत होने लगा था। जिस महाराष्ट्र प्रान्त में न तो विभाजन की आँच आई थी और न ही वहाँ किसी प्रकार का रक्तपात हुआ था, ऐसे प्रान्त में मैं रहता था। जिन प्रान्तों का विभाजन हुआ था, वहाँ के विभाजनग्रस्त जन मेरे कोई नहीं थे और उनके रक्तप्रवाह का मेरे लिए क्या शुभाशुभ, इस प्रकार की भावना मेरे मन में स्थान ही नहीं पा सकी।

विभाजन की प्रत्यक्ष आँच हमारे प्रान्त को यद्यपि न छू पाई थी तथापि निर्वासितों के जत्थे के जत्थे हमारे प्रान्त में प्रविष्ट हो रहे थे। स्थान-स्थान पर निवार्सितों के शिविर स्थापित थे। मानो कांग्रेसी नेताओं की गलत नीति के सजीव स्मारक खड़े हों। उनके अनजाने ही उनकी पवित्र भूमि पर इस्लामी राष्ट्र का निर्माण हो गया। उन्हें उनके प्राण और धन-सम्पत्ति का आश्वासन दिया गया था, किन्तु वे अनुभव कर रहे थे कि प्रत्यक्ष रूप में तो उस राष्ट्र में उनके प्राण संकट में हैं, उनका भवितव्य मृत्यु रूप में खड़ा है। या तो उनका वहाँ से निष्कासन होगा अन्यथा धर्मपरिवर्तन से भ्रष्टीकरण। वे लोग उस नवनिर्मित राष्ट्र के घटक नहीं थे, क्योंकि वह उस धर्म के नहीं थे जिस धर्म वालों के लिए उस राष्ट्र का निर्माण हुआ था, यही उनका अपराध सिद्ध हुआ था।

'कारण कि वे इस राष्ट्र के ही सदस्य थे, इस राष्ट्र में ही वे एक रूप हो सकते थे तथा सहारा लेने के लिए ऐसा कोई अन्य राष्ट्र भी उनको नहीं था इस भूतल पर, अन्य कोई ऐसा देश भी उनके लिए नहीं था। अतः वे भारत आए।

असंख्य हिन्दुओं की हत्या करने और शेष हिन्दुओं के निष्कासन के जो कारण थे उन मुसलमानों को निमंत्रण देते हुए हमारे शासकों ने कहा—'आप लौट कर आइए, हमारा देश धर्मनिरपेक्ष है, आप कैसा भी व्यवहार क्यों न करें हम तो आपसे भला ही व्यवहार करेंगे, आवश्यकता हुई तो आपने जिन निर्वासितों को हमारे देश में भेजा है उनको खुले मैदान में रखकर भी हम आपके घर आपको पुनः दिलवाएंगे और आपके घरों को यदि कोई रिक्त नहीं करेगा या आपको मारने के लिए कोई हाथ उठाएगा तो उनका पूरा नाश करने के लिए हमने अपनी सेना को तय्यार किया हुआ है। हमारी बन्दूक आपके ऊपर कभी नहीं तनेगी, क्योंकि उससे हिंसा होने का भय है, इससे विश्व में हम अपमानित हो जाएंगे।

'इस प्रकार निर्वासितों को पुनः निर्वासित बनने की बारी भी आई।'

सहिष्णुता के नाम पर अन्याय की कठोरता किस सीमा तक पहुँच चुकी थी इसकी मीमांसा प्रमाण सहित और सन्दर्भ सहित करते हुए नथूराम अपने वक्तव्य के उच्चतम बिन्दु की ओर जा रहे थे।

अपने राष्ट्र में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं होगा जो सभ्यता और शिष्टाचार से परिचित न हो। जो प्रश्न चर्चा एवं वार्तालाप से सुलझ सकता है, उसको उसी प्रकार सुलझाने में भी किसी को किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होती। बुद्धि के बल पर प्रतिपक्ष को अपना दृष्टिकोण समझा देने की क्षमता हममें होनी चाहिए, परन्तु उसके साथ ही साथ यदि किसी ने शस्त्र-बल से आह्वान दिया तो उसका प्रत्युत्तर भी उसी प्रकार देने की क्षमता तो हममें होनी ही चाहिए। यह सूत्ररूप में स्पष्ट करने के लिए उन्होंने अपने वक्तव्य में शास्त्र का एक वचन उद्धृत किया था—'अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः। इदं बाह्य मिदं क्षात्रं शापादपि शरादपि।' अर्थात् मेरी वाणी पर चार वेद हैं और पृष्ठ पर धनुष-बाण। एक में ब्रह्म तेज है तो दूसरे में क्षत्रिबल। एक शाप द्वारा और दूसरा शर (तीर) चलकर तुम्हारा नाश कर सकता है।

ब्रिटिशर्स के युग में क्रांतिकारियों को लोकप्रियता तो कम से कम प्राप्त होती थी। किन्तु मेरे तो इस अभियोग में राजसत्ता भी मेरे विरुद्ध है और लोगों को भी कदाचित यह कार्य अप्रिय है, इस कारण दुगुने रोष के मध्य में मैं स्थित हूँ। किन्तु मेरी धारणा है कि विभाजन से प्रारम्भ कर पाकिस्तान को ५५ करोड़ रुपया देने तक के सभी कार्य गांधी जी की नीति का ही परिणाम थे। उन पर आरोप लगाने वाला कोई न्यायालय बन पाएगा, ऐसा जब मुझे असम्भव प्रतीत हुआ तब मुझे वह वास्तव में अप्रिय प्रतीत होने वाली बात करनी पड़ी। अब इसके परिणामों की भी मुझे कोई चिन्ता नहीं है।

विगतकाल में चारुदत्त को भी इसी प्रकार उस समय की किसी धारा ३०२ के अन्तर्गत बन्दी बनाकर न्यायालय में खड़ा किया गया था। वह दोषी नहीं था, किन्तु उस पर दोष मढ़ा जा रहा है, यह जानकर उसे दु:ख होता था। उसे मृत्यु का भय नहीं था। वह कहा करता था—'न भीतो मरणादस्मि केवलं दूषितं यश:।' अर्थात् मृत्यु का भय तो मुझे नहीं है, मेरा चरित्र दूषित होगा यह मुझे भय है। लोगों में मेरे सम्बन्ध में अप्रियता, कटुता अथवा घृणा निर्माण होगी या निर्माण की जाएगी, इसका भी मुझे भय नहीं है। मेरे कार्य के उद्देश्य का विपरीत अर्थ न लगाया जाए, इतनी ही मेरी इच्छा है।

न्यायालय पूर्णरूप से भरा हुआ था। सभी श्रोता दत्तचित्त होकर सुन रहे थे। हृदय से निकलने वाले उस समय के उद्गारों को कहीं प्रकट करने का अवसर नहीं था। विचार स्पष्ट थे। सुने हुए भाषण से ही लोगों के कंठ रुँध गए थे, अश्रुकण आँखों से बाहर निकल आए थे।

नथूराम ने आगे कहा—मराठी क्षेत्र में विख्यात व्याख्याताओं की श्रेणी में मेरी गिनती है। विषय से एकरूप होकर बोलने के कारण ही कदाचित वह स्थान मुझे प्राप्त हुआ हो। यदि मैं कहूँ कि मैंने अनेक सभाओं में अपने भाषण से भारी धूमधाम मचाई थी तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। लोग मुझे पुष्पमालाओं से लाद देते थे। फूलों की वे मालाएँ यदि मेरे भाषणों का पुरस्कार समझकर मैंने उन्हें सहर्ष स्वीकार की हैं तो अपने किए हुए अवैध कार्य के लिए पुरस्कार रूप में यह फाँसी का फंदा भी मैं उसी प्रकार सहर्ष स्वीकार कर रहा हूँ, ऐसा आप लोगों को प्रतीत होगा, क्योंकि प्रस्तुत विषय में भी मैं उतना ही एक रूप हूँ।

यह सुनकर श्रोताओं की आँखों की पलकों में अटके हुए आँसू टप-टप गिरने लगे। रुँधे हुए कण्ठ सिसकने लगे। न्यायालय में सन्नाटा छा गया। यदि कोई व्यक्ति बोलने का यत्न भी करता तो उसकी आवाज भारी और भर्राई प्रतीत होती थी। नामोल्लेख करने की अनुमति मैंने ग्रहण नहीं की है। अत: मैं केवल इतना कह सकता हूँ कि अभियोजकों में से एक वरिष्ठ व्यक्ति की सुगृहणी नथूराम के भाषण में इतनी तल्लीन हो गई थी कि उसकी सिसकियाँ निकल गई थीं। उन्हें ध्यान ही नहीं रहा कि वे न्यायालय में बैठी हैं अथवा किसी वरिष्ठ व्यक्ति की पत्नी हैं। स्त्रियों का अन्त:करण भावनाप्रधान होता है। अनेक पुरुषों के जब आँसू टपक रहे थे तो महिलाओं की अवस्था वैसी होना स्वाभाविक ही है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

नथूराम की इस प्रकार की ओजस्वी वाणी सुनकर सावरकर जी को आनन्द मिश्रित आश्चर्य हुआ था। उनकी भाषण कला से वे रत्नागिरी से ही परिचित थे। उनके प्रति उन्हें अपनापन एवं विश्वास था। उन पर उनका इतना विश्वास एवम् स्नेह था कि कभी किसी अनौपचारिक वार्त्तालाप में कोई उनसे किसी प्रकार का प्रश्न करता तो वे कहते, 'इसका उत्तर हमारा नथूराम देगा।'

नथूराम के वक्तव्य का प्रथम दिन समाप्त होने पर हम लोग बन्दीगृह में आए। सावरकरजी सामान्यतया दूसरे के कक्ष में नहीं जाते थे, परन्तु उस दिन वे मेरे और नथूराम के कक्ष में आए और नथूराम से बोले—

'भाषा का भय तुम क्यों करते हो? साक्षात् सरस्वती तुम्हारी जिह्वा पर विराजमान थी। तुमने तो 'वाचमर्थानुधावति' का प्रमाण प्रस्तुत किया है।'

दूसरे दिन बन्दीगृह लौटने के बाद सावरकर जी अत्यन्त ही उत्साहित प्रतीत होते थे। गद्‌गद् कण्ठ में वे नथूराम से बोले, 'मैंने धींगरा को निकट से केवल एक ही बार देखा था। अन्य कोई भी रत्नागिरी में आते तो मुझसे मिल कर जाते थे, परन्तु उनके अभियोग में अटक जाने के बाद उनसे भेंट नहीं होती थी, परन्तु न जाने क्या संयोग है कि मैं यहाँ तुम्हें प्रतिदिन देख रहा हूँ।'

अपने वक्तव्य के पन्ने जैसे-जैसे सावरकर जी लिखते जाते थे। वैसे-वैसे मुझको देते जाते थे। उनको लेकर मैं उनकी स्पष्ट प्रतिलिपि लिखकर तय्यार करता था।

यदि उच्च-न्यायालय में जाना पड़ जाए तो उसके लिए भी उन्होंने अपनी याचिका का प्रारूप तय्यार करके रख लिया था। जब मैं उनसे कहता, 'तात्या! आपके विरुद्ध जो प्रमाण लाया गया है उससे आप दोषी सिद्ध हो सकें, ऐसा तो प्रतीत नहीं होता।' इसके उत्तर में वे कहते 'यदि उन्होंने मुझे मुक्त किया तो क्या मैं यहीं रहूँगा? मुक्त होने पर भी मैं क्या पुनरावेदन करूँगा? जो प्रमाण वे प्रस्तुत कर रहे हैं, वे कितने अप्रभावी हैं, इसका ज्ञान शासन को है। फिर भी, उन्होंने अभियोग लगाने का निश्चय किया है न? न्यायाधीश यदि खींचखांच कर उससे अपने अनूकूल अर्थ लगाने का करें तो? इसलिए किसी भी परिस्थिति से निपटने की अपनी सिद्धता रहनी चाहिए?'

क्या सावरकर जी पर अभियोग लगाना न्याययुक्त था?

सावरकर जी के विरुद्ध जो प्रमाण एकत्रित किए गए थे, वे प्रत्यक्ष न होकर अनुमानित थे। अनुमानित प्रमाण अभियोग के लिए पर्याप्त हैं, ऐसा यदि मान लिया जाए तो अभियोग में साक्षी के रूप में लाए गए कई व्यक्तियों पर उसी तर्क की दृष्टि से अभियोग लगाना चाहिए था। इसके अतिरिक्त जिन्हें साक्षी के लिए नहीं लाया गया था, ऐसे भी अनेक व्यक्तियों पर षड्यंत्र का आरोप तर्कशास्त्र के अनुसार लगना चाहिए था, क्योंकि उनके बर्ताव से ही उनके विरुद्ध संकेतात्मक प्रमाण मिल जाता था। सावरकरजी पर यदि आरोप था तो केवल यही कि 'उन्होंने गांधी-वध के लिए आदेश दिया होगा अथवा उस कार्य के लिए आशीर्वाद दिया होगा।'

सावरकर जी का चरित्र जिन्होंने सूक्ष्म रूप से पढ़ा होगा, या जो सावरकर जी के सम्पर्क में आए होंगे उन्हें यह ज्ञात है कि सावरकर जी का स्वभाव ऐसा नहीं है कि वे किसी को कोई आदेश दें, 'तुम ऐसा करो'। इस प्रकार वे सदा अपने ही प्राणों के साथ खेले हैं, दूसरों के प्राणों के साथ नहीं। उनके तत्त्वज्ञान में जो शक्ति थी, व्यक्तित्व में जो प्रेरणा थी उससे स्वयं स्फूर्त हो अपने प्राणों के साथ खेलनेवाले लोग उनके चारों ओर एकत्रित हुए, परन्तु 'मेरी इच्छा है कि अमुक कार्य सम्पन्न होना चाहिए और इसके लिए अमुक व्यक्ति कार्य करे, ऐसा उन्होंने कभी किसी को नहीं कहा, फिर भले ही वह मदनलाल धींगरा हो या वासुदेव बलवन्त गोगटे।'

नथूराम और आपटे ऐसे नासमझ व्यक्ति नहीं थे कि सावरकर जी इस प्रकार का कोई आदेश दें और वे उसे चुपचाप सुनकर उस पर कार्य करने की योजना बना लें। उनका चिन्तन और आचार-विचार स्वतंत्र था। उन्होंने सावरकर जी को जो भी पत्र लिखे हैं उसमें यही लिखा है : 'हिन्दू महासभा के अध्यक्ष के नाते आपसे अमुक-अमुक विषयों पर विचार करना चाहते हैं। इसलिए सावरकर जी के आदेश को मानने का प्रश्न कम से कम नथूराम और आपटे के सम्बन्ध में तो किंचितमात्र भी लागू नहीं होता था।

रहा प्रश्न आशीर्वाद का। इस सम्बन्ध में बड़गे ने जो कहानी गढ़ी है वह बहुत उथली है। उसका यह सिद्ध करना कि सावरकर जी के स्थान पर नथूराम और आपटे की जो कुछ भी गुप्त बातें हुई हैं उन बातों की समाप्ति कक्ष में न करते हुए वे उन बातों का सूत्र लेकर चलते हुए सीढ़ियों से उतरते समय बातें करते आए थे। सामने एक साक्षी खड़ा है और यह देखकर वह बोले 'यशस्वी होकर आइए।' अभियोजकों ने इस कहानी के आधार पर अपना यह अर्थ निकालते हुए न्यायाधीश का ध्यान इस ओर दिलाना चाहा कि यशस्विता का कार्य गांधी-वध का था, और इसके आधार पर सावरकर जी पर अभियोग लगाया गया।

कमरे में तो बात को गुप्त रखना और कक्ष के बाहर आकर उस गुप्त बात को प्रकट करना, ऐसा उच्छृङ्खलपन सावरकर जी के बर्ताव में नहीं था। इसलिए बड़गे की कहानी उपेक्षणीय है। हम यह मान लें कि नथूराम और आपटे यह कहने के लिए सावरकर जी के पास गए कि अमुक कार्य होने वाला है अथवा वे उसे करने वाले हैं अर्थात् यह समझा जाए कि वह बात उनको विदित थी, तो क्या इतने मात्र से ही यह मान लेना चाहिए कि सावरकर जी उस षड्यंत्र के घटक थे? क्या यह निष्कर्ष उचित होगा? क्या ऐसा उन पर आरोप लगाना न्याययुक्त होगा?

इस स्थिति में अधिक से अधिक यह आरोप लगाया जा सकता है कि एक सम्भ्रान्त नागरिक के नाते उन्हें यदि घटना होने वाली है, इस प्रकार का कोई ज्ञान था तो उसने योग्य अथवा उचित अधिकारी को बताने का प्रबन्ध क्यों नहीं किया। उसी सीमा तक उन पर आरोप लगाया जाता और उन्हें बचाव का अवसर दिया जाता तो उसे हम अन्याय नहीं कहते, परन्तु उन्हें पहले से विदित था, केवल इसी अनुमान पर वे षड्यंत्र के आरोप के पात्र थे, ऐसा निष्कर्ष निकाला गया था।

इस प्रकार तो प्राध्यापक जैन भी षड्यंत्र के घटक थे और उन पर भी ऐसा आरोप लगाना उचित हो सकता था। उन्होंने मोरारजी देसाई को यदि जानकारी दी भी तो तब जब उन्होंने समाचार-पत्र में २१-१-१९४८ को यह पढ़ लिया कि मदनलाल ने बम २०-१-१९४८ को फेंका है और उससे गांधी जी घायल भी नहीं हुए। उससे पूर्व उन्होंने किसी प्रकार की जानकारी किसी भी योग्य अधिकारी को नहीं दी थी। कल्पना कीजिए कि गांधी जी का वध २० जनवरी को ही हो गया होता, तब क्या श्री जैन मोरारजी भाई को बताने के लिए गए होते?

श्री मोरारजी अपनी साक्षी में कहते हैं 'मेरा नाम प्रकट मत करो। जिन व्यक्तियों को इसमें फँसाया गया है और जिस बस्ती में मैं रहता हूँ उसका ध्यान करो। नहीं तो मेरे जीवन को भय है,' ऐसा जैन ने कहा था। आगे उनका कहना था कि 'जब मुझे नागरवाला मिले तो उन्हें मैंने यह नहीं बताया कि इस षड्यंत्र की सूचना मुझे कहाँ से मिली थी।'

(अभिलेख ग्रन्थ १, पृष्ठ १६७)

यदि श्री जैन के कथन से निष्कर्ष निकालना हो तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि "अभी तक तो काम पूर्ण होना है, किन्तु काम बिगड़ गया है। मेरे मंत्री को मिलने के कारण काम बिगड़ गया है, ऐसा यदि षड्यंत्रकारियों को विदित हो गया तो वे मुझे 'ठीक' कर देंगे" ऐसा मन में आने के कारण जैन ने अपना नाम प्रकट न करने का आग्रह मोरारजी से किया। परन्तु केवल षड्यन्त्र से सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति को ही ऐसा भय लग सकता है। श्री ग. वि. केतकर ने जब श्री बालू काका कानिटकर से बातें कीं तब, उन्हें तो ऐसा भय नहीं था। कानिटकर को भी बाबासाहेब खेर के पत्र लिखते समय ऐसा भय नहीं था।

जब मंत्री ने प्रा० जैन से पूछा कि इस विषय में पहले क्यों नहीं बताया तो उन्होंने उत्तर दिया, 'ऐसे क्रोध से बोलने का तो निर्वासितों का स्वभाव ही था और मदनलाल को मैंने उस विचार से रोका है, ऐसा मुझे विश्वास हुआ' (पृष्ठ १६७)। परन्तु प्राध्यापक जैन के कथन के अनुसार उन्होंने इस षड्यन्त्र के सम्बन्ध में श्री जयप्रकाशनारायण और उनके महाविद्यालय के ही एक व्यक्ति श्री ए. वी. याज्ञिक को बताया था (पृष्ठ १३२, १३४)। जब उनसे पूछा गया कि पुलिस अधिकारी को क्यों नहीं बताया तो उनका कहना था 'व्यक्तिशः मैं किसी पुलिस अधिकारी को नहीं जानता था और मुझे ऐसा भी लगता था कि पुलिस को बताने में अपनी सुरक्षा नहीं।' इस उत्तर का भी निष्कर्ष निकाला जा सकेगा। जैन के बर्ताव के कारण पुलिस उसको षड्यंत्र का घटक समझेंगी, ऐसा उनको भय प्रतीत होता था। इसलिए वे पुलिस अधिकारी के पास नहीं गए।

श्री जैन ने कहा, 'इस षड्यंत्र की खोज में सहायता करने के लिए मैं प्रस्तुत हूँ क्योंकि मुझे षड्यंत्र की जानकारी है, ऐसा मैंने मंत्री को कहा। एक नागरिक के नाते इस षड्यंत्र की छानबीन में उनकी सहायता करने की मेरी इच्छा थी (पृष्ठ १३४)।

मोरारजी के कथन के अनुसार, 'मेरा नाम प्रकट मत कीजिए, मेरे जीवन को इसमें भय है।' ऐसा जैन ने कहा था। इससे यह स्पष्ट है कि दोनों में से कोई न कोई तो असत्य भाषण कर ही रहा है। इसका प्रस्तुत विषय से इतना ही सम्बन्ध है कि विस्फोट से पूर्व

श्री जैन ने इसकी सूचना किसी योग्य अधिकारी को नहीं दी थी। 'जानकारी थी', ऐसे संदिग्ध संशय से सावरकर जी षड्यंत्र के आरोपी के नाते से पकड़े गए। जैन को भी उसी कारण से आरोपी बनाया जा सकता था, क्योंकि उन्हें तो जानकारी थी, इसमें तो संशय था ही नहीं।

और मोरारजी देसाई पर आरोप क्यों नहीं लगाया गया? आरोप लगाना हो तो उन्होंने असावधानी जान बूझकर की गई थी, ऐसा कहा जा सकता है। श्री जैन की बात केवल अपने तक न रखते हुए पुलिस और जैन का वे मेल करा देते तो ठीक रहता। क्या जैन को संरक्षण देने की शक्ति शासन में नहीं थी?

श्री जैन ने कहा, 'मेरा नाम आगे मत बताओ।' और मोरारजी ने इस बात को मान लिया। इसका अभिप्राय तो यही हुआ कि गांधी जी के वध के सम्बन्ध में जो कुछ होता है उसे 'होने दो'। बाद में देखा जाएगा; इस प्रकार की उदासीन वृत्ति का उन्होंने परिचय दिया था। इसके आगे भी यदि आरोप लगाना हो तो इस प्रकार लगाया जा सकता है कि 'तुम अपना काम पूर्ण करो, तब तक हम हाथ नहीं डालेंगे', ऐसा षड्यंत्रकारियों को भीतर से संकेत देने की मंत्री महोदय ने निष्क्रियता दिखाई।

निष्क्रियता द्वारा यदि किसी अवैध कार्य को सहायता प्राप्त होती हो तो वैसी निष्क्रयता दिखाने वाला व्यक्ति उस अवैध कार्य के कर्त्ताओं का सहायक ही माना जाता है। प्रहरी तथाकथित स्थान से थोड़ा दूर हटकर यदि चोर को अवसर दे तो ऐसे प्रहरी को निर्दोष नहीं कहा जा सकता। कांग्रेस के भी अनेक नेताओं को गांधी जी की राजनीति से अरुचि निर्माण हो गई थी। यह उस समय की वस्तुस्थिति थी जब वे लोग गांधी जी और उनकी राजनीति से ऊब गए थे और उससे उन्हें विरक्ति हो गई थी। गांधी जी के अन्तिम अनशन से तो वल्लभ भाई के मन में गांधी जी के सम्बन्ध में घृणा ही उत्पन्न हुई थी। क्योंकि वल्लभ भाई को विवश करने के लिए ही वह अनशन था, यह बात बाद में पूर्णतया स्पष्ट हो ही गई थी। वे दिल्ली छोड़ कर चले गए थे। गांधी जी अनायास मर जाएंगे तो ठीक है, उससे आगे की दुर्दशा तो रुक जाएगी, ऐसा किसी का सोचना असम्भव नहीं था।

जिसका गांधी जी के प्रति सच्चा प्रेम था, गांधी जी की मृत्यु के बाद उनका दु:ख भी सच्चा माना जाना चाहिए। गांधी जी के देहान्त के क्षण तक जो लोग गांधी जी की आलोचना करते थे, गांधी जी के देहान्त के बाद उन लोगों ने जो दु:ख प्रकट करने का नाटक किया, वह सच्चा नहीं था। गांधी जी जहाँ स्वयं मृत्यु को निमंत्रण दे रहे हैं, वहाँ हम बीच में क्यों पड़े? ऐसा जिनका बर्ताव था, उन्होंने गांधी-वध के बाद जो दु:ख प्रदर्शन किया, वह दु:ख केवल अपने बर्ताव को ढकने के लिए था।

सावरकर जी तो खुलकर आरम्भ से ही गांधीवाद के विरोधी थे। गांधीवाद ने देश की क्या हानि की है, इसका दिग्दर्शन वे सदैव कराते रहते थे। उन्हें गांधी-वध का षड्यंत्र पहले से ज्ञात होगा, इस सन्देह में उनको अभियुक्त बनाया गया था। कारण कि वह सहज था। इससे एक तो उनके अपने दुष्कृत्यों पर पर्दा पड़ जाता था और दूसरे लोगों का ध्यान उनसे हट कर दूसरी ओर करने का यह सस्ता उपाय भी था। उन्होंने उस अवसर पर झूठा

दु:खावेग प्रकट किया जबकि वास्तव में उनका स्थान न्यायालय के कठघरे में होना चाहिए था, क्योंकि क्या होने वाला है, इसका उन्हें भलीभाँति ज्ञान था और इस दुर्घटना को टालने की सावधानी बरतने के साधन भी नियति के बाद उनके ही हाथ में थे। सत्यासत्य का निर्णय उन्होंने नहीं अपितु न्यायालय ने किया होता।

केवल संशय में सावरकर जी को अभियुक्त बनाना पूर्णतया अन्याय था। शासन के सूत्र हाथ में लेना और उसे सावरकर जी के हाथ में सौंप देना, ऐसा यह षड्यन्त्र नहीं था। जनस्तुति नहीं, अपितु जनहित श्रेष्ठ यही सावरकर जी का मन्त्र था। किसी भी सम्मान अथवा पद या उपाधि की आकांक्षा उनको नहीं थी। 'मैं व्यवहारिक राजनीति करता हूँ और वह भी गांधीवाद का जिस ओर प्रवाह है उसकी विपरीत धारा की ओर खड़ा होकर करता हूँ। परिणामस्वरूप उपेक्षा और घृणा का ही अधिकारी होना पड़ेगा,' ऐसा वे जानते थे। और उनके भाग में उपेक्षा और घृणा ही आई भी थी। इसलिए गांधी-वध से किसी प्रकार का सम्मान का स्थान प्राप्त होगा, इसकी कल्पना भी उनको छू नहीं गई थी। सौभाग्य की बात है कि इस प्रकार का कोई आरोप शासन की ओर से उन पर लगाया भी नहीं गया था। फिर भी केवल संशय में उन पर वध का आरोप लगाना और उसके लिए उन्हें अपनी निर्दोषता सिद्ध करने के लिए बाध्य करना भी अन्याययुक्त तो था ही।

ऊपर के विवेचन में जिन नामों का निर्देश आया है उनका इस षड्यंत्र से सम्बन्ध था, इस प्रकार का कोई भी संकेत करने की मेरी इच्छा नहीं है। सरदार वल्लभ भाई पटेल के सम्बन्ध में तो 'उनका इस षड्यंत्र से सम्बन्ध था, ऐसा मानना उन पर अन्याय करना होगा।' ऐसा मैं पहले भी एक स्थान लिख चुका हूँ। आगे होने वाली घटना का ज्ञान होना, उसके सम्बन्ध में मौन रहना या अकर्मण्यता प्रकट करना यह सब एक प्रकरण में षड्यंत्र का आरोप लगाते समय उतना दोषपूर्ण नहीं लगा, किन्तु दूसरी ओर अन्य प्रकरण में यह दोष लगा। इसकी तुलना मुझे स्मरण करानी है। यह मौनता कुछ व्यक्तियों द्वारा राष्ट्रीय-हित को देखते हुए जान-बूझ कर रखी गई थी। आपद्धर्म के लिए थी, नीति के कारण थी या ढीलेपन के स्वरूप की थी, यह समझने के लिए कोई भी सम्बन्धित प्रमाण नहीं था। आरोप केवल एक ही व्यक्ति पर आरोपित किया गया था।

सावरकर जी ने नथूराम और आपटे को आगे किया। इस आरोप का उत्तर देने के लिए क्या ऐसा नहीं कहा जा सकता कि जिन-जिन लोगों ने गांधी जी की मृत्यु के बाद झूठा दु:ख प्रदर्शन किया, उन्हीं ने सावरकर जी के तत्त्वज्ञान को आगे किया और अपना स्वार्थ सिद्ध किया? प्रमाण तो दोनों स्थानों पर उपलब्ध नहीं था, किन्तु आरोप एक ही स्थान पर किया गया था। सावरकर जी के तत्त्वज्ञान के आधार पर उनके अनुचर ने स्वयं को आगे प्रस्तुत किया है, ऐसा तो अभियोग में माना नहीं गया है। यह बात दूसरी है। न तो दूसरे के सहारे टिकने वाला वह तत्त्वज्ञान ही था और न वे व्यक्ति ही ऐसे थे। इस तत्त्वज्ञान के आधार पर कोई भी व्यक्ति आत्मसमर्पण के लिए खड़ा दीखेगा। सावरकर जी के शब्दों में यदि कहा जाए तो यही कि हुतात्मा मन से दृढ़ और सिद्ध होता है। तभी यह मानना चाहिए कि उसके हुतात्मा होने का समय आ गया है।

निर्णय

सावरकर जी ने लोगों को क्रांतिकारियों का सम्मान करना सिखाया था। चाफेकर बन्धु का स्वागत उन्होंने इंग्लैंड जाने से पूर्व ही कर दिया था। रत्नागिरी में स्थानबद्ध होते हुए भी वासुदेव बलवन्त गोगटे का उल्लेख उन्होंने एक पौराणिक कहानी के रूप में किया था। जलियांवाला बाग के अत्याचारी मायकेल ओडवायर को ऊधमसिंह ने मार दिया था। वह समय युद्ध की धूमधाम का था। १९४० में शनिवार बाड़े के आगे उन्होंने व्याख्यान दिया था, उसमें उन्होंने ऊधमसिंह का उल्लेख किया था।

सावरकर जी को १९१० में पकड़कर इंग्लैंड से हिन्दुस्थान लाया गया था। उनका अभियोग भारत के न्यायालय में चलाया जाने वाला था। शासन तो विरोध में था ही और सर्वत्र भय का वातावरण उत्पन्न कर दिया गया था। इस कारण लोग क्रांतिकारियों की प्रशंसा करने का साहस नहीं जुटा पाते थे। सावरकर जी को उस समय उपेक्षा ही मिली थी।

मुझे मृत्युदण्ड दिया गया तो क्रान्ति का कार्य कौन करेगा, लोगों को उत्साहित कौन करेगा, उनका नेतृत्व कौन करेगा ऐसा विचार उनके मन में उत्पन्न हुआ हो अथवा नहीं, किन्तु फिर भी इतने में उनके मन ने उन्हें समझाया, कितना अहंकारी है तू? क्या तेरे बिना यह कार्य अटका रह जाएगा? तू ही कर्ता है, ऐसा तू समझता है। उस समय के उनके उद्गार इस प्रकार हैं—

पड़ले शत शत मत्सम तरि का अगतिक असेल भारत हा।
श्रीकृष्ण सारथी यद्रथ हाकाया सदा उभा रत हा।'

लोग अपना अनुगमन करेंगे या नहीं, यह क्रांतिकार्य चलाएंगे या नहीं, वे लोग मेरी प्रशंसा करेंगे या नहीं अथवा निन्दा करेंगे, इन विचारों के परे वे गए थे।

दिनांक २४-१२-१९१० को न्यायालय ने उन्हें आजीवन कारावास का दण्ड सुनाया। दिनांक ३१-१-१९११ को उन्हें पुनः आजीवन कारावास का दण्ड सुनाया गया।

लगभग ४० वर्ष बाद पुनः सावरकर जी को वैसी ही परिस्थितियों का सामना करना पड़ा था। शासन विरुद्ध था और लोग भी विरुद्ध थे। तिरस्कार की वेदी पर उनको खड़ा किया गया था।

दिनांक १०-२-१९४९ का दिन सभी अभियुक्तों को निर्णय सुनाया जाने वाला था। सावरकर जी का भाग्य भी उसी दिन के गर्भ में छिपा था।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है उस समय शासन का दृष्टिकोण सावरकर जी के विरुद्ध रोषपूर्ण था। मानो मुस्लिमराष्ट्र और हिन्दूराष्ट्र में युद्ध छेड़ा गया हो। मानो मुस्लिमराष्ट्र का नेता मारा गया हो। आपने हमारा नेता मारा, हम आपका नेता मारेंगे, ऐसे प्रतिशोध से जलने वाले मुस्लिमराष्ट्र ने हिन्दूराष्ट्र के सेनानी को घेरने की प्रतिज्ञा की हो। ऐसे अस्वाभाविक अहंकार में अपने ही शासन ने ज्वलन्त राष्ट्रभक्त सावरकर जी पर चोट करने का निश्चय किया था। अपने ही पैरों पर कुल्हाड़ी मार लेने जैसा वह कार्य था, परन्तु सावरकर जी पर हाथ डालने के लिए प्रजातंत्र में प्रचलित न्याय विषयक औपचारिकताओं को पूरा करना शासन के लिए अनिवार्य था।

अनेक असम्बद्ध सूत्रों को एकत्रित कर अभियोजकों ने उसका फन्दा बनाया था। यह फन्दा लीजिए, यह सावरकर जी के गले के चारों ओर ठीक बैठेगा ऐसा मानो उन्होंने न्याय देवता के सम्मुख निवेदन किया था।

कारागार में भी मूँज कूटने के अभ्यस्त सावरकर जी ने मानो उस फन्दे का रेशा-रेशा अलग-अलग कर न्याय देवता के सामने रख दिया था। उन्होंने यह सिद्ध किया था कि जिस रेशे में शक्ति न हो उसमें ऐंठन कैसे आ सकती है और जिस डोर में ऐंठन न हो उसको डोर नहीं कहा जा सकता और जो डोर न हो वह मुझे किस प्रकार फाँसेदी?

भाषालंकार में न्याय देवी अन्धी मानी जाती है। परन्तु वह देवी है, उसके अंतःचक्षु हैं, उसको स्पर्श ज्ञान है, संवेदना है। अभियोजकों द्वारा प्रस्तुत फन्दे को न्याय-देवी ने टटोला। सावरकर जी की सहायता से उस फन्दे की बुनाई की विलगता को अनुभव किया, सहजता से ढीले होने वाले उस फन्दे के खट से टुकड़े करके उन्हें अभियोजकों के सामने फेंक दिया। न्याय-देवी ने अभियोजकों की प्रताड़ना करते हुए मानो कहा हो—शासन को जाकर बताओ कि मेरा अस्तित्व किसी को भी और किसी फन्दे से फांसने के लिए नहीं है।

सावरकर जी को सम्बोधित कर न्याय-देवी ने कहा—सावरकर जी ! आप निरपराध हैं, आप निष्कलंक है। अपने राष्ट्र की ही भाँति आप भी स्वतंत्र हैं।

अनङ्गपाल के लालकोट अर्थात् लालकिले के बाहर प्रचण्ड जन-समुदाय एकत्रित था। बन्धनमुक्त सावरकर जी लालकिले से बाहर आ रहे थे, जन-समुदाय ने हिलोरें लीं। आकाश में प्रतिध्वनित होने वाले स्वर से उस जनसागर ने सावरकर जी का अभिवादन किया।

स्वातंत्र्य लक्ष्मी की जय!

अखण्ड भारत अमर रहे!!

स्वातंत्र्यवीर सावरकर की जय!!

दिल्ली में जमुना तट का दुर्ग अनंगपाल का बनाया लालकोट है। उसमें सूवर के मुख के परनाले आज भी विद्यमान है। मुगलो ने दुर्ग हड़प किया। अंदर के मन्दिर से मूर्तियाँ हटायी, मस्जिद् नाम दिया। झूठे कथा लेखको ने लिखा लाल किला शाहजहाँ ने बनवाया।
विकृत, विडंबनात्मक कथाओं को इतिहास नाम दिया है जो आज भी वैसाही पढ़ाया जाता है।

९ वियोग के दिन

रात के आठ बज रहे थे, लोहे की कैंचियाँ (ट्रसेस) जोड़ने का कार्य चल रहा था। लौंगकील (रिबेट) हथोड़े की चोट से गोल आकार ले रहे थे।

भट्टी के पंखे के लिए बिजली का प्रबन्ध नहीं था। दो लड़कियाँ बारी-बारी से पंखा घुमाती थीं। इस प्रकार एक घंटे तक भट्टी को जलते रखना था।

लड़कियों की माँ कैंचियाँ जोड़ने के काम में व्यस्त थी। उसको तनिक अवकाश है, यह देखकर उसकी एक लड़की ने उसे धीरे से कहा, 'माँ कल हम चावल और बेसन यही लाएंगे ताकि भट्टी पर ही चावल और बेसन बनाकर गरम-गरम खाया जा सके।'

इससे उसकी माँ को ध्यान में आया कि लड़कियों को भूख लगी है, वे थक गई हैं। घर जा कर रसोई बनाने तक वे अपनी भूख को नहीं रोक पाएंगी और भूखी ही सो जाएंगी। उसने अपनी लड़की का समाधान करते हुए कहा, 'अच्छा कल ऐसा ही करेंगे।'

भट्टी में डाले गये कीले शीघ्र ही लाल हो गए। उन्हें छेदों में डाल जोड़ा गया। नौ बजने की प्रतीक्षा न करते हुए, माँ ने काम बन्द कर दिया और लड़कियों को लेकर वह घर की ओर चल पड़ी।

मेरी पत्नी का नाम सिन्धु है। हमारी दो कन्याएं हैं, एक का नाम विद्युल्लता और दूसरी का नाम असिलता। मुझे फरवरी, १९४८ में जब पकड़ा गया था तो उस समय बड़ी कन्या की आयु दो वर्ष की थी और छोटी कोई ३-४ मास की। माँ और पिता, दोनों का ही उत्तरदायित्व पत्नी सिन्धु ही निभाती थी। इस प्रकार वह कन्याओं का पालन करती थी।

मेरे बड़े भाई, नथूराम से जो छोटे हैं, दत्तात्रय, 'उद्यम इंजीनियरिंग' नामक एक उद्योगालय चलाते थे। सिन्धु वहीं रहती थीं और उस उद्यम में काम करती थीं।

सगे-सम्बन्धियों में किसी प्रकार की कटुता अथवा दूरत्व न आ जाए, इस दृष्टि से सिन्धु ने पाँच-छ: वर्षों बाद अलग जाकर रहना आरंभ कर दिया। कन्याओं को लेकर वह वहाँ रहने लगी। 'प्रताप इंजीनियरिंग' नाम से उसने एक छोटा-सा उद्योगालय या वर्कशाप वहाँ स्वतन्त्र रूप से चलाना आरंभ कर दिया।

छोटे-छोटे कामों से स्थायित्व पाकर पाँच-छ: श्रमिक रखने तक 'प्रताप' ने उन्नति कर ली थी। सिन्धु स्वयं भी काम करती थी। कैंचियाँ बनाने का एक बड़ा काम उसने अपने हाथ में लिया था। परिस्थिति यह थी कि एक निश्चित अवधि में वह कार्य पूर्ण करके देना था। इतना ही नहीं यदि नियत समय पर काम पूर्ण न हो तो उसके लिये प्रति-दिन की गिनती से कुछ दंड भी था। काम ने अच्छी गति पकड़ी थी।

और ठीक उसी समय पर कुछ घरेलू समस्या के कारण उस दिन दो श्रमिक काम पर नहीं आए थे। श्रमिक महत्त्व के थे। कैंचियाँ दूसरे दिन दोपहर तक देनी थीं। सिन्धु के सम्मुख समस्या खड़ी थी।

कन्याओं की पाठशाला में ५-६ दिन का अवकाश था। उन्हें साथ लेकर ही सिन्धु उद्योगालय में जाती थी। रहने का स्थान तपकीर गली में था तो उद्योगालय जंगली महाराज मन्दिर के सामने। दोनों स्थानों में लगभग एक मील का अन्तर था।

साढ़े तीन या चार बजे उठकर नित्यकर्म से निवृत्त हो भोजन आदि बनाकर, कन्याओं को उठाना, उनको स्नानादि कराना फिर उनको अल्पाहार देना, उनके टिफिनबक्स में भोजन रखना और आठ बजे पूर्व उद्योगालय में पहुँच जाना, इस प्रकार का कार्यक्रम नित्य होता था सिन्धु का। घर आने पर दाल-भात पका कर रात्रि का भोजन करतीं थीं। सोने से पूर्व कन्याओं की पढ़ाई देखना, उनसे कुछ कंठस्थ करा लेना, यह सब वह नियमित रूप से करती थीं।

आने-जाने के लिये तांगा या रिक्शा जैसे वाहन का प्रयोग करना, उस समय उसकी परिस्थिति के बाहर की बात थी। दोपहर को पैदल घर जाकर भोजन करके आने में समय अधिक नष्ट होता था, इसलिये दोपहर का भोजन वह उद्योगशाला में ही ले आया करती थी।

जब उद्योगालय जाकर उसको विदित हुआ कि काम के दो विशिष्ट श्रमिक आज अनुपस्थित हैं तो उसको कुछ कठिनाई प्रतीत हुई। उसने दूसरे श्रमिकों को काम सौंपना चाहा। वे कहने लगे, 'हमने तो कभी यह काम किया ही नहीं है, हम कैसे करेंगे?' तब उसने उन्हें समझाया कि 'जिस प्रकार मैं कहूँ उस प्रकार करते जाओ।' भट्टी जलाई गई और कन्याओं को पंखा घुमाने पर लगा दिया। वह स्वयं कभी घन चलाती तो कभी कीलें ठीक स्थान पर लगा कर उस पर सांसा रखती। इस प्रकार करने से रात तक काम कुछ वश में आया और दूसरे दिन दो-तीन घंटे काम करने के बाद कैंचियाँ पूर्ण होने वाली थीं।

लड़कियों को भी उद्योगशाला के काम में रस आता था। ड्रिलिंग मशीन की लोहे की पट्टी पर पानी डालना, पट्टी तोड़ी जाते समय दूसरे छोर को पकड़ना, कोयला चुनना, भट्टी पर ध्यान रखना इत्यादि कार्य वे चाव से करती थीं। परिस्थितिवश खेलने-कूदने की आयु में ही यह खेल विधाता ने उनको प्रदान किया था।

आज का काम उनके लिये मात्र खेलने जैसा नहीं था। बाल्यावस्था में काम की विचित्रता में भी आनन्द आता है। एक ही काम करते रहने से मन ऊब जाता है, परन्तु आज दिन भर तो एक यही काम करना होगा, इसका आभास उनको हो चुका था। हाथ के कारण भी मन यदि अधिक थक गया हो तो भी थकान प्रकट करने का अथवा 'थक गई' शब्द उच्चारण न करने का उन्होंने मन ही मन निश्चय कर लिया था। अपनी कन्याओं को उनकी सामर्थ्य से बाहर का काम करना पड़ रहा है, इतना उनकी माता जानती थी, किन्तु एक ही दिन का प्रश्न था और फिर उनके श्रम का परिहार भी तो वही करने वाली थी। काम का महत्त्व था। इसलिये अपनी पुत्रियों के प्रति दया प्रकट करने का भी उनको आज अवसर

नहीं था। काम के विलम्ब के कारण दण्ड होने पर भी काम देने वाले (ग्राहकों) को जो हानि पहुँचेगी उससे उसकी भरपाई नहीं हो सकेगी, इसकी चुभन उसके मन में थी, क्योंकि वह काम भी तो अपने ही राष्ट्र के सुरक्षा विभाग का था। देश की सुरक्षा के प्रबन्ध को सुदृढ़ बनाने की योजना में सिन्धु सहयोग देती थी।

वचन के अनुसार दूसरे दिन कार्य पूर्ण हो गया था। तैयार माल को यथास्थान पहुँचवाया गया।

क्रान्तिकारियों को बन्दीवास होते ही उनके परिजनों, सम्बन्धियों यहाँ तक कि परिचितों तक को यातनाएँ प्राप्त होनी आरंभ हो जाती हैं। इतिहास की यही परम्परा है। मानव स्वभाव ऐसा है कि ऐसे अवसरों पर निकट सम्बन्धी भी दूर हट जाते हैं, सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि यदि क्रान्तिकारियों के परिवारों से हम सम्बन्ध रखेंगे तो न जाने हमें ही न पकड़ लिया जाए। ऐसा भय उसके मन में होने के कारण रास्ते में कभी आमने-सामने आकर भी परिचय दिखाने से आँखें चुराते हैं।

क्योंकि भयप्रद वातावरण बनाया जाता है, इस कारण ही उन व्यक्तियों के मनों में भय रहता है। आज के समाज में अब जाति से पृथक् करने की व्यवस्था नहीं रही। तदपि शासन इतना कठोर कर दिया जाता है कि उससे एक प्रकार से क्रान्तिकारियों के सम्बन्धियों का कंठ-सा ही घोट दिया जाता है।

गांधी-वध काण्ड में लगभग दस सहस्र हिन्दुओं को पकड़ा गया था। प्रत्येक व्यक्ति उस समय यही सोचता था कहीं उसका भी सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार गांधी-वध काण्ड से न जोड़ा जाए। जिनको पकड़ा गया था, वे भी सोचते थे कि न जाने किस प्रकार से उनका सम्बन्ध गांधी-वध से जोड़ा जाता है? लोगों को पकड़ने के निमित्त भी अनेक प्रकार के थे और विचित्र भी। कुछ तो ऐसे लोगों को पकड़ा गया था जो निरपवाद ही सामान्य थे। किसी के घर पर अखण्ड भारत का मानचित्र मिला, किसी के घर पर संघ की टोपी टंगी देखी गई, किसी के पास सावरकर जी का कोई ग्रन्थ दिखाई दे गया, किसी के घर में अनेक देशभक्तों के चित्र टंगे दिखाई दे गए, किन्तु उनमें गांधी के चित्र को नहीं देखा। किसी ने किसी को अपने पत्र में कहीं से गोडसे (मराठी में क्रियाविशेषण है गोड-से) अर्थात् मीठा-सा शब्द का प्रयोग किया हुआ, किसी के घर में एक से अधिक लाठियाँ दिखाई दे गईं, वह लाठियाँ संघ की थीं, ऐसा उनके पड़ोसियों ने बता दिया, और जिन घरों में इस प्रकार का कुछ भी न मिला हो, किन्तु किसी द्वेष के कारण उनको पकड़ना हो तो यह सोचा गया कि जिन-जिन घरों में हिन्दुत्व के स्वत्व की रक्षा की जाती है, ऐसा संशय था उन घरों तक के लोगों को शासन ने अपने आधीन कर लिया।

पकड़े हुए लोगों में से प्रत्येक का किसी न किसी प्रकार गांधी-वध से संबंध जोड़ कर निर्णय करने का कार्य यदि न्यायालय पर सौंपा जाता तो मैं सोचता हूँ कि यह कार्य आठ-दस वर्ष तक भी पूर्ण नहीं हो पाता। पकड़े गये लोगों में से अनेक ऐसे भी थे जिनका शासन के वरिष्ठ अधिकारियों से भी कुछ न कुछ सम्बन्ध निकलता था, ऐसी स्थिति में बीरबल की भाँति कुछ रेशम के फन्दे भी बनाकर रखने पड़ते थे। (जैसे, सोने का शूल

राजाधिराज को, क्योंकि वह भी तो किसी का जवाई है)।

परन्तु पकड़े हुए लोगों में से सभी को न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत नहीं किया गया। शासन का कार्य केवल आतंक फैलाना था, वह उसमें सफल हुई थी। 'नथूराम से अथवा षड्यन्त्रकारियों से हमारा सम्बन्ध नहीं', यह बात अनेक ने चिल्ला-चिल्लाकर और किसी ने साधारण रूप में कही थी। किसी ने तो बिना पूछे ही यह कह दिया कि 'वह मैं नहीं हूँ।' उस समय नथूराम से सम्बन्ध का अर्थ था गांधी-वध से सम्बन्ध, किन्तु नथूराम से सम्बन्ध गांधी-हत्या से सम्बन्ध यह एक नियम नहीं हो सकता। अथवा यह अनिवार्य नहीं कि नथूराम से सम्बन्ध का अभिप्राय गांधी-वध से भी सम्बन्ध है, इतना विवेकपूर्ण विचार करने की मन:स्थिति उस समय लोगों की नहीं रही थी।

क्रान्तिकारियों के विषय में ही यदि कहना हो तो यह सभी जानते हैं कि जिस समय क्रान्तिकारी किसी प्रकार का कार्य करने का निश्चय कर लेता है तो वह तभी ठान लेता है कि वह अग्नि से खेल रहा है और उसका जीवन उसके अधिकार में नहीं है, यह बात वह उस क्षण से ही गांठ बांध लेता है। तब उसके हाथ में रह जाता है तो केवल इतना ही कि इस जीवन का जितना अधिक से अधिक उपयोग उस सुकार्य के लिये हो सके, जिसका उसने निश्चय किया है, उतना करने का यत्न करना। माता-पिता का वात्सल्य, पत्नी का प्रेम, सम्बन्धियों अथवा परिजनों का मोह, यह सब नाते-बन्धन वह तोड़ देता है। जिस समय कोई सैनिक युद्धक्षेत्र के लिये प्रस्थान करता है उस समय उसके घर वालों को एक विशिष्ट प्रकार की कल्पना एवं अनुभूति रहती है। और वे उस समय उस सम्बन्ध में जितनी परिसीमा तक सोच सकते हैं उसकी भी कल्पना कर लेते हैं। किन्तु क्रान्तिकारी जब किसी कार्य पर जाता है तो वह इस स्थिति में नहीं होता कि अपने परिजनों को उससे परिचित करावे। जब वह घर से निकलता है तो घर का त्याग करके ही निकलता है। उसके घर से जाने के बाद उसके घर का क्या होगा, इसकी चिन्ता उसको नहीं रहती। 'संन्यास दीक्षा' तो लेनी थी, परन्तु भैंस बियाने वाली है, इसलिये रुक गया हूँ। इस प्रकार की बात जो करेगा उसके पाँव कभी घर से बाहर निकल ही नहीं सकते। जिसको बाहर निकालना होता है। उसका जी घर की वस्तुओं में अटका नहीं रहता।

किसी न किसी सीमा तक क्रान्तिकारियों का इतिहास आज या कल, लोगों के सामने आता ही है। और उनके कार्य की पृष्ठभूमि में अवस्थित भावना का भी आदर होता ही है। एक समय के 'सिर फिरे' कालान्तर में उसी समाज की भावी पीढ़ी में 'राष्ट्रभक्तों के नाते' सम्मानित किए जाते हैं, किन्तु जिन्होंने उनको सिरफिरे कहा था उस पीढ़ी को भी वे क्रान्तिकारी दोष नहीं देते। क्योंकि वे जानते हैं कि भय के कारण, आतंक के परिणाम के कारण उनको वैसा कहना पड़ा था।

जिस परिवार से क्रान्तिकारी सम्बन्धित होते हैं, उनके पीछे उस घर का क्या होता है, उनके निकट सम्बन्धियों और आश्रितों की अवस्था क्या होती है, साधारण रूप से इस ओर समाज का ध्यान नहीं जाता। वस्तुस्थिति तो यह होती है कि क्रान्तिकारी स्वयं जो यातनाएँ सहता है उससे अधिक यातनाएँ उसके सम्बन्धियों अथवा आश्रितों को भी सहनी

पड़ती हैं। उनके चारों ओर आतंक का बड़वानल प्रज्ज्वलित रहता है। उनको कोई अपने घर में नहीं आने देता, अपने द्वार की ओर झांकने की भी अनुमति नहीं देता। परिचित होने से इंकार कर देते हैं। वे दूर से ही खिसक जाते हैं। इस प्रकार एक प्रकार से अलिखित-सा बहिष्कार उन पर लाद दिया जाता है।

निर्जन रेगिस्तानी मैदानों में भी कभी-कभी नैसर्गिक उर्वरा भूमि के लक्षण दिखाई देने लगते हैं। उसके आसपास हरियाली दीखती है, ऐसी संसार की विचित्र रचना है। क्रान्तिकारियों के सम्बन्धियों को अपनाने वाले लोग बड़वानल का भय रहते हुए भी कभी-कभी सामने खड़े दिखाई दे जाते हैं, यह भी संसार की उस रचना के अनुसार ही इतिहास की विस्मयकारी परम्परा है। अपेक्षा न होते हुए भी कोई पास आता है, कहता है—अपने को निराश्रित मत समझो, हम तुम्हारे साथ हैं, तुम्हारा जो भवितव्य होगा उसमें हम भी साथी बनेंगे, निराश होने की आवश्यकता नहीं। साहस एवं धैर्य से जीवन बिताने से सब काम सुलझ जाते हैं।' तब विवशता एवं अनिच्छा से ऐसे व्यक्तियों के आश्रय से चलना पड़ जाता है।

तब आश्रयार्थी मन में सोचने लगता है कि जहाँ अधिकार के नाते वे जा सकते थे उन लोगों ने तो तुरन्त उनके लिए अपने द्वार बन्द रखे और जिनका कदाचित दूर का सम्बन्ध तो क्या परिचय-मात्र होगा उन्होंने सहारा दिया। स्वाभिमानी मन इस प्रकार सोचता तो है, किन्तु उपकार का बोझ सिर पर होने पर भी वह उसको प्रकट नहीं कर सकता।

कई सम्बन्धियों को गांधी-हत्या का निमित्त करके महाराष्ट्र में ही निर्वासित किया गया। ऐसे अनेक जनों को इस प्रकार के अनुभव हुए हैं, जिनके घर लूट लिए गए या गांधी जी के अनुयायियों ने जला दिए।

बड़े भाई श्री दत्तात्रय ने 'उद्यम इंजीनियरिंग उद्योगशाला' को गांधी-वध से कई दिन पूर्व लिमिटेड 'कम्पनी' बनाया था। विचार में कई योजनाएँ थीं, उसी दृष्टि से कार्य भी किया जाने लगा था, किन्तु गांधी-वध के निमित्त श्री दत्तात्रय को भी बन्दी बना लिया गया था। आठ मास तक उनको कारावास में रखा। इस अवधि में उद्योगशाला नष्ट हो गई। मुक्त होने पर उन्होंने नया प्रयास किया। नया प्रयास सफल होने के लक्षण दिखाई दिए। यद्यपि कई कार्य हानि उठाकर भी करने पड़े। इससे प्रगति में बाधा आती रही। जब फिर प्रयत्न किया तो पानशेत बंधारा टूटा। उसकी बाढ़ के रूप में साक्षात प्रकृति के प्रकोप से सब कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो गया। आपत्तियों के एक साथ एकत्रित होने पर उस 'मर्यादित' उद्योगशाला का स्वेच्छिक दीवालिया निकालने जैसा (वालंटरी लिक्विडेशन जैसा) अपमानजनक अवसर उत्पन्न हुआ। स्वयं रोपे हुए वृक्ष को अन्यों से खाद-पानी मँगाकर बढ़ाने के बाद फल की प्रतीक्षा करने की शक्ति न रहने के कारण अपने हाथ से ही उस वृक्ष को तोड़कर उस सूखे लकड़ी के मूल्यहीन टुकड़ों को बाँटने की बारी आए, इससे जो दु:ख होता है वह उस वृक्ष को रोपने वाला ही जानता है। तब उस पर आरोप लगाया जाता है कि दूसरे के धन का उचित उपयोग नहीं किया गया, किन्तु इस आरोप का कोई उत्तर तो दिया ही नहीं जा सकता। पराजय की टीस मन में होती है। व्यवसाय वृद्धि की दृष्टि से सार्वजनिक

रूप से भी ऐसी घटनाओं का अवांछनीय परिणाम होता है। नया उद्योग करने वाले पर पुनः विश्वास नहीं किया जाता।

गांधी-वध के बाद घर छोड़ने पर बाध्य होकर मेरी पत्नी कई दिन तक अपनी कन्याओं को लेकर अपने मायके में रही। मायके में लोगों ने उसको निडरता से वहाँ रख लिया। कुछ दिनों तक तो उन्होंने मेरे माता-पिता को भी अपने पास रखा था। कई मास के बाद सौ० शान्ताबाई गोखले ने मेरे माता-पिता को अपने घर में रहने के लिये स्थान दिया। उस भयकारी समय में उनकी वह सहायता वस्तुतः अमूल्य थी।

गांधी-वध प्रकरण की छानबीन के लिये हम सभी आरोपियों को बम्बई गुप्तचर विभाग के कार्यालय में रखा गया था। घर के लोगों के मिलने की स्वतन्त्रता होती थी। पहली एक-दो भेंटवार्ता में घर की उथल-पुथल का समाचार मिला था। अभी तक सबों के घरों के लोगों की भेटवार्ताएँ संपन्न नहीं हुई थीं, मिलकर नहीं गये थे। इससे सभी को अपने घर की स्थिति समझ में नहीं आ रही थी।

श्री दत्तात्रय के बन्दी बनाए जाने के बाद घर का कारोबार उनकी पत्नी सरोजिनी योग्यता के साथ देख रही थीं। श्री गोविंद हम बन्धुओं में सबसे छोटा था, वह भी 'उद्यम' में काम करता था। इसके अतिरिक्त अपनी शक्ति के अनुसार वह भी कुछ और कार्य भी कर ही रहा था।

सिन्धु के पास जो पैसे थे, वे एक-दो यात्राओं में ही समाप्त हो गए थे।

न्यायालयीन कार्यवाही की व्यवस्था आदि के लिये और अधिक साक्षात्कारों की आवश्यकता थी। अतः धन की आवश्यकता थी। अपने मायके से पैसे माँगना उसको अच्छा नहीं लगता था, अन्य कोई उद्योग करना उस समय संभव न होने के कारण उसने घरों में कपड़े धोने और पानी भरने जैसे छोटे-छोटे दो-तीन काम आरंभ कर दिए। ऐसे ही एक घर में एक वृद्धा स्त्री रुग्णशय्या पर थी। उसके कपड़े धोने का काम सिन्धु को मिला था। उस महिला के पति सेवानिवृत्त व्यक्ति थे। उनको अण्णा कहते थे। इस कार्य को करते हुए सिन्धु को पन्द्रह-बीस दिन हो गए थे।

अपने ही संगीत की धुन की एकाग्रता में 'दि मिलर ऑफ दि डी', इस कविता की पंक्तियाँ गुनगुनाते हुए सिन्धु कपड़े धो रही थी। अण्णा साहब ने उनकी कुछ पंक्तियाँ उसे गुनगुनाते हुए सुन ली थीं। उन्होंने अपनी पत्नी के पास जाकर कहा, जब वह लड़की कपड़े धो चुके तो उसे मेरे पास भेज देना।

उस स्त्री ने, जिसे सिन्धु आत्याबाई अर्थात् फूफी कहती थी, अपने पति का सन्देश उसको सुनाया। कदाचित् कुछ और धोने के लिये होगा, इसका विचारकर सिन्धु उनके पास चली गई, किन्तु वस्त्र तो धोने के लिये थे नहीं। अण्णा को कुछ कहना ही था। उन्होंने सिन्धु से पूछा, 'तुम क्या गा रही थी?'

'कब? मैं तो कुछ नहीं गा रही थी।'

'कुछ समय पूर्व तुम कौन-सी कविता गुनगुना रही थी?'

'अच्छा, उसके विषय में पूछ रहे हैं। कुछ तो भी गुनगुनाते रहने से काम की थकावट

अनुभव नहीं होती और कार्य भी शीघ्रता से पूर्ण हो जाता है, कम से कम मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है।'

'कौन-सी कविता थी?'

'दि मिलर ऑफ दि डी।'

'क्या तुम्हें पूरी कविता आती है?'

'आती है।'

'फिर सुनाओ तो।'

सिन्धु ने सम्पूर्ण कविता सुना दी। उसके स्पष्ट उच्चारण, उत्कृष्ट स्वर एवं लय से अण्णा को विस्मय हुआ। विशेषकर इसलिए कि एक घरेलू काम करने वाली ऐसा कर सकती है। वे बोले, 'यह कब पढ़ी थी?'

'हमारी अंग्रेजी की चौथी कक्षा की पुस्तक में थी।'

'फिर आगे क्यों नहीं पढ़ी?'

'पढ़ी थी।'

'कितना पढ़ा?' 'मैट्रिक तक?'

'जी हाँ।'

'फिर क्या कॉलेज नहीं जा सकीं?' अण्णा ने और उत्सुकता से पूछा।

'कॉलेज गई थी।'

'मैंने बी. ए. किया है।'

सिन्धु की प्रत्येक बात से अण्णा का विस्मय क्षण-क्षण बढ़ता जाता था। उपाधि प्राप्त लड़की कपड़े धोने का कार्य कर रही है, यह क्या मामला है। उनकी समझ में बात नहीं आ रही थी। 'जिस प्रकार वेतनभोगी लोग टालमटोली से काम करते हैं, उस प्रकार का काम यह लड़की नहीं करती,' ऐसा अण्णा की पत्नी उनको बता चुकी थी। स्वास्थ्य की पूछताछ और सेवा-सुश्रूषा भी वह घर के व्यक्ति की ही भाँति करती है, यह भी उनके सुनने में आया था। इस सुशील कन्या पर किसी न किसी प्रकार की आपत्ति आई होगी, ऐसा अण्णा ने विचार किया। इससे पूर्व उन्होंने उसका पता आदि कुछ भी नहीं पूछा था, किन्तु आज पूछे बिना न रह सके। उन्होंने पूछा, 'तुम कहाँ रहती हो?'

सिन्धु ने अपने रहने का स्थान बता दिया। अण्णा को सन्तोष नहीं हुआ। लड़की विवाहित दीखती थी। कुछ और जानने के उद्देश्य से मुख्य प्रश्न किया, 'तुम्हारे पति...?'

'वे कारावास में हैं।'

'कारावास में? क्यों?'

'गांधी-वध के बाद जो लोग पकड़े गये थे, उनमें से एक वे भी हैं।

'तुम्हारा पूरा नाम क्या है?'

'सिन्धु गोपाल गोडसे।'

'यानी-यानी गोपाल गोडसे की पत्नी हो तुम? नथूराम की भाभी?'

'जी हाँ।'

'कितना संकट है यह...' मानों अपने मन में अण्णा कह रहे हों। इसके बाद ही उनकी आँखें झरने लगीं और सिसकियाँ निकलने लगीं। वह अपने आपको रोक नहीं सके।

सिन्धु को वहाँ खड़ा रहना कठिन प्रतीत होने लगा। दो-तीन मिनट रुक कर उसने पूछा, 'अच्छा तो मैं जाऊँ?'

हाथ से ही उन्होंने रुकने का संकेत किया। कुछ क्षणों में ही उन्होंने अपने दुःखावेग को संयत किया, आँखें पोंछी और भर्रायी ध्वनि में वे बोले, 'तुम यह काम क्यों करती हो?'

'गृहस्थी है, मेरी दो कन्याएँ हैं और गृहस्थी का बोझ है। इसके अतिरिक्त अपने पति को मिलने के लिये भी बम्बई जाना पड़ता है।'

कील पर टंगे कोट की जेब में से अण्णा ने बीस रुपये निकाले और बोले, 'तुम यह काम मत करो, मैं तुम्हें प्रति मास पैसे देता जाऊँगा।'

'मुझे वैसे पैसे नहीं चाहिएं। कम से कम आज की स्थिति में तो चाहिये ही नहीं। मैं सुशिक्षिता हूँ, सुसंस्कृता हूँ। शारीरिक श्रम से और कभी बुद्धि श्रम से स्वावलम्बिनी बनने की मेरी क्षमता है। संप्राप्त विपत्ति में मुझे यदि टिका रहना न आया तो फिर मेरी शिक्षा-दीक्षा का क्या उपयोग? मैंने कभी यह नहीं सोचा कि शारीरिक श्रम का कार्य तुच्छ होता है और बौद्धिक श्रम का कार्य श्रेष्ठ। मेरी ऐसी धारणा कभी नहीं रही।'

अण्णा ने स्वयं को संभाल लिया। वे बोले, 'मैं तुम्हें ये पैसे वैसे ही नहीं दे रहा। मेरे कुछ न्यायालयीन कागज-पत्र हैं। तुम उनकी प्रतिलिपि बना कर दे दो। किसी न किसी को तो मुझे वह काम देना ही था, वह तुम कर दो।'

'मैं आनन्द से वह कार्य करूँगी और अच्छा कर दूँगी।'

'मुझे ऐसा ही विश्वास है।' वे बोले और फिर कहने लगे, 'परन्तु कल से तुम ये कपड़े धोने के लिये मत आना।'

'क्या? आपके ही शब्दों में आपके यहाँ नहीं तो किसी न किसी के यहाँ तो मैं यह काम करूँगी ही। आत्याबाई (फूफी) को भी अब अच्छा लगने लगा है। उन्हें मेरे थोड़े से सम्पर्क से ही उत्साह प्रतीत होता है, ऐसा वे कहती हैं। अभी पन्द्रह दिन तक मैं और आऊँगी, तब तक वे पूर्ण स्वस्थ हो जाएंगी। बाद में फिर मैं आना बन्द कर दूँगी।'

इसके बाद सिन्धु को उस घर की महरी नहीं, अपितु घर की ही एक सदस्या के रूप में माना जाने लगा था।

नौकरी के लिये सिन्धु कई संस्थाओं में गई थी। कई स्थानों पर प्रथम उसकी मौखिक परीक्षा ली जाती थी, उसमें वह सफल होती थी। निर्णय लेने वाले अधिकारी और ही होते थे। जब वे देखते कि नाम गोडसे है और उस पर भी गोपाल गोडसे की पत्नी, इस कारण उसको अस्वीकार कर देते थे।

एक संस्था के एक वरिष्ठ अधिकारी कुछ सहानुभूति रखने वाले थे। मौखिक परीक्षा के बाद उन्होंने सिन्धु को भेंट के लिये बुलाया। भेंट में वे तुरन्त ही बोले 'आप अपने मायके का उपनाम इस समय धारण कर लीजिए और यहाँ पर काम आरंभ कर दीजिए।'

सिन्धु ने कहा, 'आपकी इस सहानुभूति के लिये धन्यवाद, किन्तु मैंने गोडसे बनी रहने के लिये ही विवाह किया था और वही मैं अन्त तक बनी भी रहूँगी। यदि मेरा पतन हुआ तो वह भी गोडसे नाम से ही होगा, उद्धार हुआ तो वह भी उसी नाम से होगा। ऐसा लगता है कि गोडसे नाम से आपकी संस्था को भी आपत्ति आने का भय आपको है। आप संस्था को निरपवाद रहने दीजिए। आपकी सहानुभूति के लिये धन्यवाद। मैं चलती हूँ। नमस्कार।' यह कह, बिना उसकी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा किए, वह वहाँ से चली आई।

एक बार दीपावली के अवसर पर सिन्धु को एक पत्र आया। खोलकर देखा तो उसमें पच्चीस रुपये और एक पत्र था। वह पत्र उसी वरिष्ठ अधिकारी का था। उन्होंने उस पूर्व घटना का स्मरण कराया था और उस अवसर पर वे उसकी सहायता नहीं कर सके थे, इसका खेद भी व्यक्त किया। उसके साहस की प्रशंसा की थी और एक भाई की ओर से मुँह बोली बहन को दीवाली की भेंट के रूप में भेजे गये पच्चीस रुपये स्वीकार करने की प्रार्थना की थी।

गांधी-वध षड्यन्त्र के अभियुक्तों को न्यायिक सहायता देने के लिये एक समिति का गठन किया गया था। समिति का निश्चय था कि धन एकत्रित कर विधि-विशेषज्ञों की सहायता प्राप्त की जाए। स्व० ल. ब. भोपटकर, स्व० जमनादास मेहता, स्व. रामभाऊ मण्डलिक, स्व० ज. स. करंदीकर, श्री ग. वि. केतकर, श्री ज. श्री तिलक आदि लोगों ने उसमें अपना योगदान दिया था।

बचाव पक्ष के वकीलों की व्यवस्था इस निधि में से हुई थी। लगभग एक लाख रुपयों का आदान-प्रदान हुआ। इस निधि का निर्देश करते हुए श्री ग. वि. केतकर ने एक बार कहा था, 'यही एक निधि ऐसी थी जिसके लिए अपने दिए हुए धन की रसीद भी नहीं माँगी गई।

कभी-कभी बिना कारण श्रेय लेने का प्रयत्न कई लोगों का होता है। ऐसे प्रयत्न में अवलम्बितों को कष्ट ही पहुँचता है। सिन्धु के साथ इस प्रकार की कई घटनाएँ हुई थीं।

न्याय सहायता के लिये निधि एकत्रित की जाती थी। आरोपी कितने होंगे, उस समय इसकी ठीक कल्पना नहीं थी। न्याय सहायता का वृत्त समझने के लिये सिन्धु एक बार 'केसरी' कार्यालय में गई। उस समय तात्या अर्थात् श्री ज. स. करन्दीकर बाहर निकल रहे थे। सिन्धु को देखकर वे रुक गए। उन्होंने पूछा, 'सिन्धु! क्या तुम्हारी साड़ी फट गई है? नयी लेनी है?

प्रश्न नितान्त अनपेक्षित था। सिन्धु को भलीभाँति ज्ञान था कि उसकी साड़ी पुरानी होने पर भी फटी हुई नहीं है। उसने प्रतिप्रश्न किया, 'किसने कहा?'

'अभी निधि के सम्बन्धित लोगों की बैठक हुई थी, किसी ने उस समय इस प्रकार का प्रस्ताव रखा था कि तुम्हारी सास तथा तुम्हारे लिये साड़ी मोल लेने के लिए निधि में से चालीस रुपये दिए जाएं।'

सिन्धु को विस्मय हुआ। उसने पूछा, 'क्या निर्णय लिया गया?'

'कोई निर्णय नहीं लिया। अगली बैठक में इसका निश्चय होगा।'

सिन्धु ने कहा, 'यह देखिये, अभी तो तीन मास ही हुए हैं। इतने में ही साड़ियों के विदीर्ण होने और उनके लिये याचना करने का समय नहीं आया। अपने जैसे घरों में केवल एक-दो ही साड़ियाँ नहीं हुआ करतीं और हमारे पुरुष लोग हमारी साड़ियाँ लेकर तो दिल्ली गए नहीं थे।'

तात्या खुले मन से हंसे और बोले, 'ठीक है। पर कभी ऐसी अड़चन आए तो संकोच मत करना।'

सिन्धु ने कहा, 'तात्या! मुझे आपके या सम्बन्धित निधि के किसी व्यक्ति के पास जाने के लिये किसी मध्यस्थ की आवश्यकता होगी क्या? यदि किसी ने स्वेच्छा से कभी ऐसा प्रस्ताव किया तो उसकी मुझे सूचना देकर छानबीन करवा लीजियेगा, अन्यथा कहीं ऐसा न हो कि न्याय सहायता के लिये एकत्रित निधि न्याय सहायता का अवसर आने से पूर्व ही फटी साड़ियों में न उलझ जाए। क्योंकि जो अभियुक्त होंगे उनसे सम्बन्धित हम दो ही, (मैं और मेरी सास) ही स्त्रियाँ नहीं होंगी।'

सामाजिक निधि को जिस कार्य के लिये एकत्रित किया गया है उसका उपयोग उसके लिये ही होना चाहिए,यह बात सिन्धु ने अपने कथन से स्पष्ट की थी। तात्या को इस बात से बड़ी प्रसन्नता हुई। इतने संकट की परिस्थिति में यह लड़की होते हुए भी उसमें अभिव्यक्ति के तीनों लक्षण अभिधा, लक्षणा और व्यंजना यथावसर विद्यमान हैं और उसका तेज तनिक भी क्षीण नहीं हुआ, इससे उन्हें विशेष आनन्द एवं विस्मय हुआ।

सिन्धु ने अपना स्वतन्त्र उद्योग खड़ा करने का निश्चय किया। उद्योगशाला के लिए और रहने के लिये स्थान देखा। उसने उद्योग प्रारंभ कर दिया। ऐसा भारी उद्योग अथवा व्यवसाय आज तक किसी महिला ने किया हो, ऐसा कोई अन्य उदाहरण ज्ञात नहीं है। इससे कभी-कभी वह हतोत्साह एवं निराश भी हो जाया करती थी। किन्तु उसने थोड़े ही दिनों में यह सिद्ध कर दिया कि ऐसा उद्योग केवल पुरुष-वर्ग का ही एकाधिकार है, ऐसी बात नहीं है। उस क्षेत्र में व्यवसाय करने वाले लोगों ने देखा कि 'प्रताप उद्योगालय' का कार्य निम्न श्रेणी का कभी नहीं होता था।

झूठी सहानुभूति दिखाने की अवसरवादिता कई स्वार्थी लोगों की होती है। 'आपकी दशा को ध्यान में रख कर यह कार्य आपको दिया जाता है, इसलिये इस सस्ते भाव से ही आप इसे ग्रहण कीजिए।' ऐसा आग्रह करने वाले भी लोग होते हैं। अपने कार्य और कार्य की गुणवत्ता पर सिन्धु का विश्वास था। ऐसे अवसरों पर वह कह देती 'मेरी दशा को देखने की आवश्यकता नहीं। वस्तु की श्रेष्ठता अथवा कार्य को उत्कृष्टता तथा मूल्य की उपयुक्तता यदि आपको ठीक प्रतीत हो तो हमारे साथ व्यवहार कीजिए। काम में यदि दोष रहा तो उसे सुधारने का दायित्व मेरा है। यदि इसके लिये हानि उठानी पड़े तो वह मैं उठा सकती हूँ। मेरे पति का कारावास मेरे व्यावसायिक कार्य की गुणवत्ता नहीं है।'

कभी-कभी किसी संस्था के लिये 'प्रताप' ने बिना लाभ के भी काम किया है। केवल इतना ही नहीं कई संस्थाओं को बिना मूल्य वस्तुएँ बनाकर दी हैं।

समीपस्थ एक गांधी स्मारक संस्था ने आठ सौ रुपयों का एक काम देने की इच्छा व्यक्त की। 'सार्वजनिक संस्था होने के कारण आप अपने सहयोग के रूप में बिना पारिश्रमिक लिये यह कार्य कर दीजिये, क्योंकि आपने अमुक संस्था के लिये ऐसा किया था', ऐसा उसके संचालकों ने कहा।

सिन्धु ने कहा, उस संस्था की स्थिति आर्थिक दृष्टि से दुर्बल है। आपकी वह स्थिति नहीं है। तो भी मैं एक शर्त पर बिना मूल्य काम करके देने के लिये प्रस्तुत हूँ।

कौन-सी शर्त?

मैं उस पर यह अंकित करवाऊँगी 'हुतात्मा पण्डित नथूराम गोडसे और नाना आपटे की स्मृति में भेंट।' यदि आपको स्वीकार हो तो बताइए।

संचालक का कथन था, 'यह कैसे संभव है? आप तो उनके कार्य की प्रशंसा कर रही हैं!'

सिन्धु ने कहा, 'कार्य की प्रेरक भावना की प्रशंसा होती है। उन्होंने जो अवैध कार्य किया था, उसके लिए तो उनको न्यायोचित मृत्युदण्ड मिल ही गया, परन्तु उन्होंने कुछ अराष्ट्रीय कार्य किया, ऐसा उन पर कोई आरोप नहीं था। अराष्ट्रीय कार्य के पीछे की भावना निश्चय ही निन्दनीय है। जितनी आपकी संस्था सार्वजनिक है उतनी ही उनकी मृत्यु भी सार्वजनिक थी, यह आप जानते ही हैं। आपकी जानकारी के लिये कहती हूँ स्वयं फाँसी पर चढ़ने से पूर्व पण्डित नथूराम की एक राष्ट्रीय सार्वजनिक समारोह के लिए दी हुई १०१ रुपये की भेंट को शासनाधिष्ठित व्यक्तियों ने स्वीकार किया है। आप बिना मूल्य काम चाहते हैं, आपके पास पैसे होते हुए भी मुफ्त का काम चाहते हैं, और आप यह भी देखते हैं कि इस उद्योग से मेरा पेट भी अच्छी प्रकार नहीं भर पाता है, फिर भी आप बिना मूल्य काम चाहते हैं, तभी इस शर्त का प्रश्न उपस्थित हुआ है।'

'अर्थात् काम टालने के लिये आपका यह सब कथन है?'

'आप भ्रम में हैं। आप पैसे दीजिये। तब शर्त का कोई प्रश्न ही नहीं। काम करने के लिये ही तो मैंने यह उद्योग चलाया है।'

'आपकी शर्त यदि मान ली गई तो आप काम कब तक करके दे देंगी?'

'चार दिन के बाद जब भी आप कहेंगे उस दिन आपको मिल जाएगा।'

'आपकी अपेक्षा हम मण्डल के सम्मुख रखेंगे, उसके निर्णय से आपको अवगत कर देंगे।' ऐसा कह कर वे लोग चले गए।

दो दिन बाद वे लोग फिर आए। उन्होंने कहा, 'मण्डल का यह निश्चय है कि हमें आपसे ही काम करवाना है, किन्तु आपकी शर्त पर नहीं अपितु मूल्य चुका कर।'

निश्चित अवधि में 'प्रताप' ने उनका कार्य पूर्ण करके दिया। फिर आस-पास की एक दो और भी गांधी स्मारक संस्थाओं का कार्य 'प्रताप' ने किया। उनके संचालकों में संकुचित वृत्ति नहीं थी। शासकीय संस्थाओं ने भी किसी प्रकार का भेदभाव न रखते हुए 'प्रताप' से कार्य करवाया।

व्यवसाय की सफलता उसके स्वामी की योग्यता पर निर्भर होती है, किन्तु वही

एकमेव कारण होता है, ऐसी बात नहीं है। उसकी योग्यता को अवसर मिलना भी तो अनेक अन्य बातों पर निर्भर रहता है। समाज के व्यक्ति, एक दूसरे को सहानुभूति के सहारे ही खड़े रहते हैं। सिन्धु का उद्योग स्थिर रह सका इसके लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात उसके उद्योग को समाज द्वारा मिला हुआ प्रामाणिक प्रोत्साहन था। ऐसी प्रमाणिक सहानुभूति रखने वाले व्यक्तियों के कारण ही उसकी योग्यता को फलने-फूलने का अवसर मिला। इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं।

जिस तपकीर गली में सिन्धु रहती थी, वहाँ का वातावरण और पास-पड़ौस अच्छा नहीं था। किसी अन्य स्थान पर निवास के लिए स्थान नहीं मिल पा रहा था। यदि कहीं स्थान मिलता भी तो उतने पैसे पास में नहीं होते थे,जिससे कि उसको लिया जा सके। श्री भाऊराव (न. गो.) अभ्यंकर जी का घर जंगली महाराज के रास्ते पर था। उस घर में एक अन्य मंजिल का निर्माण किया जा रहा था। सिन्धु ने अनुरोध किया तो उन्होंने उसको उसमें स्थान दे दिया।

श्री भाऊराव की पत्नी (भाभी) और सिन्धु में मित्रता थी। सान्निध्य से वह मित्रता और गहरी हुई। उद्योगालय और घर सम्भालने का दुगुना बोझ सिन्धु पर था। इस बात को स्मरण रखते हुए ही भाऊराव ने सिन्धु की बहुत सहायता की थी। अभ्यंकर दम्पत्ति सिन्धु को अपनी कन्या समझते थे।

मेरी मुक्ति के लिए सिन्धु शासकीय अधिकारियों के पास आया-जाया करती थी। यशवन्तराव चाह्वाण उस समय बम्बइ के मुख्यमन्त्री थे। बन्दी का बर्ताव सब दृष्टि से अच्छा है, ऐसा मुक्त कण्ठ से कहा जाता था, किन्तु मुक्ति के प्रश्न को केवल टाला जा रहा था। सिन्धु ने एक बार यशवन्तराव से भेंट में कहा, 'ऐसा दिखता है कि आप उमाबाई की भाँति मेरी भी अवस्था करने वाले हैं। कल आपकी सीमा पर आक्रमण हुआ तो युद्ध के लिए देने को मेरे पास लड़का नहीं है।'

—बड़े बाजीराव के सरदार खण्डेराव दाभाड़े लड़ाई में मारे गये थे। एक लड़ाई पर जाते समय रास्ते में बाजीराव खण्डेराव की पत्नी उमाबाई के पास ठहरे थे। बिदा होते समय उमाबाई की आँखों में आँसू आ गये। बाजीराव ने सान्त्वना दी, 'उमाबाई! जो कुछ हुआ उसको टालने का कोई उपाय नहीं है। अब तो साहस और धैर्य से ही काम लेना होगा।'

तब उमाबाई ने कहा था, 'श्रीमंत आपने स्वयं मुझे सान्त्वना देने के लिये यहाँ आकर मेरा बहुत आदर किया है, मैं पति की मृत्यु पर शोक के कारण नहीं रो रही। मुझे तो दु:ख इस बात का है। आज आप युद्ध के लिये जा रहे हैं, आपके साथ भेजने के लिए मेरे पास लड़का नहीं है।'

इतिहास की इस बात को स्मरण कर सिन्धु के मुख से निकले उद्गारों से यशवन्तराव का मन भी एक बार पसीज गया था, परन्तु वह तो यशवन्तराव नामक व्यक्ति का मन उद्विग्न हुआ था, न कि बम्बई के मुख्यमन्त्री यशवन्तराव चह्वाण का।

गोआ का मुक्ति-संग्राम जारी था। अनेक युवकों ने उसमें भाग लिया था। सात लोगों के एक जत्थे में नारायण दत्तात्रय कुलकर्णी नामक एक युवक भी था। सिन्धु नारायण के

(नाना के) पड़ोस में रहती थी। नाना का उसके यहाँ आना-जाना चलता था। उद्योग के लिये वह वर्धा से पूना आकर रहने लगा था। परिश्रमी, मिलनसार और लम्बे-चौड़े डील-डौल वाले स्वच्छन्द स्वभाव के इस व्यक्ति में भी एक चुभन थी। उसको बचपन में माँ का वात्सल्य प्राप्त नहीं हुआ था। संवेदनशील मन को कई प्रसंगों में विशेषतया बहुत दु:ख अथवा आनन्द के प्रसंगों में इस बात की त्रुटि का तीव्रता से अनुभव होती है। उस समय 'तीन लोक का स्वामी भी माँ के अभाव में भिक्षुक-सा बन जाता है।' तब सामान्य व्यक्ति की तो बात ही क्या?

सिन्धु ने वात्सल्य की पूर्ति की। नाना हमारे घर में आज भी मुँह बोले पुत्र के नाते से रहता है।

१९६२ में मेरा स्थानान्तर नासिक से औरंगाबाद (संभाजीनगर) बन्दीगृह में किया गया। सर्वोच्च न्यायालय में मेरा एक आवेदन था। उसके सम्बन्ध में मुझे परामर्श चाहिए था। उसके लिये कई पुस्तकें भी मँगानी थीं। उसके लिये सिन्धु को हमसे दो-तीन बार साक्षात् करना आवश्यक था।

इसकी अनुमति के लिये सिन्धु 'इन्सपेक्टर जनरल आफ प्रिजन्स' से मिली। उन्होंने कहा, 'गोडसे हमारे नियम नहीं मानते, वे नियमों के विरुद्ध बर्ताव करते हैं। हमसे झगड़ते हैं, इसलिये हमने उन्हें औरंगाबाद भेजा है। यदि ऐसा ही उनका बर्ताव रहा तो इससे भी कड़े उपाय हमें करने पड़ेंगे। कोई उनको समझाए। अधिक भेटों का समय हम नहीं दे सकते।'

सिन्धु समझ गई थी कि एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं, परन्तु वह जानती थी कि मुझ पर हुए अन्याय का उस पर भी प्रभाव पड़ेगा। उसने कहा, जिनके विषय में मन्त्रियों से लेकर नीचे तक के अधिकारियों का यह कहना है कि वह आदर्श व्यक्ति है, उसका व्यवहार सहसा विपरीत कैसे हो गया, क्या इसका किसी अधिकारी ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया है? यह व्यक्ति बिगड़ गया है, यह मान कर आप उसके बर्ताव में सुधार की किस प्रकार अपेक्षा रखते हैं? छल करने से अन्याय का निराकरण नहीं होगा और न बिगड़ा हुआ व्यक्ति ही कष्ट देने से ठीक हो सकता है।

'भूषण कहिये अथवा दूषण', १९४८ की कई घटनाओं से क्षोभान्ध बन कर जिन्हों ने सर हथेली पर रखे, फिर वह सिर हथेली पर रहा या भूमि पर गिर गया, इसकी चिन्ता वे नहीं करेंगे, इस बात को आप ध्यान में रखिए। कष्ट से मुक्ति पाने के लिये अपना जीवन किस प्रकार समाप्त करना चाहिए यह कैदी व्यक्ति भली-भाँति जानते हैं, और आप भी इस तथ्य से अवगत हैं। सताए जाने के लिये बन्दी तो आपके अधिकार में हो, और मैं उसको उपदेश करूँ, इसे आप किस प्रकार व्यावहारिक मानते हैं? यदि आप यह अपेक्षा रखते हैं तो मुझे साक्षात् का अवसर नहीं चाहिये।'

यह सुनकर अधिकारी के स्वर में कुछ नम्रता आई। अपनी इस भेंट का वृत्तान्त सिन्धु ने मुझे अपने दि. १-४-१९६२ के पत्र में लिखा था।

मुझे तो वास्तव में वंचित किया गया था। बन्दीगृह के अधीक्षकों की आज्ञानुसार और

उनके निर्देशन पर यदि बन्दी कार्य करता है तो उसके परिणामस्वरूप उसकी कारागार की अवधि में राज्य की ओर से छूट मिलती है। उसको प्राप्त हुई छूट उसके बर्ताव की दिग्दर्शक होती है। अमुक कार्य शीघ्रता से पूर्ण करना है, अधिक समय लगाकर वह कार्य पूर्ण किया जाए, उसके लिए अलग छूट दी जाएगी, ऐसा आश्वासन शासन की ओर से अधीक्षक देता है। यदि बन्दी ने तदनुसार कार्य किया तो अधीक्षक अपने मौखिक आश्वासन को लिपिबद्ध कर लेते हैं और प्रति तीन या छः मास बाद उसके लिये शासन की स्वीकृति प्राप्त करते हैं। वह टिप्पणी स्वीकृत करने का अभिप्राय यह होता है कि बन्दी की मुक्ति का दिन उसको मिले हुए कारावास के दिनों में तदनुसार घटाया जाता है। अधिक काम करने वाला बन्दी और अधिक काम न करने वाले बन्दी में इस प्रकार का अन्तर पड़ जाता है।

वही बात रक्तदान करने पर भी होती है। मैंने बन्दीगृह में सात बार रक्तदान किया था। प्रत्येक रक्तदान के लिये दस दिन की छूट अथवा पाँच रुपये दिए जाते थे। दो बार मैंने प्रतिदान के रूप में छूट की माँग की थी। रक्त देने के बाद अधिकारियों ने उस आश्वासन को लेखबद्ध कर लिया था और उचित समय पर शासन से उसकी स्वीकृति भी ले ली। इस प्रकार जिन्होंने रक्तदान नहीं किया था उनकी अपेक्षा मेरी मुक्ति की तिथि में बीस दिन का अन्तर हो गया। अन्य पाँच बार का रक्तदान मैंने 'दान' के रूप में किया था।

परन्तु अधीक्षकों ने अपना बीस दिनों का लिखित आश्वासन भी नहीं निभाया। वे शासन की ओर इशारा करते। 'मेरे हाथ से बन्दी को क्यों फँसाते हैं?' ऐसा उन्होंने भी कभी शासकों से नहीं पूछा। 'बन्दी को मैंने शासन की ओर से लेखबद्ध आश्वासन दिया है और शासन ने उसे स्वीकार किया है।' यह बात शासन के ध्यान में कभी नहीं लाई गई। रक्तदान का बन्दीगृह के किसी भी नियम से सम्बन्ध नहीं है। ऐसी जानकारी उन्होंने कभी शासन को नहीं दी। 'आजन्म कारावास' इस दण्ड के 'आजन्म' शब्द पर और इसके लिए बन्दी के जीवन से खेलते रहने का उनको अधिकार है, ऐसा वे मानने लगे। न्यायिक दृष्टि से आजीवन कारावास प्राप्त जिस बन्दी को अधीक्षक के हाथ में दिया जाता है उससे काम, अधिक काम या रक्त नहीं लेते, उसको छूट का झूठा प्रलोभन भी नहीं दिखाते, यह तुलना अधिकारियों ने अपने ध्यान में नहीं रखी। मेरा जीवन यदि उन्हें समाप्त करना था तो मुझे पहले वैसा कहना चाहिए था। रक्तदान के सम्बन्ध में कहना हो तो प्रसंग आने पर जिसने पाँच बार बिना किसी छूट या राशि लिए रक्तदान दिया वह, और दो बार भी बिना किसी प्रतिदान के दे सकता था, परन्तु कहा यह गया था कि 'एक बार रक्तदान करो तुम्हारी कारावधि में दस दिन की कटौती करा दूँगा। पुनः एक बार दो तो और दस दिन की कटौती हो जाएगी।' इस अधिकृत आश्वासन पर विश्वास कर मैंने रक्तदान किया। रक्त सच्चे रूप में लिया गया, किन्तु छूट नहीं दी गई।

गाँधी-वध काण्ड के एक अभियुक्त को हमने अपने अधिकार से किस प्रकार फँसाया, उसका किस प्रकार उपहास किया, वह विवश है, यह जानकर हमने किस प्रकार मानसिक कष्ट देकर उससे प्रतिशोध लिया, लाठी का प्रयोग न करते हुए भी उससे किस प्रकार क्रूरता

का व्यवहार किया, इस पर शासन को भले ही गर्व हो, किन्तु 'प्रामाणिकता' शब्द की यथार्थ व्याख्या करने वाले लोग इस बर्ताव को शासन के श्वेत-वस्त्र पर असत्य का एक कलंक ही कहेंगे। अपनी छूट लौटा दो और उसके स्थान में पैसे लो ऐसी मुझे सूचना दी गई थी, किन्तु मैंने उसे स्वीकार नहीं किया। मैं समझता था कि प्राप्त हुई छूट बिकने की वस्तु नहीं होती। मुझे उतने दिन पहले मुक्ति चाहिए थी। मुझे अपने शव पर फैंकने के लिये पैसे नहीं चाहिए थे। वास्तव में शासन की ओर से इस प्रकार व्यापार करना ही मूलतः लज्जा की बात थी। शासन जनता से कर के रूप में पर्याप्त धन एकत्रित करती है, परन्तु सत्यता और दया नामक वस्तुओं का इसके पास अभाव है। यही बात शासन ने अपने इस व्यवहार से प्रकट की थी।

इस अविश्वसनीय अधीक्षक के प्रति प्रेमभाव रखना मेरा लिये संभव नहीं था। वर्षों से दिन-रात जी तोड़कर काम करते मैं थक गया था, जितनी ठगी मेरे साथ हो चुकी है वह पर्याप्त है, बस और अधिक मैं सहन नहीं करूँगा, इस मानसिक अवस्था तक मैं पहुँच चुका था।

मेरे द्वारा उपस्थित आपत्तियाँ एवं तर्क लिखित रूप में हुआ करती थीं। सम्बन्धित कार्यालयों में वे लेख मिल जाएंगे। मेरे कथन की सत्यासत्य की जाँच उनको देख कर की जा सकती है। अधिकारियों के पास उनके कोई समुचित उत्तर नहीं होते थे। तब समुचित उत्तर न दे सकने पर वे बल का प्रयोग मेरे साथ करते थे। अपने प्रति किएजाने वाले अन्याय को सर्वोच्च न्यायालय में प्रस्तुत करने का सदैव ही मेरा प्रयत्न रहता था। कारण कुछ भी क्यों न हो, मुझे उसमें सफलता नहीं मिल रही थी। इससे मन का उत्साह क्षीण होने लगा था। तब शरीर पर भी उसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। अन्तिम वर्ष में तो मैं मृत्यु के बहुत निकट पहुँच गया था। दो बार ऐसे प्रसंग आए कि मैं मृत्यु से पूर्णतया सटकर खड़ा था। केवल मृत्यु ने मेरा अथवा मैंने मृत्यु का आलिंगन नहीं किया, इतना ही शेष रह गया था। वह भी भाग्य में लिखा होगा।

औरंगाबाद (संभाजी नगर) जाने पर सात-आठ मास बाद मैं इतना अधिक अस्वस्थ हुआ कि मुझे बन्दीगृह के रुग्णालय में भर्ती किया गया। चिकित्सा के लिये मुझे वहीं रखा गया।

'स्वास्थ्य चिन्ताजनक है, मिलने के लिये आओ।' इस प्रकार की सूचना नियमानुसार अधिकारियों ने घर पर भेजी थी। घर के लोगों ने जाने का निश्चय किया। घर से चलने से पूर्व स्वास्थ्य का समाचार मिले, इसके लिये उन्होंने औरंगाबाद कारागार के अधीक्षक को टेलीफोन किया।

वहाँ से उत्तर मिला कि 'बच्चों को लेकर अथवा अन्य किसी को भी लेकर आना हो तो आ जाओ, तुरन्त भेंट की व्यवस्था कर दी जाएगी। अन्यथा स्वास्थ्य के सम्बन्ध में अधिक चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।'

मेरे छूटने के बाद एक दिन सिन्धु ने बताया, टेलिफोन का रिसीवर नीचे रखते ही मैं तो धम से नीचे गिर-सी गई और मेरे हाथ-पाँव की शक्ति क्षीण-सी हो गई। 'स्वास्थ्य

के सम्बन्ध में वैसी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं', इस वाक्य का खोखलापन मुझे बोलने वाले की ध्वनि से ही प्रतीत हो रहा था। मुझे चिन्ता थी तो केवल इसी बात की कि इतनी दूर शीघ्रातिशीघ्र मैं किस प्रकार पहुँच सकूँगी। जिसके लिये मैंने इतनी यातनाएँ सहीं, किसी भी स्थिति में दुर्बलता एवं दैन्य प्रकट नहीं किया, वह मेरे पति मुझे जीवित मिलते हैं कि नहीं, इसकी कल्पना से ही मन बैठा जाता था। भगवान अधिक क्रूर हैं अथवा शासन, इसकी जब मैं तुलना करती तो मुझे सदैव शासन अपेक्षाकृत अधिक क्रूर लगता।

सिन्धु कहती थी, 'कभी-कभी मैं बच्चों को लेकर चित्रपट देखने के लिये जाती थी। एक चित्रपट के 'तू असता तर कधि नयनानी अश्रु ढालले नसते झरझर।' इस करुणा से परिपूर्ण गति से मैं एकरूप हो चुकी थी। मैं वह गीत गुनगुनाती रहती थी। तुम जीवित होने पर भी मुझसे दूर थे। तुमसे मेरी भेंट होना नियति से भी अधिक शासन पर अवलंबित है, ऐसा मुझे प्रतीत हुआ था।

'मैं भावुक हूँ, यह तुम जानते हो। हँसो मत, मैंने ईश्वर ने मनौती माँगी थी कि 'मेरा गोपाल मुझे मिले।'

'लगभग पाँच मिनट तक मैं वैसी ही बैठी रही। मस्तिष्क में न जाने कितने विचार आए कि उससे मस्तिष्क ने काम करना बन्द कर दिया था। मन शून्य हो गया था। उस शून्यता में से ही एक विचार बड़ी तीव्रता से मस्तिष्क तक पहुँचा। यह कि 'हमें यहाँ से तुरंत जाना है।' बाद में प्रतीत हुआ कि शान्त बैठे रहने से कार्य सिद्धि नहीं होगी। उस समय मेरे पास पैसे नहीं थे, केवल दस-बीस ही रुपए हैं, यह बात ध्यान में आई। फिर तुरंत एक के बाद एक विचार पंक्तिबद्ध मस्तिष्क में से निकलने लगे।

'हमें यहाँ से तुरंत जाना है, इस विचार से ही मुझ में शक्ति आई। मैं उठ खड़ी हुई, दो घंटे इधर-उधर घूमकर मैंने चार सौ रुपये एकत्रित किए। कर्मचारियों को देने के लिये ढाई सौ रुपये रख दिए। डेढ़ सौ रुपये साथ लिए, एक वाहन किया, नगर (अहमद नगर) से होकर पाँच घण्टों में हम बंदीगृह के द्वार पर पहुँचे।

रुग्णालय में ही हमारी भेंट हुई। मैं जिन्दा हूँ, बोलता हूँ, मनुष्य पहचान सकता हूँ इतना जान लेने के बाद ही सिन्धु के मन का तनाव कम हुआ था। भेंट का समय समाप्त हुआ। हम लौट आए।

२०-२५ दिन बाद मेरा रोग घटने लगा, तब २-११-१९६२ को अपने स्वास्थ्य के सम्बन्ध में मैंने सिन्धु को लिखा—

स्वास्थ्य अब सुधर रहा है, किन्तु ऐसा लगता है कि अभी १५-२० दिन और रुग्णालय में रहना पड़ेगा। स्वास्थ्य अच्छा होने पर मुझे ही यहाँ रहना नहीं भाएगा। रोग तो ठीक हो गया है, केवल दुर्बलता शेष है।

यह दुर्बलता स्थिर है। वह मन पर हुए आघातों के परिणामस्वरूप है। जुलाई, १९५७ से अब तक मैं १७ बार विफल हो चुका हूँ। वर्तमान आवेदन में भी मुझे सफलता मिलेगी, ऐसा समझने का कोई कारण नहीं है। सर्वोच्च न्यायालय के १९६१ के निर्णायक निर्णय के बाद, मैं बिगड़ गया हूँ, ऐसी कल्पना करके मुझे सुधारने के लिये मुझ पर जो उपाय

किए गए हैं, उनका भी मेरे मन पर प्रभाव हुआ है। मन पर हुए और किए गए आघातों के परिणामों से उत्पन्न मेरी दुर्बलता अत्यधिक अच्छे या अशिष्ट व्यवहार से भी कम नहीं होगी। अन्याय करने और उसे निरन्तर रखने में तो सभी दक्ष हैं, किन्तु न्याय करना अथवा कराना यह किसी का कर्त्तव्य नहीं है, ऐसी कर्त्तव्यतत्परता वाले व्यक्तियों से, भाग्य से पाला पड़ा है। इसलिये मन के द्वारा शरीर पर जो प्रभाव हुआ है वह स्थाई है। न्याय न मिलने से मन में उत्साह नहीं है। शक्तिहीनता दूर करने के लिये शरीर पर किए गए उपचार ऊपरी होते हैं। इसलिए तुमको विगत पत्र में लिखे अनुसार दुर्बल शरीर पर कोई भी रोग रूपी जन्तु आक्रमण करें और भूमि भुरभुरी है, ऐसा देखकर वहीं आसन जमा बैठें, यह प्रकृति का नियम है। 'जीवो जीवस्य जीवनम्' हम दूसरे के जीवन पर जीते हैं तो तीसरे का जीवन हमारे जीवन पर जीवित है। ऐसा है इस प्रकृति का चक्र।

वही शक्तिहीनता के बारे में मैंने उस पत्र में लिखा था, 'और राष्ट्रों का भी व्यवहार इसी नीति के अनुरूप होता है। हम शस्त्रास्त्रों से हीन हैं, क्या यह जानकर ही चीन ने हमारी सीमाओं पर आक्रमण नहीं किया? गत दिनों में क्यूबा में धर्मयुद्ध हुआ। एक भी गोली नहीं चली और न एक हत्या ही हुई। 'क्यूबास्थित उत्क्षेपण पटल (मिसाइल बेस) उठाते हो अथवा नहीं,' इस प्रकार की चेतावनी अमरीका ने दी। वह उसने शस्त्र-बल के कारण ही तो दी थी। विश्व-शांति के उच्च-आदर्शों का मूल्य रूस ने जान लिया, इस कारण नहीं। क्योंकि अमेरिका के शब्द शस्त्र-शक्ति से समर्थित थे। और वे यह भी समझते थे कि यदि हमने आज अमेरिका के इस कथन की उपेक्षा की तो अमेरिका को समाप्त करने के अपने षड्यन्त्र में सफल होने से पूर्व कहीं वह हमारा ही संहार न कर डाले। इस भय के कारण ही रशिया ने अपने उत्क्षेपण पटल को संयुक्त राष्ट्र की देख-रेख में उठा लेने का निश्चय किया। भारत की भी शस्त्र-शक्ति अपने समान ही है, इसका ज्ञान यदि चीन को होता तो वह कभी आगे न बढ़ता। परन्तु वह भली-भाँति जानता था कि भारत का शस्त्रबल शून्य है, अत: उसने आक्रमण किया।

यू-टू का उदाहरण स्मरणीय है। क्या रूस की भूमि पर अमेरिका वायुयान के द्वारा जासूसी नहीं करता था? क्या उसके लिये रूस विरोध-पत्र नहीं भेजता था, परन्तु अपना सामर्थ्य तनिक कम है, इसका ज्ञान रूस को था। भौतिक शास्त्र में रशिया ने प्रगति की। एक के बाद एक यान अन्तरिक्ष में भेजकर उसकी खोज की, किन्तु उसका लक्ष्य था अस्त्रों की क्षेपण कक्ष के बाहर से जाने वाले यानों को गिराना संभव हो, इस दृष्टि से अपने विज्ञान की दिशा को उसने मोड़ दिया था।

'उसमें रशिया को सफलता मिली। तेरह मील की ऊँचाई पर से जाने वाले अमेरिका के विमान को रूस ने नीचे गिरा दिया। पावर्स को वस्तुस्थिति बोलने के लिये विवश किया। अपना कृत्य पकड़ा गया है, यह समझते ही अमेरिका ने अपना दोष भी स्वीकार कर लिया। जो बात सौ विरोध-पत्रों से नहीं होने वाली थी, वह एक आविष्कार की श्रेष्ठता से सहज साध्य हो गई। इसको कहते हैं धर्म-नीति। एक गाल पर थप्पड़ लगने पर दूसरा गाल आगे करना; यह होता है शांति का आधा अर्थ। अपनी शक्ति ही इतनी बढ़ाई जाए कि किसी

को गाल पर एक भी थप्पड़ मारने का दुस्साहस न हो सके, इसे कहते हैं पूर्ण शांति का मंत्र। ऐसी ही होनी चाहिए अंतर्राष्ट्रीय नीति। अस्तु, अपने दुर्बल शरीर की बात करते-करते कहाँ से कहाँ पहुँच गया।

चीन ने हिन्दुस्तान की सीमा पर आकर ललकारा था। जिसमें तनिक भी राष्ट्रीय भावना का लेश शेष था, उसने इस आघात को अपने ऊपर आघात समझा। तब राष्ट्र की रक्षा के लिये कटिबद्ध होने की लोगों में स्पर्द्धा होने लगी थी। उस समय महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री श्री यशवन्तराव चह्वाण को सिन्धू ने एक पत्र दिनांक ८- ११-१९६२ को लिखा—

शासन ने मुझ पर अन्याय किया था तो भी इस समय देश की रक्षा महत्त्व की है; यह सिन्धु जानती थी। व्यक्तिगत दु:ख भूल कर एकता की आवश्यकता थी; ऐसे ही सिन्धु के संस्कार थे। उसका पत्र निम्न प्रकार था—

'सादर प्रणाम!

चीन ने भारत के साथ युद्ध प्रारंभ कर एक बहुत बड़ा धक्का दिया है। जिस दिन यह सुना तभी से मन अस्वस्थ है। क्या करना चाहिये, यह सोच नहीं पाती।

इन्हीं दिनों भारत के प्रधानमंत्री नेहरू जी ने आकाशवाणी के माध्यम से राष्ट्र को आह्वान करते हुए सहयोग की बिनती की है।

इस समय अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्येक भारतीय का कुछ कर्त्तव्य निश्चित है। मार्ग अनेक हैं। उनमें से द्रव्यदान, श्रमदान, रक्तदान और प्राणदान, ये मार्ग स्पष्ट दीखते हैं।

हमारे घर में हम पाँच व्यक्ति हैं। उनमें से मेरे पति श्री गोपाल गोडसे गाँधी-वध अभियोग के बंदी होकर सम्प्रति औरंगाबाद कारागार में आजीवन कारावास का दण्ड भुगत रहे हैं। उन्होंने भी सीमा पर जाने की अपनी इच्छा व्यक्त की है।

१९४०-१९४४ तक वे सेना में ही थे। उन्हें ऐसा अवसर देना अथवा न देना, यह आपकी इच्छा पर निर्भर है। युद्ध रुक जाने के बाद फिर बंदीगृह में रखने से उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी, परन्तु जो भारत-भू का पुत्र है उसकी माता की सेवा से परावृत्त करने का और सेवा से वंचित रखने का कोई भी कारण नहीं।

मेरा मानस-पुत्र नाना है। आवश्यकता हो और अवसर दिया गया तो सीमा पर जाने से लेकर अन्य भी किसी प्रकार के श्रम करने के लिये वह तत्पर है। रक्तदान और द्रव्यदान तो हम करते ही हैं और करते रहेंगे।

मेरे अपने सम्बन्ध में—

सम्प्रति पूना छोड़कर मैं कहीं अन्यत्र जा सकूँगी, ऐसा संभव नहीं है। उद्योगालय चलाने का उत्तरदायित्व होने के कारण ऊपर लिखे अनुसार मैं देश के लिये अपना पति और पुत्र दे सकती हूँ। मेरे भाग में जो उत्पादन का भार आवेगा वह भार मैं उठाने के लिए तत्पर हूँ। हम स्टील स्ट्रक्चर्स बनाते हैं। अब तक एन. डी. ए., सी. एम. ई., एच. ई. फैक्टी, पैनसिलीन फैक्ट्री आदि के सामान हमने निर्माण किए हैं। युद्ध के लिये लोहे के समान का उत्पादन बिना किसी प्रकार का एक पैसे का भी लाभ प्राप्त किए करने के लिए मैं उद्यत हूँ। उत्पादन कार्य पर, आपके जो कोई भी प्रतिनिधि हों, उन्होंने यदि वैसा मुझे अवसर

दिया तो मैं नियत सूचना के अनुसार नियतकालावधि में काम का भाग उठा सकूँगी। इस प्रकार मैं अपनी मातृभूमि की सेवा करने में अपना कर्त्तव्य पालन कर प्रसन्नता अनुभव करूँगी।

मेरे पति को निश्चित अवधि से दो वर्ष अधिक तक बंदीगृह में रखा गया है, परन्तु वह अपना आपसी विवाद है।

परस्परंविरोधे तु वयं पञ्चम शतम् च ते।
अन्येभ्यश्च विरोधे तु वयं पञ्चाधिकं शतम्॥

यही आश्वासन मैं आपको दे सकती हूँ। किसी भी प्रकार से आप मुझे, मेरे पति श्री गोपाल गोडसे एवं पुत्र नाना को अवसर दें, यही विनती है।

आपकी

सौ० सिन्धु गोडसे'

मेरा एक आवेदन सर्वोच्च न्यायालय के सामने विचाराधीन था। उसके लिये मुझे दिल्ली बन्दीगृह में रखा गया था। क्योंकि अपना आवेदन मुझे ही प्रस्तुत करना था। उस अवधि में दिनांक १३-१०-१९६४ को मुझे मुक्त किया गया। दिनांक २४-११-१९६४ को मुझे भारत सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत पुनः बन्दी बनाया गया। १ वर्ष ६ दिन कारावास भुगतने के बाद दिनांक ३०-११-१९६५ को मुझे मुक्त किया गया। उस समय भी मेरा एक आवेदन बम्बई उच्च-न्यायालय में विचाराधीन था।

लगभग १७ वर्षों के बाद मुझे ४० दिन की मुक्ति मिली थी। इतने थोड़े समय में स्वतन्त्र संसार से मैं एकरस नहीं हो सकता था। उसके साथ पाँव मिलाकर नहीं चल सकता था। अपनी इस स्थिति पर विचार करने तथा आत्म-विश्लेषण करने का मुझे बाद के बन्दीवास में अवसर मिला। २९-१२-१९६४ को सिन्धु को लिखे अपने पत्र में मैंने लिखा—

'पारिवारिक दायित्व को केन्द्र बिन्दु बनाकर अपने उद्योग की योजना बनाने पर मैंने सोचा। १७ वर्ष बाद में बाहरी विश्व देख रहा था। नए-नए क्षेत्र और उनके उद्योगों से यदि मेरा किसी प्रकार परिचय होगा तो वह पढ़ने से ही हो सकता है। प्रत्यक्ष विश्व को जब मैंने देखा तो मैं उसे देखकर उसी प्रकार भौंचक्का रह गया जैसे कि छोटे बच्चे को किसी बड़े खिलौने की दूकान पर ले जाकर खिलौने चुनने के लिए कहा जाए।

इस तीव्र गति से बढ़ रहे संसार में मैं पर्दापण कर रहा हूँ। जो १७ वर्षों में बहुत आगे बढ़ चुका है, इस कमी को मुझे पूरा करना है। इससे मैं कहाँ खड़ा रह सकूँ, परिवार का दायित्व संभाल कर कैसे खड़ा रह सकूँगा, इन विचारों से भी मैं असहाय-सा समझ अपने आपको असमर्थ-सा अनुभव करने लगा।

मैं जब कारावास भोग रहा था तब सिन्धु ने कितने धैर्य से दिन बिताए थे; इसके सम्बन्ध में मैं सुना करता था। उसके परिश्रम का फल मैंने ४० दिनों में देखा था। वह देखकर मुझे कैसा लगा, इसका विश्लेषण करने के लिये बाद का कारावास काम आया। उसी पत्र में मैंने सिन्धु को लिखा था—

'१७ वर्ष पूर्व जब मैं तुम्हें छोड़कर आया था, तब मुझे लगता है उस समय वेतन के शेष पचास रुपये ही तुम्हारे पास होंगे। बम्बई के तीन-चार चक्करों में उन पैसों की भी समाप्ति हो गई होगी। उसके बाद तुम्हारे उदरभरण के लिए कन्याओं के पालन-पोषण के लिये तुम्हारा क्या प्रबन्ध है, यह तुमसे पूछने का अवसर ही नहीं आने दिया। अनेक कठिन प्रसंगों को तुमने पार किया। शून्य में से विश्व-निर्माण करने की भाँति, सामान्य अनुभव के बल पर, अथक श्रम करके, दिन रात पसीना बहाकर तुमने एक उद्योग खड़ा किया। मुझे मुक्ति मिले और मेरा एक स्वतन्त्र व्यवसाय हो, यह ध्येय मन में रख कर तुमने कष्ट सहे। वस्तुत: मेरा दायित्व तुमने निभाया, तुम्हारा किया हुआ लोकसंग्रह मैंने देखा। मुसलमान, पारसी, महार या ब्राह्मण आदि सभी में अपने आस-पास तुमने आदर का स्थान बना लिया है। इस संकट में पड़ने पर तुम्हारा और मेरा घर ही नष्ट हो गया था। मैं छूटकर आया, प्राय: १७ वर्षों के बाद आया। और सचमुच जहाँ अधिकार से रह सकूँ ऐसा सहारा तुम्हारे कर्त्तव्य से मूर्तरूप में मैंने अपनी आँखों से देखा और अनुभव भी किया। जिसको मैं अपना कहूँ, ऐसे उद्योग का औपचारिक उद्घाटन मेरे हाथों से कराया, उसका अधिकृत नामकरण किया। मशीनों के अंग-अंग में तुम्हारे कष्टों की साकार प्रतिमा मुझे झलकती मिली। रांगणेकर की—'तुझेच सारे वैभव येथे मी नावाचा धनी।' इस पंक्ति का योग्य अर्थ प्रत्यक्ष में ही देखने को मिला। उसमें मुझे कहीं भी कमी न देखकर तुम्हारी विलक्षण सफलता पर गर्व हुआ। परिस्थितिवश मेरे नाम का बोझ उठाने का अवसर मुझे नहीं प्राप्त हुआ और तुमने उसे भली-भाँति उठाया।

मनुष्य पराधीन होकर भी जीवन व्यतीत करता है, परन्तु उसके भाव एवं भावनाएँ ज़ागृत रहती हैं। बंधन के कारण भावनाओं की अभिव्यक्ति को अवसर नहीं मिलता। उससे तो भावनाएँ और तीव्र होती हैं। बन्दीवास की कठिनाई वहीं के श्रम में, अनुशासन में या बन्द होने में जितनी प्रतीत नहीं होतीं, उससे बहुत अधिक परिमाण में भावनाओं के प्रवाह को दबाने में होती हैं।

कैद किसी राजनैतिक विचारधारा की प्रेरणा का परिणाम होने पर भी वह प्रेरणा उस व्यक्ति के सम्पूर्ण भावनात्मक जीवन का एक भाग होती है। अन्य भावनाएँ कुछ समय तक दबाएँ जाने पर भी उनका अस्तित्व होता है। युवावस्था में जिस प्रकार किसी प्रकार की विचारधारा पर व्यक्ति प्रमत्त (पागल) हो जाता है उसी प्रकार वह जीवन में सुख के सुनहरे सपनों में विचरने की भी होती है। अपना घर अमुक प्रकार का हो, ऐसा चित्र कोई विवाहोत्सुक या नवविवाहित युवती जिस प्रकार रंगती होगी, उसी प्रकार उस अवस्था के युवक भी ऐहिक सुख के स्वप्न मन में लाता होगा।

राजनीतिक कारणों से किसी भी मनुष्य का वध करने का ध्येय किसी का नहीं हो सकता। ऐसी घटनाएँ राष्ट्र के जीवन में और उसी प्रकार उस व्यक्ति के जीवन में भी अचानक रूप से निर्मित होती हैं। गांधी-वध से मेरा सम्बन्ध भी मेरे जीवन में एक ऐसी ही दुर्घटना थी।

तीन वर्षों के वैवाहिक जीवन के बाद मुझे अचानक अनिवार्य रूप से परिवार से दूर जाना पड़ा। तब तक दो कन्यायें हो चुकी थीं। संतति का पालन और शिक्षा-दीक्षा हम अमुक प्रकार से करेंगे, ऐसा विचार मैं करता था। किसी लाभ की अपेक्षा से नहीं, अपितु वात्सल्य से मनुष्य ऐसी इच्छाएँ करता ही है। उन इच्छाओं की पूर्ति से मिलने वाला सुख ही उनका लाभ होता है। मेरे बन्दीवास के कारण जो भावनाएँ दब गई थीं उनमें वात्सल्य की यह भावना भी थी।

मन की सान्त्वना के लिए मैं अपने पत्रों में अपने मन की भावनाओं को अभिव्यक्त किया करता था। जब भी संभव होता सिन्धु कन्याओं को मुझसे मिलाने के लिए लाया करती। हमारे पिताजी हैं, परन्तु वे अपने पास नहीं हैं, हम उनसे हठ नहीं कर सकतीं, हठ की पूर्ति करा लेना हमारे लिए असंभव है, हमें पिता का प्रत्यक्ष प्रेम प्राप्त नहीं, यह वेदना उनके मन में रहती थी, परन्तु इसके साथ ही किसी निस्वार्थ कारण से वह बन्दी हैं, इसका ज्ञान भी उन्हें उस छोटी अवस्था में था।

पढ़ना-लिखना सीखते ही उनको पत्र लिखने का अभ्यास लग गया। जिन विषयों को वे समझ सकें इस प्रकार के नए-नए विषय पर मैं उनको लिखा करता था।

मुझे कविता करने का भी एक शौक था। वर्षगांठ या समारोह के अवसर पर या कभी परीक्षा में सफलता प्राप्त की हो तब उस निमित्त मैं उन्हें कुछ पंक्तियाँ कविताबद्ध करके लिखता था। विद्युल्लता के एक परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर एक बार मैंने उसको लिखा था—

साध्य गाठता एक, आपले साध्य बाढवावे।
जाता तेथे नये थांबता पुन्हा पुढ़े जावे।
एका मागुनी एक फेकुनी ऊंच ऊंच याने।
गगनाला गवसणी घातली आज मानवा ने। (मई, १९६१)

असिलता का एक पत्र आया था। उसकी वर्षगांठ के समय मैं घर पर नहीं हूँ, इसका दु:ख उसने अपने पत्र में व्यक्त किया था। वर्षगांठ के अवसर पर मैंने उसको निम्न चार पंक्तियां लिखीं थीं—

विधि योगाने तुला राहिली अपुरी जी साउली।
ती नेमे कष्टते कराया पूर्ण तुझी माउली।
दिसो न लोकां दैन्य, वा दिसो नये न्यूनता जनी।
अध्ययनी हो पुढे यास्तवे तू सुगुणांची खनी।(मार्च, १९६०)

कन्याओं की शिक्षा चल रही है वह मैं जानता तो था, परन्तु देख नहीं सकता था। मैं जब छूट कर आया तब एक कन्या परिचायिका अर्थात् नर्सिंग की शिक्षा ले रही थी तो दूसरी वास्तुविद्या के (आर्किटेक्चर) द्वितीय वर्ष में पढ़ रही थी। उनकी माँ ने उनकी यहाँ तक उन्नति की थी। उसके कौशल से मुझे गर्व हुआ था।

मेरी अनुपस्थिति में परिवार में 'नाना' एक नया सदस्य जुड़ा । नाना नियमित रूप से पत्र भेजता था। कभी-कभी मिलने आता था और न्यायालय सम्बन्धी कार्य में अपनी शक्ति के अनुसार सहायता करता था। मेरी मुक्ति के लिये ही वे प्रयत्न कर रहे हैं, यह जानते

हुए भी उसके कष्ट का मूल्य बहुत लगता था।

दबी हुई भावनाओं की बीच में एक भावना पति-पत्नी के बीच के सम्बन्ध की थी। 'फर्लो' नाम से कही जाने वाले छुट्टी १९४९ से बन्दियों को यहाँ दी जाने लगी थी। प्रति दो वर्ष के बाद १५ दिन का ऐसा अवकाश मिलता था। मेरे अवकाश पर जाने पर शांति-भंग की संभावना है, इसलिए मुझे एक बार अवकाश देने से इंकार किया गया। पुनः आवेदन करने पर इंकार करने का कोई कारण नहीं मिला। इसलिये गांधी-वध अभियोग के बन्दी का निमित्त बना कर अवकाश न देने का कारण बनाया गया। वह कारण ही ऐसा था कि उसका खण्डन करने की सामर्थ्य किसी में नहीं थी। इसलिये शासन ने मानो मेरा आवेदन करने का अधिकार ही छीन लिया था। शासन ने इस प्रकार जानबूझ कर द्वेषभाव रखने के कारण मुझे कभी भी अवकाश नहीं दिया।

एक ओर मुक्ति के लिये प्रयत्न करते रहना और दूसरी ओर पत्रों द्वारा एक दूसरे को धीरज देना, आशा दिलाना, यही हम करते थे। पत्रों का उपयोग मैं अपनी दबी हुई भावनाओं को प्रकट करने के लिये करता था।

एक बार दीपावली के अवसर पर मैंने सिन्धु को लिखा था—

संदेशानी परस्परांच्या सजवू दीपावली।
परिस्थितीशी जुलते धेऊ सहू ऊन सावली।
विधि बंधाने चिर प्रीति जी हृदयी सामावली।
तेवत राहो तीच आपली दीपांची आवली।। (१९६३)

परन्तु यह केवल मन को आश्वस्त करने की बात थी, किन्तु कभी यह अनुभव नहीं होता था कि अतृप्त भावनाओं को इससे तृप्ति प्राप्त हुई हो। सदैव भावनाओं के दबाने के कारण मन पर एक बोझ बना रहता था। लेख-पत्र आदि लिखने की मेरी तीव्र रुचि का यह अर्थ अधिकारी लगाते थे कि मैं अभी सुधरा नहीं; अतः वे और सन्त्रस्त करते थे और दबाते थे। जिससे मैं सुधर जाऊँ। अधिकारीगण व्यक्तिशः अच्छे हुआ करते थे, परन्तु शासन ने गांधी के नाम से जो प्रतिशोधात्मक नीति अपनाई थी उसके अनुसार बर्ताव करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। इस प्रकार सदैव दबाना अमानुषिक है, ऐसा कहने का साहस किसी भी अधिकारी में नहीं था। स्पष्ट और सत्य बोलने से उन पर गांधी-वध में सहयोग का अपने ऊपर आरोप आएगा, ऐसा भय उन्हें कदाचित् लगता था।

संयोग से आए ये वियोग के दिन संयोग से ही समाप्त होने वाले थे। वे समाप्त हुए और इसलिए इतिहास के स्वरूप में धुंधले-से व्यक्तिगत रेखाचित्रों की यह एक झाँकी रेखांकित करने का अवसर मुझे सुलभ हो सका था।

१० बन्दीकरण से लाल किला

'तुम्हें गिरफ्तार किया जाता है।' पुलिस अधिकारी के इन शब्दों को सुनकर मेरा मानसिक तनाव समाप्त हुआ। यह विरोधाभास प्रतीत होता है। निश्चित ही बन्दी होने से मन पर दबाव आता है, परन्तु वस्तुस्थिति यह थी कि गिरफ्तार होते समय भी मेरे मन पर दबाव था, अत: पकड़े जाने से मन तनाव मुक्त हो गया।

गांधी-वध के ६ दिन बाद मुझे पकड़ा गया था। यद्यपि उस घटना से मेरा कुछ सम्बन्ध था, वह विधि के रखवालों को उस समय ध्यान में न आया हो, परन्तु गांधी-वध के पश्चात् जो छानबीन होगी उसमें वह इससे मेरा कोई न कोई सम्बन्ध स्थापित करेंगे और मुझे कभी भी बन्दी बना लिया जाएगा, यह मेरा सीधा, सरल तर्क था। किन्तु स्वयं पुलिस के पास जाकर इस वध से मेरा कोई सम्बन्ध है, यह कहने की अपनी भी कोई इच्छा नहीं होती थी। मैं सोचता था कि मान लिया जाए कि पुलिस को इस विषय में कुछ भी नहीं ज्ञात होगा तो व्यर्थ में क्यों स्वयं को अभी से संकट में डाला जाए। मन में यह विचार प्रबल था। गिरफ्तार होने से पूर्व पुलिस का और मेरा दो बार सामना हो चुका था। तब वे यह टटोलना चाहते थे कि उस घटना से मेरा कोई सम्बन्ध है अथवा नहीं। उन्होंने कुछ समझा अथवा नहीं, यदि समझा तो क्या समझा है, इसका अनुमान ही मैं लगाता रहता था। दोनों भेटों में मैंने अनुभव किया कि पुलिस की समझ में कुछ नहीं आया और मैंने निश्चिन्तता की सांस ली।

पुलिस की दृष्टि से कहीं दूर चला जाऊँ अथवा भूमिगत हो जाऊँ, इस प्रकार की बात मेरे मन में कभी नहीं आई। मैं पुलिस के हाथ में पड़ूँ अथवा पुलिस को चकमा दूँ, यह बात भी कभी मेरे मन में नहीं आई थी। एक ओर मैं समान रूप से अपना नित्य का कार्य करता था तो दूसरी ओर सदा यह शंका बनी रहती थी कि अभी पुलिस आकर कंधे पर हाथ रखकर कहेगी कि चलो हमारे साथ। इस प्रकार मन व्यग्र रहता था और मन पर वह दबाव विचित्र-सा था।

३० जनवरी, १९४८ का दिन अन्य दिनों की ही भाँति आरंभ हुआ आ, किन्तु उतनी ही स्वाभाविकता से उसका अस्त नहीं हुआ। अस्त होने से पूर्व उस दिन एक भयंकर एवं अकल्पनीय घटना घटी।

गांधी की हत्या का समाचार आकाशवाणी ने सायंकाल साढ़े पाँच या छ: बजे के लगभग प्रसारित किया था। जिसने देश-विदेश में लोगों को स्तंभित कर दिया। समाचार में गम्भीरता थी। बढ़ते हुए अन्धकार के साथ ही उस समाचार की गम्भीरता भी गहन होती गई।

उन दिनों मेरा गृह खड़की में था। खड़की पूना से पाँच-छः मील दूरी पर है। तीन-चार दिन पूर्व ही मेरी पत्नी कन्याओं को लेकर अपने मायके गई थी। वहाँ उसकी चचेरी बहिन का विवाह था। मेरे माता-पिता पूना में शुक्रवार पेठ में श्री साठे के बाड़े में रहते थे। बड़े भाई श्री दत्तात्रय पूना स्थित ऐरण्डवणा के 'उद्यम इंजीनियरिंग' उद्योगशाला के नये भवन में रहने लगे थे। शाम को मैं पूना आता था और प्रातः काम पर जाता था।

उस दिन शाम को पूना के लिये प्रस्थान करते समय ही मैंने गांधी-वध का समाचार आकाशवाणी पर सुना था। ऊपरी स्वरूप से मैंने उस वार्त्ता के सम्बन्ध में बहुत जिज्ञासा नहीं दिखाई, परन्तु मेरे मन में बहुत खलबली मच गई थी।

वास्तव में गांधी जी के प्रति प्रेम मेरे मन की खलबली का कारण हो, यह बात नहीं। वध किसने किया इस बात को अभी तक प्रकट नहीं किया गया था। नथूराम गांधी-वध कर सकते थे इसकी मुझे कल्पना थी। मन स्वार्थी होता है अथवा अपने अनुकूल विचार करने की मन को लालसा होती है। मैं मन में सोचता था कि गांधी-वध के सम्बन्ध में नथूराम का हाथ न हो तो अच्छा है। मानो किसी अन्य के प्राण मेरी दृष्टि में नथूराम के प्राणों से अल्प मूल्य के थे, परन्तु अपने अनुकूल प्रतीत होने वाले विचार ठीक नहीं निकलते थे, ऐसा मेरा अनुभव था। इससे मन अशान्त था।

गांधी-वध से मेरा किसी प्रकार भी सम्बन्धित होना मेरे जैसे साधारण घर-गृहस्थ के वश के बाहर की बात थी, परन्तु जाने अथवा अनजाने वातावरण के परिणाम मन पर होते ही हैं, अपने सम्बन्ध में मैं यह कह सकता हूँ कि गांधी के प्रति मेरे मन में जो कटुता निर्माण हुई थी, उसका कारण देश का वातावरण ही था।

स्वतन्त्र चिन्तन द्वारा मैं अपना कोई राजनीतिक मत निश्चित करूँ, ऐसी मेरी बुद्धि उस समय तक विकसित नहीं हुई थी। बचपन से राष्ट्रीयत्व, स्वराज्य, लड़ाई, आन्दोलन, क्रान्ति, संगठन आदि संज्ञाओं के संस्कार मन पर थे। आजीविका के लिये कुछ तो करना होगा ही और कहीं न कहीं कोई सेवावृत्ति अपनानी ही होगी तो फिर सेना में ही क्यों नहीं, इस विचार से मैं सेना में भर्ती हो गया। तब द्वितीय विश्वयुद्ध का आरंभ हुआ था। युद्धकाल में तीन वर्ष विदेश में—ईराक, ईरान में जाने का अवसर प्राप्त हुआ था। विदेश जाने से पूर्व मेरी सावरकर जी से भेंट हुई थी। उस समय प्रथम बार ही मैंने उन्हीं के मुख से रासबिहारी बोस का नाम सुना था। वे जापान में कार्य कर रहे हैं, ऐसा भी उनसे सुना था। सुदूरपूर्व में रासबिहारी बोस और सुभाष बाबू की गतिविधियों के समाचार अंग्रेजों के अभेद्य पहरे में से भी कभी-कभी हम तक पहुँच जाया करते थे। मध्यपूर्व में भी वैसी ही किसी प्रकार की हलचल है अथवा नहीं, यह जानने की इच्छा सैनिकों की थी। अंग्रेजों के साथ पहले जैसी एकनिष्ठा अब सैनिकों में नहीं रह गई थी। हम लोग भी यह चाहने लगे थे-कि सुभाष बाबू के जैसे प्रयत्न पूर्व दिशा में हो रहे हैं, वैसे ही कोई प्रयत्न इस ओर भी हों। परन्तु उस प्रकार का बोझ अपने कंधों पर लेने वाली स्वतन्त्र प्रज्ञा का कोई सैनिक-नेता उस दिशा में नहीं था।

अप्रैल, १९४४ में मैं भारत लौट आया। दो मास बाद मेरी नियुक्ति खड़की में हो

गई। सुदूरपूर्व का युद्ध अभी पूर्णतया समाप्त नहीं हुआ था। मैंने अधिकारियों से प्रार्थना की थी कि मुझे उस रणक्षेत्र पर भेज दिया जाए, परन्तु जब तक उस प्रार्थना पर विचार हुआ तब तक द्वितीय विश्व युद्ध का अन्तिम अंक भी पूर्ण हो चुका था। अत: मुझे खड़की में ही रहना पड़ा।

मैं जिस विभाग में काम करता था उसमें पंजाब प्रान्त के लोग अधिक संख्या में थे। १९४६-४७ में नेताओं के पग देश-विभाजन की ओर बढ़ रहे थे। बंगाल, पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, इत्यादि स्थानों पर दंगे आरंभ हो गए थे। अपने प्रान्त का क्या होगा, अपने घर-बार का क्या होगा, इसकी चिन्ता पंजाबवासियों को लगी रहती थी। अपने नेताओं पर विश्वास कर कई लोगों ने अपने घर वालों को लिखा था, 'आप वहीं रहिए, यह झंझावात थोड़े ही दिनों में शान्त हो जाएगा। आगे की सोचे-समझे बिना अपने नेता लोग इस प्रकार का विभाजन का कोई निर्णय नहीं करेंगे, ऐसा उनका विश्वास था।'

परन्तु क्या हुआ? अपने आत्मीयों का संहार अथवा छल-बल से उन्हें भगाने का समाचार उन लोगों को सुनने की बारी आई थी। तब यह स्वाभाविक था कि पंजाबी घरों में से पुरुषों की उद्‌विग्नता के उद्‌गारों का और महिलाओं के शापों का रुख नेताओं की ओर होने लगा था। ये नेतागण ही उस दंगाग्रस्त क्षेत्र में सामान्य लोगों की भाँति रह कर क्यों नहीं दिखाते, हमारे कुटुम्बों के साथ ऐसी हिन्दू-मुस्लिम एकता और अहिंसा सम्बन्धी ये प्रयोग क्यों हो रहे हैं? इस प्रकार की बातें उनकी आह के विषय हुआ करते थे।

कभी किसी के घर से दु:खद घटनाओं से परिपूर्ण पत्र आता था अथवा किसी से मिलने के लिये कोई नरसंहार से बचकर आया हुआ व्यक्ति आ पहुँचता था, उस पत्र द्वारा अथवा उस व्यक्ति द्वारा पंजाब में हो रही घटनाओं का वृत्तान्त सुनते ही सुनने वाले के रोंगटे खड़े हो जाते थे और आक्रोश से मन भर जाता था। ४०-५० परिवारों की उस बस्ती में ५-७ घरों में मैंने ऐसे प्रकरण उन दिनों देखे थे। किन्तु जिन पर ऐसी बीत रही थी उनको हम ढाढस भी बँधावें तो किस प्रकार? यही कारण था कि हम सब कुछ देख तथा सुनकर भी उन लोगों को ढाढस नहीं बंधा पाते थे। फटे वस्त्र को चिप्पी लगाई जा सकती है, फटे आकाश को नहीं।

यही कारण है कि स्वराज्य प्राप्ति का आनन्द वे परिवार अनुभव नहीं कर सके। किसी का पैर टूटा हुआ हो तो उससे यह कहना कि 'तुम्हारा पैर लंगड़ा है, उस तथ्य को भूल ही जाओ, इससे तुमको दु:ख नहीं होगा,' ऐसा परामर्श देने से वह तथ्य मिट नहीं सकता। विभाजन के कारण जिनके घर-बार लुट गए, जिनके परिजनों के प्राण गए, उनकी समझ में यह बात आ ही नहीं सकती थी कि धर्मों के भेद-भाव मिटाकर, अहिंसा द्वारा हमने स्वराज्य प्राप्त किया है। जैसाकि उस समय प्रचार किया जा रहा था। पाकिस्तान से जो लोग बच कर भारत आए थे वे एक प्रकार से अपने परिजनों, सम्बन्धियों एवं सहोदरों के शवों पर पैर रखकर ही आ पाए थे। अहिंसा, विविध धर्मों की एकता, इन शब्दों के जो अर्थ उन्होंने पढ़ एवं समझ रखे थे, आज की परिस्थिति में उनके जो अर्थ लगाए जा रहे थे, उनमें बहुत बड़ा अन्तर था।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी आसपास के घरों में बड़ा आक्रोश का वातावरण कभी-कभी छा जाता था। अपने पड़ोस में होने वाली इन घटनाओं का मेरे मन पर गहरा प्रभाव पड़ा था। सहस्रों निरपराध व्यक्तियों की हत्याएँ हो रही हैं और मैं मात्र उसका दर्शक अथवा श्रोता बनकर रह गया हूँ, यह विचार मेरे मन को निरन्तर कचोटता रहता था। मास की प्रथम तिथि को वेतन लेना, उदर भरण की व्यवस्था करना और सन्तानों की संख्या में वृद्धि को गिनते रहना, क्या बस इतनी ही अपने जीवन की इति-कर्त्तव्यता है? यह प्रश्न बार-बार मन में उठता था। मनुष्यत्व का लक्ष्य केवल मात्र अपनी गृहस्थी पहचान लेना नहीं, उसके बाहर के संसार को समझ उसके प्रति भी अपने दायित्व को समझना होता है। उसकी कुछ तो अनुभूति अपने को होनी चाहिए। पड़ोसी का पेट चीरकर उसकी आँत बाहर निकाल दी गई है, अपनी आँत तो सुरक्षित है? दूसरों के घरों में आक्रोश मचा है, अपना घर तो शान्त है न? इस प्रकार की अकर्मण्य विचार प्रणाली में अपनी राष्ट्रीय एकात्मता, आपस का बन्धुभाव यह भावनाएँ मर चुकी हैं, ऐसा मुझे प्रतीत होता था। और तब मन उदास हो जाता था। इसी के कारण मेरे मन में गांधी के प्रति कटुता बढ़ती गई। गांधी का अस्तित्व अब नहीं चाहिए, राष्ट्र की अब और अधिक हानि नहीं होने देंगे, अहिंसा के नाम पर राष्ट्र के शरीर में भीरुता नहीं भरने देंगे, क्योंकि सामान्य-जन कायरता को ही अहिंसा मान कर आत्मवंचना करता है, ऐसी मेरी धारणा बन गई थी। उस समय की परिस्थिति के निरीक्षण और अपने आस-पास की प्रत्यक्ष घटनाओं के आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि इस विनाश के लिये गांधी जी प्रमुखरूपेण उत्तरदायी हैं। अतः आगे चलकर गांधी-वध से जो मेरा सम्बन्ध जोड़ा गया, वह वस्तुस्थिति से असंगत नहीं कहा जा सकता।

पर-दुःख का इतना विचार करके भी नथूराम का इस घटना में सम्बन्ध न हो, ऐसा विचार मन में आने का कारण था। उसके परिणामस्वरूप, नथूराम-परिवार पर आने वाली आपत्तियों की कल्पना, परन्तु ऐसा लगता है कि मनुष्य का स्वभाव ही ऐसा होता है। एक अन्य घटना से मैं यह स्पष्ट करूँगा।

जब तक नथूराम का नाम प्रकट नहीं हुआ था, तब तक लोग अनुमान लगा सकते थे। 'कहीं वह अपनों में से ही तो नहीं है?' इस प्रकार विचार कर निर्वासित-जन चिन्तातुर हुए थे। बाद में नथूराम का नाम प्रकट हुआ। लोगों ने यह भी सुना कि न तो वह पंजाबी है, न बंगाली, न सिंधी, वह निर्वासित व्यक्ति भी नहीं है। यह सब जानकर उन लोगों ने सुख की साँस ली। किसी के द्वारा भी क्यों न हो, उनके शाप को किसी ने पूरा कर दिया और इस पर भी अपने पर किसी प्रकार की आपत्ति आने वाली नहीं, इससे वे लोग द्विगुणित आनन्द का अनुभव करते थे।

अमृतसर, अम्बाला, कलकत्ता, कानपुर आदि नगरों में खुल कर प्रसन्नता व्यक्त की गई। गांधी- वध के ८-१० दिन बाद अपने उद्गार व्यक्त करते हुए पं० नेहरू ने उस पर दुःख व्यक्त किया था और उस आनन्द की अभिव्यक्ति पर टीका करते हुए उन्होंने उसे लज्जास्पद बताया था। पण्डित नेहरू को इससे जो दुःख हुआ, वह स्वाभाविक था और उसकी सहज ही कल्पना की जा सकती थी। उनकी गांधी जी पर, (दिखावे के लिये ही

क्यों न हो) अपार श्रद्धा थी। वास्तव में हिन्दू मन ऐसा क्रूर होता भी नहीं, परन्तु यदि इतिहास की दृष्टि से हमें जब कभी तर्क प्रस्तुत करना होगा तो हमें कहना पड़ेगा कि विभाजन के कारण घर-घर में हुए अत्याचार, नरसंहार और पलायन तथा उसके बाद भी गांधी जी द्वारा किया गया अनशनरूपी दुराग्रह, इन सबके कारण उत्पीड़ितों के मन में उनके प्रति कटुता भर गई थी।

मैंने स्वयं देखा कि गांधी जी की मृत्यु पर सेना में जो शोक प्रदर्शित किया गया, वह प्रदर्शन-मात्र था, उसमें वास्तव में कहीं दु:ख का लेश भी नहीं था। गांधी-वध के बाद चार-पाँच दिन तक, जब तक मैं पकड़ा नहीं गया, उस अवधि में सैनिक शिविर के लोगों से मेरा मिलना-जुलना जारी था। अंग्रेजी शासन की ईसाई-पद्धति के अनुसार दिन-भर वे बाँह पर शोकचिह्न के रूप में काली पट्टी बांधते थे, किन्तु रात्रि के समय उन शोकचिन्हों को अपनी जेबों में ठूँस लेते थे और दिन-भर जिन भावनाओं को अनिच्छा से दबाकर रखते थे, उन्हें मुक्त रूप से व्यक्त करने लग जाते थे। वे कहते 'कश्मीर में लड़ने वाली अपनी सेनाओं का अब उत्साह भंग नहीं होगा।'

मैं पाठकों को यह स्मरण करा देना चाहता हूँ कि यह सारी बात कहते समय मेरा अभिप्राय गांधी जी का अनादर करना किंचित्-मात्र भी नहीं है। आज हम शस्त्र का उत्तर शस्त्र से देते हैं। यदि किसी ने आक्रमण करने की ठानी तो समय पर हम उसके गढ़ में घुसकर रणभेरी बजाने का पराक्रम करते हैं। शत्रु का विनाश करने वाले का गौरव-गान हम गाया करते हैं। आक्रमक को उसी की भूमि पर खदेड़ मारने वाले वीरवर लालबहादुर शास्त्री का चित्र आज घर-घर में टंगा दिखाई देगा। अपने इन कार्यों से हम गांधी जी के प्रति अनादर-भाव व्यक्त करते हैं, यदि कोई ऐसा समझता है तो यह उसकी भूल होगी। इसी प्रकार उस समय होने वाली घटनाओं को भी उचितरूपेण विश्लेषण करने वाले को यह कहना कि वह गांधी का अनादर करता है भ्रममूलक है। अमुक लड़ाई में मराठों की हार हुई, ऐसा पढ़ते समय अथवा उस पराभव की ऐतिहासिक छान-बीन करने वाले इतिहासकारों को हम दोषी नहीं मानते।

उस दिन कार्यालय से चल कर एक घंटे में अपने माता-पिता जी के घर पहुँच गया था। लोगों का आना-जाना प्रारंभ हुआ था। कभी मैं भी बाहर चला जाता था। रात्रि के दस-साढ़े दस बजे तक घर में चर्चा यही चलती रही, बाद में सब सो गए।

मैं बाहर के कक्ष में लेटा था। मन की अस्वस्थता के कारण मैं उठा और बाहर निकला। कहीं पर मैंने कान लगा कर सुना तो विदित हुआ कि नथूराम का नाम घोषित किया जा चुका है। अब तो तर्क करने का अवसर नहीं रह गया था। बात स्पष्ट सम्मुख आ गई थी।

मैंने अपने मन को समझाया। अपने प्राणों पर अपना अधिक मोह होता है, किन्तु स्वेच्छा से सती-व्रत ग्रहण करने वाली स्त्री इस बात से कभी नहीं डरती कि उसका शरीर जल जाएगा। निष्ठा पर उसकी जो एकाग्रता है, वह उसको शारीरिक वेदना से परे ले जाती है। विचार करके दुस्साहस करने वाला मनुष्य परिणाम के लिए अपने आपको पहले ही तैयार कर लेता है। भाग्य में क्या लिखा है, यही नहीं कहा जा सकता। नथूराम के स्थान

पर यदि मैं होता तो.....?

मेरा विचार उस काल्पनिक प्रश्न पर ही रुक गया। कल्पना की सीढ़ी को चाहे कितनी ही ऊँचाई पर चढ़ा लो, उसका कहीं अन्त नहीं होता। मेरे मन की अस्वस्थता अब कुछ न्यून होने लगी थी। उसका कारण वस्तुस्थिति का ज्ञान ही था। जब तक मन अस्वस्थ था तभी तक तर्क के लिये भी अवसर था।

जब तक मैं रात्रि में घर लौट आया मेरे माता-पिता सो चुके थे। मैंने उन्हें नहीं जगाया। उनको अभी तक वस्तुस्थिति का कोई ज्ञान नहीं था, इस कारण उसी प्रकार वे शान्त निद्रा में लीन थे। आज रात उनकी अन्तिम शान्त निद्रा की रात्रि थी। कल से तो उनको दिन और रात समान उद्विग्नता में व्यतीत करने होंगे।

उस रात मैं ठीक प्रकार सो नहीं पाया। रात को दो-तीन घंटे ही नींद आई होगी। प्रातः शीघ्र ही उठ बैठा। मैं समझता था कि पुलिस तलाशी के लिये आएगी अथवा पकड़ने के लिये भी आ सकती है। मैं यह विचार कर ही रहा था कि किसी के द्वार तक आने की ध्वनि सुनाई दी। तब प्रातः के साढ़े चार बजे होंगे।

मैं उठा, किवाड़ खोला, देखा पुलिस नहीं है, दो परिचित जन हैं। वे अन्दर आ गए। उन्होंने कहा, 'रात के लगभग दस बजे आकाशवाणी पर नथूराम का नाम लिया गया।' तब तक माता-पिता भी जागे हुए थे। उन्होंने भी इस बात को सुन लिया था।

इस घटना से नथूराम के भविष्य का विचार कर घर में शोक की लहर दौड़ गई थी। वे परिचित थोड़े ही समय तक वहाँ रहे और सान्त्वना के कुछ शब्द कहकर फिर चले गए। अब माता-पिता को समझाने और सान्त्वना देने का बोझ मुझ पर आया। परन्तु मुझे वह अवसर नहीं मिल सका।

दस-पन्द्रह मिनट में ही पुलिस आ पहुँची। उनमें से कई जवानों ने घर को चारों ओर से घेर लिया। कई पुलिस वाले अन्दर आ गए और उन्होंने तलाशी लेनी आरंभ कर दी।

वे अपना कर्तव्य कर रहे थे। इस सब क्रिया में उन्होंने सारा घर उलट-पुलट कर लिया, परन्तु किसी प्रकार की अभद्रता अथवा मन-माना व्यवहार मारपीट या गाली-गलौच उन लोगों ने नहीं किया। न जाने क्यों, ऐसा लग रहा था कि उन्हें घर से सहानुभूति-सी हो गई थी। मानों उन्हें ऐसा लग रहा था कि इस शोक-मग्न घर की तलाशी का दुष्कर कार्य वे अनिच्छा से कर रहे हैं। शासनतन्त्र एक यन्त्र के समान होता है। यह सत्य होने पर भी इस मशीन में व्यक्ति ही तो उसमें काम करते हैं। अतः इस प्रशासनिक मशीनरी का संचालन उसके प्रभारी व्यक्ति विशेष की उस समय की मानसिक भावनाओं के अनुसार ही होता है। अपने अनेक वर्षों के बन्दी जीवन में मैंने शासकीय व्यक्तियों के विभिन्न स्वरूप देखे हैं। कभी-कभी मुझे शासन के ऐसे लोग भी मिले, जिनमें मैं मनुष्य सुलभ व्यवहार पा सका। इस तलाशी के प्रसंग में मुझे ऐसे मनुष्य-स्वभाव का प्रथम अनुभव हुआ।

तलाशी कार्य में दो-ढाई घंटे लगे। उनको किसी प्रकार की कोई आपत्तिजनक सामग्री अथवा साहित्य नहीं मिला। कुछ तो भी ले जाना ही चाहिये, इसलिए पहसुल, छुरी, बट्टा आदि वस्तुएँ कदाचित आपत्तिजनक श्रेणी में मानी जाएं, ऐसा निर्णय करके उन्हें ले जाने

का दिखावा भी उन्होंने नहीं किया। कार्य पूर्ण हो जाने के बाद वे मुझे और मेरे छोटे भाई गोविन्द को अपने साथ थाने में ले गए।

हमें लगभग तीन घंटे वहाँ रखा गया। हम दोनों को पूछताछ के लिए अलग-अलग बुलाया गया। कुछ प्रश्नोत्तर हुए। वे प्रश्न अति सामान्य थे। आप कहाँ काम करते हैं? क्या काम करते हैं? कितना वेतन है? विवाह हुआ कि नहीं? बच्चे हैं अथवा नहीं? कितने भाई बहिन हैं? इसके अतिरिक्त भी अन्य कोई रहने का स्थान है क्या? नथूराम घर कब आए थे? क्या जाते समय वे कुछ कह गए थे? वे कौन से कपड़े लेकर गए? आदि, आदि। गोविन्द के पास छिपाने के लिए कुछ भी नहीं था। और यदि देखा जाए तो इन प्रश्नों के विषय में तो मेरे पास भी छिपाने के लिए कुछ नहीं था। प्रश्नों को सुनकर ऐसा लगता था कि पूना की पुलिस को कोई विशेष आदेश उस समय तक नहीं मिला था। वे साधारण रीति से ही अपना कर्त्तव्य निभा रहे थे। छानबीन की कोई विशिष्ट दिशा उनकी नहीं थी। इसलिये प्रश्नोत्तर होने के बाद भी उन्होंने हमें वहाँ बहुत समय तक बैठाए रखा और बाद में मुक्त कर दिया। तब तक कई लोगों को वे ला चुके थे।

बाहर आने पर मुझे खड़की के घर जाने का विचार आया। पुलिस वालों को मैंने अपना रहने का वह स्थान बता दिया था। इसलिये वहाँ तलाशी होने की संभावना थी। मुझे ऐसा लगा कि ऐसे समय वहाँ उपस्थित होना आवश्यक है। गोविन्द को घर जाने के लिये कह कर मैं खड़की जाने के लिये निकला।

परन्तु मेरा हेतु इतना सरल नहीं था। घर में अनेक कागज-पत्र थे उनमें आपत्तिजनक तो कुछ भी नहीं था, परन्तु कौन-से पत्र का कब-कैसा सम्बन्ध जोड़ा जाता है, इसका कोई भरोसा नहीं किया जा सकता था। अत: मेरा विचार था कि यदि अवसर मिला तो इस प्रकार के सन्देहास्पद पत्रों को नष्ट कर दूँगा, इसीलिए मैं उस ओर जाने के लिये निकला था।

उस ओर सब सन्नाटा था। आस-पास के घेरों में नित्य की भाँति सब व्यवहार हो रहा था, किन्तु धीमे-धीमे। नित्य की-सी गड़बड़, चिल्लाहट अथवा कोलाहल नहीं। मेरी ओर देखने की पड़ोस वालों की दृष्टि कुछ विचित्र-सी लगती थी। नथूराम मेरा भाई है, उस समय तक उनको यह बात विदित हो चुकी थी। उसका मेरा पास आना-जाना है, यह भी उनको ज्ञात था।

मैंने इन सब बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया और द्वार खोलकर सीधे भीतर चला गया। भीतर जाकर किवाड़ भीतर से बन्द कर दिए। पत्रों का तार, फाइल निकालकर अन्दर के कमरे में गया। सभी पत्रों को ध्यान से देखने-परखने का समय नहीं था। सरसरी दृष्टि से जिन पत्रों को मैं सन्देहास्पद समझता था उनको तार में से फाड़ कर बाहर निकाला और स्नानगृह में पानी तप्त करने के बहाने उनको जला डालने के लिये स्नान गृह में जाकर दो उपलों पर तेल डाला, पत्रों को बम्बे के पास रख दिया। सारे पत्र एक साथ डालने से धुआँ हो जाएगा, यह विचार कर थोड़े-थोड़े कागज डालने का निश्चय किया।

यह सब एकत्रित कर लेने पर देखा कि ढूँढे से भी दियासलाई नहीं मिल रही है। विगत

तीन-चार दिन से मेरा भोजन पूना में ही हो रहा था। चूल्हा जलाने का अवसर नहीं आया था। नित्य के स्थान पर दियासलाई नहीं थी। कूड़े के डिब्बे में देखा तो एक दियासलाई की डिब्बी अधूरा मुख खोले पड़ी है। घर में तो दियासलाई थी नहीं और पड़ोस में जाकर या बाहर जाकर दियासलाई के लाने का ढाढस मुझ में नहीं था।

परन्तु मुझे एक विश्वास था। मेरी पत्नी आवश्यक वस्तुओं का संचय घर में रखती है। घर में दियासलाई होगी ही यह तो मैं जानता था, किन्तु वह कहाँ मिलेगी बस इतना ही प्रश्न था। मैंने खोजना आरंभ किया। सब खुले स्थान देख लेने के बाद डिब्बे खोलने आरंभ कर दिए। मसाले की एक डिब्बी में दियासलाई की तीन डिब्बियाँ दिखाई दीं। दो बन्द, एक खुली।

इस सब कार्य में मुझे पाँच मिनट से अधिक नहीं लगे होंगे, परन्तु पत्र नष्ट करने का कार्य शीघ्र करने का है, इस विचार से ही उस पाँच मिनट के विलम्ब के कारण मेरे मन पर तनाव आ गया था।

दियासलाई लेकर मैं बम्बे के पास आया। सलाई जलाने ही वाला था कि द्वार पर दस्तक सुनाई दी। मैं न केवल सहम गया अपितु डर भी गया। मन दुविधा में पड़ गया। दियासलाई जलावें अथवा नहीं, इसी संकट में खड़ा-सा रह गया। यदि उनको अधजले पत्र मिल गए तो वे समझेंगे कि मैंने अवश्य ही कुछ छिपाने का यत्न किया है। इससे उनके सन्देह को पुष्टि मिलेगी। पत्रों को यदि वैसे ही छोड़ दिया तो भी वे समझेंगे कि मैं इनको नष्ट करने के प्रयत्न में था। इससे उन पत्रों को अनावश्यक महत्त्व मिलेगा।

मेरा विश्वास था कि पत्रों में कुछ भी नहीं था। मैं पत्र क्यों जला रहा था, इसका सन्तोषजनक स्पष्टीकरण मैं दे सकता हूँ, ऐसा निर्णय कर मैं द्वार की ओर बढ़ा। बाहर के कक्ष में लकड़ी की जाली लगी थी उसके छिद्र से बाहर देखा जा सकता था। पुलिस जैसी वर्दी नहीं दिखाई देती थी। मुझे कुछ धीरज बंधा। तभी द्वार पर पुनः ढक-ढक हुई और साथ ही मेरा नाम भी लिया गया। मैंने शब्द को पहचानने का यत्न किया, कुछ परिचित-सा स्वर प्रतीत होता था। मैंने द्वार खोला। देखा तो मेरा एक पंजाबी मित्र रामनाथ द्वार पर खड़ा है। मैंने उसको भीतर बुलाकर द्वार पुनः बन्द कर दिया।

रामनाथ ने किसी प्रकार की लम्बी -चौड़ी भूमिका नहीं बाँधी। सीधी बात प्रारंभ कर दी। बोला, 'गोपाल जी! तुम्हारा भाई है न वह?'

'हाँ।'

आश्चर्य एवं प्रशंसा के-से कुछ उद्गार उसने व्यक्त किये, किन्तु तब तो मेरी मनः स्थिति प्रशंसा सुनने की भी नहीं थी। मेरे मन पर बहुत अधिक तनाव था। मैं सोचता था कि रामनाथ जितनी शीघ्रता से हो सके यहाँ से चला जाए तो अच्छा है। इसलिए मैंने उससे कहा, 'रामनाथ! मैं पूना जाने की शीघ्रता में हूँ।'

रामनाथ समझ गया। बोला, 'मुझे भी शीघ्र ही जाना है। मैं एक काम के लिए आया हूँ।'

'ऐसे विचित्र समय में क्या काम आ गया आपको?'

'...क्या इस घटना से आपका कुछ सम्बन्ध है?' उसने मुझसे प्रश्न किया।

'नहीं। मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। क्यों?'

'कुछ नहीं, कुछ दिन पूर्व तुम गाँव गए थे। जो भी हो। मैं जो कह रहा हूँ उसे शान्ति से सुनो। बीच में टोका मत करो। क्योंकि समय मेरे पास भी कम है।'

वह जो कुछ कह रहा है उसका मेरी दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है, ऐसा निर्विकारी भाव दिखाते हुए मैंने कहा, 'बोलो।'

'मेरा कहना यह है कि यदि तुम्हारा इससे कोई सम्बन्ध है तो तुम्हें यहाँ से शीघ्र ही खिसक जाना चाहिए। यदि दिल्ली जाना हो तो मैं अपने एक परिचित के नाम पत्र दे दूँगा। आपके निवास एवं भोजन की वहाँ व्यवस्था हो जाएगी, किन्तु आपको दिल्ली में भी अधिक नहीं रहना चाहिए। आस-पास असंख्य निर्वासित रहते हैं, उनमें घुलमिल कर रहना। मुँह से मराठी का उच्चारण मत करना। तुमको पंजाबी आती है, वह भी जितनी जरूरत हो उतनी ही बोलने का यत्न करना। किसी को मिलने आदि के लिये सन्देशा मत भेजना और न ही किसी को पत्र लिखना। आपको इस ढंग से कम से कम छः मास तक रहना होगा। आपको निकलने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो, इसके लिये मैं डेढ़ सौ रुपया लाया हूँ, वह आप अपने पास रखिए। यह समय बड़े महत्त्व का है। आगामी चार-छः घंटों में आपको यहाँ से कम से कम ५० मील दूर होना चाहिए। किसी भी मार्ग से जाओ। नित्य के रास्ते से मत जाना। आगे फिर भगवान की इच्छा है।'

मेरे मन में उठने वाले विचारों को रामनाथ गति प्रदान कर रहा था, किन्तु मैं जानता था कि जो लोग भूमिगत हो जाते हैं, उनके परिजनों को बहुत संत्रस्त एवम् दुखी किया जाता है। इसलिए मैंने दूर जाने का निश्चय नहीं माना था। रामनाथ के कथन से भी मेरा निश्चय पलटा नहीं। रामनाथ मेरी ओर एक दृष्टि से देख रहा था। अंतरंग की गहन तरंगें सम्भवतया मेरे मुख पर प्रकट हो रही थीं।

'मेरा इस घटना से कोई सम्बन्ध नहीं है', सम्भवतया इतने स्पष्ट शब्दों में ऐसा कह सका या नहीं, ऐसा मुझे लगता था। मैंने रामनाथ से कहा, 'इस घटना से मेरा सम्बन्ध जोड़ा जाएगा अथवा नहीं; इसका मुझे ज्ञान नहीं है, परन्तु किसी भी अवस्था में भूमिगत न होने का मैंने निश्चय किया है।'

'आपकी इच्छा', इतना कहकर रामनाथ चुप हो गया। वह जाने के लिए उठा। जाते हुए उसने कहा, 'तुम यदि मुक्त भी रहो तो भी तीन-चार मास तक मुझसे मत मिलना और मैं भी तुमको नहीं मिलूँगा। कल रात भी मैं यहाँ आया था, किन्तु घर में ताला लगा था। प्रातः एक प्रयत्न और करने की दृष्टि से आया था, आपसे भेंट हो गई, अच्छा ही हुआ। अब मैं जाता हूँ।'

रामनाथ निकल गया। मैंने द्वार बन्द किया और बम्बा जलाया। समय-समय पर द्वार की ओर झांक लेता था। कान बाहर की ओर ही थे। एक-एक कर मैंने सभी पत्र जला डाले थे।

दोपहर तक कोई नहीं आया। तीन बजे के बाद मैं पूना जाने के लिए निकला।

पाँच-छ: दिन बाद मेरे घर की तलाशी हुई। उस समय पुलिस ने एक पत्र अपने अधिकार में लिया। बहुत ही साधारण पत्र समझ कर मैंने उस पत्र को तार में ही छोड़ दिया था। उस पत्र में पुलिस को कोई सन्देहास्पद बात यदि दिखाई दी तो केवल यही कि पत्र लेखक ने अन्त में 'युवर्स ब्रदर्ली' अर्थात् 'तुम्हारा भाई' लिखा था। अंटोनी नामक मेरे एक ईसाई मित्र का वह पत्र था। इस पत्र के आधार पर उस मित्र को भी तलाशी की कठिनाई भुगतनी पड़ी थी।

मैं पूना पहुँचा। गाँधी-वध के कारण लोगों के मनों में क्षोभ था। उस मन:क्षोभ के कुछ अवशेष घर में दिखाई दिए। गांधी जी के नाम पर घर की वस्तुओं को उठाकर ले जाने के खुल्लमखुल्ला अवसर का लोगों ने लाभ उठाया था। उनके दुष्कृत्यों के अवशेष दिखाई दे रहे थे। जो मनक्षोभ हुआ, उसका क्या अर्थ था, उसके पीछे क्या हेतु था, ये बातें महाराष्ट्र के जानकार लोग भली-भाँति जानते हैं। परन्तु उस समय गांधी जी के नाम पर सब कुछ अत्याचार किया गया था।

मेरी माता जी ने तनिक उग्रता दिखाई थी। लूट मचाने के लिए आए हुए झुण्ड को थोड़ा बहुत रोकने में उनको सफलता मिली थी। गोविंद को तो भीड़ ने पकड़ लिया। उसको मारा-पीटा भी गया था।

श्री स. गो. बर्वे उस समय वहाँ के जिलाधिकारी थे। उन्होंने हमारे माता-पिता जी की सुरक्षा की दृष्टि से उनको थाने में बुलवा लिया था। दो दिन तक वे वहीं रहे। बड़े भाई दत्तात्रय को पकड़ लिया गया था। अन्य भी अनेक लोग पकड़े गए थे। उस समय यही सुनने में आया था कि दत्तात्रय तथा अन्य १०-१२ लोगों को भारतीय दण्डविधान की धारा ३०२ के अन्तर्गत पकड़ा है। कुछ दिन बाद उन पर से धारा ३०२ का आरोप हटा लिया गया था और भारत सुरक्षा अधिनियम के अधीन उनको बन्दी बनाए रखा गया था।

दिनांक ३१-१-१९४८ को रात्रि कर्फ्यू लगा दिया गया था। मेरी पत्नी शनिवार पेठ में अपने मायके में थी। उस दिन मैं उसके पास गया था। मेरा विचार था कि गोविन्द उस दिन 'उद्यम' में ही होगा। (उद्यम इंजिनियरिंग मेरे बन्धु दत्तात्रय का उद्योगालय है।)

रविवार १-२-१९४८ को दिन भर कर्फ्यू रहा। सोमवार को कुछ समय के लिए हटाया गया। उस दिन प्रात: पत्नी से विदा होकर मैं घर से बाहर निकला। मुझे कभी भी पकड़ लिया जा सकता है, इसकी उसको भी कल्पना थी। मैं काम पर जाने के लिए खड़की को निकला। अभी आधा घंटा शेष था, अत: खड़की में अपने घर हो जाऊँ यह विचार कर मैं उस ओर गया।

घर के सामने पहुँचते ही दो-तीन सिपाही द्वार पर नियुक्त देखें। उन्होंने मुझे बन्दी बना लिया और खड़की की चौकी पर ले गए। वहाँ मुझसे पूछताछ की गई। मुझे पकड़ कर रखने का आदेश उस चौकी को नहीं मिला था, इस कारण न तो मुझे पकड़ कर रखा गया और न ही मुझे वहाँ से जाने दिया गया। तीन-चार दिन तक लगभग मुझे बन्दी जैसा ही रखा। काम पर जाता था। खड़की में ही कहीं पर भोजन कर लेता था। पुलिस मेरे साथ होती

थी और रात को मुझे चौकी पर ही सोना पड़ता था।

'क्या आप लोगों ने मुझे गिरफ्तार किया है?' मैंने पुलिसवालों से पूछा तो उन्होंने इनकार कर दिया। तब मैंने कहा कि मुझे अपने मार्ग पर जाने दीजिए। दो-तीन दिन से लगातार मैं उनसे यही कहता था। अन्त में मैने उनसे कहा कि मुझे समीप के गाँव उकसाण जाना है। मुझे जाने दिया जाए। उनकी ओर से अनुमति मिलते ही मैंने वरिष्ठ अधिकारियों को अवकाश का आवेदन देकर, उसे स्वीकृत करा लिया। दिनांक ५-२-१९४८ को दोपहर खड़की स्टेशन से कामशेत जाने के लिए निकला। स्टेशन तक सिपाही साथ आए थे।

बम्बई गुप्तचर विभाग ने गांधी-वध काण्ड की तलाशी का काम अपने हाथ में लिया था। गुप्तचर विभाग की कार्यवाही शीघ्र गति से होने लगी। गुप्तचर विभाग का एक दल मेरी खोज के लिए पूना पहुँच गया। उन्हें विदित हुआ कि खड़की के चौकी वालों ने मुझे अनधिकृत रूप में बन्द करके रखा है। वे खड़की चौकी पर पहुँचे। वहाँ जाकर उनको विदित हुआ कि अभी एक घण्टा पूर्व ही उन्होंने मुझे मुक्त किया है।

मैं कहाँ जा रहा हूँ, कौन-सी गाड़ी से जा रहा हूँ, कहाँ जाकर उतरनेवाले हूँ; इसकी जानकारी खड़की चौकी वालों को थी। बम्बई के गुप्तचर विभाग ने उसी दिशा में अपने पग बढ़ाए।

मैं कामशेत उतरकर उकसाण गाँव की ओर जा रहा था। वह मार्ग दस मील का था। आधा मार्ग व्यतीत करने के बाद मैंने देखा कि पीछे पुलिस की गाड़ी आ रही है। उन्होंने मुझे अपनी गाड़ी में बैठा लिया। उनका कहना था कि कुछ पूछताछ करनी है।

पूछताछ करना कोई अच्छा लक्षण नहीं, इस कल्पना से ही मेरे मन में फिर भय समा गया। पुलिस वाले बम्बई के गुप्तचर विभाग के थे, इसकी उस समय मुझे जानकारी नहीं थी। मुझे पुन: कामशेत लाया गया। एक घर में ले जाकर मुझे बरामदे की एक बेंच पर बैठने के लिए कहा गया। चाय कॉफी के बारे में पूछा तो मैंने चाय के लिए कह दिया।

चाय पीने तक किसी ने कुछ नहीं पूछा। बड़ी शान्ति थी। तूफान से पूर्व की सी शान्ति। उस समय अपराह्न के चार बजे होंगे। मेरे चाय समाप्त करते ही एक पुलिस अधिकारी ने कहा, 'आप अब बन्दी हैं।'

जो होने वाला है, वह हो चुका है। यह विचार कर मेरी चिन्ता दूर हुई और मन पर से एक प्रकार से बोझ उतरने का भाव सहज ही मेरे मुख पर आ गया। अधिकारी ने आगे कहा, 'यह गिरफ्तारी गांधी-वध से सम्बन्धित है।' इस क्षण से मेरा बन्दी जीवन आरम्भ हो गया।

और कौन-कौन इस प्रकरण में बन्दी बनाए गए हैं, इसकी जिज्ञासा मेरे मन में उठ रही थी, परन्तु इस विषय में पूछने का अर्थ होगा स्वयं ही कुछ बात प्रकट करना। अत: मैं चुप ही रहा। मैं समझता था कि कुछ ही समय में सारी स्थिति स्पष्ट हो जाएगी।

पुलिस चौकियों पर हवालातियों की दुर्दशा होती है, ऐसा सुनने तथा पढ़ने में आया था। कभी-कभी चित्रपट पर भी उस प्रकार का स्वरूप देखने में आ जाता था। विधि का नियम तो यह है कि आरोपी के साथ मारपीट न की जाए, किन्तु व्यवहार में मारपीट से

कदाचित ही किसी बन्दी को मुक्ति मिली हो। ऐसा क्यों होता है, यह जानना बड़ा रुचिकर है।

पुलिस और अभियुक्त के हित परस्पर विरोधी होते हैं। एक को अवैध घटना के तन्तु खोजने होते हैं, दूसरा अपनी ग्रीवा बचाने का यत्न करता है। कोई भी अवैध कार्य करने तक अभियुक्त भले ही सफल रहा होगा, किन्तु पुलिस के हाथ में पड़ जाने पर उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है। केवल गिरफ्तार करने मात्र से ही पुलिस का कर्त्तव्य पूर्ण नहीं हो जाता। गिरफ्तार किया हुआ व्यक्ति घटना से सम्बन्धित है अथवा नहीं; यह देखना उसका काम होता है। यदि वह व्यक्ति उस घटना से सम्बन्धित है तो उसको न्यायालय में सिद्ध करना भी पुलिस का कार्य होता है। न्यायालय का नाम आते ही प्रमाणों का प्रश्न उपस्थित हो जाता है और ऐसे प्रमाण उपलब्ध करने का निकटतम साधन होता है कैदी व्यक्ति।

वह व्यक्ति चुप रहने का प्रयत्न करता है तो उसको बोलने के लिए विवश करना पड़ता है। उसने अमुक बात छिपाई है, यह बात ध्यान में आते ही वह गुप्त बात उससे किसी न किसी प्रकार निकलवा लेनी होती है। आज या कल, कभी न कभी तो बन्दी उस छिपाई हुई बात को बता ही देगा, तब उसको त्रस्त करने से क्या लाभ? कैदी का हृदय-परिवर्तन हो जाएगा, ऐसा विश्वास यदि पुलिस अधिकारी करने लगे तो सौ घटनाओं में से एक घटना को भी न्यायालय में सिद्ध करना उनके लिए सम्भव नहीं हो पाएगा। मार-पीट करना अवैध एवं दण्डनीय है, इसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि पुलिस को भी मार-पीट का भय बना रहे जिससे कि मार-पीट एक निश्चित सीमा तक ही की जा सके।

कई घटनाओं में पुलिस को अनायास ही प्रसंग-सूत्र उपलब्ध हो जाते हैं अथवा बन्दी स्वयं ही उनको बता देता है। तब मारपीट करने की आवश्यकता नहीं होती। केवल धौंस जमाने के लिए दो-चार तमाचे लगा दिए, ऐसा नहीं हुआ करता।

अनेक बार तो ऐसा भी होता है कि घटना से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्धित व्यक्ति कोई अन्य होता है, मारा-पीटा जाने वाला व्यक्ति सर्वथा निर्दोष होता है। सतारा के जलमन्दिर की चोरी के प्रकरण में ऐसा मैंने पढ़ा था। चोरी किसी अन्य ने की थी, किन्तु पकड़ा किसी अन्य को गया था और उनके साथ थाने में दुर्व्यवहार किया गया। वास्तविक चोर बहुत बाद में पकड़ा गया था।

गांधी के वध निमित्त स्थान-स्थान पर अनेक लोगों को पकड़ा गया था। उनमें से अनेक को बिना कारण मारा-पीटा गया था। कहीं-कहीं पर पुलिस ने अथवा तथाकथित गांधीवादी कांग्रेसियों ने अपने व्यक्तिगत बैर का प्रतिशोध भी इस अवसर पर लिया था।

गांधी-वध के प्रसंग में जिनको प्रत्यक्ष अभियुक्त माना गया, उन सभी के साथ बिना सोचे-बिचारे मारपीट नहीं की गई। पुलिस को घटना का सूत्र ढूँढ़ना आवश्यक था, किन्तु जहाँ से वे मिल गए वहीं मारपीट का प्रश्न नहीं था। यदि सूत्र मिलने में कहीं कुछ कठिनाई हुई तो फिर पुलिस वालों ने अपने डण्डे का प्रयोग किया था।

नथूराम को दिल्ली पुलिस ने घटनास्थल पर ही पकड़ा था। रात्रि को उनकी छानबीन शुरू हुई। खोज की पद्धति के अनुसार प्रथमोपचार किए गए। लाला हृषिकेश दिल्ली पुलिस

के एक वरिष्ठ अधिकारी थे। उन्होंने मध्यरात्रि के समय नथूराम की पूछताछ को अपने हाथ में लिया। लगभग पौन- एक घण्टा उन्होंने नथूराम से प्रश्नोत्तर किए।

उन प्रश्नोत्तरी में प्रत्यक्ष घटना और उसके कारण आदि पर अधिक बल दिया गया था। नथूराम ने इस प्रसंग में लाला हृषिकेष को बताया, 'यदि आप सम्बन्धों का विवरण पूछने बैठे तो मैं समझता हूँ कि इस समय मेरी मन:स्थिति ऐसी नहीं है कि मैं सब कुछ सुसंगत बता सकूँ। वह तो तभी सम्भव होगा जब एक-दो दिन बाद मेरा मन सुस्थिर हो जाएगा। इस समय मुझे नींद आ रही है। हाँ, यदि आप समझते हों कि मारपीट के बिना वह सब मिलने वाला नहीं है तो उसके लिए आप स्वतंत्र हैं। मुझे उस विषय में कुछ भी नहीं कहना है।'

अधिकारीगण भी यह समझते थे कि इस मनुष्य को शारीरिक कष्ट देकर इससे कुछ उगलवाया नहीं जा सकता है। अपनी विशाल हृदयता का परिचय देते हुए लाला हृषिकेश ने अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को आदेश दिया था कि नथूराम को किसी प्रकार की शारीरिक यातना न दी जाए। न केवल इतना ही, उन्होंने यह भी ध्यान दिया कि उनकी आज्ञा का ठीक पालन होता है अथवा नहीं, कहीं उसका उल्लंघन तो नहीं किया जाता। नथूराम को किसी प्रकार का कष्ट पुलिस ने नहीं दिया। आगे चलकर बम्बई पुलिस एवं गुप्तचर विभाग ने भी उनको किसी प्रकार की यातना नहीं दी। उनके साथ पुलिस अधिकारियों का व्यवहार सौजन्यपूर्ण ही रहा। उनके मुख से कुछ निकलवा लेने के लिए भी पुलिस के पास कोई कारण शेष नहीं बचा था।

दिगम्बर रामचन्द्र बड़गे को पूना पुलिस ने दिनांक ३१-१-१९४८ बंदी बनाया था। बाद में बम्बई पुलिस ने उसको अपने अधिकार में ले लिया था। बड़गे से बातें कहलवा लेने में पुलिस को बहुत कठिनाई हुई थी। बात बताने से पूर्व बड़गे को भी बहुत कष्ट उठाना पड़ा था। 'मूकं करोति वाचालम्' पुलिस वालों के पास इतनी शक्ति थी। बड़गे ने जब बोलना प्रारम्भ किया तो बहुत कुछ उसने पुलिस को बताया और आगे चलकर बड़गे को क्षमा का साक्षी बनाया गया।

गांधी-वध के दस दिन पूर्व मदनलाल पाहवा को बन्दी बनाया गया था। प्राथमिक परीक्षण में उनसे जो जानकारी मिली उससे अधिक कुछ वह बाद में नहीं दे सके। क्योंकि उनको बाद की घटनाओं की कुछ भी जानकारी नहीं थी और उनके पास छिपाने के लिए भी कुछ नहीं था।

जब तक मुझे पकड़ा गया था तब तक तो पुलिस को बहुत कुछ सूत्र विदित हो गए थे। मेरा इस वध से कुछ सम्बन्ध है, इसकी पुष्टि ही मुझसे करवाने मात्र का कार्य पुलिस को मुझसे रहता था।

उनको यह बताया गया था कि मैं २० जनवरी को दिल्ली में था और उस समय मेरे पास एक रिवाल्वर भी था, ऐसी उनकी जानकारी थी। मेरे पकड़े जाने के बाद दिनांक ५-२-१९४८ को मेरे खड़की वाले घर की तलाशी हुई थी। रिवाल्वर नहीं मिला था। वह किसी प्रकार बाहर आ जाए इसके लिए पुलिस ने मुझे त्रस्त किया। मैंने उसे फेंक दिया,

और कहाँ फेंका इसका मुझे ज्ञान नहीं, मैंने इस प्रकार का आग्रह किया था, किन्तु मैं उस पर टिक नहीं सका।

गांधी-वध के ८-१० दिन पूर्व मैंने एक थैला अपने एक मित्र को दिया था। गांधी का वध हुआ, इसमें नथूराम का नाम प्रकट हुआ ऐसी अवस्था में वह थैला अपने पास रखना उपयुक्त नहीं, ऐसा विचार कर उस मित्र ने उस थैले को अपने एक अन्य मित्र को देकर कहा कि इसको नष्ट कर दिया जाए। उस तृतीय मित्र ने अपने मित्र के निर्देशानुसार उसे सुदूर कहीं सड़क के छोर पर उस थैले को फेंक दिया था। मित्रों के ये सब कृत्य मेरी अनुपस्थिति में हुए थे और मेरी जानकारी के बिना हुए थे। मैं इतना ही कह सकता था कि मैंने एक थैला अपने पहले मित्र को दिया था।

ऐसा बताने पर पहले और दूसरे मित्र को संकट झेलना पड़ा था। अपनी विवशता पर मुझे बहुत दुःख हुआ और खेद भी। उन दोनों में भी दूसरे को कुछ अधिक कष्ट हुआ था। क्योंकि थैला मिल नहीं पाया था। छिपाई हुई वस्तु बल प्रयोग से ऊपर आ सकती है, परन्तु जो वस्तुस्थिति ही है अर्थात् जिसमें छिपाने की कोई बात नहीं उसमें से और क्या सत्य बाहर आ सकता है? अन्त में दिनांक १३-३-१९४८ को अर्थात् सवा दो मास बाद उन दोनों मित्रों के मजिस्टेट के सम्मुख शपथपूर्वक बयान लिए गए और भविष्य में उनकी साक्षी भी हुई। उसका सारांश इतना ही था कि मैंने गांधी-वध से पूर्व पहले मित्र को एक थैला दिया था, उसमें एक रिवाल्वर और चार पाँच गोलियाँ थीं। एक मित्र ने गांधी-वध के दो-चार दिन बाद वह थैला एक अन्य मित्र को दिया। उस दूसरे मित्र ने गोलियाँ तो कचरे के डिब्बे में डाल दीं और रिवाल्वर रास्ते के किनारे फेंक दिया था।

मुझ पर एक और बात का आरोप लगाया गया जिससे मुझे बहुत कष्ट हुआ। अधिकारियों का कहना था कि मैं सावरकर जी के यहाँ होकर आया था और उनके अनुसार उसका प्रमाण उनके पास था। उनके पास प्रमाण होने की बात अविश्वसनीय है, इसका मुझे ज्ञान था, परन्तु किसी ने मारपीट टालने के लिए मेरा सम्बन्ध सावरकर जी से जोड़ दिया होगा तो मैं कह नहीं सकता था। मुझ पर पुलिस के प्रयोग हुए। मैं कह देता कि प्रमाण प्रस्तुत कीजिए, मैं उससे आपकी शंका का निवारण कर दूँगा, परन्तु विवाद के लिए अथवा प्रमाणों की सत्यासत्य सिद्ध करने वाला वह न्यायालय तो था नहीं। उनके कहने से जो संकेत मिलता था, वह यह था कि दिनांक १९-१-१९४८ को दिल्ली से सावरकर सदन में टेलीफोन आया था, वह मेरे लिए था।

मैं सावरकर जी के यहाँ नहीं गया था। मुझे सावरकर सदन ज्ञात नहीं था। मेरा वहाँ के किसी व्यक्ति से परिचय भी नहीं था। यह बात धीरे-धीरे अधिकारियों को जंचने लग गई थी, परन्तु इतने में ही किसी ने अनर्थ कर दिया। मेरे घर की तलाशी के समय मेरे घर की भित्ति पर सावरकर जी का हाथ से खींचा हुआ एक टंगा हुआ चित्र किसी पुलिस वाले ने देखा था और उस चित्र पर सावरकर जी के हस्ताक्षर थे। उस व्यक्ति ने इस बात का उल्लेख किया।

कितना सबल प्रमाण था यह। मानो सावरकर जी का और मेरा गहन सम्बन्ध सिद्ध करने के लिए यह अकाट्य तर्क अथवा प्रमाण था। मैं बहुत ही विवश अवस्था में था, परन्तु उस अवस्था में भी प्रस्तुत किए गए उस प्रमाण पर मुझे हँसी आये बिना नहीं रह सकी।

मेरे मुँह से निकल गया 'बस?' और मैं हँस पड़ा था। इससे अधिकारियों ने अनुमान लगाया कि मैं कुछ तो भी छिपा रहा हूँ। और फिर नये सिरे से मुझ पर बल प्रयोग चालू किए गए।

मैं गिड़गिड़ाया, 'मेरी कुछ सुनते हो क्या?'

'आपसे कुछ जानने के लिए हमारे प्रयत्न हो रहे हैं, आपको कष्ट देने की हमारी तनिक भी इच्छा नहीं है।'

'मेरी हँसी के कारण आपको नया आवेश आया है। आप समझते हैं कि मैं अभी भी कुछ छिपा रहा हूँ। आपको 'बादरायण न्याय' ज्ञात है?'

अधिकारियों ने अपनी अनभिज्ञता प्रकट की तो मैंने बड़ी आतुरता से कहा, 'अस्माकं बदरी चक्रं' यह श्लोक पढ़ा। तो वे कहने लगे इसका तुरन्त अर्थ करो। मैंने उन्हें कहानी सुनाते हुए कहा कि किसी अतिथि की बैलगाड़ी का पहिया बेर की लकड़ी का बना था और क्योंकि आतिथेय के घर में बेर का पौधा विद्यमान था, इसलिए अतिथि और यजमान का निकट का सम्बन्ध सिद्ध हो गया। इसे बादरायण का तर्क कहते हैं।

इससे तनाव में कुछ विशेष न्यूनता तो नहीं हुई, हाँ मुझे अधिक कष्ट नहीं दिए गए। मुझे ऐसा लगा कि अधिकारियों को यह भास हो गया है कि उन दिनों सावरकर जी से मेरी किसी प्रकार की कोई भेंट नहीं हुई है। उन्हें अन्य कोई प्रमाण इसकी पुष्टि से मिला नहीं, अतः मेरे शब्दों पर कदाचित उन्होंने विश्वास कर लिया हो। अगले दिन प्रातः उस प्रश्न के लिए मुझे नीचे प्रयोगशाला में नहीं ले जाया गया। यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई कि चलो इस प्रश्न से मुक्ति मिली। उस समय तक मेरी स्थिति ऐसी हो गई कि शरीर का ऐसा कोई भी अंग खोजने से भी प्राप्त नहीं हो सकता था कि जो दुखता न हो।

इस प्रकार एक मास बीत गया होगा कि एक दिन उसी प्रश्न को लेकर अधिकारियों की स्मृति फिर बौखला उठी। मैं समझता हूँ कि सावरकर जी के विरुद्ध आरोप सिद्ध करने योग्य कोई प्रमाण हाथ में न आने के कारण और किसी न किसी प्रकार सावरकर जी को कैद में रखना ही चाहिए, ऐसा ऊपर के अधिकारियों का आदेश समझकर अधिकारीगण प्रयत्नशील हुए होंगे।

वह प्रश्न फिर उपस्थित जानकर मेरी तो चेतना ही मर गई। अभी-अभी मेरे अंगों में थोड़ा-थोड़ा सुधार होने लगा था। अब पुनः नए सिरे से उस प्रश्न को उठाने से बहुत ही कठिन अवस्था हो जावेगी, इसका मैं अनुमान लगाता था। मारपीट टालने के लिए 'मैं सावरकर जी के पास गया था' इतना कहना ही पर्याप्त नहीं था। फिर तो यह भी कहना पड़ता कि वहाँ जाकर क्या बात की, किस वाहन द्वारा पहुँचे थे, वह समय कौन-सा था इत्यादि सभी प्रासंगिक प्रश्न उस एक बात से उठ खड़े होते, किन्तु प्रश्नोत्तरों की वह माला गूँथना मेरे लिए सम्भव नहीं था।

परीक्षा के लिए मुझे प्रयोगशाला में ले जाया गया, किन्तु कहना चाहिए कि मेरा दैव ही बलवान था। ऐसा ही कहना पड़ेगा। जिस अधिकारी को उस छानबीन के लिए नियुक्त किया गया था, उसे वरिष्ठ अधिकारियों ने तुरन्त बुला लिया था। उसने आदेश दे दिया 'इनको पूछताछ के लिए दोपहर को ले आना' और इतना कहकर वे चले गए। किन्तु वह दोपहर फिर कभी नहीं आई। सम्भवत: वरिष्ठ अधिकारी ने यह आदेश दिया हो कि इस प्रश्न पर गोपाल को सन्त्रस्त मत करो, किन्तु मेरे सिर पर तो प्रश्नों का शस्त्र सदा वैसा ही लटकता रहा। इन सभी यातनाओं में से अन्त में मुझे सन्तोष हुआ तो इतना ही कि सावरकर जी को पकड़वाने का दोष कम से कम मेरे सिर पर तो नहीं था। उनकी और मेरी भेंट हुई अथवा नहीं, यह बात आज काल के उदर में लुप्त हो गई है।

इस सम्बन्ध में सर्वश्री अप्पा कासार, गजानन दामले आदि अन्य कई व्यक्ति जो सावरकर जी के समीप के थे, कष्टप्रद यातना से नहीं बच सके, किन्तु सावरकर जी के यहाँ आकर जाने का प्रमाण उनसे भी प्राप्त नहीं हुआ।

शंकर किस्तैया बड़गे का सेवक था। बड़गे कहाँ होगा यह जानना उसको जानना था। किसी ने उसको बताया कि आजकल बड़गे बम्बई गुप्तचर विभाग के कार्यालय में रहता है। उसको बड़गे से अपना वेतन लेना था।

पता लगाता हुआ वह दिनांक ६-२-१९४८ को सीधा गुप्तचर विभाग के कार्यालय में आया। उसने गुप्तचर विभाग वालों से कहा कि उसके स्वामी से उसको वेतन के पैसे दिलवाए जाएँ। पुलिस तो शंकर किस्तैया की खोज में थी ही। उन्होंने उसका नाम-धाम पूछा और फिर कहा कि उसे बड़गे से मिला देते हैं, ऐसा कह कर उसके खान-पान और रहन-सहन का प्रबन्ध भी वहीं कर दिया। उसको इस प्रकार क्यों पकड़ा गया, इस विषय में वह उनसे तू-तपैड़ कर लेता था। किन्तु जब उसको बड़गे के ही कमरे में रखा गया तो उसको तनिक सान्त्वना मिली।

शंकर किस्तैया से जब पुलिस वालों ने पूछा तो उसको जो कुछ भी ज्ञात था, सब सीधे-सीधे बता दिया। जाँच के लिए जब उसको दिल्ली लाया गया तो जो कुछ सामग्री छिपा कर रखी गई थी, वह भी उसने निकाल कर दी।

सबसे बाद में पकड़े गए थे नाना आपटे और करकरे। १३-१४ फरवरी को उनको बम्बई में पकड़ा गया था। उनसे सम्बन्धित सब सूत्र केवल उनसे ही प्राप्त करने शेष थे। अन्य जाँच तो लगभग समाप्त-सी हो गई थी, इसलिए उन दोनों को अन्यों से सम्बन्धित किसी विषय के लिए संत्रस्त करने के योग्य कुछ शेष नहीं रह गया था।

सावरकर जी को आरोपी के रूप में बन्द किया गया था, तो भी उनको आर्थर रोड बन्दीगृह में रखा गया था। पुलिस ने उनका भी कथन लिया था। वह वक्तव्य बहुत ही संक्षिप्त था, परन्तु उनसे इससे अधिक कुछ और भी कहलवा लेना सम्भव नहीं था।

ग्वालियर के डॉक्टर परचुरे को ग्वालियर में ही आबद्ध करके रखा गया था। वहाँ के किले में उनकी बड़ी ही विचित्र दशा की गई थी। इस कारण उनको मजिस्ट्रेट के सम्मुख उपस्थित होकर स्वीकारोक्ति सूचक वक्तव्य देने के लिए बाध्य होना पड़ा। बाद में विशेष

न्यायालय के सम्मुख वह इस बयान से मुकर गए। डॉ० परचुरे को जिस अवस्था में रखा गया था उस अवस्था का विचार करके पंजाब उच्च-न्यायालय ने उनकी स्वीकारोक्ति को स्वीकार नहीं किया क्योंकि इसके लिए कोई और स्वतंत्र प्रमाण भी नहीं था और उन्हें मुक्त कर दिया गया।

ग्वालियर में अन्य तीन आरोपी श्री सूर्यदेव शर्मा, श्री गंगाधर दण्डवते और श्री गंगाधर जाधव को पकड़ा ही नहीं गया था। डॉ० परचुरे के पंजाब उच्च-न्यायालय से मुक्त होने के बाद वे तीनों अभियुक्त स्थानीय न्यायाधीश के सामने उपस्थित हो गए थे, उन पर से अभियोग हटा लिया गया था।

गुप्तचर विभाग के बम्बई कार्यालय में रखे गए व्यक्तियों अर्थात् नथूराम, आपटे, करकरे, बड़गे, शंकर, मदनलाल और मैं, हम लोगों के साथ अन्यथा अच्छा व्यवहार किया गया। हमें कोठरी में न रखते हुए कार्यालय के कक्षों में रखा गया था। दिनभर वहाँ कार्यालय का काम चलता था।

बाहर के किसी व्यक्ति से हमें मिलने नहीं दिया जाता था। इसका अपवाद इतना ही था कि अधिकारी ही कभी-कभी किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति को लेकर आ जाते थे। उस समय अधिकारियों की इच्छानुसार हम कुछ शब्द बोल भी सकते थे। इन प्रतिष्ठित व्यक्तियों में श्री स. का. पाटिल और श्री अच्युत पटवर्धन मुख्य थे।

हमारे लिए माधवाश्रम से भोजन मँगवाया जाता था। भोजन अच्छा होता था। चाय और धूमपान की भी सुविधा थी। घर के लोग जब मिलने के लिए आया करते थे तो उस समय वे कुछ खाद्यपदार्थ भी लाया करते थे।

नथूराम के लिए एक बिजली की केतली लाकर रखी गई थी। उनके कक्ष में कॉफी की सामग्री एकत्रित कर दी गई थी। वे समय-समय पर कॉफी बनाते और बीच-बीच में हम लोगों के पास भी भिजवाया करते थे।

पुलिस अधिकारियों में से अनेक जनों में 'पेय' का अर्थात् मद्यपान की खपत अधिक मात्रा में दिखाई देती थी। अनेक अधिकारी तो ऐसे थे कि जिन्होंने पानी का ही त्याग कर दिया था। उनकी जेब में सदा चाँदी की चपटी बोतल हुआ करती थी। गांधी-वध की खोज में अनगिनत पैसा बहाया जा रहा था। व्यय के लिए कोई बन्धन नहीं और न कदाचित् हिसाब देने की आवश्यकता थी।

हम आरोपियों को परस्पर मिलने और बातचीत करने पर प्रतिबन्ध था। हमको कभी समीप लाया ही नहीं जाता था। इसलिए किसने किस प्रकार के वक्तव्य दिए हैं, इसकी परीक्षा करने का अवसर ही नहीं मिलता था। कुछ प्रसंगों में हमें आमने-सामने लाया जाता था, परन्तु यह तभी होता था कि जब अधिकारियों को यह कहलवाना होता था कि 'अमुक' यह कह रहा है, तुम यह कहते हो। तुम दोनों के वक्तव्यों में मेल नहीं है। तब सच क्या है, इसकी छानबीन करने के लिए दोनों को एकत्रित किया जाता था।

ज्यों-ज्यों पूछताछ का काम पूरा होता गया त्यों-त्यों हमारे बन्धन ढीले होते गए। कड़ाई क्षीण होती गई। फिर भी पुलिस वालों के अधिक समीप होने के कारण इस सम्बन्ध

में हम किसी प्रकार की बातें नहीं कर सकते थे। मुझे नथूराम से मिलने दिया जाता था, हम बातचीत करते थे। घर से मिलने के लिए कभी कोई आते तो हम दोनों साथ आते थे।

तफतीश जब चालू थी तो उस समय हमारे चारों ओर प्रचारित कुछ विचित्र कहानियाँ हमें सुनने को मिलती रहती थीं। नथूराम कभी किसी गाँव में किसी सज्जन के घर पर ठहरे थे। इस प्रकार का किसी का पत्र पुलिस वालों को मिलता था। उस पत्र का आशय पूर्णतया झूठ होने का भास अधिकारियों को होता था। क्योंकि अभियुक्तों की तिथिश: दिनचर्या अधिकारियों के पास लिखित रूपेण विद्यमान थी और उसकी उन्होंने पूर्ण जाँच कर ली थी, परन्तु नए से प्राप्त इस समाचार का निपटारा करना भी एक काम है, यह विचार कर फिर नए सिरे से छानबीन होती थी और जब वह असत्य सिद्ध हो जाता तो उसके विषय में अपना अभिमत वरिष्ठ अधिकारियों को भेज दिया जाता था।

नथूराम के एक ही दिन, एक ही समय पर, अनेक ग्रामों में होने तथा अनेक व्यक्तियों से मिलने का समाचार गुप्तचर विभाग के पास आता था। उस समाचार के सम्बन्ध में बीच में हम लोगों से पूछा जाता था। एक दिन में नथूराम के अनेक स्थानों पर विद्यमान, वार्त्तालाप एवं भाषण की सूचना पुलिस अधिकारियों के पास होती थी। यहाँ तक कि हमें एक दिन पूछा गया था कि एक दिन नथूराम नासिक थे; उसी दिन वह अहमदाबाद (कर्णावती) थे, मिरज थे और नागपुर भी थे। उसी दिन उनका भोपाल में व्याख्यान हुआ था। उसी दिन इटारसी के मित्रजनों ने उनको फलहार दिया। उसी दिन इन्दौर के मित्रों ने उनको विदा दी। उसी दिन किसी गाड़ी में यात्रा कर रहे होते थे। उनके पास लोहे के दो पिटारे थे जिन पर एन. वी. गोडसे नाम अंकित था, झाँसी के निकट किसी ने उनको इस प्रकार देखा था तब उनके साथ-साथ उस यात्रा में एक दो महिलाएँ भी थीं।

इस प्रकार का असम्भाव्य समाचार छानबीन के लिए आने पर हमें लोगों की मनोवृत्ति पर आश्चर्य होता था, परन्तु इस सबमें छानबीन करने वाले अधिकारियों का मनोरंजन होता था। एक दिन एक अधिकारी हँसी में नथूराम से बोले, 'नथूराम! जिन लोगों ने तुम्हें कभी देखा भी नहीं होगा उन्हें भी तुम सर्वत्र दिखाई देते हो। नथूराम एक समय पर एक ही स्थान पर हो सकता है जनता की बुद्धि में यह बात बैठाने का कार्य हमारे ऊपर आ पड़ा है।'

उस विशिष्ट दिन के सम्बन्ध में अधिकारियों के पास प्रमाण होता था और उसमें उनको किसी प्रकार का अब सन्देह नहीं रह गया था। उस निश्चित दिन नथूराम विमान से बम्बई से दिल्ली गए, ऐसा उनके पास सप्रमाण उल्लेख होता था। नथूराम के कथन से जो वृत्त मिलता था, वह भी अंकित होता था।

कभी-कभी दूर-दूर के अधिकारी भी अपने पास कुछ जानकारी है और उसे तुरन्त बम्बई गुप्तचर विभाग के पास पहुँचाना चाहिए, ऐसा कहकर बम्बई की यात्रा का प्रबन्ध करते थे। अनेक बार उनकी यात्रा पुलिस की दृष्टि में निरर्थक सिद्ध होती थी, क्योंकि वह सूचना या तो असत्य होती, या पहले प्राप्त हो चुकी थी।

सामान्यतया लगभग तफतीश के १४ दिन बाद और अधिक समय प्राप्त करने की दृष्टि से हमें बम्बई के चीफ प्रेसिडेंसी मजिस्ट्रेट के न्यायालय में उपस्थित किया जाता

था। सभी अवसरों पर न्यायाधीश श्री आस्कर ब्राउन इस प्रकार का अवसर पुलिस को देते थे।

साक्षीगण आरोपियों को ठीक प्रकार से पहचान सकें, इसके लिए भी हमें बीच-बीच में न्यायालय में ले जाया जाता था। हम पूर्ण रूप से अधिकारियों के अधिकार में थे। हमें कोठरी या बन्दीगृह में नहीं रखा गया था। हमारे अनजाने साक्षीगण कभी हमें इस प्रकार देखकर गए होंगे और न्यायालय में जाकर उन्होंने पहचानने का नाटक किया होगा तो इसका भी हमें ज्ञान नहीं हो सकता था। अन्यथा पौने दो, दो या ढाई मास बाद कोई रेलवे कर्मचारी, कोई बूट पॉलिस वाला अथवा कोई तांगे वाला ठीक व्यक्ति पर किसी प्रकार उँगली रख सकता था। त्रुटि से भी निश्चित योग्य उत्तर मिलने की कभी-कभी सम्भावना होती तो है, किन्तु अपवाद अपवाद ही हो सकता है, सदा-सर्वदा का नियम नहीं बन सकता।

जाँच पड़ताल का काम जब पूर्ण हो पाया तब तक मई मास आ गया था। न्यायालय कहाँ गठित किया जाए, किस न्यायाधीश की नियुक्ति की जाए, अभियोग कौन प्रस्तुत करे इत्यादि बातों पर शासन के उच्चाधिकारियों में विचार-विमर्श चल रहा था।

बम्बई प्रान्त ने १९४७ में एक एक्ट लागू किया था। उसके अनुसार विशेष न्यायालय प्रस्थापित करना, एक न्यायाधीश की नियुक्ति करना, नियमित-प्रथा छोड़कर उसी न्यायाधीश से आरोप-पत्र तथा आरोपियों के वक्तव्य लेना, हत्या के प्रयत्न के लिए भी आरोपी को मृत्युदण्ड अथवा आजन्म कारावास के दण्ड का पात्र सिद्ध करना, अभियोग का कार्य अविरत और शीघ्रता से चालू रखना, इस प्रकार का उपबन्ध उस एक्ट में था। 'उसे बम्बई पब्लिक सेक्युरिटी एक्ट ऑफ १९४७' नाम दिया गया था और मई, १९४८ में इस अभियोग के लिए दिल्ली में भी इसे लागू किया गया। ५-६ वर्ष बाद सर्वोच्च न्यायालय ने उस एक्ट के अनुसार नियुक्त किए जाने वाले न्यायपीठों को असंवैधानिक घोषित किया था, परन्तु उसका पूर्व-व्यापी प्रभाव घोषित करने से उसने भी इन्कार कर दिया था और ऐसा घोषित कर देना सम्भव भी नहीं था।

दिनांक ४-५-१९४८ को श्री आत्माचरण आई. सी. एस. को गांधी-वध काण्ड के लिए विशेष न्यायाधीश नियुक्त किया गया।

दिनांक १५-५-१९४८ को लालकिले के एक भाग को हम लोगों को रखने के लिए 'कारावास' बनाया गया।

लालकिले में ही न्यायालय के कार्य-संचालन की योजना थी। लालकिले में इस प्रकार का न्यायालय स्थापित करने की यह तीसरी बारी थी। पहली बार १८५७ में क्रांति के अवसर पर बहादुरशाह जफर पर यहाँ अभियोग चलाया गया था। उसके बाद १९४६ में आजाद हिन्द सेना के अधिकारियों पर इस लालकिले में ही अभियोग चलाया गया था और तीसरी बार गाँधी-वध काण्ड का अभियोग भी इसी लालकिले में चलाया जा रहा था।

हम लोगों ने सुना कि शीघ्र ही हम लोगों को दिल्ली ले जाया जाएगा, किन्तु स्पष्ट रूप से किसी ने हमको बताया नहीं था। इतने दिनों से एक ही स्थान पर बंधे-से हम लोगों को आने-जाने में कुछ स्वतंत्रता मिलेगी, बाहर का वातावरण देखने को मिलेगा, इसकी

सम्भावना से हम लोगों को कुछ आनन्द ही होता था।

दिनांक २५-५-१९४८ को बम्बई गुप्तचर विभाग में रखे हम आरोपियों को दो बार में वायुयान द्वारा दिल्ली लाया गया। सावरकरजी का स्वास्थ्य उन दिनों अच्छा न होने के कारण उन्हें दूसरे दिन अर्थात् दिनांक २६-५-१९४८ को आर्थर रोड बन्दीगृह से दिल्ली लाया गया।

डेढ़ दिन तक हमको अलग-अलग पुलिस की कोठरियों में रखा गया। दिनांक २७-५-१९४८ को प्रातःकाल हमें लालकिले के बन्दीगृह के द्वार पर लाया गया। इसी स्थान पर सभी ने सावरकर जी, डॉ० परचुरे आदि को एक स्थान पर, एक साथ देखा था।

कारावास में हमें चाय पिलाई गई और कहा गया कि चाय पीकर तुरन्त ही न्यायालय के लिए प्रस्थान करना होगा। तदनुसार ही हमने न्यायालय जाने की सिद्धता की। यह न्यायालय आज प्रथम बार ही खुलने वाला था। बन्दीगृह से न्यायालय विशेष दूरी पर नहीं था। हमारे जाने के लिए फिर भी सुरक्षा की दृष्टि से मोटर की व्यवस्था की गई थी। प्रातः लगभग दस बजे हम लोग न्यायालय में पहुँचे थे।

११ प्रकाश से अन्धकार की ओर

एकान्तता के घुटन भरे वातावरण से हमने न्यायालय के मुक्त वातावरण में प्रवेश किया। यह बात दिनांक २७-५-१९४८ की है। समय प्रातःकाल साढ़ नौ बजे का था। एक डेढ़ घण्टे पूर्व ही हम सब बन्दियों को लालकिले के विशेष बन्दीगृह में एकत्रित किया गया। प्रथम भेंट में हम एक दूसरे से केवल ऊपर-ऊपर की ही बात कर सके थे। तो भी हमारी बातचीत में अब किसी प्रकार का बंधन नहीं था। इस प्रकार हमने प्रथम बार यहाँ पर खुले वातावरण का सुख अनुभव किया था।

न्यायालय का वातावरण इससे भी अधिक मुक्त था। उस दिन प्रथम बार ही हमको प्रकट रूप में लोगों के सामने लाया जा रहा था। छानबीन के दिनों में हमें कभी दिल्ली, कभी पूना, कभी ग्वालियर लाया, ले जाया तो गया था, किन्तु वह सब गहरे पहरे में ही हुआ था। यदि वायुयान से भी ले जाया गया हो तो भी आसपास पुलिस का पहरा रहता था। हमें पल-भर भी कभी मुक्त नहीं रखा गया था। इसलिए सदा ही मन पर एक प्रकार का बोझ और ग्रन्थियों में तनाव बना रहता था। लोगों को हमें देखने की जितनी उत्सुकता रही होगी उतनी ही उत्सुकता हमें मुक्त समाज देखने की थी।

न्यायालय का प्रकोष्ठ लगभग सौ फीट लम्बा और बाईस फीट चौड़ा था। वह भूमि तल पर था। उसके एक ओर न्यायपीठ और उसके आस-पास उसके कर्मचारी, लिपिक तथा स्टेनोग्राफर आदि के बैठने की व्यवस्था थी। प्रकोष्ठ के उस भाग को शेष धरातल से ऊँचा रखा गया था। न्यायमूर्ति की दाहिनी ओर साक्षीगणों के लिए स्थान बनाया गया था। और उनकी बायीं ओर अभियुक्त तथा पुलिस प्रहरी का स्थान बना था।

न्यायासन ने सम्मुख न्यायाधीश की दाहिनी ओर शासकीय अभियोजक और उनके सहायकों के बैठने का स्थान था। अपराधी अभियुक्त अपने-अपने अधिवक्ता से बोल सकें इस दृष्टि से न्यायाधीश की बाईं ओर अधिवक्ताओं के बैठने का प्रबन्ध था।

दोनों पक्षों के अधिवक्ताओं की कुर्सियों के पीछे दर्शकों के लिए कुर्सियों और बैंच बिछे थे। उनमें सबसे आगे पत्र-प्रतिनिधि बैठा करते थे।

प्रमुख न्यायालय के समीप दोनों ओर के कक्षों को अन्य कार्य के लिए उपयोग में लाया जाता था। न्यायपीठ के समीप के कक्ष को न्यायाधीश का वेशम (चैम्बर) बनाया गया था। पास के कक्ष में साक्षीगण लाकर बैठाये जाते थे। उसके पास के कक्ष में शासकीय विधिज्ञों के बैठने का कक्ष था।

अभियुक्तों के वकीलों के लिए अलग कक्ष था। अभियुक्त के यों ही बैठने के लिए बरामदे के एक कक्ष में प्रबन्ध किया गया था।

हमको दिनांक २५-५-१९४८ को दिल्ली में लाकर अलग-अलग पुलिस कोठरियों में डाल दिया गया था। पुलिस अधिकारी न्यायालय के प्रबन्ध में इतने व्यस्त थे कि हमारे लिए भोजन के अतिरिक्त वे अन्य किसी प्रकार की सुविधा आदि नहीं जुटा सके। हमको जिन कोठरियों में रखा गया था वे बहुत ही गन्दी और सांस घोटने वाली थीं। स्नान नहीं, मुँह पोंछना नहीं, हमें अपनी अवस्था स्वयं ही बड़ी मलिन प्रतीत होती थी। एक ही दिन का प्रश्न होने के कारण उसमें प्रतिवाद के लिए भी कोई गुंजाइश नहीं थी।

शरीर की बाह्यावस्था कैसी भी क्यों न हो, इससे हमारे मनों को एक नया रंग मिला था। मैं सोचता हूँ कि पुलिस के उत्पीड़न से अब मुक्ति मिल गई है। अन्तर्मन की यह बात ही बाह्य मन को प्रफुल्लित कर रही थी। इसलिए हमारे मुखों पर भी उस मुक्ति की तरंग दृष्टिगोचर होती थी। गांधी-वध काण्ड रूपी नाटक का 'शोधप्रक्रिया अंक' पूर्ण होकर अब 'न्यायालय अंक' प्रारंभ हुआ था। कल की चिन्ता करने की मन:स्थिति नहीं थी। कल का कल देखा जाएगा। आज तो यह समारोह देखने को मिल रहा है, यह कल्पना मन को पुलकित कर रही थी।

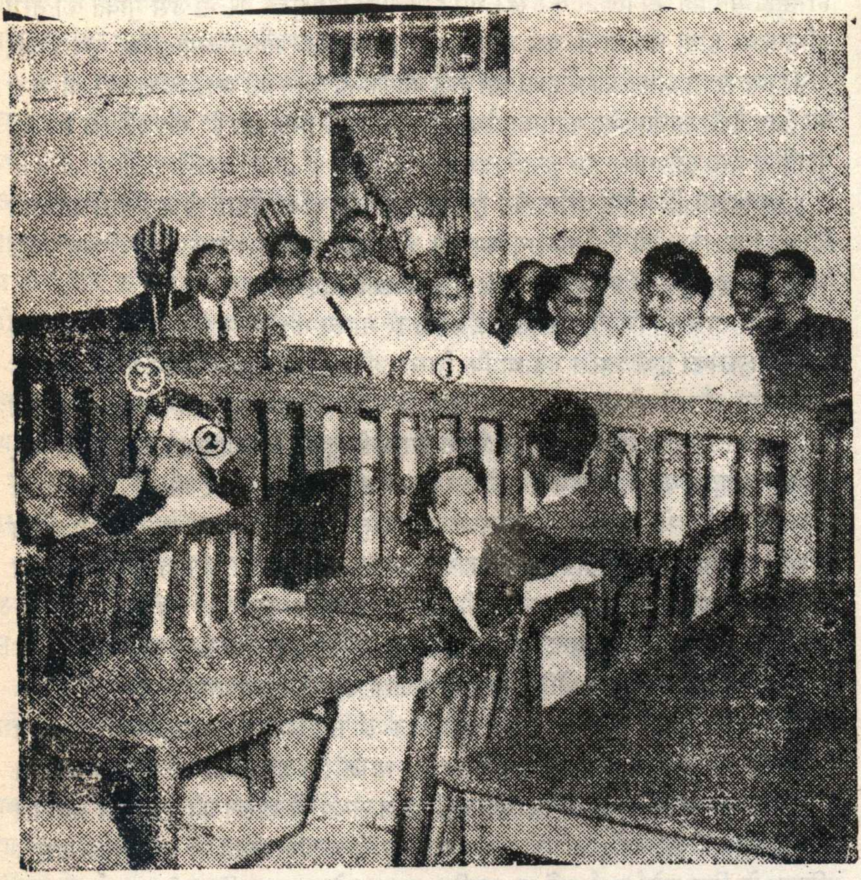
न्यायालय में अनेक दर्शक बैठे हुए थे। उस ओर दृष्टि दौड़ाई तो कई परिचित लोग दिखाई दिए। कुछ लोगों ने मन्द मुस्कान से और कई लोगों ने नमस्कार से परिचय प्रकट किया बम्बई, पूना के लोग भी उनके मध्य दिखाई दिए।

गांधी-वध की जितनी गहनता थी, उतना ही महत्त्व गांधी-वध के अभियोग को प्राप्त हुआ था। उसका एक कारण यह था कि जिस क्रान्तिकारी ने अपने जीवन में स्वतंत्रता के लिए भारत और उससे बाह्य भी संगठन खड़े किए थे, उसके लिए जिसने अतुलनीय कष्ट सहे, जिसने हिन्दू राष्ट्र का तत्त्वज्ञान प्रसृत करके हिन्दुओं में स्वाभिमान की जागृति की, उस अन्तर्राष्ट्रीय कीर्ति के कर्मवीर को अर्थात् स्वातन्त्र्यवीर सावरकर जी को, सत्ताधारियों ने इस अभियोग में एक अभियुक्त के रूप में प्रस्तुत किया था। अन्य कारण अपेक्षाकृत गौण थे, क्योंकि अन्य आरोपियों की महानता अर्थात् उनकी शिक्षा, उनका चारित्र्य, उनकी योग्यता, उनकी क्षमता आदि बातें अभी तक लोगों के सम्मुख आई नहीं थीं।

हमारा अभियोग यदि बन्द न्यायालय में (इन कैमेरा) चलाया जाता तो कदाचित् यह हमको स्वीकार्य न होता। क्योंकि गांधी-वध जैसा कार्य इन व्यक्तियों ने देश की कौन-सी परिस्थिति में किया और तब उनकी ऐसी कौन-सी मनस्थिति थी, इसको बन्द न्यायालय में अभियोग चलाने से कोई समझ नहीं सकता था और न ही किसी की भ्रांत धारणा का इस प्रकार निराकरण ही हो सकता था। तदपि उस समय तो शासन की इच्छा ही सर्वोपरि थी, अभियुक्तों की नहीं। अभियोग अप्रकट रूप से चलाया जाता तो हमारे पास उसके प्रतिवाद के लिए कोई मार्ग नहीं था। इसलिए जब हमने यह सुना कि अभियोग प्रकट रूप से चलाया जाएगा तो हमें प्रसन्नता हुई। हमारे विरुद्ध लगाए आरोपों के समर्थन में प्रमाण एकत्रित कर प्रस्तुत करना और उसके द्वारा हमारा अपराध सिद्ध करा कर हमें दण्ड दिलाने का सारा कार्य शासन की ओर से ही होने वाला था। इस बात का ज्ञान होने पर भी हम खुले न्यायालय में अभियोग चलाया जाने वाला है, यह जानकर शासन के प्रति हमने मन

ही मन आभार ही प्रकट किया।

हम सभी अभियुक्तों को क्रमांक के अनुसार तीन पंक्तियों में अभियुक्तों के कटघरे में बैठाया गया था। प्रथम पंक्ति में नथूराम, नाना आपटे और करकरे, दूसरी पंक्ति में मदनलाल, दिगंबर, बड़गे और शंकर किस्तैया तथा तीसरी पंक्ति में वीर सावरकर, डॉ० परचुरे और मैं था। आगे चल कर इस क्रम में परिवर्तन हुआ था। सावरकर जी को प्रथम पंक्ति में बैठाने का प्रबन्ध किया गया।



अभियुक्त : निर्देशित (१) नथुराम

न्यायालय में जो कुछ बोला जा रहा है, वह सबको भली-भाँति सुनाई दे, इसके लिए स्थान-स्थान पर ध्वनिविस्तारक यन्त्र अर्थात् माइक्रोफोन लगाए गए थे। अभियुक्तों की प्रत्येक पंक्ति में भी एक-एक यन्त्र लगा हुआ था। दोनों ओर के वकीलों, साक्षियों के लिए और न्यायाधीश के पटल भी यन्त्र लगे हुए थे।

बचाव पक्ष के अधिवक्ता थोड़े ही थे। सर्वश्री अण्णाराव भोपटकर, जमनादास मेहता, लाला गणपतराय, कुंजबिहारी भोपटकर तथा इनामदार अपने-अपने स्थान पर बैठे थे।

शासन की ओर से प्रमुख पैरवीकार श्री दफ्तरी थे। उनकी सहायता के लिए श्री पेरीगारा, श्री शाह और श्री ज्वालाप्रसाद थे। वे भी अपने-अपने स्थान पर बैठे थे।

प्रेस फोटोग्राफरों को उस दिन फोटो खींचने की अनुमति प्राप्त थी। हमारे स्थिरचित्र और चलचित्र खींचने वाले सभी प्रकार के यन्त्र से सज्ज किए गए। न्यायमूर्ति के आने का मात्र अवकाश था।

दस बजने में जब आधा मिनट रह गया तो न्यायालय के रजिस्ट्रार ने न्यायाधीश के आने की सूचना सुनाई। वातावरण शान्त हो गया और सभी स्थिर एवं सावधान होकर बैठ गए।

ठीक दस बजे न्यायाधीश श्री आत्माचरण न्यायालय में प्रविष्ट हुए। उनके अभिवादन के लिए सभी खड़े हो गए। न्यायाधीश न्यायपीठ के समीप आए, उन्होंने सबका अभिवादन स्वीकार किया और प्रत्याभिवादन कर सभी को बैठने का संकेत करते हुए स्वयं भी पीठासीन हुए।

फोटोग्राफरों ने अपने यन्त्र साधे। आँखों को चकाचौंध करने वाले स्फुर प्रकाश (फ्लैशलाइट) एक के बाद एक जगमगाते और बुझाते रहे। चलचित्रकारों के प्रकाश में तो न्यायालय सूर्य के प्रकाश से भी अधिक जगमगा-सा गया था। फोटो लेने अथवा फिल्मीकरण का यह कार्य चार-पाँच मिनट तक चलता रहा।

प्रेस न्यूज एजेन्सी अथवा फिल्म डिविजन ने देश के छबिगृहों में प्रदर्शन के लिए उस दिन फिल्माए गए चित्रों की प्रतियाँ कराकर वितरित कीं। न्यूजरील के रूप में उनको दिखाया जाने लगा था। उस न्यूजरील के दिखाए जाने पर अनेक छविगृहों में अभियुक्तों के जयघोष होने लगे तो शासन ने उसमें हस्तक्षेप कर उनको दिखाने पर प्रतिबंध लगा दिया।

इस बात पर यदि निष्पक्ष मत व्यक्त करना हो तो मैं कहूँगा कि शासन ने उस पर प्रतिबन्ध लगा कर कोई अनुचित कार्य नहीं किया। किसी एक प्रकरण की छानबीन का विषय जब न्यायालय को सौंप दिया जाए तो उसके बाद न्यायालय किसी भी एक पक्ष के प्रति पूर्वग्रहलिप्त न हो, इसकी सावधानी बरतना शासन के लिए नितान्त आवश्यक है। किसी एक व्यक्ति पर यदि कुछ आरोप आया हो तो उसकी न्यायालयीन कार्य विधि चालू रहते हुए उसके लिए निषेध के लिए किसी सभा का आयोजन करना न्यायदान की दृष्टि से हानिकारक होता है। दण्ड संहिता के आधार पर वह आपत्तिजनक भी होता है। उसी प्रकार उसके पक्ष में आयोजित की गई किसी सभा के विषय में भी यही समझना चाहिए। उन दिनों हमारा न्यायालय अभियुक्तों की छानबीन कर रहा था। न्याय का कार्य

प्रचलित रहते हुए शासन ने उस वृत्तचित्र पर प्रतिबन्ध लगा दिया तो मेरी दृष्टि में कोई अनुचित कार्य नहीं किया।

इसके विपरीत सरदार पटेल ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया। जिन दिनों हम पर न्यायालय में अभियोग चल रहा था उन्हीं दिनों सरदार पटेल ग्वालियर गए और उन्होंने वहाँ एक सभा में भाषण करते हुए कहा, 'जिस शस्त्र से गांधी जी का वध हुआ है, वह शस्त्र ग्वालियर से गया था। यह बात ग्वालियर को कुख्यात करने वाली है।'

सरदार पटेल के इस कथन पर बचाव-पक्ष के वकीलों ने आपत्ति प्रकट की थी।

गांधी जी का वध जिस शस्त्र से हुआ था, वह क्या ग्वालियर से गया था? और क्या जो शस्त्र ग्वालियर से (यदि गया था तो) गया उसी से गांधी जी का वध हुआ है? इन प्रश्नों पर अभी न्यायालय में छानबीन हो रही थी। न्यायालय ने इस विषय पर तब तक अपना मत निर्धारित नहीं किया था। इस दृष्टि से सरदार पटेल के उस भाषण से न्यायालय के अधिकारों की अवमानना होती थी। यह सारी बात बचाव-पक्ष के अधिवक्ता ने न्यायालय के सम्मुख स्पष्ट की थी। परिणामस्वरूप इस प्रकार का कोई भी विवादास्पद वक्तव्य या भाषण किसी भी मन्त्री ने फिर कभी नहीं किया।

फोटोग्राफी की प्रक्रिया समाप्त हुई। सभी अपने-अपने स्थान पर बैठे। शांत गहरे वातावरण में श्री दफ्तरी खड़े हुए। उन्होंने न्यायमूर्ति का अभिवादन किया। अभियुक्तों के विरुद्ध लिखे गए आरोप-पत्र (चार्ज-शीट) को उन्होंने पढ़कर सुनाया और तदनन्तर उसे न्यायमूर्ति को सौंप दिया।

इसके बाद बचाव-पक्ष की बारी थी, परन्तु अभियुक्तों के वकीलों का प्रबन्ध नहीं हो पाया था। श्री सावरकर और डॉ० परचुरे के ही अधिवक्ता आ पाए थे। जो अभियुक्त 'न्याय सहायता समिति' की ओर से अधिवक्ता चाहेंगे, उनके लिए वकीलों की व्यवस्था करने की दृष्टि से श्री भोपटकर ने न्यायालय से समय माँगा।

न्यायाधीश ने अभियुक्तों से वकीलों के विषय में पूछा। दिगम्बर बड़गे ने कहा, 'मुझे वकील नहीं चाहिए।' यह बात पहले ही ज्ञात हो गई थी कि वह शासकीय साक्षी होने वाला है। शंकर किस्तैया ने न्यायपरामर्शक (अमीकस क्यूरी) की माँग की। अभियुक्त अपना वक्तव्य समाप्त कर सकें, अपने पर लगाए गए अभियोग का वह विरोध कर सकें अथवा अभियोग को निराधार सिद्ध कर सकें, इसका अवसर देने के लिए न्यायालय ऐसे वकीलों की व्यवस्था करता है। इस प्रकार के वकील की नियुक्ति करने के बाद भी वह देखता है कि वकील अभियुक्त का हित कर रहा है कि नहीं।

श्री भोपटकर ने भेंट की सुविधा के सम्बन्ध में न्यायालय से पूछा। न्यायालय ने आदेश दिया कि बन्दीगृह के अधिकारियों अथवा जनपद-अधिकारियों से मिलकर इसकी व्यवस्था हो जानी चाहिए।

न्यायालय ने यह भी आदेश दिया कि दिनांक २-६-१९४८ तक साक्षियों के कथनों का सारांश बचाव-पक्ष के वकीलों को मिल जाना चाहिये। उस दिन निश्चय किया गया कि दिनांक ३-६-१९४८ को न्यायालय फिर बैठेगा। और दिनांक १४-६-१९४८ को

अभियोग प्रारंभ हो जाएगा। यह सब निश्चित करने के बाद उस दिन का न्यायालय का कार्य समाप्त घोषित किया गया।

हमको बन्दीगृह में लाया गया। हमारे लाने, ले जाने की व्यवस्था बम्बई पुलिस किया करती थी। दिल्ली का बन्दीगृह पंजाब बन्दी विभाग के अन्तर्गत था और इस विशेष बन्दीगृह का प्रबन्ध भी उसी विभाग के कर्मचारियों के अधीन था। बन्दीगृह के रक्षक पुलिस वालों को केवल बम्बई से लाया गया था। एक रसियन (रूसी) नागरिक श्री मास्कोविच उस विशेष बन्दीगृह के अधीक्षक और श्री भगतराम जेलर नियुक्त किए गए थे।

बम्बई पुलिस और दिल्ली पुलिस में आपस में कुछ मनमुटाव था। उसका स्वरूप अनेक बार हम लोगों के देखने में भी आता था।

बन्दीगृह की कक्षावलि के सामने ही पाकशाला थी। एक रसोइया था और उसको एक सहायक दिया गया था। उसी अहाते के एक भाग में प्रहरियों का निवासस्थान था।

भोजन के लिए हमें एक थाली, एक बरतन और एक कटोरी दी गई थी। सोने के लिए नारियल के धागे की बुनी चारपाई थी। प्रत्येक को एक मेज और एक तिपाई दी गई थी।

गरमी प्रतीत होने लगी थी। कमरे की दूसरी ओर खिड़की नहीं थी। पिछली भित्ति उस कोट की अन्तिम प्राचीर थी। इसलिए वह बहुत चौड़ी थी। प्रत्येक कक्ष के द्वार के निकट एक-एक बिजली का पंखा लगाया गया था।

न्यायालय से लौट आने पर हमने कक्ष में अपना-अपना सामान लगाया और फिर बाद में आराम से बातचीत करने के लिए बैठ गए। प्रारंभ में तो किसके विरुद्ध क्या-क्या प्रमाण एकत्रित किए गए हैं, इस विषय के अतिरिक्त हमें अन्य किसी विषय पर बातें करने का अवकाश ही नहीं मिला था।

न्यायालय में सप्ताह भर की छुट्टी थी। न्यायालय न होने पर हमको दोपहर के बारह से तीन बजे तक कक्षों में बन्द करके रखा जाता था। रात को बन्द करने का समय शाम को ६-३० बजे हुआ करता था और प्रातः ६ बजे कक्ष खोला जाता था।

कक्ष में बन्द हो जाने पर हमको पास के कक्ष वालों से बात करने के लिए ऊँचे शब्द से बोलना पड़ता था। दिन को ताश या शतरंज खेल कर समय बिताया करते थे। अभियोग का काँटा प्रत्येक के मन में कहीं न कहीं खटकता तो अवश्य ही होगा, परन्तु सभी एक ही नाव के यात्री होने के कारण उस प्रकार का तनाव ऊपर से व्यक्त नहीं हो पाता था।

समवयस्क लोग परस्पर मिल जुलकर और अवस्थानुसार धींगामस्ती एवं ऊधमबाजी करते हुए समय व्यतीत करने के अभ्यस्त हो गए थे।

हम अभियुक्तों को अभी किसी प्रकार का दण्ड नहीं सुनाया गया था। मैं तो मुक्त हो ही जाऊँगा, इस प्रकार मन में सोचते थे। दुःख की छाया भी हमारे पास फटकने नहीं पाती थी। बन्दीगृह के वातावरण से हम धीरे-धीरे अभ्यस्त हो रहे थे। और खेलने-कूदने का आनन्द अनुभव कर रहे थे।

किसी अधिकारी के मन में किसी नियम का सम्पूर्ण ठीक अर्थ कब और कैसे लगाया जाएगा, इसकी कोई कल्पना नहीं कर सकता था। ऐसी ही एक रोचक घटना सावरकर

जी के साथ हुई। सावरकर जी को बम्बई आर्थर रोड कारावास से दिल्ली लाया गया था। बम्बई में उनको स्नान के लिए एक लंगोटी दी गई थी। जब वे दिल्ली आए तो तब तक वह उनके पास थी।

जाँच-पड़ताल चल रही थी कि सहसा जेलर की दृष्टि तार पर सूखने डाली गई लंगोटी पर गई। उनको उसके साथ सिला हुआ नाड़ा खटकने लगा। उसके मन में नियम के उन शब्दों की ओर ध्यान गया कि अपने प्राणों की हानि करने वाली किसी प्रकार की भी वस्तु बन्दी के पास नहीं होनी चाहिए।

बड़ी नम्रता से उन्होंने सावरकर जी से उस लंगोटी की माँग की। सावरकर जी बोले, 'मुझे तो वह स्नान की सुविधा के लिए दी गई है।'

'हमारे नियमों अर्थात् पंजाब कारागार नियमों के अन्तर्गत इस प्रकार की लंगोटी देना वर्जित है।'

सावरकर जी ने कहा, 'यदि आप उसके स्थान कोई दूसरी व्यवस्था कर सकें तो उस लंगोटी को ले जाइए।'

'आप इसे अन्यथा न समझें। मैं लंगोटी का नाड़ा काट लेता हूँ और लंगोटी पुनः भेज देता हूँ।'

अनजाने में यह वार्त्तालाप विनोद का स्वरूप ग्रहण कर रहा था। सावरकर जी ने हँसी में कहा, 'लंगोटी को कमर में चिपकाये रखने के लिए क्या आप मुझे लेई या गोंद देंगे?'

जेलर को कुछ सूझ नहीं रहा था। विवश किन्तु कुछ खेद-सा व्यक्त करते हुए वे बोले, 'हमारे नियमों में लंगोटी का कोई उल्लेख नहीं है,' परन्तु तुरन्त ही उसे सुधारते हुए बोले, 'इसके विकल्प में नियमों में क्या सुविधा आपको प्राप्त हो सकती है, यह मैं नियमों का अध्ययन कर अथवा वरिष्ठ अधिकारियों से इसकी जानकारी प्राप्त कर आपको सूचित करूँगा।'

जेलर चले गए। प्रहरी लंगोटी लेकर चला गया और उसका नाड़ा तोड़ कर उसने वैसे ही उसको सुखाने डाल दिया।

शाम को किसी कार्य से जेलर हमारे पास आए थे। प्रातः का विषय उस समय तक उनके मन से निकल गया था। वे सावरकर जी के कक्ष के पास खड़े हुए बात कर रहे थे। थोड़ी बहुत बातचीत के बाद सावरकर जी ने उनको भीतर में आने के लिए कहा।

सावरकर जी ने चारपाई पर से चद्दर उठा कर उनको दिखाते हुए कहा, 'देखिये।'

'क्यों, क्या खटमल हैं? चारपाई तो नई है।' जेलर ने कहा।

'नहीं खटमल तो अभी नहीं हुए। किन्तु वह रस्सी?'

चारपाई के पायताने में पचीस-तीस फिट की रस्सी होती ही है। सावरकर जी फिर बोले, 'किसी एक शरीर में यदि दस प्राण भी होंगे तो उन सभी को नष्ट करने के लिए यह रस्सी पर्याप्त है।'

बन्दीपाल उलझन में पड़ गए। उन्हें प्रतीत हुआ कि नियमों में कहीं निश्चित त्रुटि है। लंगोटी का डेढ़ फीट नाड़ा उनके मन में खटकने लगा। परन्तु उनको नियमों का ज्ञान अच्छा

था। वह बोले, 'चारपाई नियम के अनुसार बनवाई है और यह रस्सी भी उन्हीं नियमों के अन्तर्गत है। इसे अलग कैसे माना जा सकता है?'

इस विनोद में हम सभी को भाग लेने की इच्छा होने लगी। हममें से कोई एक बोला, 'अर्थात् नियम के बाहर के साधन से हानि कर लेने पर प्रतिबन्ध है, यही कहना हुआ न आपका?'

वे किम्कर्तव्यविमूढ़ होकर बोले, 'नियम के अनुसार तो ऐसा ही दीखता है।' फिर सावरकर जी से कहने लगे, 'मैं आपकी लंगोटी पर नाड़ा लगवा कर भेज देता हूँ।'

सावरकर जी बोले, 'आप यदि नियमों का ठीक प्रकार से भी पालन करें तो उससे कुछ बिगड़ता नहीं। परन्तु 'अन्धी पीसे, कुत्ता खाय', इस प्रकार के नियमों पर कार्यवाही नहीं होनी चाहिए, मेरा इतना ही निवेदन है। नियम तो हमारी परस्पर सुविधा के लिए हैं। नियमों का उपयोग करते समय इस हेतु को ध्यान में रखना चाहिए।'

'मेरी इच्छा आपको अथवा आपके किसी साथी को असुविधा प्रदान करने की नहीं है, किन्तु कुछ नियम विचित्र होते है, यह सच है।'

हास्य विनोद के उस वार्त्तालाप का उपसंहार करते हुए सावरकर जी ने कहा, 'फिर कभी-कभी नियम और मस्तिष्क का संयोग किया जाए।'

जेलर भी लगता है विनोदप्रिय थे, बड़ी गंभीरता से उन्होंने इसके उत्तर में कहा, 'परन्तु वैसा नियम तो है ही नहीं?'

इससे जो हँसी का फव्वारा छूटा उसमें वे भी सम्मिलित हो गए। उपरिलिखित घटना को यदि छोड़ भी दिया जाए तो भी यह देखा गया है कि कुछ नियम दोषपूर्ण बनाये गए हैं। कभी-कभी इन नियमों के एक से अधिक अर्थ भी निकाले जा सकते हैं। उस समय कौन-सा अर्थ उपयुक्त है, यह उस अधिकारी की बुद्धि पर निर्भर रहता है। कभी दुराग्रह से विशिष्ट अर्थ भी लगाया जाता है। इससे जो सुविधा शीघ्र ही प्राप्त होनी चाहिए उसके लिए लम्बा पत्र-व्यवहार करना पड़ता है। और उसमें छः मास तक लग जाते हैं। मुझे नवम्बर, १९६४ में स्थानबद्ध किया गया था, उस समय भी ऐसी एक घटना हुई थी।

कितने दिन का कारावास है, यह निश्चित नहीं था। मेरी धरपकड़ भारत सुरक्षा अधिनियम के अन्तर्गत हुई थी। मैं घर के कपड़े पहनता था। कपड़े फटने लगे थे। नियम द्वारा शासन को ही वस्त्र देने चाहिएं थे, परन्तु उस नियम में कुछ शर्तें रहती हैं। यह शर्तें दोषपूर्ण हैं, यह बात मेरी ध्यान में आई।

मैंने अपने लिए वस्त्रों की प्रार्थना की। कुछ मास बाद उत्तर आया 'शासन की ओर से वस्त्र नहीं दिए जाएंगे। घर के लोग या मित्रगण वस्त्र देंगे।'

घर की स्थिति मुझे ज्ञात थी। सत्यनारायण काण्ड के बंदियों से भेंट करना और न्यायालय में उनके आवेदन प्रस्तुत करने में मेरी पत्नी को कितनी कठिनाई हो रही थी, इसका मुझे ज्ञान था। मेरे लिए कपड़े सी कर लाने का अतिरिक्त भार मैं उसके ऊपर डालना नहीं चाहता था।

यदि मैं माँग करता तो कोई भी हितेच्छु मुझे कपड़े दे सकता था, परन्तु दूध का जला

तो छाछ भी फूँक-फूँक कर पीता है। १७ वर्षों के बाद मैं मुक्त होकर आया था। समाज में मेरा स्थान बनाने के लिए मित्रों ने सहायता का हाथ आगे बढ़ाया था। उस सहायतारूपी यज्ञ में उनके हाथ ही जले थे। यदि कोई मित्र मुझे कपड़े देता, तो क्या पता कोई यह कोलाहल मचाता कि 'वस्त्र-दान' द्वारा गोडसे-वाद को प्रोत्साहन दिया जा रहा है। और इस प्रकार की माँग होने पर शासन उन कपड़े भिजवाने वालों को भी पकड़ कर बन्द कर देती, और अन्य लोग भी बिना किसी अपराध के पकड़े जाते।

अन्न और वस्त्र, ये मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताएँ हैं। यदि शासन ने किसी को बंदीगृह में बन्द किया है तो उसकी ये मूलभूत आवश्यकताएँ तो पूर्ण होनी ही चाहिएं, ऐसा मेरा मत था। और मैं यह भी देख रहा था कि अन्य बन्दियों को कपड़े दिए गए थे और अभी भी दिए जा रहे थे, किन्तु शासन ने मुझे जो उत्तर दिया था वह दुराग्रहपूर्ण था, यह मेरी धारणा थी।

मैंने बम्बई के उच्च-न्यायालय में आवेदन किया। मैंने न्यायालय से आग्रह किया कि बन्दी की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति शासन को ही करनी चाहिए। नियमों में जो विसंगति है, उसको ठीक किया जाए।

यदि पत्नी द्वारा कपड़े दिए जाने की शासन अपेक्षा करता है तो फिर भोजन की भी उससे ही अपेक्षा करे और उसके लिए शासन को चाहिए कि वह मुझे मेरी पत्नी के अधीन कर दे। अर्थात् मुझ पर उसकी बन्दीपाल के रूप में नियुक्ति कर दे।

मेरा तर्क प्रथम दर्शन में तो उनको ठीक प्रतीत हुआ। सुनवाई के लिए उन्होंने तिथि निश्चित कर दी, किन्तु इस सुनवाई होने से पूर्व ही दिनांक ३०-११-१९६५ को मुझे मुक्त कर दिया गया। नियत तिथि पर आवेदन न्यायालय के सम्मुख आया। न्यायालय ने आवेदन के व्यवस्थास्वरूप शासन से मुझे १०२ रुपये दिलवाए। इन मूलभूत आवश्यकताओं के लिए बन्दियों को हम तक पहुँचने का प्रसंग ही क्यों आता है? इस प्रकार का प्रश्न न्यायालय ने शासन से किया था।

न्यायालय द्वारा दिनांक २७-५-१९४८ को दिए गए आदेश के अनुसार दिनांक ३- ६-१९४८ को न्यायालय में ले जाया गया। पूछताछ जारी रखने के दिनों में हमें ऊपर की श्रेणी के बन्दी के समान समझा जाता था। जब हमको बन्दीगृह में रखा गया तब उस प्रकार की आज्ञा नहीं दी गई थी। इसलिए हमें उच्च-श्रेणी प्रदान की जाए, इसके लिए हमने न्यायालय में प्रार्थना की।

अभियोजकों को इसमें कोई आपत्ति नहीं थी। उन्होंने अपना मत दिया कि सभी को 'बी' श्रेणी दी जाए। न्यायालय के आदेश से हमें 'बी' श्रेणी दी गई।

शासकीय पक्ष ने साक्षियों के कथन की एक प्रति भी भोपटकर जी को दी। उस दिन सर्वश्री आपटे, करकरे और मेरे लिए श्री जी. के. दुआ की अस्थायी वकील के रूप में नियुक्ति की गई, परन्तु सभी का प्रबन्ध अभी तक नहीं हुआ था। इसलिए श्री भोपटकर ने और समय की माँग की। न्यायाधीश ने आदेश दिया कि इसके बाद न्यायालय पुन: दिनांक १४-६-१९४८ को बैठेगा और उसके बाद दिनांक २२-६-१९४८ से न्यायालय का काम

नियमित रूप से आरंभ होगा।

दिनांक १४-६-१९४८ को विशेष कार्य नहीं हुआ। नथूराम के लिए श्री वी. वी. ओक और मेरे लिए श्री एम. वी. मणियार इन दो वकीलों की नियुक्ति श्री भोपटकर जी ने की थी। इस दिन ये दोनों अधिवक्ता न्यायालय में उपस्थित थे।

दिनांक २२-६-१९४८ को न्यायालय पुनः खुला। इसी बीच १४-६-४८ को भारत शासन ने एक राजपत्र प्रकाशित किया। तदनुसार क्षमा के साक्षी को क्षमा करने का अधिकार विशेष न्यायाधीश को प्रदान किया गया था। बड़गे सब कुछ कहने के लिए तत्पर है, उसको इस अपेक्षा पर क्षमा की जाए। इस प्रकार का आवेदन शासन ने दिनांक १७-६-१९४८ को न्यायाधीश के सम्मुख प्रस्तुत किया। बड़गे ने २७ जून को अपना बयान न्यायाधीश के सम्मुख प्रस्तुत किया। यदि वह सब कुछ सच-सच कहेगा तो उसको क्षमा कर दिया जाएगा, ऐसा आश्वासन न्यायाधीश ने उसको दिया था।

श्री एच. आर. मेहता, शंकर किस्तैया के लिए वकील नियुक्त किए गए। श्री नवलकर और कुमारी कमलम्मा को क्रमशः मराठी और तेलुगु भाषा के दुभाषिये के रूप में दिनांक १९-६-१९४८ को नियुक्त किया गया।

बीच में आने वाली लम्बी-लम्बी छुट्टियों से हम दुःखी हो जाते थे। अभियोग प्रारंभ होने के बाद कभी वकील कोई वाद उपस्थित करते और यदि उसका निर्णय उसके विरुद्ध होता तो वे उसका निराकरण उच्च-न्यायालय से करा लेने के लिए एकाध मास का अवसर माँगते थे। इस अभियोग का निर्णय शीघ्र ही हो जाए; इस प्रकार की हमारी आकांक्षा का वकीलों के लिए कोई महत्त्व प्रतीत नहीं होता था। हम जब अधिवक्ताओं से इस विषय में पूछते तो वे कहते थे कि अनेक मूलभूत प्रश्नों को तुरन्त उच्च-न्यायालय से निपटा लेने से अभियोग पर अच्छा परिणाम होने की संभावना होती है। दूसरे, यदि अभियोग अधिक दिन चला तो कालावधि बीत जाने से उस घटना की कठोरता क्षीण होती जाती है, किन्तु हमको यह सब नहीं सुहाता था। हम सभी अवसर माँगने का विरोध किया करते थे।

समय व्यतीत करने के लिए हमारे पास अनेक पुस्तकें तथा खेलने की अनेक सामग्री एकत्रित होने लगी थीं। मैंने उन्हीं दिनों नाना आपटे से शतरंज खेलना सीख लिया था। मदनलाल भी खेलता था। उस खेल में मन ऐसा एकाग्र होता था कि श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर के विनोदी वर्णनों का स्मरण होता था।

एक बार मैं और नाना शतरंज खेल रहे थे। चाय का समय था। खेलते हुए अपने-अपने बरतनों में से चाय के घूँट ले रहे थे। नथूराम बीच में ही आकर खेल देखने लगे। कभी-कभी वे चाल चलने के लिए दोनों को बताते भी रहते थे। उन्होंने भी अपनी कॉफी हमारी मेज पर ही रख ली थी। उसी प्रकार वे भी बीच में घूँट लेते रहते थे।

'तुम्हारी चाय समाप्त हो जाए तो बताना।' नथूराम ने मुझसे कहा। मैंने चौंक कर उनकी ओर देखा। नथूराम मेज पर रखे बरतन की ओर देख रहे थे। मैंने उस ओर देखा। नथूराम की कॉफी मैं ही समाप्त कर रहा था। मेरा चाय का बरतन वैसे ही पड़ा था। खेल में इतना रम गया था कि मुझे चाय कॉफी के स्वाद का भी अन्तर ध्यान में नहीं आया।

कोई गलत चाल चल देने पर बाद में इतना पश्चात्ताप-सा होता था कि मानो अपना राज्य ही नष्ट हो रहा है। मैं मदनलाल से कुछ अच्छा खेलने लग गया था। एक बार हम खेल रहे थे कि उसका 'प्रधानमन्त्री' मेरे घेरे में आया। मैंने सीधे अपनी गोटी उसके खाने में रखी और उसको उठाने लगा। मदनलाल ने मेरे हाथ से अपना मन्त्री छीन लिया और बोला, 'नहीं-नहीं। वह नहीं लिया जा सकेगा।' तब तक मैंने उसे हाथ से छोड़ा नहीं था।

मैंने उसको नियम बताते हुए कहा, 'जिस गोटी को हाथ लगाया जाता है फिर उसी को उठाया जाता है।'' फडपर की स्थिति दिखाते हुए मैंने उसको कहा, 'मन्त्री को कहीं पर भी रख दो, वह मेरे घेरे में ही आता है। मुझे उसको मारने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है।'

वह कहने लगा, 'मैं नहीं दूँगा। कैसे मारते हो मैं देखता हूँ। इतना कह वह भाग कर मंत्री को हाथ में लेकर स्नान घर की ओर चला गया। सावरकर जी स्नान करके बाहर आ रहे थे।' उन्होंने पूछा, 'क्यों क्या बात है?'

मदनलाल तनिक लज्जित-सा हुआ। वह बोला, 'कुछ नहीं, वह मेरे मन्त्री को मारता है।'

'कौन?'

'गोपाल।'

'पर तुम्हारे यहाँ भाग कर चले आने से तो उसको मारने का खुला अवसर मिल जावेगा।'

मदनलाल ने अपना हाथ खोल कर दिखाते हुए कहा, 'यह देखिए, अब कैसे मारेगा? मैं तो उसको लेकर यहाँ आ गया हूँ।'

सावरकर जी हँसते-हँसते लोट-पोट हो गए। हम तो पहले से ही हँस रहे थे। मदनलाल के सिर पर शतरंज का भूत सवार था। उसे उतरने में कुछ मिनट लगे।

'मुझसे लड़कपन हो गया,' ज्यों ही उसको इसका ज्ञान हुआ तो वह तुरन्त भाग कर अपने कक्ष में आ गया और उसने सबके सम्मुख प्रतिज्ञा की कि वह भविष्य में मेरे साथ शतरंज नहीं खेलेगा। और उस प्रतिज्ञा का उसने दूसरे दिन शाम तक पालन भी किया।

ताश के खेलों में प्राय: नाना और विष्णुपंत करकरे भागीदार हुआ करते थे। सदैव ही भागीदार बनने से अपने कुछ चिह्न अथवा संकेत निश्चित कर लिए जाते हैं। मैं और नाना एक बार भागीदार बन गए। करकरे और मदन हमारे विपक्षी थे। खेलते-खेलते मुझे पटल के नीचे किसी का पैर लग गया। मैंने पैर खींच लिया और पालथी मार कर बैठ गया। और मैं यह नहीं समझ सका कि यह कोई संकेत है। थोड़े देर बाद करकरे एकाएक बोले, 'नाना! आपने मेरा पैर दबाया?'

खेल के साधन होते हुए भी कई बार खेल बहुत शिथिल लगने लगता था, जिसका प्रमुख कारण था सीमित क्षेत्र में हमारा रहना। यद्यपि यह कक्ष बम्बई में जो कोठरी थी, उससे खुला था, किन्तु न्यायालय जाने में तो उस कोठरी से भी मुक्ति मिल जाती थी, इसका हमें दु:ख रहता था कि तिथि विलम्ब से क्यों दी जाती है? इसके कारण न तो पैरों में हलचल

ही होती है और न मन को आनन्द ही होता है। केवल बन्दीगृह की सीमित भूमि में घूमना कष्टकर प्रतीत होता था।

उस यातना का विश्लेषण मैं आज कर सकता हूँ। स्वतन्त्रता मनुष्य का सहज स्वभाव है। परतन्त्रता प्राप्त होने पर स्वतन्त्रता का मूल्य समझ में आने लगता है। स्वतन्त्र मनुष्य बार-बार घंटों तक स्वयं को स्वेच्छा से एक कमरे में बन्द कर लेगा, किन्तु यदि उस पर उसी प्रकार प्रतिबन्ध लादा गया तो उसको पराधीनता की यातना होने लगती है। किसी को बन्दीगृह में डाल कर वहाँ उसके सुख के लिए कितने भी साधन उपलब्ध कराए जाने पर भी उस बन्दीवास में उसके मन की जो स्थिति होती है, उसकी भरपाई नहीं हो सकती।

दिनांक २२-६-१९४८ को न्यायालय खुला; उस दिन मदनलाल के वकील श्री बनर्जी को छोड़कर शेष सब उपस्थित थे। बचाव पक्ष के लिए अधिवक्ताओं की नियुक्ति इस प्रकार हुई थी। नथूराम के लिए श्री ओक, नाना आपटे के लिए श्री मेंगले, करकरे के लिए श्री डांगे, मदनलाल के लिए श्री बनर्जी, शंकर किस्तैया के लिए श्री मेहता, मेरे लिए श्री मणियार, सावरकर जी के लिए श्री भोपटकर और डॉ० परचुरे के लिए श्री इनामदार। कुछ दिनों बाद श्री मणियार बीमार पड़ गए तो मेरा पक्ष भी श्री इनामदार देखने लगे। श्री भोपटकर सावरकर जी के लिए थे, फिर भी सर्वमान्य बचाव पक्ष की दिशा का मार्गदर्शन किया करते थे। श्री गणपतराय और श्री जमनादास मेहता आदि वकील सावरकर जी के बचाव के अतिरिक्त सभी अभियुक्तों की सहायता करते थे।

इस अभियोग के अभियुक्त के साथ न्याय हो और उसके लिए हमारा भी सहयोग उनके साथ है इसके प्रकटीकरण के लिए अनेक प्रान्तों के वकील समय-समय पर न्यायालय में आकर अपना वकालतनामा प्रस्तुत करते रहते थे। यहाँ आकर वे बचाव-पक्ष के वकीलों से विचार-विमर्श करते और वहाँ रहना आवश्यक नहीं है, यह जानकर बाद में वापस चले जाया करते थे। बंगाल के श्री मित्र और मद्रास के श्री गणपति भी इसी प्रकार हमारी सहायता देने के लिए आए थे। श्री पी. आर. दास ने तो सावरकर जी के पक्ष में न्यायालय में तर्क भी किया था। संयोग की बात यह थी कि इन्हीं दास महोदय के भाई श्री सी. आर. दास ने श्री अरविन्द घोष का अभियोग लड़ा था और उनको निर्दोष मुक्त करवाया था।

दिनांक २२-६-१९४८ को न्यायालय ने हम पर आरोप प्रस्तुत किए। करकरे और शंकर किस्तैया को उनके दुभाषियों ने आरोप समझाए। न्यायमूर्ति ने प्रत्येक व्यक्ति से आरोप के विषय में पूछा तो सबने एक स्वर से उन आरोपों को अस्वीकार कर दिया।

आरोप का उत्तर देने के लिए मदनलाल ने अपना लिखित वक्तव्य प्रस्तुत किया। उनका कहना था कि गांधी जी पर आघात करते हुए कोई षड्यन्त्र रचा ही नहीं गया था। गांधी जी की मुस्लिम- तुष्टीकरण की नीति से हिन्दुस्थान भर में जो असन्तोष फैला था उसके प्रतीकात्मक निदर्शन के रूप में दिनांक २०-१-१९४८ को बम विस्फोट किया गया था।

आरोप का इंकार करते हुए डॉ० परचुरे ने कहा, 'मैं ग्वालियर का निवासी हूँ। दिनांक ३०-१-१९४८ को जब गांधी जी का वध हुआ था तब तक ग्वालियर भारत में विलीन

नहीं हुआ था। मुझे बन्दी बनाने के लिए भारत शासन ने एक्सट्राडिशन वारेंट (अर्थात् प्रत्यर्पण-अधिपत्र) लिया ही नहीं। अत: मेरी इस न्यायालय में उपस्थिति मूलत: अवैध है, यह मेरा साग्रह निवेदन है।'

अभियुक्तों ने जब अभियोग को अस्वीकार किया तो फिर श्री दफ्तरी ने अभियोग की भूमिका पर प्रकाश डालना आरंभ किया। दिन का काम पूर्ण होने पर उन्होंने न्यायाधीश से घटनास्थल का निरीक्षण करने की प्रार्थना की।

सत्यासत्य का निर्णय करने के लिए कई बार घटनास्थल का निरीक्षण करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार का आग्रह कभी अभियोजकों की ओर से किया जाता है तो कभी बचाव-पक्ष की ओर से। कभी-कभी न्यायालय स्वयं भी इस कार्य को अपनी सुविधा के लिए आवश्यक समझता है।

दिनांक २०-१-१९४८ को प्रार्थना-सभा में जब विस्फोट हुआ था, वह स्थल और गांधी जी जहाँ पर बैठा करते थे उस स्थल का अन्तर न्यायाधीश के ध्यान में लाया जाए और २० जनवरी की घटना से ३० जनवरी की घटना का कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा तर्क संभव हो सके, इसके लिए बचाव पक्ष भी न्यायाधीश को घटनास्थल दिखाने में रुचि प्रकट करता था।

अभियुक्त यदि चाहें तो वे भी घटनास्थल पर चल कर देंखे, इस दृष्टि से न्यायाधीश ने अभियुक्तों से इस विषय में पूछा। नथूराम ने उत्तर दिया, 'आई एम नॉट पर्टीक्युलर।' अर्थात् मेरी कोई विशेष रुचि नहीं है।

नाना आपटे से जब पूछा गया तो उन्होंने पर्टीक्युलर शब्द के ही आधार पर उत्तर दिया, 'आई एम वेरी पर्टीक्युलर अर्थात् मैं अवश्य देखना ही चाहूँगा।'

करकरे, मदनलाल और मैंने भी घटनास्थल देखने की इच्छा व्यक्त की। शंकर किस्तैया, परचुरे और सावरकर जी ने अनिच्छा व्यक्त की।

दिनांक २४-६-१९४८ को प्रात: १० बजे घटनास्थल देखना निश्चित हुआ। न्यायमूर्ति ने हमारे वहाँ ले जाने के प्रबन्ध के लिए आदेश दिया।

हमारे पहुँचने से पूर्व न्यायाधीश, शासकीय पक्ष के वकील और विपक्षी वकील सभी वहाँ पहुँचे हुए थे। हम चारों अभियुक्तों को पुलिस की गाड़ी में वहाँ ले जाया गया था। घटनास्थल का सभी दृष्टियों से निरीक्षण आरंभ हुआ।

हमारे विरुद्ध लगाए गए आरोपों को सिद्ध करने के लिए अभियोजक जो तर्क प्रस्तुत करेंगे उसका क्या-क्या और किसी प्रकार खण्डन हमें करना है, इस दृष्टि से हम घटनास्थल का निरीक्षण कर रहे थे। हमारे लिए तो यह बहुत मामुली-सी बात थी, क्योंकि इस प्रकार तर्क-वितर्क करने का कार्य तो हमारे वकीलों का था। जिस प्रकार कोई तटस्थ व्यक्ति उस स्थल का निरीक्षण करता है, क्या उसी प्रकार हम उसका निरीक्षण कर रहे थे? मैं समझता हूँ कि नहीं। वह स्थल जिस घटना के कारण प्रसिद्ध हुआ था, उसकी पृष्ठभूमि में हम लोग थे। यही कारण था कि उस स्थल का निरीक्षण करते समय उक्त विचार हमारे मन में आता रहता था।

यह वह स्थल था जहाँ भारत के इतिहास का एक अध्याय समाप्त हुआ था। भारत की वर्तमान राजनीति पर जिस व्यक्ति ने अनेक वर्षों तक अपना प्रभाव स्थापित किया था, उस व्यक्ति का जीवन यहाँ समाप्त किया गया था।

हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की घातक नीति के कारण रक्त से लथपथ हुए समाज की करुण कहानी गांधी जी को सुनाने के लिए जहाँ लाया गया था, यह वह स्थल था। देश-विभाजन से आहत हुए व्यक्तियों के प्राणों को जहाँ लेप लगाने की अपेक्षा कुरेदा जाता था, यह वह स्थल था। इसके विपरीत यही वह स्थल भी था जहाँ चाटुकार-जन आपकी अहिंसा की विजय हुई है, रक्तहीन क्रान्ति द्वारा आपने देश को स्वतन्त्र करवाया, ऐसी स्तुति के द्वारा गांधी जी की प्रशंसा करने के लिए एकत्रित होते थे। पाकिस्तान से हिन्दुस्थान में आए हुए निर्वासितों को पुन: निर्वासित बनाकर हिन्दुस्थान से पाकिस्तान चले गए मुसलमानों को पुन: यहाँ लाकर उनके घर-बार उन्हें लौटा देना चाहिए ऐसा मौलाना आजाद ने गांधी जी कहलाया, यह वह स्थल था। भारत की खून-पसीने की ५५ करोड़ की कमाई को बलात् पाकिस्तान को दिलाने के लिए गांधी जी ने अपना दुराग्रहपूर्ण अनशन किया था, यह वही स्थल था।

हम वह स्थल देख रहे थे और निकट अतीत का इतिहास हमारी दृष्टि में स्पष्ट होता जा रहा था। वह निकट अतीत हमें विशुद्ध नहीं प्रतीत होता था। वह अतीत रक्तहीन नहीं था। वहाँ का वायुमंडल ही जैसे हमें रक्त से भरा हुआ प्रतीत होता था। स्वराज्य की प्राप्ति के लिए बहाए गए हुतात्माओं के रक्त के कण हमें उसमें विद्यमान प्रतीत होते थे। देश-विभाजन के कारण हुए रक्तपात की भूमिका उसमें विद्यमान थी। परिणामस्वरूप गांधी जी का रक्त भी उसी वातावरण में कणरूप में हलचल करता-सा हमें दिखाई दे रहा था। और कदाचित् उसकी समाप्ति के लिए उन कणों को और भी रक्तिम करने के लिए हममें से किसी का रक्त जाकर उनमें मिलने वाला था।

यह सब रक्त हमने स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए गिराया है, ऐसा विचार हमारे मन में आया था। केवल ध्वजान्तर से सत्तान्तर की प्रक्रिया पूर्ण नहीं हुई थी। स्वराज्य के साथ विभाजन था, विभाजन के साथ रक्तपात था, रक्तपात के साथ गांधी जी के प्राण गए थे और उनके प्राणों के साथ-साथ हम अभियुक्तों में से न जाने कितने व्यक्तियों के प्राणों की आहुति सम्भावित थी। जब हम यह कह सकते हैं कि 'बिना रक्तपात के स्वराज्य प्राप्ति हुआ' तो हम उन सभी हुतात्मा वीरों से लेकर जिन्होंने अपने जीवन इसके लिए होम किए, उन क्रान्तिवीरों के, जिन्होंने इसके लिए असीम यातनाएँ भुगतीं, गांधी जी के रक्त तक का अपमान करते हैं। यह बात भले ही हमारे ध्यान में न आती हो, क्योंकि हम स्वार्थी, चाटुकार राजनीतिज्ञों पर विश्वास करते हैं, हम स्वार्थी हैं। किन्तु इतिहास की वास्तविकता यही है।

आज अनेक लोग उस घटनास्थल को देखने के लिए जाते हैं। उसे ऐतिहासिक स्थल का स्वरूप देने का आयोजन किया जाता है। इस अवसर पर मैं सोचता हूँ कि गांधी जी के उन अन्तिम दिनों में जब उनको विवश होकर निर्णय लेने पड़ते थे, उसके लिए प्रवृत्त

करने वालों के नाम और उसके लिए प्रमाण भी वहाँ संग्रहीत किए जाएँ। उससे गांधी जी सदृश एक प्रभावी व्यक्ति के वध के लिए किस प्रकार पृष्ठभूमि का निर्माण हुआ, इसका ज्ञान भी प्रेक्षकों को होगा और उस स्थल से सम्बन्ध रखने वाला इतिहास भी एक ही दृष्टि से देखने का अवसर प्राप्त होगा।

जिस समय हम उस स्थल का निरीक्षण कर रहे थे तो बीच-बीच में हम अपने वकीलों से कुछ प्रश्न करते रहते थे और कुछ जिज्ञासा की पूर्ति करते रहते थे। यह बातचीत सभी के सामने होती थी। न्यायाधीश ने हमसे कहा था कि हम जो प्रश्न चाहें पूछें, किन्तु इस बात का ध्यान रखें कि अभियोजकों को आरोप सिद्ध करना है, इसलिए किसी प्रकार का स्वीकार सूचक वक्तव्य न दें। निरीक्षण समाप्त हुआ। हम अपने बन्दीगृहों को लौट आए। दोपहर को दो बजे न्यायालय लगने वाला था। तदनुसार निश्चित समय पर सभी अभियुक्त न्यायालय में पहुँचाए गए और वहाँ की कार्यवाही प्रारंभ हुई।

किस दिन कितना कार्य न्यायालय में हुआ, कौन क्या-क्या बोला आदि सभी कुछ न्यायालय के कार्यवृत्त में अक्षरशः लिखा जाता है। कौन-सा साक्षी क्या बोला, कितने समय बोला, वह सच बोला या झूठ, प्रति-परीक्षण (जिरह) किसने की, क्या की आदि बातों का तात्कालिक महत्त्व ही रहता है। अभियोग कार्यवाही का सार ही केवल प्रस्तुत विषय के लिए पर्याप्त होगा।

प्रमाण प्रस्तुत करने का यह कार्य दिनांक २४-६-१९४८ से ६-११-१९४८ तक जारी रहा। अभियोजकों ने १४९ साक्षी प्रस्तुत किए थे। उनमें से मन्त्रियों से लेकर श्रमिकों तक और नेताओं से लेकर अभिनेताओं एवं अभिनेत्रियों तथा भाष्यकारों से लेकर चर्मकारों तक, सभी स्तर के व्यक्ति थे। उनके कथन के ७२० पृष्ठ हुए। शासकीय वकीलों ने प्रमाण के रूप से ४०४ कागज-पत्र और ८० वस्तुएँ प्रस्तुत की थीं।

बचाव पक्ष ने ११९ कागज-पत्र प्रस्तुत किए थे। दिनांक ८-११-१९४८ से दिनांक २२-११-१९४८ तक अपराधियों के वक्तव्य हुए। जो २५० पृष्ठों में हैं। दिनांक १-१२-१९४८ से ३०-१२-१९४८ तक बहस चलती रही श्री श्री. आर. दास ने सावरकर जी की ओर से बहस की थी।नथूराम ने अपना मामला स्वयं प्रस्तुत किया था।

अभियोग के मध्य तक अर्थात् सितम्बर के प्रारम्भ तक का व्यय देखा तो विदित हुआ कि तब तक शासन के चार लाख रुपये व्यय हो चुके थे। श्री दफ्तरी को प्रतिदिन के १५०० रुपये दिए जाते थे। इसी प्रकार श्री पेरीगारा और श्री शाह प्रत्येक को ६०० रुपये, श्री ज्वालाप्रसाद को २५० रुपये प्रतिदिन दिए जाते थे। इसके अतिरिक्त बम्बई में किए काम के प्रतिदान में ३० रुपये प्रति घंटे के हिसाब से रुपये दिए गए थे। न्यायालय और बन्दीगृह के निर्माण के लिए ४७०० रुपये लगे थे। साक्षियों के भोजनादि पर ६००० रुपये तथा न्यायालय के कर्मचारी आदि अन्य लोगों के लिए दिनांक २७-५-१९४८ से ८-९-१९४८ के सवा तीन मास में १९००० रुपये व्यय हुए थे। ये कुछ मोटे-मोटे आँकड़े हैं। इससे इस अभियोग के स्वरूप व लागत की स्थूल कल्पना की जा सकती है।

३० दिसम्बर, १९४८ को बहस समाप्त हुई। वह दिन हमारे लिए विशेष स्मरणीय-

सा था। महाविद्यालय की पढ़ाई समाप्त होते समय विद्यार्थी और प्राध्यापक परस्पर बिदाई लेते हैं। वे जानते हैं कि अब भविष्य में इस प्रकार नित्य मिलना नहीं हो पाएगा। इसके साथ ही अतीत के सम्बन्ध एवं सम्पर्क के कारण उत्पन्न प्रेम एवं लगन का भी स्मरण हो जाता है। उस अवधि में कोई कटुता भी उत्पन्न हुई होगी तो उस समय वह विलुप्त हो जाती है। भावुकतापूर्ण वातावरण में एक दूसरे से बात करके एक दूसरे से बिदा होने का यह समारोह होता है।

हम सभी अभियुक्त, दोनों पक्षों के वकीलों, न्यायमूर्ति, दुभाषिये, पुलिस जन तथा अन्यान्य कर्मचारी सात मास तक परस्पर मिलते रहे। प्रत्येक की भूमिका पृथक् थी, फिर भी मनुष्य के एक-दूसरे के समीप आ जाने पर सहज ही निर्माण होने वाली भावनाएँ प्रत्येक के मन में निश्चित ही वास करती थीं। जब न्यायालय का कार्य चल रहा था तो परस्पर पक्ष-विपक्ष में वाद-विवाद हुआ करता था, किन्तु इस समय पर सब विलुप्त हो गया था। अब हम यदि मिलेंगे, तो निर्णय के दिन, अब यह समुदाय फिर इस रूप में एकत्रित नहीं होगा, ये ही सब लोग इस प्रकार पुन: मिलेंगे, ऐसी संभावना नहीं है। इस विचार से उस दिन के अन्त में न्यायालय को एक प्रकार से बिदाई लेने जैसे समारोह का स्वरूप प्राप्त हुआ था।

अभियोग के चलते रहते हुए न्यायमूर्ति की शान्ति ध्यान में रखने योग्य थी। किसी भी धारा पर वकीलों में परस्पर विवाद छिड़ जाता था, वह विवाद कभी तूल भी पकड़ लेता था। उसमें कटुता न बढ़े इसके लिए न्यायाधीश पक्ष-विपक्ष के दोनों वकीलों को अपने कक्ष में बुलाकर उनका समाधान करते थे। वकील भी विवाद तक ही उत्तेजित रहते थे। बाद में वे भी शान्त हो जाया करते थे।

एक बार दो अधिवक्ताओं का विवाद तीव्र हुआ था। न्यायमूर्ति को कहना पड़ा था कि उन लोगों को ज्ञात होना चाहिए कि यह न्यायालय है। यदि उनको लड़ना हो तो न्यायालय से बाहर जाकर लड़ें। तब एक वकील ने कहा था, 'बाहर जा कर हमें एक साथ चाय पीनी होती है। उस मिठास में हम कड़वाहट मिलाना नहीं चाहते।'

न्यायालय हँसी से गूँज गया। सभी के मन का बोझ हल्का हुआ। चढ़ा हुआ पारा उतर गया।

सामान्यतया अभियोजकों ने अपने भाषणक्रम में एक विशिष्ट ऊँचे स्तर का तर्क-वितर्क किया था, किन्तु शाब्दिक संघर्ष अनेक बार हुआ करते थे। वकीलों के ही इस शाब्दिक संघर्ष में एक बार शासकीय वकील श्री दफ्तरी के मुख से इस दुर्घटना के उपलक्ष्य में 'अनैतिक अपराध' शब्द निकला था। नथूराम ने जहाँ तक मुझे स्मरण है, अपने युक्तिवाद में उसका खंडन किया था। अपने वक्तव्य में उसका इस प्रकार खण्डन किया था—

'कम से कम इस प्रकरण में नीति अथवा अनीति की छानबीन करने का अधिकार अभियोजकों को नहीं है और न ही उस प्रश्न का निर्णय करने का अधिकार इस न्यायालय को है। यह उसके क्षेत्र से बाहर है। नीति की व्याख्या, समाज-समाज में, देश-देश में सदा सर्वदा से पृथक्-पृथक् होती रही है। किसी समाज में महिलाओं का परदे में न रहना

अनैतिक कहलाता है, किसी देश में मद्यपान तक अनैतिक नहीं समझा जाता। किसी युग में ब्राह्मणेतरों को वेद विद्या की अनुमति नहीं थी, किन्तु समयानुसार सब स्थानों पर यह सब परिवर्तित होता गया। इस आधार पर नीति-अनीति का कोई त्रिकालबाधित स्थिर नियम निर्धारित नहीं किया जा सका है।'

यदि 'हत्या' को अभियोजक अनैतिक घटना मानते हैं तो मैं कहूँगा कि आज शासन जितना अनैतिक व्यवहार करता है, कदाचित ही कोई अन्य इस प्रकार करता हो। क्योंकि उनको अनेक बार गोली चलानी पड़ती है, इसमें अगणित हत्याएँ होती है। 'हत्या' अनैतिक है, यदि इसको तत्त्व अथवा सिद्धान्त मान लिया जाए, फिर तो हमें अपने सभी देवी-देवताओं को अनैतिक मानना पड़ेगा। जिन देवी-देवताओं को हम आज तक गर्व से मुरारि, त्रिपुरारि अथवा महिषासुरमर्दिनी आदि विशेषणों से विभूषित करते हैं, अब से भविष्य में उनको अनैतिक मान हत्यारे विशेषणों से सम्बोधित करना पड़ेगा। तब तो हम यही कहेंगे कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध के लिए नहीं अपितु हत्या के लिए प्रवृत्त किया था। उसका निष्कर्ष हमको यह निकालना होगा कि श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अनीति सिखाई। नीति-अनीति निष्कर्ष निकालते समय हमें घटना के मूल में निहित उद्देश्य को ध्यान रखना होगा। मैं इसी सिद्धान्त को मानता हूँ।

मेरा यह भी कहना है कि अभियोजकों का नीति अथवा अनीति का प्रश्न सामने लाना न तो नियमानुकूल है और न ही उनको इस प्रकार का कोई अधिकार प्राप्त है। अमुक वकील अमुक पक्ष की ओर से कार्य कर रहा है, अत: वह सत्य का पक्षपाती है, ऐसा मान कर चलना उपयुक्त नहीं। शासकीय पक्ष के अभिभाषकों को जो शुल्क मिलता है, यदि उससे अधिक शुल्क बचाव-पक्ष की ओर से दिया जाता तो वही वकील बचाव-पक्ष की ओर से बहस कर सकते थे। ऐसी स्थिति में उन्होंने नीति का पक्ष छोड़ दिया है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अत: वकीलों को नीति-अनीति की छानबीन करने का इस न्यायालय को अधिकार नहीं है।'

'सम्बन्धित घटना कानून के अन्तर्गत निषिद्ध अथवा दण्डनीय है या नहीं, इतना ही न्यायालय के सम्मुख वकील प्रस्तुत कर सकते हैं। नीति-अनीति की छान-बीन के लिए हमारे देश में धर्म के व्यासपीठों की कमी नहीं है। यह उनका काम है, वे करते रहेंगे। देश के विधान की सीमा लिखित रूप में है। उसी लिखित विधान के अंतर्गत इस न्यायालय की सीमा निर्धारित है। इसलिए यह न्यायालय केवल घटना की वैधता अथवा अवैधता पर ही विचार एवं निर्णय कर सकता है। यह धर्मपीठ नहीं है। इसलिए घटना, धर्म अथवा अधर्म या नैतिक या अनैतिक है, इसका निर्णय न्यायालय नहीं कर सकता।'

श्री दफ्तरी ने नथूराम के इस आलोचनात्मक वक्तव्य पर आपत्ति प्रकट की थी। तब नथूराम ने न्यायमूर्ति को कहा था, "श्री दफ्तरी के 'अनैतिक' शब्द के प्रयोग पर मुझे यह टीका-टिप्पणी करनी पड़ी थी। यदि वे उस अनुपयुक्त शब्द का प्रयोग न करते तो इस प्रकार का विवाद ही नहीं उठता। 'अवैध' शब्द का यदि उन्होंने प्रयोग किया होता तो मैं उस

विषय में मौन रहता।" इसके बाद नथूराम तुरन्त ही कानून की अन्य बातों की ओर मुड़ गए थे।

समय-समय पर इस प्रकार से उत्पन्न कटुता अन्तिम दिवस समाप्त हो गई थी। अभियोजक, पुलिस अधिकारी आदि सभी ने उस दिन उदारता का परिचय देते हुए परस्पर विदाई ली थी। सबको विदित था कि एक दिन पुन: हम सब इस प्रकार एकत्रित होंगे, किन्तु उस दिन का वातावरण ही भिन्न होगा। वह दिन होगा निर्णय का दिन।

ऐसा अनुमान किया जा रहा था कि लगभंग एक मास बाद निर्णय की तिथि ज्ञान हो जाएगी। उस दिन तिथि निश्चित नहीं की गई थी। हम नित्य की ही भाँति, खेल-कूद, पढ़ने आदि में अपना समय बिता रहे थे। जिन वकीलों ने इस अभियोग में हमारी सहायता की थी उन सभी को हमने बन्दीगृह के अधीक्षकों की अनुमति से धन्यवाद के पत्र लिख दिए थे। कभी-कभी हम न्यायालय में हुई विचित्र घटनाओं पर चर्चा किया करते थे। कुछ दिन बाद हमको सूचना मिली कि दिनांक १०-२-१९४९ को निर्णय सुनाया जाएगा।

ज्यों-ज्यों निर्णय का दिन समीप आता जाता था, त्यों-त्यों हमारे मन में तनाव-सा बढ़ता जाता था, परन्तु वह सह्य था। उसके दो कारण थे। एक तो हम अनेक व्यक्ति एक ही नाव के नाविक थे और दूसरे यह कि हमने अपने बचाव के लिए भले ही बहुत कुछ कहा होगा फिर भी हमारा अन्तर्यामी यह तो जानता था कि उस अवैध घटना की परिधि में हम कहाँ खड़े हैं। इसलिए दण्ड हुआ तो कोई अनपेक्षित बात होगी अथवा अन्याय होगा, ऐसा हमारे किसी के मन में नहीं था। यह बात दूसरी है कि यदि दण्ड हुआ तो हम उसका प्रतिवाद उच्च-न्यायालय में करेंगे, ऐसा हमने भले ही मन में सोचा हो।

आत्मवंचना का कोई कारण नहीं था। हमारे मन की अब तक यह स्थिति हो गई थी कि हम कठोरतम दण्ड के लिए संभवत: उद्यत थे। इस कारण मन पर तनाव आते हुए भी उससे वेदना नहीं होती थी।

दिनांक १०-२-१९४९ का सूर्य उदित हुआ। सभी अभियुक्त एक प्रकार की उत्सुकता से दैनिक कर्म में प्रवृत्त एवं उससे निवृत्त हुए। और फिर न्यायालय जाने की बाट जोहने लगे। उस दिन पुलिस का विशेष सुरक्षा प्रबन्ध था।

न्यायालय भर गया था। अधिवक्तागण भी बैठे थे। नित्य न्यायालय में उपस्थित रहने से कई लोगों को हम पहचानते थे। आज भी उनमें से अनेक जन यहाँ उपस्थित थे। मन्द मुस्कान का आदान-प्रदान हुआ। वकीलों का अभिवादन एवं परस्पर कुशलक्षेम पूछना भी हुआ।

न्यायमूर्ति के आने की घोषणा से न्यायालय में पुन: सन्नाटा छा गया। उस शान्ति में गंभीरता थी। भाग्य किसके जीवन से कैसा खेल खेलता है, यह सुनने के लिए मानों सभी ने साँस रोक ली थी।

ज्यों-ज्यों एक-एक करके प्रत्येक अभियुक्त के विषय में न्यायमूर्ति निर्णय सुनाते गए त्यों-त्यों अभियुक्तों के मन का तनाव शान्त होता गया। उनके मानस को निश्चिन्तता प्राप्त होती गई। निर्णय का सारांश इस प्रकार था—

नथूराम	:	मृत्युदण्ड, अन्य दण्ड जोड़ १९ वर्ष।
नाना आपटे	:	मृत्युदण्ड, अन्य दण्ड जोड़ १७ वर्ष।
करकरे	:	आजन्म कारावास, अन्य दण्ड जोड़ १७ वर्ष।
मदनलाल	:	आजन्म कारावास, अन्य दण्ड जोड़ १५ वर्ष।
शंकर किस्तैया	:	आजन्म कारावास, अन्य दण्ड जोड़ १२ वर्ष।
गोपाल गोडसे	:	आजन्म कारावास, अन्य दण्ड जोड़ १५ वर्ष।
सावरकर	:	निर्दोष, अतएव बन्धनमुक्त।
डॉ० परचुरे	:	आजन्म कारावास।
बड़गे	:	क्षमा का साक्षी, अपेक्षाओं की पूर्ति की, अत: बन्धनमुक्त।

दण्डितों को दिया गया दण्ड; सभी दण्ड साथ-साथ ही भुगतने का विधान था।

जो आरोप लगाए गए थे उनमें से कुछ आरोप सिद्ध नहीं हो पाए थे। नथूराम और नाना आपटे को न्यायमूर्ति ने कहा था कि अन्य आरोपों से आप लोगों को मुक्त किया जाता है। इसी प्रकार अन्य अभियुक्तों को भी जो आरोप उन पर सिद्ध नहीं हो सके थे, उनसे मुक्त घोषित किया था।

शंकर किस्तैया का दण्ड ७ वर्ष कर दिया जाए, ऐसा अभिमत न्यायाधीश ने अपने निर्णय-पत्र में व्यक्त किया था।

निर्णय-पत्र २०४ पृष्ठों में टाइप हुआ था, मुद्रित होने पर उसके ११० पृष्ठ बने। हमने अपना दण्ड सहज से स्वीकार तो कर लिया था; किन्तु उससे हमारा समाधान नहीं हुआ था। उस सहजना का प्रदर्शन करने की हमारी बहुत इच्छा थी। सौभाग्य से हम ऐसा कर सकने में सफल हुए, क्योंकि अभियोग खुले न्यायालय में चलाया गया था, और सभी लोग हमारी इस सहजता को देख सके थे।

जिस समय निर्णय सुनाया जा रहा था, हम सब शान्ति से उसको सुन रहे थे। जब निर्णय सुनाया जा चुका तो स्तब्धता छा गई। तब हम अभियुक्तों ने एक स्वर से निनाद किया—'स्वातन्त्र्य लक्ष्मी की जय, हिन्दूराष्ट्र की जय, अखण्ड भारत अमर रहे, बन्देमातरम्।'

इस प्रकार इस नाटक का पटाक्षेप हुआ। आज तक जिस रंगमंच के प्रकाश में हम अभिनय करते रहे थे उससे अन्धकार में विलीन हुए। वह अन्धकार कितने समय तक रहेगा, यह तो केवल भाग्य ही जानता था।

१२ अँधेरे पथ की यात्रा

दिनांक १०-२-१९४९ को गांधी-वध अभियोग सम्बन्धी न्यायालय का निर्णय सुन कर हम में से यदि कोई व्याकुल हुआ होगा तो वह दिगम्बर बड़गे हो सकता है। यद्यपि वह हम में नहीं था, किन्तु हमारे सामने बैठा था। निर्णय सुनकर वह रोया था।

बड़गे की भावनाओं का विश्लेषण किया जा सकता है। यदि वह क्षमा का साक्षी नहीं होता तो अभियुक्तों की पंक्ति में खड़ा होता। उसको भी उसी प्रकार कोई दण्ड मिल जाता। उस पर शासन ने जो शर्त लगाई थी उसका उसने भली प्रकार पालन किया था, अत: उसको क्षमा प्राप्त हो गई थी। उसको एक दिन का भी कारावास भुगतना नहीं था। सम्भावित संकट से मैं पूर्णतया बच गया, यह जान कर कोई भी सुख की साँस लेगा, आनन्दित होगा, उल्लास के अश्रु भी प्रवाहित कर सकता है।

परन्तु बड़गे के अश्रु उस प्रकार उल्लास के अश्रु नहीं थे। जिस षड्यन्त्र को सिद्ध करना अभियोजकों के लिए अत्यन्त कठिन कार्य था, उस षड्यन्त्र को सिद्ध करने में बड़गे की साक्षी ने महत्त्वपूर्ण सहायता प्रदान की थी। अपने मन से वह जिनका सहयोगी बना था उन्हीं सहयोगियों को अँधेरे में ढकेलने में उसने शासन की सहायता की थी और उसके पुरस्कार स्वरूप उसको मुक्ति प्राप्त हुई थी। यह मुक्ति न तो निर्मल थी और न ही आदर सहित, जैसी कि सावरकर जी की थी। बड़गे जानता था कि उसकी वह मुक्ति कलंकित मुक्ति है। उस मुक्ति से मिलने वाला आनन्द विशुद्ध नहीं था। उस मुक्ति से उसके मन को सुख नहीं मिलता था। उसकी अन्तरात्मा ने उसे अवश्य धिक्कार था, जिससे वह रो पड़ा था।

बड़गे के सम्बन्ध में निर्णय सुनकर अथवा उससे पूर्व भी जब वह क्षमा का साक्षी बना था, हमारी भावनाएँ कलुषित रही होंगी, ऐसा सोचा जा सकता है, किन्तु वस्तुस्थिति वैसी थी नहीं।

दण्ड सुनाने के बाद हम लोगों को कहाँ रखा जायेगा, यह सम्भवतया पहले ही निश्चय हो गया था। निर्णय सुनाने के एक घण्टे बाद हमको वहीं लालकिले के कारावास में ले जाया गया और मध्याह्न के अल्पाहार के रूप में मिलने वाले चने दिये गए। हम सोचते थे कि दण्ड के कार्यान्वयन का प्रारंभ तो दु:खदायी नहीं है, बाद का देखा जाएगा।

शाम तक दण्डितों के कपड़े, बरतन और शय्यावस्त्र आदि वस्तुएँ आ गईं। श्रेणी का निदेश न होने के कारण हमको 'सी' श्रेणी में रखा गया था। अर्थात् हमारे कक्षों में से मेज, चारपाई आदि निकाली गईं और भोजन भी उसी श्रेणी का दिया गया।

उन दिनों की बात है जब हम न्यायाधीन अर्थात् 'अण्डर ट्रायल' थे। कहीं से एक बिल्ली का बच्चा आकर चारभित्तियों के काँटेदार तारों में उछल कूद करने लगा। मनोरंजन के लिए हमने उसको अपने समीप बुला लिया। तनिक आश्वासन पाने पर वह बाड़े के अन्दर आ गया। हमने उसको दूध पिलाया। उसको वह स्थान भा गया। तब से वह हमारे साथ ही रहने लगा, किन्तु अभियुक्त बन कर नहीं। जब उसका जी करता वह अंगों को सिकोड़, छलाँग लगाकर काँटेदार तारों को पार कर बाहर निकल जाया करता था। मानो वह हमें स्मरण कराता हो कि बन्दीगृह का निवासी होने पर भी मैं स्वतन्त्र हूँ।

लालकिले के कारागार में नथूराम और मैं एक ही कोठरी में रहते थे। उस बिल्ली का निवास भी वहीं था।

निर्णय की रात को भी नित्य की ही भाँति बिल्ली हमारे कक्ष में आई, परन्तु उसको कुछ परिवर्तन-सा दृष्टिगोचर हुआ। ऐसा उसके हाव-भाव से प्रतीत हुआ था। कोठरी में उस समय मैं अकेला ही था। नित्य की भाँति वहाँ चारपाई नहीं थी। मानो उसको लगा होगा कि उसकी अब वहाँ आवश्यकता नहीं है। उसकी 'बी' वर्ग की श्रेणी सम्भवतया छीनी गई है।

मैंने उसको अपने समीप बुलाया, उसकी पीठ पर हाथ फेरा। उसको अपनी शय्या के भीतर कर ढक दिया और वह आराम से सो गई।

थोड़े समय बाद मैं अपने सहज भाव से करवट ली तो बिल्ली एकाएक चौंकी और शयन से बाहर निकल कर भाग गई, मानों उसके सिर कोई भूत सवार हुआ हो। मुझे भी पाँवों में बेड़ियाँ होने के कारण, जिनका कि अभी अभ्यास हुआ नहीं था, शब्द से असुविधा होती थी और उसी ध्वनि से चौंक कर बिल्ली भी वहाँ से भागी थी। सोने से पूर्व पहली बार हमारे पावों में दंडा-बेड़ियाँ आदि पहना करके कोठरी में बन्द किए गए थे।

रात को ग्यारह बजे इधर-उधर घूमकर बिल्ली को नथूराम का कक्ष भी मिल गया। वह स्थान उसको सुरक्षित प्रतीत हुआ। उस कोठरी में घुस कर म्याऊँ-म्याऊँ करती वह नथूराम के शयन में घुस कर सो गई।

निर्णय सुनाने के दिन एक तो उस दिन के नयेपन के कारण अथवा एक के बाद एक इस प्रकार स्थितियों में निरन्तर एवं शीघ्र होने वाली घटनाओं के कारण ऐसा लगा कि दिन शीघ्र ही बीत गया है। दूसरे दिन प्रात: हम उठे तो एक नये ही संसार में हैं। सारा क्षेत्र हमें निर्जन और उदासी से भरा-सा लगता था। हमारे मुख की क्या स्थिति है, यह देखने के लिए हमारे पास साधन नहीं था, क्योंकि हमारे दर्पण पिछले दिन ले लिए गए थे। परन्तु मन की दशा वेदनामयी है, इसकी प्रतीति मन ही मन होती थी। रात्रि को नींद भी भली प्रकार इसलिए नहीं आई थी कि पाँवों में बेड़ियाँ पड़ गई थीं। उससे नींद में रुकावट आती थी। तनिक करवट पलटी तो बेड़ी खनखनाती थी, मानों कह रही हो, 'मैं हूँ संभालो मुझे'। पैर वह संदेश मस्तिष्क को देते थे। इस प्रकार वह समस्त शरीर को झंकृत कर नींद बिगाड़ देती थी। जैसे किसी निद्रालु प्रसूता को उसका बच्चा रोने पर उसकी सास या माँ जगा कर उस बच्चे को संभालने के लिए कहती है, ठीक वैसे ही इन बेड़ी रूपी बच्चे को संभालने

के लिए मस्तिष्क रूपी सास बन्दी रूपी प्रसूता को जागृत कर देती थी।

तदपि शान्ति से सोये थे नथूराम और नाना आपटे। उनको बेड़ी नहीं पहनाई गई थी, हमें उनके प्रति इससे थोड़ी-सी ईर्ष्या-सी होती थी। हमें तुकाराम का यह कथन विपरीतार्थक प्रतीत हो रहा था। 'हे ईश्वर तुम हमें चींटी के समान छोटा ही रखना, क्योंकि चींटी को खाने के लिए बहुत चीनी मिल जाती है, जबकि विशालकाय हाथी को तीक्ष्ण अकुंश के मार खाने के कारण घाव हो जाते हैं।' छोटापन तो हमें प्राप्त हुआ था, किन्तु अंकुश की मार भी हम पर ही थी। उलटे बड़प्पन उनके पक्ष में आया था और सुख की नींद के क्षण भी वही चख रहे थे। वास्तव में वे अर्थात् नथूराम व आपटे भाग्यवान थे।

हमारी अवस्था कैसी भी क्यों न हो, किन्तु हमें एक सुख था। अपनी दयनीय अवस्था को कोई न देखे, विशेष कर निकटस्थ परिजन तो न ही देखें, ऐसा हम चाहते थे। मनुष्य कभी-कभी रास्ते पर जब गिरता है तो उसको चोट पहुँचती है, किन्तु उसकी चोट तब और बढ़ जाती है जब वह अनुभव करता है कि उसके गिरने को अन्य लोगों ने देखा है और फिर वह चोट की पीड़ा भूल लज्जा बचाने के लिए झट से उठ कर अपने मार्ग पर चलने लगता है।

उन चार दिनों में नाते में से कोई भी मिलने के लिये न आए, ऐसा मन में विचार आता था। क्योंकि हमें सन्देह होता था कि कहीं मन की वेदना मुद्रा पर दिखाई दे गई तो? जब मन स्थिर हो, ऐसा स्वयं को विश्वास हो जाए तो फिर घर वाले मिलने के लिए आएं तो अच्छा है, किन्तु बाद में हमने अनुभव किया कि हमारा भय अकारण था।

पुनरावेदन अर्थात् अपील के लिए हमारे वकीलों की दौड़ जारी थी। दो-तीन दिन के अन्दर ही उन्होंने हमसे भेंट की। हमारे मन के दु:ख का प्रकटीकरण किसी के भी सम्मुख नहीं हुआ। हमको धीरज देने की आवश्यकता नहीं है, ऐसा देखकर अधिवक्तागण को सान्त्वना मिली। अल्प समय में ही उन्होंने पुनरावेदन के प्रारूप तय्यार किए और फिर दिनांक १४-२-१९४९ को हमारे हस्ताक्षर करवा कर दिनांक २२-२-१९४९ को हमारे आवेदन पंजाब उच्च-न्यायालय में प्रस्तुत कर दिए गए।

बन्दीगृह के हमारे अधिकारी भी वही थे। हम भी वही थे, स्थान भी वही था। रूपान्तर हुआ था तो केवल नियमों में। कल जो अभियुक्त थे, वे आज दण्डित बन गये थे। कल तक जिन पर सन्देह था, अब उसकी पुष्टि हो गई थी। अब हम सब दोषी थे, अपराधी थे और तदनुसार कारावास भोग रहे थे।

दो-चार दिनों में हमारा दैनिक कार्यक्रम भी निश्चित हो गया। हमें लिफाफे बनाने का काम दिया गया। उस विशेष बन्दीगृह में और कुछ काम देना संभव भी नहीं था।

प्रात: उठने के बाद नित्यकर्म से निवृत्त होने के अनन्तर दस बजे तक काम लिया जाता था। उसके बाद एक घंटा भोजन और विश्राम के लिए होता था। फिर ग्यारह से चार बजे तक काम। उसके बाद बरामदे में टहलना होता था। पाँच बजे भोजन आता था। भोजन के बाद कमरा बन्द होता था। प्रतिदिन कक्ष बदल दिया जाता था।

रात्रि के समय मल-मूत्र आदि त्याग के लिये एक मिट्टी का बर्तन रखा रहता था। उस

समय हम अकेले ही थे। कमरे में यदि दो हों तो मूत्रत्याग में भी संकोच होता था। अन्य उपाय न होने पर धीरे-धीरे उसका भी अभ्यास हो गया। निर्लज्ज बनने की शिक्षा कारावास में मिलती है।

हमने अपने लिए उच्च-श्रेणी दिए जाने के लिए आवेदन-पत्र दिए। कुछ दिन तक प्रतीक्षा करने के उपरान्त मदनलाल ने अनशन आरंभ कर दिया। पाँच-छः दिन बाद उसने अनशन समाप्त कर दिया। श्रेणी मिलने सम्बन्धी कुछ पत्र समाचार-पत्रों में भी प्रकाशित हुए थे। लगभग एक मास के बाद शंकर किस्तैया को छोड़ कर शेष सभी को 'बी' श्रेणी मिल गई थी। यदि संक्षेप में कहा जाए तो यही कहना होगा जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ कि सरदार वल्लभभाई पटेल ने गांधी-वध की पृष्ठभूमि को ध्यान में रख कर हमारी श्रेणी में परिवर्तन करवाया था। पक्षपात रहित हो कर उनकी उदारता की प्रशंसा मैं करना चाहता हूँ।

दण्ड सुनाए जाने के बाद भी दो मास तक हमको उसी लालकिले के बन्दी-गृह में ही रखा गया था। अपना आवेदन स्वयं प्रस्तुत करने की अनुमति नथूराम को मिल गई थी।

अप्रैल के मध्य में हमको मोटर मार्ग से दिल्ली से अम्बाला कारागार में ले जाया गया। नियम के अनुसार यात्रा के समय नथूराम और नाना आपटे के पैरों में भी दंडा बेड़ी डाली गईं। अम्बाला पहुँचने पर वह निकाल दी गईं। मोटर से हम नीचे उतरे, खुला आँगन देखा। यद्यपि उस आँगन में हम मुक्त भ्रमण नहीं कर सकते थे, तदपि उतना विशाल आँगन देखने का अवसर तो आँखों को सुलभ हुआ था। उस दर्शन मात्र से मन में तृप्ति-सी हुई। नथूराम और आपटे को फाँसी की कोठरी में ले जाया गया। हम शेष बन्दियों को हमारे लिए निर्धारित कोठरियों में ठूँसा गया।

हमारे क्षेत्र के भीतर जो आँगन था उसमें घूमने-फिरने की हमको अनुमति थी। सामने लकड़ी का द्वार था। उस द्वार के मध्य में दो इंच व्यास का छिद्र था। जिससे बाहर का दृश्य थोड़ा-सा देखा जा सकता था।

प्रातः के समय सामने के आँगन में कार्यालय का कार्य सम्पन्न होता था। नए आए बन्दियों के अधिपत्र अर्थात् वारंट की परीक्षा करना, उनकी अपनी वस्तुओं की सूची बनाना, उनका भार तौलना, उनकी ऊँचाई आदि नापना, शरीर पर अंकित चिह्नों को रजिस्टर में अंकित करना, उनका काम आदि लिखना, इस प्रकार का कार्य उस कार्यालय में हुआ करता था। बन्दी को तुरन्त वस्त्रालय में भेजा जाता था। उसको दण्डित के वस्त्र प्रदान किए जाते थे।

चार-छः दिन अम्बाला बन्दीगृह में भी हमारा कार्यक्रम निश्चित करने में लग गए। हमें कुर्सियाँ बुनने और बाँस की तीलियों के परदे अर्थात् 'चिक' बनाने का कार्य दिया गया। वह काम हम शीघ्र ही सीख गए और हाथों में गति भी आ गई। उसके प्रतिदान के रूप में अधीक्षकों ने हमें विशेष छूट दी। विशेष अर्थात् जो सामान्यतया दी जाती थी उससे चार दिन अधिक। दिन का अधिकांश समय काम में व्यतीत होता था। शेष समय बिताने में विशेष कष्ट नहीं होता था। उस समय के लिए भी कुछ साधन हमको दिए गए थे।

बाहरी संसार में, किसको क्या शोभा देता है, इसके कुछ संकेत निर्धारित होते हैं। प्रथम श्रेणी में जो यात्रा करता है उसके वस्त्र धोबी के धुले एवं व्यवस्थित होने ही चाहिएं यह मनुष्य की धारणा होती है। ऊलजलूल-सा प्रतीत होने वाला कोई व्यक्ति यदि प्रथम श्रेणी में देखा जाए तो उसके विषय में सन्देह होना स्वाभाविक माना जाता है। वह हमें विरोधाभास-सा प्रतीत होता है। हम यह भी सोच लेते हैं कदाचित कि वह मनुष्य गलती से वहाँ बैठ गया होगा।

यदि किसी घर में हमें बैडमिंटन की रैकेट टंगी दिख जाए तो उसके अनुरूप इस विषय में तर्क अथवा कल्पना करते हैं। उसके हत्थे पर पड़ने वाली उँगलियाँ कोमल होंगी, वह किसी युवती की मुट्ठी होगी, तो वह युवती सुन्दर होगी, प्रसाधनों में लिपटी होगी, आधुनिक वेशभूषा और केश सज्जा से सज्जित होगी, इस प्रकार का तर्क मन में उठने लगता है। अधिकांश तर्क सत्य भी सिद्ध होते हैं, किन्तु जब कभी वस्तुस्थिति इससे विपरीत दिखाई देती है तो अपने तर्क लड़खड़ाने लगते हैं।

प्राय: जिसे लड़कियों का खेल माना जाता है, वही बैडमिंटन का खेल अर्थात् उसकी सामग्री हमें दी गई थी। शरीर पर बन्दीशाला के खद्दर के कपड़े, पैरों में लोहे की दंड-बेड़ियाँ और हाथ में बैडमिंटन के रैकेट जैसा दृश्य यदि किसी ने देखा तो वह विभिन्न रंग-बिरंगे फैन्सी ड्रैस-वेश की स्पर्धा में सर्वप्रथम आने वाले व्यक्तियों में उन खिलाड़ियों की गिनती करेगा। हम तो अनेक प्राचीरों के भीतर बन्द थे, वहाँ बाहर का कोई व्यक्ति दर्शक बन कर कैसे आ सकता था, पारितोषिक लेने का अवसर प्रतिदिन खोया जाता था। हम खेलते थे।

मन में तर्क कुछ भी उठता हो, फिर भी सन्ध्या के समय उस खेल को भी बड़े मनोयोग से खेलते थे। बेड़ी की ताल पर खेलने की धीरे-धीरे हम लोगों की आदत पड़ गई थी। कभी असमय पर वर्षा होने से आँगन में कीचड़ हो जाया करता था। उस फिसलन में संभल कर खेलने में अपना एक विशेष ही आनन्द था। अपने को सम्भालने के प्रयत्न में ही यदि कोई गिर गया तो जो कोई दो-चार पुलिस वाले वहाँ खड़े रहते थे उनको मनोरंजन का अच्छा साधन मिल जाता था। कहते थे, फिर से!

प्रमाणों से युक्त अभिलेख ग्रंथ मुद्रित हो रहे थे, पुनरावेदन सुनने की शिमला में व्यवस्था शीघ्र ही होने वाली थी। ग्रन्थ की एक-एक प्रति हमको दी गई थी। नथूराम स्वयं ही अपना आवेदन प्रस्तुत करने वाले थे। इसलिए उनको एक अतिरिक्त प्रति भी दी गई थी। प्राय: ऐसे पुनरावेदनों के लिए न्यायपीठ पर दो न्यायमूर्ति बैठा करते थे। इस अभियोग के अभिलेखों की अधिक मात्रा और अभियोग का महत्त्व ध्यान में रखकर इस प्रकरण में न्यायासन पर तीन न्यायाधीशों की योजना हुई थी।

दिनांक १४-४-१९४९ को अभिलेख ग्रन्थ हमारे हाथों में आए थे। १५ दिनों बाद न्यायालय में उपस्थिति का दिन था। नथूराम ने उन्हें तुरन्त पढ़ना और टिप्पणी करना आरंभ कर दिया था। दिनांक २ मई, १९४९ को शिमला उच्च-न्यायालय में सुनवाई प्रारंभ हुई।

समाचार-पत्रों में प्रकाशित होने वाली वार्त्ताओं से हमको शिमला में चलने वाले

काम-काज का अनुमान था। ९ या १० जून को परिचर्चा पूरी हुई थी। कुछ दिनों बाद विदित हुआ था कि निर्णय दि. २१-६-४९ को सुनाया जावेगा।

उस दिन शिमला में सुनाया जाने वाला निर्णय उसी दिन हमको अम्बाला में विदित हो, इस प्रकार की व्यवस्था कर दी गई थी। शाम तक हम निर्णय के विवरण की प्रतीक्षा कर रहे थे। शाम को हमको विदित हुआ कि निर्णय एक दिन बाद अर्थात् दिनांक २२-६-१९४९ को सुनाया जाएगा। हमें कुछ विचित्र-सा लगा। इतने दिन तो हमने प्रतीक्षा ही की थी। एक दिन और प्रतीक्षा करने में क्या बिगड़ सकता था। क्या हम यह सोचते थे कि उच्च-न्यायालय से हमें मुक्ति मिल जाएगी? जो हो, मन को कुछ बुरा-सा ही लगा।

इस अवस्था में हमें मनुष्य स्वभाव की एक विशेषता को विचार करना पड़ेगा। जो कुछ प्रतिकूल है वही हमारे भाग्य में लिखा है, ऐसी मन की धारणा होने पर और उस प्रतिकूलता के लिए मन की सिद्धता होते हुए भी मन लोभी होता है, इस तथ्य को भुलाया नहीं जा सकता। कदाचित विधाता अनुकूल ही हो जाए, इस प्रकार की आशा मन में स्थान बना लेती है, कदाचित उसी में जीवन की प्रेरणा होती है अथवा प्रतिकूलता में से भी कुछ अनुकूलता का अवसर प्राप्त होगा। आज भले ही न हो, कल होगा। कुछ तो परिस्थिति साथ देगी, इस आशा पर वह मार्ग देखता दिन काटता है।

उस एक दिन के विलम्ब से मन बहुत ही व्यग्र हुआ था। काल अपनी गति से चलता है। घड़ी की सुइयों को तो आगे पीछे सरकाया जा सकता है, किन्तु काल के चक्र में हम किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं कर सकते। शनैः शनैः दिन भी बीतता गया। दूसरा दिन भी निकला। शाम तक आशंका चरम सीमा तक पहुँचने वाली थी और फिर अपना-अपना भाग्य समझ कर तब हमें अपने मन को उस नई परिस्थिति के अनुकूल ढालना था।

निर्णय की घोषणा हुई। नथूराम, नाना आपटे, करकरे, मदनलाल और मेरे आवेदनों को अस्वीकार कर लिया गया। शेष बचे डॉ० परचुरे और शंकर किस्तैया, उन्हें मुक्त कर दिया गया।

डॉ० परचुरे ने तो ग्वालियर के न्यायाधीश के सम्मुख स्वीकारोक्ति दी थी। लालकिले के विशेष न्यायाधीश ने डा. परचुरे को दोषी ठहराया था। उनको भी आजन्म कारावास का दण्ड दिया गया था। उच्च-न्यायालय के तीनों न्यायाधीशों को वह स्वीकारोक्ति अग्राह्य प्रतीत हुई। विशेष न्यायाधीश का निर्णय उनको अनुचित प्रतीत हुआ और उन्होंने अपने निर्णय में डॉ० परचुरे को मुक्त कर दिया।

कहाँ तो आजन्म कारावास का दण्ड और कहाँ निर्दोष निर्मुक्ति। इन दोनों के अन्तर को समझना बड़ा कठिन है। कष्टमय बन्दी-सा एकाकी जीवन बिताते हुए कभी शरीर थक जाने से, कभी मन को आघात पहुँचने से मृत्यु का ग्रास बन जाना, यह आजन्म कारावास की परिणति हो सकती है। इसके विपरीत जीवन बिताने का अधिकार प्राप्त होना, यह निर्दोष मुक्ति का परिणाम होता है। दण्ड के रूप में चार-साढ़े चार मास का कारावास ही डॉ० परचुरे को भुगतना पड़ा था।

और शंकर किस्तैया। किसी एक झुंड में अटका हुआ, परन्तु बाद में उस झुण्ड के

साथ पैर रखने वाला यह पद्मशाली जाति का लड़का। कद में मझोला, रंग से काला, शरीर से हट्टा-कट्टा और खुरदरा। शोलापुर से दक्षिण के तेलुगु भाषी प्रदेश में कहीं उसका घर होगा। उसे अपने माँ-बाप का स्मरण तो आता था, किन्तु उसका आज का स्थान ही ऐसा था कि वहाँ पर वह उनके स्मरण के अतिरिक्त और कुछ कर भी नहीं सकता था। जब तक उसको दण्ड घोषित नहीं किया गया था तब तक उसको दूर ही रखा गया था, हमसे भी नहीं मिलने दिया जाता था। इससे उसकी पूछताछ करना हमारे लिए भी सम्भव नहीं था। बड़गे के पास नौकरी क्या की, उस भयंकर षड्यन्त्र में उसको फँसा लिया गया। बिना पतवार की नौका की भाँति नियति की तरंगों के साथ वह लहराता था। मुझे कहाँ जाना है, मेरी दशा कौन-सी है, किस वाहन से यात्रा की जाएगी, नौका का कर्णधार कौन होगा, इसमें से किसी भी बात का उसको ज्ञान नहीं था। उसको जब दण्ड सुनाया गया तो उसका भी अनुवाद उसको उसके दुभाषिये अर्थात् श्रीमती कमलम्मा ने उसकी तेलुगु भाषा में बताया था, परन्तु अनुवाद का अभिप्राय अर्थ तो नहीं होता। सीधे साधारण दण्ड से भी ब्रह्माण्ड स्मरण हो आता है, कदचित् ब्रह्माण्ड के परे पहुँचाने वाले इस दण्ड का अर्थ समझना सरल बात नहीं थी। मैं कभी मुक्त नहीं होऊँगा, सदा बंदीगृह में ही रहूँगा, इतना तो अर्थ उसकी समझ में तुरन्त आ गया, क्योंकि पुलिस वाले हमारे साथ ही उसको बन्दीगृह की ओर ले जा रहे थे।

मुझे दण्ड क्यों दिया गया है? मैंने क्या किया है? वह सदैव अपने मन से और दूसरों से इस प्रकार के प्रश्न पूछा करता था। उसने स्वयं बड़गे से प्रतिप्रश्न किए थे। न्यायालय की ओर से उसको इस प्रकार की अनुमति प्राप्त हुई थी। शंकर ने प्रत्येक प्रश्न बहुत ही सुसंगति से पूछा था। बड़गे स्वयं ही वंचना कर रहा है, इस प्रकार मुझको फँसा कर वह स्वयं बच जाने वाला है, ऐसी उसकी धारणा बन गई थी। अपना विषाद यद्यपि वह प्रकट नहीं कर सकता था तथापि दुःख तो उसको बहुत हुआ ही था।

मुझे कारावास दिया गया है और बड़गे मुक्त हो गया है, यह भी शंकर ने देखा। इतने दिन दूर रहने वाले शंकर को अब हमसे सहारा प्राप्त हो रहा था। दण्ड सुनाए जाने के बाद पुनरावेदन का भी कोई मार्ग होता है, यह बात उसको हमारे सम्पर्क में आने पर विदित हुई थी। हमने उसको यह भी बताया था कि यदि उच्च-न्यायालय की समझ में यह बात आ जाए कि वह उस काण्ड में निर्दोष है तो उसको मुक्ति भी प्राप्त हो सकती है। इससे उसको कुछ ढाढस बंधा। थोड़े ही दिनों में उसने अपना भविष्य भी अपने साथी दंडितों के साथ जोड़ दिया।

जब शंकर को यह विदित हुआ कि उच्च-न्यायालय ने उसको मुक्त कर दिया है तो इससे वह प्रफुल्लित हुआ। बाहर जाकर उसको क्या करना है, इसको समझाने के लिए वह अपने हाव-भाव प्रकट करता था और कभी-कभी बोल कर भी दिखाता था।

डॉ० परचुरे को मुक्त तो कर दिया था, किन्तु फिर भी उसको एक दुःख था। उन्हें इस घटना का महत्त्व ज्ञात था। उन्होंने भी अपना जीवन हिन्दू संघठन के कार्य में व्यतीत किया था। विभाजन के दिनों में शेष भारत में भी अनेक स्थानों पर हिन्दुओं पर आक्रमण

हुए थे। ग्वालियर में भी इस प्रकार का आक्रमण होने की संभावना थी, किन्तु उसको रोक दिया गया था। इसका प्रमुख श्रेय डॉ० परचुरे को था। नथूराम की फाँसी किसी प्रकार उससे घट होगी इसकी संभावना नहीं थी। क्योंकि उन्होंने उस दण्ड के विरुद्ध किसी प्रकार का पुनरावेदन नहीं किया था। नाना आपटे के बारे में उनकी हार्दिक इच्छा थी कि उनका मृत्यु-दण्ड आजीवन कारावास आदि में परिवर्तित हो जाए, किन्तु वैसा नहीं हो सका। यही वेदना डॉ० परचुरे के मन में रह गई थी।

'शासन विशेष दयादान के अपने अधिकार को गोपाल गोडसे के सम्बन्ध में उपयोग करे' ऐसा अभिमत अपने निर्णय में उच्च-न्यायालय ने व्यक्त किया था, किन्तु मेरा अनुमान है कि इस संस्तुति से शासन का क्रोध ही बढ़ा होगा। न्यायाधीश पर किसी प्रकार का आरोप नहीं लगाया जा सकता था, किन्तु उनकी संस्तुति की उपेक्षा तो की जा सकती थी? संभवत: इसी कारण शासन ने अपने दयादान के विशेष अधिकार का भी मुझ पर जो उपयोग किया वह पक्ष में नहीं अपितु विरोध में। शासन ने न्यायाधीश की संस्तुति का प्रतिशोध मेरे साथ दुर्व्यवहार करके किया। ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे त्यों-त्यों घटना की तीव्रता घट जानी चाहिए। किन्तु मेरे साथ जो व्यवहार किया गया उसके आधार पर यही कह सकता हूँ कि ज्यों-ज्यों मेरी मुक्ति के दिन समीप आते गए त्यों-त्यों मेरे साथ क्रूरता बढ़ती गई। मेरे विचार में यदि न्यायाधीश मेरे सम्बन्ध में सहानुभूति पर अभिमत व्यक्त न करते तो कदाचित शासन मेरे साथ इतना दुर्व्यवहार न करता।

न्यायालय की पद्धति के अनुसार उच्च-न्यायालय का निर्णय प्रथम उस न्यायालय के पास भेजा गया जिसने हमको दण्ड दिया था और उसके बाद उस न्यायालय ने अम्बाला बन्दीगृह में भेजा। इस प्रक्रिया में ३-४ दिन लग गए। डॉ० परचुरे और शंकर किस्तैया को मुक्त होने में इसी कारण ३-४ दिन लग गए। वे दोनों इस अभियोग से निर्दोष मुक्त हो गए। अब हम पाँच ही शेष रहे। नथूराम और आपटे तो फाँसी की कोठरी में भेजे गए थे और मदनलाल, करकरे और मैं आजन्म कारावास के बन्दी अलग कोठरी में रखे गए थे।

इंग्लैण्ड की प्रिवी काउंसिल उस समय के शेष खण्डित भारत का सर्वोच्च न्यायालय था। उच्च- न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध वहीं पुनरावेदन किया जा सकता था। कम से कम अपने सम्बन्ध में पुनरावेदन न करने का नथूराम का विचार था। उनकी धारणा थी कि यदि उन्होंने पुनरावेदन नहीं किया तो शासन मुझे फाँसी दे सकेगा, किन्तु उनकी यह धारणा सदोष थी। क्योंकि यदि अन्य अभियुक्त सर्वोच्च न्यायालय में पुनरावेदन करें तो उसके निर्णय होने तक प्रत्येक मृत्यु दण्डित का दण्ड अस्थायी रूप से स्थगित कर दिया जाता है। फाँसी रोक दी जाती है और अन्य सामान्य दण्डावधि चलती रहती है।

दिल्ली के लाला गणपतराय एडवोकेट यद्यपि हमारे अभियोग में सावरकर जी का काम देखते थे, तथापि वे सभी कामों में अग्रसर रहते थे। हमारे संबंधियों की भेंट आयोजित कराने से लेकर हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति तक का वे ध्यान स्वयं रखते थे। आजकल वे सर्वोच्च न्यायालय के एडवोकेट हैं।

शिमला उच्च-न्यायालय का निर्णय हो जाने पर लाला गणपतराय ने दिनांक २९-७-

१९४९ को अम्बाला बन्दीगृह में हमसे भेंट की। उन्होंने नथूराम को यह जचा दिया कि सभी का पुनरावेदन करना उचित होगा। यह बात नथूराम ने भी स्वीकार कर ली। पहले की ही भाँति दण्ड विधान की धारा ३०२ के अन्तर्गत सिद्ध हत्या का आरोप और उसमें प्राप्त दण्ड के विषय में किसी प्रकार का आवेदन न करते हुए अन्य आरोपों और उनमें दिए गए सजा के विरुद्ध पुनरावेदन किया। अन्य सभी अभियुक्तों ने भी पुनरावेदन किया। लंदन की दो विधि संस्थाओं ने इस सम्बन्ध में हमारी बड़ी सहायता की। ये संस्थाएँ थीं— डब्ल्यू. डब्ल्यू बाक्स कं. तथा बेनेरी एण्ड कम्पनी। इन्होंने नि:शुल्क हमारी अपील करना मान लिया। केसरी के लंदन स्थित सम्वाददाता श्री द. वि. ताम्हाणकर ने अगस्त के प्रारंभ में लाला लाजपतराय को इस विषय में सूचना दी थी। लन्दनस्थित हमारे वकीलों ने दिनांक १५-९-१९४९ तक आवेदन प्रस्तुत किए। दिनांक १२-१०-१९४९ का दिन प्रारंभिक सुनवाई के लिए नियत किया गया था। विधि संस्था की ओर से श्री मैगा कार्य देख रहे थे। श्री दफ्तरी भारत सरकार की ओर से काम देखते थे।

दिनांक १२-१०-१९४९ को प्रारंभिक सुनवाई में ही प्रिवी काउंसिल ने पुनरावेदन अस्वीकार कर दिए थे। हमारा दण्ड पूर्ववत् रहा। नथूराम तथा आपटे को मृत्युदण्ड घोषित करने के पूर्व तथा बाद भारत के अनेक समाचार-पत्रों ने इस सम्बन्ध में जनमत संग्रह करने का उपक्रम किया था। तब हमने देखा था कि अधिकांश मत फाँसी के विरोध में थे। उसके अनेक कारण भी प्रस्तुत किए गए थे। सहसा पाठकों के इस प्रकार के पत्रों का प्रकाशन उस समय समाचार-पत्रों ने बन्द कर दिया था। यदि शासन ने फाँसी देने का निर्णय कर लिया हो तो लोकमत के आधार पर स्थिर शासन लोकमत के विरुद्ध व्यवहार करता है; कहीं यह बात बल न पकड़ जाए, इस दृष्टि से शासन ने सम्भवतया इस प्रकार के पत्र प्रकाशन प्रक्रिया को बन्द करवा दिया होगा।

इस सम्बन्ध में 'हरिजन' के उस समय के सम्पादक स्वर्गीय श्री किशोरीलाल मशरूवाला ने भी कई लेख लिखे थे। उनका भी यही कहना था कि नथूराम को तो मृत्युदण्ड दिया जाय, किन्तु नाना आपटे के दण्ड को दूसरे दण्ड में परिवर्तित किया जाए। अपने निष्कर्ष में दो तर्क उन्होंने प्रस्तुत किए थे, वे पूर्ण रूप से तर्क संगत नहीं थे। 'हरिजन' का प्रकाशन गांधीवाद के प्रचार के लिए किया जाता था। गांधीवाद की भूमिका में यह कहना कि फाँसी का निर्णय न पलट दिया जाए, एक प्रकार से असंगत है। गांधी जी के जीवन काल में ही इस प्रकार का एक उदाहरण हो चुका था। अब्दुल रशीद ने स्वामी श्रद्धानन्द जी की हत्या की थी। अब्दुल रशीद को फाँसी न दी जाए, इस प्रकार का मत गांधी जी ने अभिव्यक्त किया था। 'आई प्लीड फॉर श्री अब्दुल रशीद', ऐसे शब्द गांधी जी ने ढाका कांग्रेस में कहे थे। उनके द्वारा उसके लिए प्रस्तुत कारणों के तत्त्व के रूप में स्वीकार किया जाए तो उन्हें गांधीवाद के क्षेत्र के भीतर ही माना जाएगा। स्वर्गीय किशोरीलाल मशरूवाला उस तत्त्व के अनुसार नथूराम को फाँसी न दी जाए, इस प्रकार का निष्कर्ष निकाल सकते थे।

गांधीवाद के क्या अर्थ हैं? जिनको गांधी जी ही समझ सकें, वही। इस प्रकार की

आलोचना गांधी जी के जीवन-काल में भी होती थी। गांधी जी के बाद उनके शिष्य समुदाय ने फाँसी प्रकरण पर जो सिद्धान्त प्रतिपादित किए, वह किसी भी प्रकार गांधी जी के सिद्धान्त के अनुसार नहीं थे। यही कहना होगा और यदि वह गांधीवाद के अनुरूप माना जाएँ, ऐसा कहना हो तो जो गांधीवाद गांधी जी के सम्मुख ही जितना विसंगत था, उतना ही वह उनके बाद भी विसंगत रहा, इस तथ्य का भी स्मरण रखना होगा।

गांधीवाद के क्षेत्र में हृदय-परिवर्तन यदि कोई प्रमुख सिद्धान्त था तो उसका प्रयोग तभी किया जा सकता था कि जब फांसी का दण्ड अमान्य करवा दिया जाता। नथूराम को दण्ड में किसी प्रकार की छूट अथवा सान्त्वना की भी आवश्यकता नहीं थी। वे तो स्वयं ही फाँसी पर चढ़ने के लिए तत्पर थे। अत: वार्त्तालाप द्वारा उनके मन को परिवर्तित करना और उनके पूर्वाग्रह को पलटने के लिए उनको विवश करने की न्यूनतम चेष्टा करना तो सहज साध्य था। गांधी-जयन्ती के अवसर पर गांधी जी के तत्त्वों के अनुसार व्यवहार करो। इस प्रकार का उपदेश देने का अधिकार उन लोगों को प्राप्त हो सकता था, किन्तु वह भी नहीं रहा। अवसर होने पर भी उन्होंने उस अधिकार को खो दिया। केवल सूखा उपदेश उनके लिए शेष रह गया। और उपदेशक यह भूलते हैं कि उस उपदेश के पेट में भी एक व्यंग्य भरा रहता है। वह अर्थात् 'तुम्हारा व्यवहार तो नीति युक्त होना चाहिए। हम भले ही किसी प्रकार का भी व्यवहार करें। और हमारे व्यवहार के विषय में किसी को कुछ पूछने का अधिकार नहीं है।' ऐसा उपदेश केवल पाखण्ड होता है।

इस तुलना की दृष्टि में गांधी जी के पुत्र श्री रामदास गांधी के प्रयत्न सच्चे और आस्थायुक्त प्रतीत होते हैं। नथूराम और आपटे को फाँसी न दी जाए, ऐसा वे मन से चाहते थे। उनका लगातार पत्र-व्यवहार चला था। गांधी जी के दार्शनिक सिद्धान्तों के ठेकेदारों का नथूराम से विचार-विमर्श हो, ऐसी उनकी इच्छा थी, किन्तु शासन ने उनके उद्देश्य की पूर्ति नहीं होने दी। कदाचित शासन को लगा होगा कि 'गांधीवाद' नामक कोई सिद्धांत प्रचार-मात्र के लिए भले ही हो, किन्तु व्यवहार के लिए नहीं। अथवा फाँसी देने से ही हम गांधी जी के सच्चे अनुयायी सिद्ध होंगे, ऐसी उनकी धारणा रही होगी, किन्तु दोनों ही भूमिकाएँ परस्पर विरोधी थीं, यह स्पष्ट है।

नथूराम या नाना आपटे मश्रूवाला की राय पर अथवा रामदास गांधी के प्रयत्नों पर निर्भर नहीं थे। दूसरों के भरोसे उन्होंने अपनी ग्रीवा को संकट में नहीं डाला था। कोई तो भी हमको बचा ही लेगा, ऐसी धारणा मन की दुर्बलता को व्यक्त करती है। और ऐसी धारणा के आधार पर जो प्राण हथेली पर रखते हैं, जब कोई उनकी सहायता के लिए नहीं आता है तो फिर उनकी स्थिति दयनीय हो जाती है। उनकी एक निष्ठा थी, उस निष्ठा के लिए अपने प्राण भी उनको तुच्छ प्रतीत होने लगे थे। उस निष्ठा के लिए इस सीमा तक वे उससे एकरूप हो गए थे। वह निष्ठा दोषपूर्ण थी अथवा योग्य या कैसी भी थी, उसके विषय में विचार-विमर्श के लिए यह उपयुक्त अवसर नहीं है और मेरा उस पर किसी प्रकार का कथन उपयुक्त भी नहीं होगा, क्योंकि मैं स्वयं गांधी-वध काण्ड का एक अभियुक्त था। अत: मेरा उस पर किसी प्रकार का कथन पक्षपात रहित नहीं समझा जाएगा। तथापि नथूराम

अथवा आपटे की उस समय की घटनाओं पर उनकी भूमिका को केवल इतिहास के संदर्भ में ही देखने का प्रयत्न कर रहे हैं।

दया की याचना करना मेरे लिए वस्तुतः मृत्यु होगी, इस प्रकार के उद्गार उस समय नथूराम के हुआ करते थे। दिनांक ११-११-१९४९ को नथूराम को माता-पिता की ओर से एक आशीर्वादात्मक तार प्राप्त हुआ था। उनकी इच्छा थी कि माता-पिता जी को एक सान्त्वनात्मक पत्र भेजा जाए। पत्र यदि हिन्दी या अंग्रेजी में लिखा गया हो तो उसकी तुरन्त छानबीन हो जाती और उसे गन्तव्य स्थल पर भेज दिया जाता था, किन्तु मराठी में लिखा गया पत्र पहले पढ़ने के लिए बम्बई शासन के पास भेजा जाता था, वहाँ से लौट आने पर फिर उसको गन्तव्य स्थान पर भेजा जाता था। इस प्रकार इस प्रक्रिया में दो-तीन सप्ताह लग जाया करते थे। इस बात को ध्यान में रखते हुए पत्र शीघ्र निकल जाए इस विचार से उन्होंने हिन्दी में लिखने का निश्चय किया।

नथूराम के पत्र लिखने का उद्देश्य था पुत्र-शोक के अवसर पर माता-पिता को कुछ आश्वस्त करना। नथूराम का हृदय परिवर्तन करने की दिशा में कोई कार्य नहीं किया गया था, करने की आवश्यकता भी नहीं थी। अपना कार्य अवैध है और उसका दण्ड मृत्यु है यह जितना सत्य है उतना ही सत्य यह भी है कि वह कार्य विचारपूर्वक किया गया है और उसका परिणाम भुगतने का सामर्थ्य भी उनमें है, यह बात अपने माता-पिता के मन में बैठाने के लिए ही उन्होंने पत्र लिखा। अधिकारी-वर्ग ने पत्र की परीक्षा की और उसे तुरन्त ही अपने गन्तव्य की ओर भेज दिया। पत्र इस प्रकार था।

अम्बाला

दिनांक १२-११-१९४९

परम वन्दनीय माता जी और पिता जी,

अत्यन्त विनम्रतापूर्वक अन्तिम प्रणाम।

आपका आशीर्वादात्मक तार प्राप्त हुआ। आपने अपने स्वास्थ्य और वृद्ध अवस्था को दृष्टि में रखते हुए, यहाँ तक न आने की मेरी विनती को स्वीकार कर लिया, इससे मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। आपके छायाचित्र मेरे पास हैं, उनका पूजन करके ही मैं ब्रह्म में विलीन हो जाऊँगा।

व्यावहारिक और लौकिक दृष्टि से यदि देखा जाए तो आपको इस घटना से बहुत दुःख होगा, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु यह पत्र में किसी प्रकार के दुःखावेग अथवा दुःख की चर्चा के लिए नहीं लिख रहा हूँ। आप गीता के नियमित पाठक हैं, पुराणों का अध्ययन भी आपने किया हुआ है। जिन श्री कृष्ण ने गीता-ज्ञान की गंगा प्रवाहित की उन्हीं श्रीकृष्ण भगवान ने राजसूय यज्ञभूमि पर-रणभूमि पर नहीं-शिशुपाल जैसे राजा का अपने सुदर्शन-चक्र से वध किया है, किन्तु क्या कोई कह सकता है कि भगवान श्रीकृष्ण ने शिशुपाल का वध कर कोई पाप किया? न केवल शिशुपाल का ही अपितु अनेक अहंकारी असुरों का वध भी उन्होंने विश्वकल्याण की भावना से किया और फिर गीता उपदेश द्वारा उन्हीं

श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने बन्धु-बान्धवों से लड़ने के लिए गाण्डीव धनुष उठाने का आह्वान किया था।

पाप और पुण्य मनुष्य के काम में नहीं, उसकी मनोभावना में विद्यमान रहते हैं। दुष्टों को दान देना पुण्य नहीं समझा जाता, उसे अधर्म माना गया है। केवल एक सीता माता के कारण रामायण की कथा बन गई और एक द्रौपदी के कारण महाभारत का इतिहास बन गया। सहस्रावधि महिलाओं का शील हरण हो रहा था और शीलहर्ता राक्षसों के प्रति हर प्रकार से सहायता के यत्न हो रहे थे, इस स्थिति में अपने प्राणों के भय से अथवा जननिन्दा की शंका से डर कर कुछ भी न कर मूकद्रष्टा बने रहना मुझे नहीं भाया। मैं समझता हूँ कि उन सहस्रों महिलाओं के आशीर्वाद आज मुझे प्राप्त हैं।

मैं अपनी मातृभूमि के चरणों पर अपना बलिदान प्रस्तुत कर रहा हूँ। मेरे इस कार्य द्वारा मेरा अपना कुटुम्ब और उसके साथ कुछ अन्य कुटुम्बियों की दुर्दशा अवश्य हो गई है, किन्तु मेरी दृष्टि के सम्मुख छिन्न-विछिन्न मन्दिर, मुण्डित मस्तकों की शृंखला, बालकों की निर्मम हत्या, रमणियों की विडम्बना प्रति क्षण विद्यमान रहते हैं। आततायी और अनाचारी दुष्टों को मिलने वाली सहायता समाप्त करना मैंने अपना कर्तव्य समझा था।

मेरा मन शुद्ध है और मेरी भावना भी उस प्रकार अत्यन्त शुद्ध थी। कहने वाले भले ही कुछ कहते रहें, किन्तु मैं समझता हूँ कि एक क्षण के लिए भी मेरा मन विक्षुब्ध नहीं हुआ है। यदि संसार में कोई स्वर्ग नाम का स्थान है तो मेरा स्थान वहाँ सुरक्षित है, ऐसी मेरी धारणा है। उसके लिए मुझे किसी प्रकार की विशेष प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं होगी। यदि कहीं मोक्ष है तो उसकी कामना मुझे है।

दया के नाम पर अपने जीवन की याचना करना मुझे तनिक भी रुचिकर नहीं। और भारत शासन को धन्यवाद देता हूँ कि उसने स्वतः ही मुझ पर किसी प्रकार की दया दर्शा कर मेरे मृत्युदण्ड को नहीं घटाया। दया की भिक्षा के आधार पर जीवित रहने को मैं वास्तविक मृत्यु मानता हूँ। मृत्युदण्ड देने वालों में मुझे मारने की शक्ति नहीं है। मेरा बलिदान मेरी मातृभूमि अत्यन्त प्रेम से स्वीकार करेगी। मृत्यु मेरे सामने नहीं आई अपितु मैं स्वयं ही मृत्यु के सम्मुख जाकर खड़ा हो गया हूँ। मैं मृत्यु की ओर प्रसन्नवदना दृष्टिपात कर रहा हूँ और वह भी एक मित्र की भाँति मेरा आलिंगन करने के लिए आतुर है।

आपुले मरण पाहिले म्यां डोला,
तो जाहला सोहळा अनुपम।
जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरि हार्येऽर्थे नत्वं शो चितुमर्हसि॥

गीता के तो श्लोक-श्लोक में जीवन और मृत्यु की समस्या का विवेचन भरा हुआ है। ज्ञानी मनुष्य को शोक-विह्वल करने की शक्ति मृत्यु में नहीं है। मेरे शरीर का तो नाश हो जाएगा, परन्तु मैं विद्यमान रहूँगा। सिन्धु नदी से कन्याकुमारी तक भारतवर्ष को पूर्णतया स्वतन्त्र करने का मेरा ध्येय-स्वप्न मेरे शरीर की मृत्यु से मिटना संभव नहीं।

शासन ने आपको मुझे मिलने की अन्तिम स्वीकृति नहीं दी। शासन से किसी भी प्रकार के सद्भावना की अपेक्षा न रखते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि अपना शासन किस पकार मानवता के तत्त्व को अपना रहा है।

(माता-पिता जी वृद्ध हैं, वे लोग पूना में रहते हैं। उनका इतनी लम्बी यात्रा कर मुझसे मिलने के लिए आना संभव नहीं है। अत: उनसे मिलने के लिए एक बार मुझे वहाँ ले जाया जाए जिससे कि वे मुझसे मिल सकें और फिर वहीं यरवदा (पूना) बंदीगृह में मुझे फाँसी दे दी जाए, इस प्रकार की विनती नथूराम ने राजकर्ताओं से की थी। उसको शासन ने स्वीकार नहीं किया। इसी का संकेत उन्होंने अपने पत्र में ऊपर किया है।)

मैं समझता हूँ कि आपको इससे अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। मेरे मित्रगण और चि० दत्ता, गोविन्द, गोपाल आदि आपको कभी भी मेरा अभाव खटकने नहीं देंगे। मैं अप्पा से पूरे विस्तार से बात करूँगा, वह आपको सब कुछ समझा देगा।

इस देश में लाखों मनुष्य ऐसे होंगे जिनके नेत्रों से इस बलिदान से अश्रु प्रवाहित होंगे। वे लोग आपके दु:ख में सहभागी हैं। इसमें संदेह नहीं है कि आप भी स्वयं को ईश्वर की निष्ठा के बल पर संभाले रहेंगे।

अखंड भारत अमर रहे। वन्देमातरम्।

आपके चरणों में सहस्त्र प्रणाम!

आपका

नथूराम

नाना आपटे के जीवन में यदि यह घटना न हुई होती तो वे आज एक बहुत कुशल प्रशासक के रूप में प्रसिद्ध होते। अर्थात् किसी भी प्रकार का कोई व्यापारिक संस्थान उनके सदृश कुशल प्रशासन के लिए अपर्याप्त कार्यक्षेत्र था। उनकी आकांक्षा देश के प्रशासन में सहायता करने की थी। शासन के पास 'प्रशासन' पर उनका एक 'शोध-ग्रंथ' है वह किसी भी दृष्टि से 'आपत्तिजनक' नहीं माना जा सकता। उसका महत्त्व द्विगुणित है। फाँसी की छत्रछाया में रहते हुए उन्होंने उसे लिखा था और उसमें उन्होंने कई मूलभूत तत्त्वों को प्रस्तुत किया है। शासन उस ग्रन्थ को कभी मुक्त करेगा। मैं उसके लिए प्रयत्नशील हूँ, किन्तु मेरे प्रयत्न एकाकी हैं। कभी कोई गुणों का पारखी शासकीय अधिकारी उस ग्रन्थ को परखेगा तो निश्चित ही उसको जनोपयोग के लिए मुक्त करेगा और कदाचित उसका सम्मान भी होगा, इसमें मुझे सन्देह का कोई आभास नहीं, केवल किसी प्रकार किसी सुयोग्य व्यक्ति का ध्यान मात्र उस ग्रन्थ की ओर चला जाए, इतना ही करने की बात है।

नाना आपटे ने भी अपने अन्तिम दिनों में कई पत्र लिखे हैं। श्री करकरे को लिखा उसका पत्र तो बहुत ही मर्मस्पर्शी है। सभी पत्रों में नाना की दृढ़ता का परिचय प्राप्त होता है। किसी दिन यदि वे पत्र हाथ में आए तो पाठकों को भी उनको पढ़ने का सुअवसर सुलभ होगा।

दोनों ने कई पुस्तकों पर कुछ न कुछ सन्देश अथवा पत्र भी लिख कर रखे हैं। उन पुस्तकों का परीक्षण करके उनको उनके सम्बन्धियों को दिया गया है। गुरुगोविन्दसिंह के

चरित्र ग्रन्थ (जीवनी) पर नथूराम ने मुझे एक छोटा-सा पत्र लिखा है। इस समय वह पत्र मेरे पास है। उसमें उन्होंने लिखा है—

चि० गोपाल को,

कुरुक्षेत्र और पानीपत की पावन भूमि से चल कर आने वाली वायु में अन्तिम श्वास ले रहा हूँ। पंजाब गुरुगोविन्दसिंह की कर्मभूमि है। भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव का यहाँ बलिदान हुआ। लाला हरदयाल तथा भाई परमानन्द, इन त्यागमूर्तियों को इसी भूमि ने जन्म दिया था।

उसी पंजाब की पवित्र भूमि पर मैं शरीर त्याग रहा हूँ। इस बात का मुझे सन्तोष है। जब खण्डित भारत पुन: अखण्ड भारत बनेगा तब उस समय खण्डित पंजाब भी पहले की भाँति पूर्ण पंजाब हो जाएगा। यह सुकार्य शीघ्र ही सम्पन्न हो, यही अन्तिम इच्छा है।

तुम्हारा

दिनांक १४-११-४९ **नथूराम वि. गोडसे**

गुरुगोविन्द के चरित्रग्रन्थ में एक पन्ने के रिक्त भाग पर नथूराम का निम्नलिखित समर्पण-पत्र लिखा है। उस पन्ने पर लिखित समर्पण-पत्र के शब्दों का अनुवाद इस प्रकार हैं—

'जिन पुण्यवान सति सावित्री स्त्रियों ने और निर्दोष बालकों ने धर्म की निष्ठा के कारण प्राणार्पण किए और जिन सहस्रावधि वीर व्यक्तियों ने गुरु गोविन्दसिंह का जयघोष कर मानवता की रक्षा के लिंए पंजाब की भूमि पर शरीर त्यागे उन पवित्र आत्माओं को।'

दूसरे दिन अर्थात् दिनांक १५-११-१९४९ को प्रात:काल ८ बजे यथाविधि नथूराम और नाना आपटे को फाँसी दी गई। दाह-संस्कार कारागार के भीतर ही किया गया। क्रिया कर्म कारागार के एक ब्राह्मण अधिकारी ने किया। जिनको फाँसी दी गई उनकी अन्तिम संस्कार के बारे में कोई भावना हो अथवा न हो, किन्तु उनसे सम्बन्धित व्यक्ति, जिनमें कारागार के अधिकारी भी आ जाते हैं, की कुछ भावनाएँ थीं। इस सम्बन्ध में शासन ने जितनी विवेकाधीन शक्ति थी उसकी परिधि में ही उन भावनाओं का प्रदर्शन हो, ऐसा उनका मत था। इसलिए कई लोगों ने स्वयं आगे बढ़कर क्रिया-कर्म करना स्वीकार किया। मृत शरीर का दहन कारागार के एक खुले प्रांगण में हुआ। दहन करने पर उस भूमि को खोदा गया और उसमें घास के बीज बोये गए। उस स्थान पर दो वृक्ष लगाये गए। यह सब वृत्तान्त तत्कालीन वहाँ के बन्दियों ने मुझे दिल्ली बन्दीगृह में मिलने पर बताए थे। मैंने अपनी आँखों से स्वयं यह सब नहीं देखा।

दोपहर के एक डेढ़ बजे बन्दीगृह खुला। प्रात का भोजन किसी ने भी नहीं किया था। भोजन पकाया गया था और बाँटा भी गया था। रजिस्टर में यह नहीं लिखा गया कि भोजन की हड़ताल की गई, अपितु यही लिखा गया कि भोजन बाँटा गया। बन्दीगृह भी एक प्रकार से परिवार का स्वरूप ही बन जाता है। बन्दीजन सुख-दु:ख के साथी बन जाते हैं। ऐसे प्रसंगों में बन्दीगृह के सभी बन्दियों पर दु:ख की छाया छा जाती है। कारावास के अधिकारियों एवं कर्मचारियों को फाँसी देने का कार्य यदा-कदा करते रहना पड़ता है। इस

कारण उनका मन पक्का हो चुका होता है, इस प्रकार की यदि किसी की धारणा हो तो मैं समझता हूँ कि यह धारणा ठीक नहीं है। वस्तुस्थिति इसके विपरीत होती है। फाँसी के दिन किसी किसी जेलर के घर पर भी चूल्हा न जलने के उदाहरण मुझे ज्ञात हैं।

अधिकारी वर्ग के साथ नथूराम और आपटे के बहुत अच्छे सम्बन्ध थे। यद्यपि बन्दीगृह का यह नियम है कि अधिकारीगण बन्दियों और विशेषतया फाँसी प्राप्त बन्दियों से निकट सम्पर्क स्थापित न करें, उस पर भी यह तो राजनीतिक प्रकरण था। अत: इसके बन्दियों से तो 'काम से काम', इतना ही सम्बन्ध नियमानुसार होना चाहिए, किन्तु नियम ही सब कुछ नहीं होते। बन्दी का व्यवहार और उसके बोलचाल का अधिकारीगणों पर बहुत प्रभाव पड़ता है। 'काम से काम' का तात्पर्य यह है कि किसी अन्य व्यवहार के कारण बंदी किसी प्रकार चिढ़ न जाए और अधिकारीगण की प्रतिष्ठा को ठेस न पहुँचाए। परंतु दोनों ओर इस प्रकार के नियम का उल्लंघन होने की संभावना है अथवा नहीं, यह वे लोग बन्दी के व्यवहार से जान जाते हैं। कारागार के अधिकारीगण अपनी सेवावृत्ति के सुदीर्घ जीवनकाल में मनुष्य स्वभाव के अनेक रूपों का अनुभव एवं निरीक्षण कर चुके होते हैं। अपने उस अभ्यास एवं अनुभव के आधार पर ही वे नए आने वाले बन्दियों के स्वभाव एवं व्यवहार का वर्गीकरण करते रहते हैं।

जब वे अनुभव कर लेते हैं कि दण्डित का स्वभाव अच्छा है, वृत्ति चिड़चिड़ी नहीं है तो वे भी बन्दी से नियम के विपरीत दो-चार अधिक और अच्छे शब्दों का प्रयोग कर लेते हैं। इस प्रकार बोलते-बोलते ही उनका बन्दी से परिचय बढ़ता जाता है। एक दूसरे के मन को समझने का अवसर आता है। अन्ततोगत्वा अधिकारी तो बन्दी के मन को समझने का यत्न करते ही हैं।

एक दूसरे को समझने की जितनी उत्सुकता अधिकारीगण को होती है उतनी ही बन्दी को भी होती है। वह भी अब तक के अपने अनुभव के आधार पर अधिकारियों का वर्गीकरण करता है। इस प्रकार शनै: शनै: परिचय बढ़ जाने पर परस्पर स्नेह संबंधों का निर्माण होता है। नथूराम और नाना आपटे को अम्बाला कारावास में लगभग नौ-दस मास रहना पड़ा था। उस सुदीर्घ अवधि में अधिकारियों ने उन दोनों को भली प्रकार परखा था और उसी के आधार पर उनसे सम्बन्ध बढ़े थे। उनके प्रति उनकी भावनाएँ बहुत ही मृदु थीं।

नियम यही है कि शासकीय कर्मचारी सक्रिय राजनीति से पृथक् ही नहीं, अपितु अलिप्त रहें। बन्दीगृह के कर्मचारी इसका अपवाद नहीं हो सकते। नियमों की अपेक्षा तो यही थी कि अम्बाला कारावास के अधिकारीगण नथूराम और आपटे से अधिक बातचीत न करें।

क्या मनुष्य स्वभाव के अनुसार कोई भी कर्मचारी कभी राजनीति से अलिप्त रह सका? देश विभाजन के कारण उन अधिकारियों के घरों पर भी उन घावों की पीड़ा विद्यमान थी। राजनीति के कारण जो हत्याएं हुई थीं वह यदि कहीं कोरिया अथवा वियतनाम में हुई होती तो सम्भवतया ये कर्मचारी अथवा अधिकारीगण उससे अलिप्त रह सकते थे, किन्तु उनका दृष्टिकोण कैसा भी क्यों न हो, उनकी किसी प्रकार की कोई राजनीतिक विचारधारा

हो अथवा न हो, राजनीति उनके घर पर आकर धमकी थी, उसका प्रहार न केवल उनके घरों पर अपितु उनके शरीरों पर भी हुआ था, क्योंकि वे शासकीय सेवा में भले ही नियुक्त हों, किन्तु थे तो वे हिन्दू ही। उनकी अपनी पैतृक भूमि पर उनका अस्तित्व समाप्त हो रहा था। अतः जिस मार्ग से भी और जिस उपाय से भी संभव हो उससे, पाकिस्तान बने पंजाब से, उन्होंने भारतीय पंजाब में आकर सहारा खोजा था। इस प्रकार ये अधिकारीगण अनिच्छा से किन्तु अनिवार्यरूपेण राजनीति प्रभावित हुए अपने अंग पर लगे घावों के विषय में यदि नहीं बोलेंगे तो क्या करेंगे? मार्ग गलत हो अथवा निर्दोष तदपि उन फाँसी का दण्ड प्राप्त दण्डितों ने कुछ तो उनके आँसुओं का प्रतिशोध लेने का यत्न किया था, ऐसी उनकी धारणा क्यों नहीं हो सकती? विभाजन के समय पंजाब में क्या हुआ, इसका विवरण उन अनेक पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों अथवा ग्रन्थों से उतना उपलब्ध नहीं हो सकता जितना कि हमें उन अधिकारियों की वेदना भरे स्वरों को सुनकर हुआ। वे मन खोल कर हमें सब बताते थे।

नथूराम और आपटे को भी जो देश के विभाजन और रक्तपात से उत्तेजित थे, उद्विग्न मन की उस उद्गाथा को सुनने में अत्यधिक रुचि थी। उसे वह स्वयं पर बीती घटना जैसा ही समझते थे। यही कारण है कि शिमला में जब उच्च-न्यायालय में नथूराम ने अपना तर्क दिया था तो वहाँ पर उपस्थित दर्शकों के मन को भी उन्होंने उद्विग्न कर दिया था। दर्शकों को ऐसा प्रतीत हुआ जैसे ये कोई उनके सहभागी ही हों। श्रोतागणों को भी नथूराम ने अपने वक्तव्य से एकाकार कर लिया था। यदि उस श्रोतावृन्द को निर्णय करने का काम सौंप दिया जाता तो मुक्तकण्ठ से वे लोग उनको निर्दोष घोषित कर देते। यह मेरी अपनी ही धारणा नहीं है, उस समय न्यायपीठ पर आसीन श्री खोसला ने इसी प्रकार के भावों का अपनी पुस्तक में एक स्थान पर उल्लेख किया है। मेरे कहने का अभिप्राय तो केवल इतना ही है कि प्रत्यक्ष परिस्थिति का दर्शक या भोक्ता नथूराम और आपटे की भावना को समझता और सराहता था।

ऐसा प्रतीत होता था कि अपनी भावना व्यक्त करने के लिए अधिकारीगण को नथूराम और आपटे के रूप में उपयुक्त श्रोता उपलब्ध हो गए हैं! यही कारण था कि शासकीय नियम का अपवाद वे सिद्ध हुए। पाठक इससे सहज ही अनुमान लगा सकते हैं कि जब उनके हाथ से ही नथूराम और आपटे को फाँसी दी गई तो उनको कितना दुःख हुआ होगा।

दो-एक घंटे के पश्चात् बंदीगृह के मुख्य अधिकारी श्री अर्जुनदास और उनके सहायक अधिकारी हमारी अर्थात् करकरे, मदनलाल और मेरी-कोठरी में आए। उनका उद्देश्य हमें सांत्वना देना था। यह कार्य उनकी कर्त्तव्यतालिका में कहीं नहीं लिखा था, किन्तु थे तो वे भी सहृदयी मानव। फिर नथूराम और आपटे से उनके सम्बन्ध जितने घनिष्ठ थे, उतने ही हमारे साथ भी थे।

श्री अर्जुनदास कुछ समय तक तो हमारे सम्मुख खड़े के खड़े ही रहे। सम्भवतः वे शब्द खोज रहे होंगे। बोलने के लिए उनके अधरों में स्पन्दन तो हुआ, किन्तु स्पष्टतः शब्द बाहर नहीं निकले। उनके गले की धमनियों की क्रिया से ऐसा लगता था कि उन्होंने मुँह

पर अटके थूक को निगला है। उन्होंने एक बार पुनः प्रयत्न किया, किन्तु सफलता नहीं मिली। तीसरी बार उनके मुख से जो स्वर निकला वह किसी प्रकार का कोई शब्द न हो कर, केवल एक सिसकी ही थी।

कौन जाने कि क्या बात थी, किन्तु हम तीनों में से किसी के भी आँसू नहीं निकले थे। 'नियति के नियमों में हम कैसे परिवर्तन कर सकते हैं?' केवल इतना ही मैंने उनसे कहा था। अर्जुनदास और निकट आए। उन्होंने हमारी पीठ पर हाथ फेरा और बिना कुछ शब्द भी मुख से निकाले वे पुनः चले गए। मैं समझता हूँ कि मेरे कथन से उनको ही सान्त्वना-सी मिली थी। बाद में यह ज्ञात हुआ कि उन्होंने अपने सहकारी से कहा, 'हम आज व्यर्थ ही आए। हमें एक-दो दिन बाद आना चाहिए था।' किन्तु इतना निश्चित है कि उनके आ जाने मात्र से ही हमको भी एक प्रकार से सान्त्वना-सी प्राप्त हुई थी और उससे हमारा दुःखभार कुछ हलका हुआ था।

हमारे लिए वह दिन उदासी का दिन था। फाँसी का दण्ड दिए जाने तक तो हमारे चित्त स्थिर थे। बहुत ही विचित्र वातावरण में बहुत प्रातःकाल हमारी नथूराम और आपटे से भेंट हुई थी। प्रातः चाय कॉफी हमने साथ ही पी थी। थोड़ा बहुत हास्य-विनोद भी हुआ था। ऐसा प्रतीत होता था कि उस समय हमारे मनों पर किसी प्रकार का बोझ है ही नहीं। मानों वे लोग भूल गए हों कि उनको थोड़े समय बाद ही फाँसी मिलने वाली है और उसी प्रकार उन्होंने हमको भी यह तथ्य भूलने के लिए विवश किया था।

समय सबके घाव भर देता है। हमारा दुःख शनैः शनैः न्यून होने वाला था।

करकरे और मैं प्रातःकाल उठकर कुछ पठन-पाठन किया करते थे। गीता के अनेक अध्याय हमने कण्ठस्थ किए थे।

किसी भी प्रकार के विचार व्यक्त करने के लिए मनुष्य के पास बहुत बड़ा शब्द भण्डार होना चाहिए। इस अभिलाषा से हमने लघु अमर कोष भी कण्ठस्थ किया था। अनेक सूत्र और अनेक स्तोत्र हम पढ़ा करते थे। उनके अर्थ समझने का हम प्रयत्न करते थे। करकरे को यदि अशिक्षित कहा जाय तो अतिशयोक्ति न होगा। मराठी अथवा गुजराती की चार-पाँच कक्षा तक भी उनकी शिक्षा नहीं हुई थी, परन्तु शिक्षा और व्यवहार का सदा परस्पर सम्बन्ध होना ही चाहिए, यह युक्तियुक्त नहीं है। कम से कम करकरे तो इसके अपवाद थे ही।

करकरे की विवेचन पद्धति बुद्धियुक्त होती थी। कदाचित वह आयु के कारण हो। उस समय उनकी आयु ४२ वर्ष की थी। उन्हें व्यवहारिक ज्ञान अच्छा था। उनकी उच्च-शिक्षा नहीं हुई अथवा उन्हें अंग्रेजी का ज्ञान नहीं है, इसका उन्हें दुःख होता था। उनकी पढ़ने की इच्छा थी और हम दोनों के पास समय भी था। उन्होंने कारागार में अंग्रेजी शिक्षा ए. बी. सी. का आरंभ किया था। दो वर्षों में ही वे टाइम्स अथवा फ्री-प्रेस के अग्रलेख पढ़ने लग गए। न केवल पढ़ने अपितु समझने और समझाने भी लग गए थे।

हमारा नित्य क्रम चल रहा था और हमारा विचार उसको चालू रखने का ही था। हमारा कारावास हमारे सामने था, उसको पार करना था। मन ही मन यह विश्वास था कि एक

न एक दिन हमारी मुक्ति होगी ही। किन्तु आगे चल कर वह विश्वास डगमगाने लग गया। बंदीवास के आरंभ में तो हमें यह व्यथा नहीं थी।

नित्य की ही भाँति हम दूसरे प्रातः उठे, नित्य कर्म से निपट कर स्नान आदि किया। मन में चिन्तन न करने पर भी खिन्नता का अनुभव होता था। हम गीता पढ़ने के लिए बैठे। खिन्नता में शब्द भी ठीक प्रकार से बोल नहीं पाते थे।

मैं भगवान् कृष्ण की मूर्ति पर ध्यान कर अपनी चित्तवृत्ति को केन्द्रित करने का यत्न कर रहा था। मैं श्लोक के बाद श्लोक पढ़ता जा रहा था। दूसरे अध्याय के तीसवें श्लोक पर हम आए—

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥

(अर्थात्, हे अर्जुन, सभी प्राणियों की आत्मा अमर है। और उसका नाश नहीं किया जा सकता। अतः तुम्हें इनके लिए शोक नहीं करना चाहिए।)

यदि मेरी चित्तवृत्ति केन्द्रित हुई तो वह इस श्लोक के भावार्थ पर नहीं। अपितु नथूराम और आपटे की मृत्यु की घटना से। 'न त्वं शौचितुमर्हसि', यह कैसे संभव है? क्या स्थितप्रज्ञता इतनी सरल बात है? मेरी आँखें भर आईं। पठन रुक गया। लगभग आध पौन घण्टे तक मैं खुले मन से रोया था।

दोपहर को घर के लोग मिलने के लिए आने वाले थे। मेरा आँसुओं का बाँध फिर टूटेगा, ऐसी शङ्का मुझे सदैव बनी रहती थी। भेंट हुई और पर्याप्त लम्बी हुई। मन में एकत्रित सारी बातें मैं बोल गया था। मन उदास होने पर भी दुःखावेग रुदन के रूप में प्रकट नहीं हुआ। हमारे घर के लोगों ने अधिकारियों से विनती की कि उनको नथूराम और आपटे के दाह-संस्कार का स्थान दिखाया जाए और वहाँ की थोड़ी मिट्टी लेने दी जाए। किन्तु अधिकारी उस प्रार्थना को स्वीकार नहीं कर सके। उसके लिए उन्होंने खेद व्यक्त किया।

जो बात उन अधिकारियों के अधिकार में नहीं है, उसके लिए आग्रह करने का कोई अर्थ नहीं, ऐसा विचार घर के लोगों ने किया। जो अपने अधिकार में है और जिसके लिए अधिकारी रुकावट नहीं डालेंगे, वह हमें करना चाहिए, इस प्रकार का उन्होंने निश्चय किया।

नथूराम और नाना की वस्तुएँ उनके सम्बन्धियों को सौंपी गईं। पुस्तक और कागज-पत्रों की परीक्षा पहले ही कर रखी थी। वह भी लौटाये गए।

घर के लोग बंदीगृह से बाहर निकले। मेरी पत्नी सिन्धु, बन्धु दत्तात्रय और गोविन्द, इन सभी ने बन्दीगृह को साष्टांग प्रणाम किया। सिन्धु ने मुट्ठी भर धूल अपने आँचल में बाँध ली। भावनाओं की इस चरमसीमा पर तत्रस्थ सभी सिपाहियों एवं अधिकारियों की आँखें भी भर आईं।

जहाँ ये लोग ठहरे हुए थे, वहाँ सैकड़ों लोग एकत्रित हो गए थे। पंजाब की उस समय की भावनात्मक पृष्ठभूमि का यह एक ज्वलन्त प्रमाण है। वहाँ एकत्रित जनसमुदाय ने उस धूल को अपने मस्तक पर लगाया। नथूराम और नाना आपटे के सम्बन्धियों को विदाई देने

के लिए अम्बाला स्टेशन पर सहस्त्रों की संख्या में नर-नारी एकत्रित हुए थे।

हमारे नैमित्तक कार्यक्रम जारी थे, किन्तु अब हमें अम्बाला बंदीशाला में कोई रस नहीं रह गया था। मेरे और करकरे का कारावास के स्थान परिवर्तन की प्रार्थना करना संभव था, अतः हमने बम्बई प्रांत में जो अब महाराष्ट्र बन गया है, भेजे जाने के लिए प्रार्थना की थी।

नथूराम से भेंट नहीं हो सकी, इसका माता-पिता जी को दुःख रहा। अब जीवन भी कितने दिन का है, कम से कम में गोपाल से ही भेंट हो जाए, इस दृष्टि से उस वृद्धावस्था में भी उन्होंने अम्बाला तक की यात्रा करने का निश्चय किया। वे कहते थे कि यात्रा के कष्ट से स्वास्थ्य बिगड़ जाए और उससे मृत्यु भी हो जाए तो कोई हानि नहीं, इस स्थिति तक उनका निश्चय पहुँच गया था। तीन-चार मास बाद छोटे भाई गोविन्द को साथ लेकर वे अम्बाला आए और मुझसे भेंट की।

अधिकारी-वर्ग ने एक नीति अपना ली थी। उनका कहना था कि तुम लोग महाराष्ट्र के हो। आज नहीं कल तुम्हारा स्थानान्तरण महाराष्ट्र के किसी बंदीगृह के लिए हो जाएगा। वहाँ जाने पर तुम हमारे विषय में क्या धारणा रखते हो, यह सदा स्मरणीय बात रहेगी। तुम लोग सभी नियमों का विधिवत पालन करते हो, अतः तुमको किसी प्रकार का कष्ट होना हमारे लिए कलंक की बात है। हमने तुम्हारे साथ भला व्यवहार किया था, इसकी तुलना तुम वहाँ जाकर कर सको, ऐसा हम चाहते हैं। हमारी अपेक्षा इतनी ही है कि यहाँ रहते हुए हमने आप लोगों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया, ऐसी भावना आपके अथवा आपके सम्बन्धियों के मन में हमारे सम्बन्ध में न आए।

एक बार यों ही हमने अधिकारियों से पूछा कि 'हमारे गांधी-वध कांड के अभियुक्त होने पर भी आपका हमारे प्रति बड़ा सौजन्यपूर्ण व्यवहार रहता है। क्या इससे आप लोगों पर किसी प्रकार का आक्षेप नहीं आयेगा?'

वे बोले, 'अभी तक तो आपत्ति किसी ने की नहीं, यदि की होती तो हम उसी क्षण अपना रुख पलट लेते, किन्तु हमारे कुछ स्थाई आदेश या नियम भी हैं। उनसे हम अपने को सुरक्षित अनुभव करते हैं।

'कैसे नियम?'

'बन्दी यदि ठीक प्रकार से नियम का पालन करे तो नियमानुसार जो कुछ उनके साथ किया जा सकता है, वह सब करना चाहिए। उनके साथ किसी भी प्रकार की द्वेष की भावना मत रखो। न केवल इतना, अपितु कुछ नियम ऐसे होते हैं जो लचीले अथवा द्वअर्थक होते हैं। उनका उपयोग हम निर्भयता से करते हैं। इससे हम अपने को सुरक्षित समझते हैं।'

मैं सप्रमाण तो सिद्ध नहीं कर सकता, किन्तु इस सबके मूल में सरदार पटेल थे, ऐसा मेरा अनुमान है। वास्तव में यदि वे जीवित रहते तो आगे चलकर हमारी जो दुर्गति हुई वह न हुई होती। और हमें मुक्ति भी ५-६ वर्ष पूर्व ही मिल जाती।

अधिकारियों के सौजन्य के कारण माता-पिता जी से मेरी जो भेंट हुई, वह बड़ी ही शांति से हुई। वे अपने सुख-दुःख की बातें कर सके और मैं उन्हें सांत्वना के कुछ शब्द

कह सका। भेंट के बीच में ही कॉफी का समय हुआ तो मैंने उनको कॉफी बना कर दी। वे बड़े आश्वस्त से हुए।

कुछ दिनों के उपरांत मैंने गीता के ११वें और १८वें अध्याय का मराठी में समश्लोकी रूपांतर कर माता-पिता जी को भेंट स्वरूप भेजा था।

मेरी पत्नी अपने पत्रों में लिखा करती थी कि 'मैं पंजाब की बन्दीशाला से स्थानान्तरित होकर न आऊँ। निदान पक्ष में स्वयं से मैं इस प्रकार का कोई प्रयत्न न करूँ। स्व० श्री रामभाऊ मण्डलीक एक बार मिलने के लिए आए थे। तब उन्होंने भी उसी प्रकार की सम्मति दी थी।

दिल्ली शासन ने हमें 'बी' श्रेणी दी थी। परन्तु हमारी कल्पना थी कि महाराष्ट्र में स्थानान्तरित होने पर इस स्थिति में कोई अन्तर नहीं आएगा। ऐसा भी हमें लगता था कि घर के लोगों को मिलने आने के लिए महाराष्ट्र का कोई भी बंदीगृह सुविधाजनक होगा, परंतु इससे भी अन्य एक प्रलोभन था, जिससे मैं प्रभावित हुआ था। अर्थात् दो वर्षों के बाद मिलने वाला अवकाश अर्थात् फर्लो के नाम से कही जाने वाली चौदह दिन की घर जाने की पूरी छूट हमें मिल जाएगी, ऐसी आशा प्रतीत होती थी। इसलिए हमने प्रार्थना-पत्र दिए थे और उनको पीछे लेने के लिए हमने किसी प्रकार की कार्यवाही नहीं की थी।

अम्बाला बन्दीगृह में रहते हुए हमें ट्रिब्यून, हिन्दुस्तान टाइम्स और स्टेट्समैन समाचार-पत्र मिला करते थे। प्रताप, मिलाप और एक-दो हिन्दी के प्रादेशिक-पत्र भी मिला करते थे। बन्दियों की संख्या के अनुपात से ही समाचार-पत्र दिए जाते थे, किन्तु परस्पर आदान-प्रदान कर हम उन समाचार-पत्रों को देख लिया करते थे।

हम चारों बन्धुओं में यदि पढ़ने का चस्का नहीं था तो वह मुझी को नहीं था। मैं बहुत धीरे से पढ़ता था। अंग्रेजी पढ़ने में मैं बहुत अटकता था। हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण होने के बाद मैं कॉलेज में पढ़ने के लिए नहीं गया था। अब पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ है, इसलिए वाचनक्षमता बढ़ानी चाहिए, ऐसा मैंने सोचा, किन्तु आलस्य के स्वभाव को सहसा घटाना कठिन था। धीरे-धीरे मैंने पढ़ने की आदत डाली।

एक दिन सहसा हमारे स्थानान्तरण के प्रार्थना-पत्र पर स्वीकृति मिल गई। मदनलाल पंजाब का ही था, इसलिए उसके स्थानान्तरण का प्रश्न नहीं था। वह वहीं रहने वाला था।

अम्बाला बन्दीगृह में हमने जो काम किया वह मन से किया था। उसमें हमारा स्वार्थ था, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं। क्योंकि उसमें हमारा समय अच्छा बीत जाया करता था। और जो काम किया वह ठीक प्रकार से किया जाए ऐसी चाह होने के कारण किया हुआ कार्य अच्छा ही होता था।

हम कुछ दिनों में ही अपने प्रान्त में जाने वाले हैं, इस समाचार से मन में प्रसन्नता हुई थी। अनपेक्षित रूप से एक दिन अधिकारियों ने हमारी प्रसन्नता में और वृद्धि कर दी। प्रातःकालीन भ्रमण चल रहा था। अधिकारी हमारे पास आए। हमारी रिपोर्ट बुक्स हमारे पास थीं। प्रमुख अधिकारी ने उन्हें हाथ में लिया, उस विभाग के जेलर को निर्देश कर वे बोले, 'शर्मा जी! तुम कोई ध्यान नहीं देते। इतना अच्छा काम इन्होंने किया, क्या इसके

लिए इन्हें विशेष छूट नहीं देनी चाहिए? आप मेरे पास इनकी पुस्तकें (हिस्टरी बुक्स) रख दीजिए।'

अधीक्षकों का अधिकार है कि वे वर्ष भर में तीस दिन की छूट दे सकते हैं। ४-५-६ दिन की विशेष छूट हमको दी गई थी। अधीक्षक ने हमारी रिपोर्ट बुक्स में बीस दिन की और छूट अंकित की। इसमें हमें सन्तोष हुआ। हमने छूट की अपेक्षा से काम किया था अथवा नहीं, किन्तु अधिकारियों ने हमारे कार्य का मूल्यांकन किया है इससे हमें सन्तोष था। हमने मन में निश्चय किया कि और उत्तम काम करेंगे, जिससे कि हम विशेष छूट के पात्र सिद्ध हो सकें। और फिर उसी प्रकार का कार्य करने का अभ्यास हो गया।

अब तक हमको दो बार बड़ी लम्बी छूट दी गई थी। दिनांक २६-१-१९५० को भारत गणतन्त्र घोषित किया गया था। इस उपलक्ष्य में हमें ४० मास की छूट दी गई थी, मार्च १९५० में पंजाब के कारावास विभाग के प्रमुख अम्बाला बन्दीगृह में आए। उनको वर्ष में ६० दिनों की छूट देने का अधिकार था। बन्दी का व्यवहार अच्छा हुआ तो मास में ५ दिन की छूट देने का उनका अधिकार था। और तदनुसार ही उन्होंने वहाँ अधिकारियों को आज्ञा दी थी। इससे हमको ५५ दिन की छूट मिल गई। इस आधार पर हमको ये कारावास की दीर्घता दोनों ओर से जलने वाली मोमबत्ती-सी प्रतीत हुई। एक ओर तो एक-एक दिन करके हम उसको जला रहे थे और दूसरी ओर कभी नियम के अनुसार और कभी वैकल्पिक अधिकार से तो कभी राज्य के किसी विशेष आनन्दोत्सव के कारण हमें छूट दे कर अधिकारी उसको जला रहे थे। बीच में ही कहीं दण्ड रूपी यह मोमबत्ती जल जाएगी और हम मुक्त हो जाएंगे, इस कल्पना से ही हम मुक्ति का-सा आनन्द ले लेते थे।

हमारा स्थानान्तरण होने वाला था। तीनों का विच्छोह होगा। इस दृष्टि से मदनलाल ने एक छोटे से समारोह का आयोजन किया था। अधिकारियों ने भी हमें बिदाई दी थी। उनके द्वारा हमारे अंचल में डाली गई छूट भविष्य में हमारे काम में आने वाली वस्तु थी, उसका हमारे लिये बहुत मूल्य था।

हमारे लिए अमृतसर से पिंजड़े के आकार-प्रकार का एक स्वतन्त्र रेल डिब्बा मँगाया गया। आज कल उस प्रकार के डिब्बे देखने में नहीं आते। ब्रिटिश काल में उनको 'प्रिजनर्स बोगी' कहते थे। दिनांक १६-५-१९५० को हमारी प्रस्थान तिथि निश्चित हुई। उस दिन दोपहर को हम निकले थे। उस डिब्बे को पैसेंजर गाड़ी से जोड़ा गया था। इस प्रकार दिनांक १९-५-१९५० की शाम को हम नासिक बन्दीगृह में पहुँचे थे।

१३ अन्धकार! अन्धकार

शुक्रवार दिनांक २०-१०-१९५० को दशहरा था। नासिक बन्दीगृह में वह हमारा पहला ही दशहरा था। हमको जिस विभाग में रखा गया था वहाँ से कई कक्षों वाले प्रांगण की छठे कक्षावलि बन्दी कक्ष में उस दिन जाने के लिए कहा गया।

दण्डितों के पास वस्तुएँ तो सीमित ही होती हैं, अत: उन्हें समेट बटोरकर दूसरे स्थान पर ले जाने में कोई अधिक समय नहीं लगता। मैंने और करकरे ने सामान बटोरा और निर्दिष्ट स्थान पर रहने के लिए गए। हमें आज तक छोटे कक्ष में रखा गया था। अत: यहाँ जाना एक प्रकार से बिना प्रयत्न सीमा पार करना था। प्राचीन काल में दशहरे के दिन शत्रु को जीतने के लिए हिन्दु राजाओं की सेना शत्रु की सीमा पार कर घुसती थीं।

नासिक बन्दीगृह १९३० के लगभग बनाया गया था। जो अपने समय में श्रेष्ठतम माना जाता था। आज भी अन्य बन्दीगृहों की अपेक्षा वह बन्दीगृह अच्छा प्रतीत होता है। इसकी रचना अच्छी की गई है। सुरक्षा और सुन्दरता, दोनों की ही ओर विशेष ध्यान देकर उसका निर्माण किया गया है।

बन्दीगृह के प्रमुख द्वार के दोनों ओर कार्यालय हैं। अन्दर के द्वार से बंदीगृह में जाने पर बाईं ओर अस्पताल का आँगन और दायीं ओर रोग-निरोध विभाग अर्थात् Quarantine वार्ड और धान्यागार हैं। प्रमुख रास्ते पर और सामान्यतया बंदीगृह के मध्य भाग में एक गोलाकार तीन मंजिली बुर्ज है। इसको स्तूप कहते हैं। बाई और अर्द्ध गोलाकार मैदान पर एकांतियों को रखने के छ: वार्ड हैं तथा प्रत्येक वार्ड के दो विभाग हैं। प्रत्येक विभाग में ३३ और २२ कक्षों की दो पंक्तियाँ हैं। दाईं ओर के ऐसे ही अर्द्ध गोलाकार के प्रांगण पर उसी प्रकार के ६ कक्ष हैं। उसमें प्रकोष्ठ और हॉल हैं। उसमें से चार विभागों को अब दो मंजिला किया गया है।

स्तूप पार करके आगे बढ़ने पर पीछे की भित्ति के समानान्तर उद्योग शालाएं हैं।

नए बन्दी के आने पर उन्हें प्रथम दस दिन निरोध-विभाग में रखने की प्रथा है। यदि कोई दण्डित किसी प्रकार का कोई छूत रोग लेकर आया होगा तो वह दस दिनों में भली प्रकार विदित हो जाएगा और रोग अन्दर नहीं फैला पाएगा। निरोध विभाग में दस कक्षों की तीन पंक्तियाँ हैं।

प्रत्येक विभाग में पानी रखने के लिए सीमेंट के जलाशय बने हैं। कपड़े धोने के लिए ढलुए पत्थर लगे हैं। शौचस्थल में फ्लश लगे हुए हैं। पानी का संचय अपर्याप्त होने के कारण फ्लश का उपयोग नहीं हो पाता।

बन्दीशाला के अपने कई दुधारू पशु हैं। कई जोड़ियाँ बैलों की हैं। बंदीगृह के बाहर उद्यान है। उसमें शाक भाजी बोई जाती हैं। कभी ज्वार भी बोई जाती है। बन्दीशाला की खुली जगह पर भी पशुओं के लिए घास उगाया जाता है।

डेढ़ सहस्र लोगों के रह सकने की व्यवस्था नासिक कारागृह में है। दो मंजली बन जाने से और भी अधिक बन्दी रह सकते हैं। कुछ वर्षों में बन्दीशाला में सामान्यत: २००० से २२०० तक लोग रहने लगेंगे।

राशन पद्धति का प्रभाव बन्दीगृह के भोजन पर भी हुआ करता था। कई वर्ष तक लाल ज्वार की रोटियाँ मिला करती थीं जो बहुत घटिया प्रकार की थीं। उसी ज्वार के आटे की कांजी अर्थात् तनिक लूण डाल कर पकाया हुआ पतला पदार्थ, प्रात: दिया जाता था। रोटी के साथ एक बार दाल और एक बार सब्जी हुआ करती थी। अन्न-पूर्ति के लिए दलहन का साग एक बार दिया जाता था।

सप्ताह में चौदह भोजन। उनमें से एक भोजन चावल था। और एक चपाती का हुआ करता था। इतवार को दो औंस गुड़ और तेल दिया जाता था।

प्रात:काल का भोजन दस बजे और शाम का भोजन चार बजे होता था। कक्ष में या बैरक में भोजन ले जाना वर्जित था।

अभ्यस्त बन्दियों के लिए नासिक बन्दीगृह चुने जाने से वहाँ उसी वर्ग के लोग हुआ करते थे। बम्बई को लक्ष्मी का निवास माना जाता है, इसलिए बार-बार चोरी करने वालों का भी वह घर है। वहाँ से दण्डित को यहाँ भेजा जाता है।

दिनांक १९-५-१९५० को हमको नासिक बन्दीगृह में लाया गया था। रोग-निरोध विभाग केवल हमारे लिए रिक्त किया गया था। अधीक्षक, प्रमुख जेलर और उस विभाग के जेलर के अतिरिक्त और कोई हमारे पास न जाए, ऐसा नियम था। हमारे साथ उस विभाग में एक मेहतर का काम करने वाला बन्दी रखा गया। विभाग के द्वार पर बारी-बारी से सिपाही नियुक्त रहते थे। प्रात:काल डॉक्टर आया करते थे। हमारी डाक लाने-ले जाने का काम उसी विभाग के जेलर किया करते थे। सप्ताह में दो बार अधीक्षक चक्कर लगाया करते थे।

अम्बाला बन्दीगृह में हमने कई मास बिताए थे। उसके बाद हमारे पैरों की बेड़ियाँ उतारी गई थीं। अम्बाला से नासिक की यात्रा में सुरक्षा की दृष्टि से हमारे पैरों में बेड़ियाँ डाली गई थीं। नासिक पहुँचने पर दूसरे दिन अर्थात् दिनांक २०-५-१९५० को वह निकाल दी गईं।

हममें 'क्रिमिनल्स' का लेश-मात्र भी अस्तित्व नहीं है, यह बात थोड़े ही दिनों में निरीक्षण करने पर नासिक के अधिकारियों को भी विदित हो गई थीं।

हमें यदि वहाँ अनुभव हुआ तो केवल इस बात का कि वहाँ के लोगों में हमारे सम्बन्ध में अनेक भ्रान्त धारणाएँ अथवा पूर्वाग्रह थे। जैसे-जैसे उनकी हमसे प्रत्यक्ष बातचीत होती गई, तनिक परिचय बढ़ा, वैसे-वैसे एक-एक करके पूर्वाग्रहों का लोप होता गया। तब अनजाने में की गई कल्पना और वास्तविकता में जो अन्तर है, वह उनकी समझ में आने लगा था।

निरोध विभाग में ही हमको काम दिया जाना था। पहले हमको हाथ से कपड़े सिलने का काम दिया गया। बाद में निवाड़ बुनने का काम हमने किया। वेतन पद्धति प्रारम्भ हो गई थी। काम के परिमाण में वेतन मिलता था। इस वेतन का दर बाहर काम करने पर मिलने वाले वेतन का पाँचवाँ अंश होता था, बाहरी विश्व में वेतन-दर पलटता रहा, किन्तु बन्दीगृह विश्व में वेतन-दर स्थिर रहा। हमको दिन में कभी दो आना और कभी चार आना वेतन मिलता था।

जो भी कार्य दिया जाएगा वह सब करने और उसमें अपनी कुशलता दिखाने के प्रयत्न हमारे सदैव रहते थे। अधिकारीगण भी हमको वैसा अवसर देते रहते थे। उन दिनों श्री लटूस नामक एक विदेशी सज्जन उस बन्दीगृह के अधीक्षक थे। उन्होंने एक दिन मुझसे पूछा कि क्या मैं लकड़ी का फ्रेटवर्क कर सकूँगा। मैंने उनसे कह दिया कि मैं प्रयत्न करके देखूँगा। उन्होंने उस कार्य की सामग्री दिलवा दी। आठ दिन बाद उस काम में मेरी प्रगति देखकर उन्होंने मुझे उत्साहित किया। यह सब निरोध विभाग में ही हो रहा था।

हमको वहाँ आये पाँच मास हो गए थे। कुछ समय बाद हमारे ऊपर के बन्धन कुछ-कुछ शिथिल होने लगे थे। बीच-बीच में कोई बन्दी भी हमको कपड़े सीना अथवा निवाड़ बुनना सिखाने के लिए आया करते थे।

त्यौहार का दिन वास्तव में बन्दी के लिए मानसिक यातना का दिन हुआ करता है। क्या अपनी अनुपस्थिति में घर के लोगों को यह उत्सव अच्छा लगेगा? यदि हम लोगों को कुछ मिठाई खानी भी पड़ जाती थी तो उस समय घर के लोगों का ध्यान आए बिना नहीं रहता था। क्या आगे का त्यौहार हम घर के लोगों में बैठकर मना सकेंगे? एक-दो नहीं, अपितु अनेक विचारों से मन उद्विग्न हो जाता था, परन्तु यह सब प्रारंभ में ही होता है। क्योंकि कारावास की अवधि दण्डित को स्मरण रहती है, अत: वह उन भावनाओं को अपने विवेक से दबाकर रखने का प्रयत्न करते-करते अभ्यासी बन जाता है। भावनावश सभी बन्दी त्यौहार के दिन इस प्रकार की उद्विग्नता दिखाते हैं। कुछ दण्डितों को हमने रोते भी देखा है, परन्तु ऐसे दण्डितों को भी ऐसी परिस्थिति में आनन्द प्राप्त करने का अभ्यास पड़ जाता है।

बन्दियों को मिलने वाला गुड़, घी, तेल, बेसन, चावल आदि पदार्थों का संग्रह करके त्यौहार के दिन उनसे पकवान बनाना, प्राय: ऐसी प्रथा सभी बन्दीगृहों में है। प्रतिदिन का अन्न बन्दी के लिए पर्याप्त होता है, परन्तु नित्यप्रति उसी प्रकार का भोजन खाने से उसके प्रति मन में अरुचि उत्पन्न हो जाती है। फिर दो सहस्र बन्दियों का भोजन दिन-रात बनाना पड़ता है, इसलिए उस पकाए हुए अन्न में किसी प्रकार की रुचि नहीं रह जाती। प्रात दस बजे बँटने वाली रोटियाँ जब प्रात: ६ बजे बनकर तय्यार होंगी तभी अन्य वस्तुओं को पकाने के लिए समय मिल सकता है। इसलिए कभी कच्ची, कभी जली तथा कभी कुछ अन्य प्रकार की हुआ ही करती हैं। इसलिए एक दिन के परिवर्तन से कुछ तो अच्छा लगता ही है। उसमें भी कुछ आनन्द आता ही है।

बंदीशाला में बिक्री-केन्द्र खोलने की योजना कार्यान्वित हुई थी। उस बिक्री-केन्द्र

में या कैंटीन में खाद्य-पदार्थ रखे जाते थे। मिलने वाले वेतन का दो-तिहाई भाग दण्डित उसके लिए व्यय कर सकता है। त्यौहार के दिन जलेबी, बूँदी, चिवड़ा जैसे पदार्थ भी उस बिक्री-केन्द्र में प्राप्त होते थे, परन्तु बिक्री-केन्द्र का प्रमुख उद्देश्य बन्दी को बीड़ी, सिगरेट आदि मिले, यही था। त्यौहार के दिन मात्र मिष्ठान जैसे खाद्य पदार्थ पूरक अन्न के रूप में लेकर त्यौहार मनाया करते थे।

दण्डित को एक स्थान से दूसरी स्थान स्थानान्तरण के लिए कोई कारण ही देना पड़ता हो, ऐसी बात नहीं है। आन्तरिक प्रबन्ध की सुविधा की दृष्टि से इस प्रकार के परिवर्तन एकाएक करने पड़ जाया करते हैं। हमारा यह स्थानान्तरण भी इस प्रकार के प्रबन्ध के अन्तर्गत था। हमारे न पूछने पर भी हमारे कानों में कारण की भनक पड़ी थी।

यह दशहरा हम और अलग ढंग से मनाएँ, यह बात कई बन्दियों के मन में आई थी। उन्होंने योजना बनाई। सामग्री एकत्रित की। सम्बन्धित उद्योगशालाओं में सामग्री बनवाकर लाए। निरोध विभाग और प्राचीर के बीच लम्बी घास बहुत उग आई थी। उसके परे धोबी घाट था। काम के निमित्त उस भाग में भी बन्दियों का आना-जाना होता था। ऊपर के उत्साही बन्दियों ने उस घास में एक उपयुक्त स्थान देखा और वहाँ मद्य की एक हाथ भट्ठी लगाई।

उन्होंने दशहरा मना भी लिया होता, परन्तु उनका दुर्भाग्य आड़े आया। एक बन्दी को उसके श्रम के लिए एक बोतल मिलनी चाहिए थी। उसको चौथाई देकर विदा कर दिया था। मामला तूल पकड़ गया। उसने मार पिटाई की, पोल न खुल जाए इसके लिए उसको अधिक दिया।

दशहरा दूसरे दिन था। किन्तु, जिस दिन हाथ में वस्तु हो उसी दिन त्यौहार, इस विचार से प्रेरित होकर कुछ दण्डितों ने उसी दिन उस मदिरा को पचा लिया। तब उसको स्मरण हुआ कि उस पर अन्याय हुआ है। झगड़ा करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, वैध मार्ग से ही न्याय प्राप्त करना चाहिए, ऐसा विचार करके वह सीधे जमादार के पास गया और उसने जमादार को यह बात समझा दी कि वास्तव में उसका एक बोतल का अधिकार किस प्रकार बनता है।

जमादार ने माँग की कि सारी मदिरा उसके पास जमा कर दी जाए। उसने कहा कि वह तो समाप्त हो गई है। उसकी साँस से भी इस बात की पुष्टि होती थी। जमादार अपने अधिकारियों को वहाँ लाया। वैज्ञानिक पद्धति की उस हाथ-भट्ठी की व्यवस्था का पंचनामा तैयार हुआ। सम्बन्धित बन्दियों को बन्द कर दिया गया। अन्यों को यह समझने में विलम्ब नहीं हुआ। उन्होंने अपने रखे प्रमाण को तुरन्त उदरस्थ करके नष्ट कर दिया।

उन आठ-दस बन्दियों की रसिक-मण्डली को बन्द रखने के लिए निरोध-विभाग को हमसे रिक्त करवाया गया था। इसलिए उस दिन हमारी बिदाई कक्षावलि के छठे विभाग के लिए हुई थी।

पहरेदारों से सुरक्षित बंदीशाला की उस दो सहस्र बन्दियों की बस्ती में मद्य की भट्टी मिलना, वास्तव में सनसनी का विषय था।

मद्य बन्दी अधिनियम पर उन दिनों कार्यवाही तीव्रता से होने लगी थी। मद्य का व्यापार,

उपयोग और व्यवहार छिप कर करने वालों को डराने के लिए अनेक पर अभियोग लगाए जाते थे। उसके लिए पुलिस पार्टी बढ़ाई गई थी। अनेक संशितों को सजा दी जाती थी और उनको बंदीशाला की चार दीवारी के भीतर डाला जाता था। इस आतंक से लोगों का नैतिक मूल्य बढ़े, उन्हें मदिरा के व्यापार से भय लगे, ऐसी उस एक्ट की अथवा एक्ट बनाने वालों की अपेक्षा थी।

मोरार जी मन्त्री थे। अब इन दण्डित अपराधियों का क्या होगा? और सबसे अधिक 'मराठा' के सम्पादक आचार्य अत्रे को यदि इस गृह-मन्त्रालय के गर्भगृह की सुरा की भट्टी की केवल गंध आई तो मोरार जी का क्या होगा? इस कल्पना से ही पेट में खलबली मच गई थी। यद्यपि उस प्रकरण से हमारा किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं था।

कारावास की सनसनीपूर्ण घटनाओं का प्राय: जिस प्रकार निपटारा होता है उसी प्रकार उस हाथभट्टी काण्ड का हुआ। बन्दियों को बंदीगृह के अन्तर्गत दण्ड हुआ और सारा प्रकरण दबा दिया गया।

कक्षावलि के छटे विभाग में अन्य भी कई बंदी रखे गए थे। वह प्रांगण बड़ा था। हम उसमें घूम-फिर सकते थे। उन दण्डितों के साथ बोल सकते थे।

कई दिनों बाद हमको शिक्षा-वर्ग चलाने का काम दिया गया। वाचनालय की व्यवस्था देखने का काम भी हमको दिया गया। सब काम हम नई-नई कल्पनाओं का उपयोग करके ही किया करते थे। अधिकारियों ने भी समय-समय पर हमको उत्साहित किया। हमारा समय काम में अच्छे प्रकार कटता था। समारोह के समय पर कुछ सांस्कृतिक कार्यक्रमों की आयोजना करके हम उस समारोह को सम्पन्न किया करते थे।

शैक्षणिक-वर्ग के लिए पैसे या छूट अर्थात् रिमिशन (remission) मिलता था। हमने छूट की माँग की।

नासिक जेल में आए हमें दो वर्ष हो गए थे। दिनांक १०-५-१९५२ को हमको 'बी' श्रेणी से निकाल कर 'सी' श्रेणी में रख दिया गया। हमको 'बी' श्रेणी दिल्ली शासन से मिली थी। राजनीतिक बन्दियों के वर्गीकरण के झगड़े के लिए भगतसिंह और उनके सहयोगियों ने आन्दोलन किया था। यतीन्द्रनाथ ने आमरण अनशन किया था। उसमें उसका अन्त ही हो गया था। उस समय के शासन ने राजनैतिक आन्दोलन के दण्डितों के वर्गीकरण का विचार किया। राजबन्दियों को आगे चल कर जो सुविधाएँ मिलती गईं उसका प्रारंभ एक बलिदान से हुआ था। ऐसा हमें इतिहास-चक्र से विदित होता है।

जिस समय हमको श्रेणी दी गई थी उस समय इस अभियोग का स्वरूप राजनीतिक माना गया था और हमको उसके प्रमुख अंग माना गया था। चार वर्षों के बाद हम तो परिवर्तित नहीं हुए थे, पलट गईं थी तो केवल बम्बई राज्य के प्रमुखों की दृष्टि।

हमको 'बी' वर्ग दिए जाने की बात को हमारे अधिपत्र पर (वारंट पर) लिखा गया था। उसमें यह भी लिखा गया था कि किसके अधिकार से और कौन-से पत्र के आधार पर हमको यह श्रेणी दी जा रही है। बम्बई राज्य हमारे इस वर्गीकरण में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करे, इसका कोई कारण दिखाई नहीं देता था। हमारा सारा ध्यान हमको दिए गए

कार्य पर केन्द्रित रहता था। अधिकारीगण द्वारा हम पर रखे गए विश्वास का उत्तर हम उसी प्रकार दे रहे थे।

मदनलाल पंजाब का होने का कारण उसको अम्बाला, फिरोजपुर, जालंधर आदि बन्दीगृहों में रखा गया। उसको भी हमारे साथ ही 'बी' श्रेणी मिली थी। बाद में हमको विदित हुआ कि उसकी 'बी' श्रेणी हटाने की चेष्टा भी बम्बई शासन ने की थी, किन्तु इसमें उसको सफलता नहीं मिली। संविधान ने सभी को समान न्याय का अधिकार दिया है। बम्बई राज्य ने इसका अर्थ कदाचित सभी को समान अन्याय होना चाहिए, ऐसा किया और मदनलाल का वर्ग तोड़ने के लिए 'अव्यापारेषु व्यापार:' चरितार्थ किया।

पंजाब राज्य की दृष्टि बम्बई राज्य की भाँति दूषित, कलुषित अथवा प्रतिशोधात्मक नहीं हुई थी। बम्बई राज्यकर्ताओं के कहने पर भी उन्होंने मदनलाल की श्रेणी को नहीं परिवर्तित किया। अपने चंगुल में फंसे बन्दियों के साथ हम अन्याय करें, इस विचार से बम्बई राज्य ने हम पर यह अन्याय किया था।

इसके लिए हमने केन्द्र शासन को पुनरावेदन प्रस्तुत किया था, परन्तु बम्बई राज्य का हम पर लादा गया निर्णय पलटा नहीं गया। ऐसे समय में सरदार पटेल की स्मृति आना अपरिहार्य था। तब तक उनका देहान्त हो चुका था। बम्बई राज्य के प्रतिशोध से जलने वाले व्यक्तियों को मनमानी करने का अवसर प्राप्त हो गया था। गांधी जी की सुरक्षा के सम्बन्ध में की गई अकर्मण्यता के ऐसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष आरोपों का प्रतिशोध इस प्रकार लिया जा सकता है, ऐसी भावना भी इस प्रतिशोधात्मक कार्य के पीछे शासकीय अधिकारियों की हो सकती है।

जब हमको नासिक लाया गया तो प्रथम ५-६ दिनों में मुझे अपनी पत्नी की ओर से एक-दो पत्र प्राप्त हुए। उनमें से एक तो अम्बाला से नासिक को पुन: प्रेषित किया हुआ ही था। पंजाब छोड़कर मत आओ, यहाँ आपके साथ अच्छा व्यवहार नहीं होगा, ऊपर के अधिकारीगण छोटे मन के हैं, यही उस पत्र का सारांश था। नासिक के पते पर भेजे पत्र में भी पत्नी ने इसी बात का संकेत किया था कि यहाँ का शासकगण तुम्हारे साथ दुर्व्यवहार करेगा।

पत्र देते हुए जेलर ने मुझसे पूछा, 'तुमसे प्रतिशोधात्मक व्यवहार होगा, इस प्रकार की आशंका तुम्हारे घर के लोगों को क्यों है? पंजाब में आप लोगों को क्या अधिक मिलता था और यहाँ क्या कम मिलेगा?'

इसके उत्तर में मैंने इतना ही कहा, 'यहाँ आए तो मुझे थोड़े ही दिन हुए हैं। मेरी पत्नी का भय झूठा सिद्ध हुआ तो अच्छा ही है।'

हमारी श्रेणी छीन कर बम्बई शासन ने प्रतिशोध का यह प्रथम प्रहार हम पर किया था। जब मनुष्य यह समझ लेता है कि अन्याय का प्रतिकार होना संभव नहीं तो वह उस अन्याय को निगल कर विद्यमान परिस्थिति में स्वयं को सुव्यवस्थित करने की चेष्टा करता है। 'सी' श्रेणी मिलने पर हम उसके अनुसार अपने को ढालने लगे।

बम्बई राज्य में समान श्रेणी के बन्दियों को उपलब्ध होने वाली सुविधाएँ हमको भी

मिलने लगेंगी, ऐसी हम आशा करते थे। दीर्घ कारावास के बन्दी को दो वर्ष की अवधि भुगतने पर दो सप्ताह के लिए घर जाने की छुट्टी उसको दी जाती है। उस छुट्टी को प्रावकाश अर्थात् फर्लो कहा जाता है। यह सुविधा जिनको प्राप्त है, उस वर्ग के बन्दियों में ही हमारी गणना थी। उसके अनुसार मैंने भी प्रावकाश के लिए आवेदन प्रस्तुत किया था।

उसके उत्तर में कहा गया, 'आपके प्रावकाश पर घर जाने पर शान्ति भंग का भय है अत: आपको प्रावकाश नहीं दिया जा सकता।

शान्ति को भय, यह बात जितनी ही संदिग्ध थी उतनी ही अतिव्याप्त भी, तदपि सम्बन्धित अधिकारियों का ऐसा ही मत था। उनका सब्जेक्टिव सैटिस्फेक्शन ही (अवास्तविक सन्तोष ही) ठीक माना जाता है और उस पर निराकरण के लिए अवसर नहीं होता।

नियमित अवधि आ जाने पर मैंने पुन: आवेदन किया। अप्रैल, १९५४ में उत्तर आया— 'गांधी- वध अभियोग में बन्द होने के कारण आपका प्रावकाश आवेदन स्वीकार नहीं किया जा सकता।' स्थानीय परिस्थिति के सम्बन्ध में सम्बन्धित अधिकारियों को जैसा लगता है और जिसको वे कारण के रूप में प्रस्तुत करते हैं, उससे यह सर्वथा भिन्न और परे था। 'गांधी-वध अभियोग के दण्डित' इस प्रकार का एक नया वर्ग शासनाधिकारियों ने निश्चित कर लिया था। वह किसी वैध आधार पर नहीं था और न ही विधान-सभा से इस प्रकार की कोई स्वीकृति प्राप्त थी, परन्तु अन्याय करने का अधिकार हमको मिला है उसका उपयोग हम करेंगे इस भावना के आधार पर हमारे साथ यह व्यवहार किया जा रहा था। ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाएंगे त्यों-त्यों शासन की दृष्टि न्याय विमुख होती जाएगी, इसकी आशंका पहले से ही हो गई थी।

वाचनालय, शिक्षा वर्ग, सांस्कृतिक कार्यक्रम, ये एक प्रकार से शिष्ट कार्य थे। इस उपक्रम में बन्दियों से सदैव सम्बन्ध आता रहता था। समाज के विभिन्न स्तरों से आए हुए बन्दियों के स्वभाव विशेष परखने का अवसर प्राप्त हुआ था। क्या अपराध प्रवृत्ति सभी वर्गों में समानरूपेण विद्यमान होती है, इसका अनुभव भी हुआ। अपराध क्यों होते हैं अथवा किए जाते हैं, इस विषय का भी कुछ-कुछ ज्ञान हुआ।

स्वयं को यश मिले, यह मनुष्य की सहज इच्छा होती है, किन्तु यह भी वह जानता है कि यश गुणों के कारण ही मिलता है। दण्डित के विशेष गुणों को सराहा गया, उसको प्रोत्साहित किया गया तो वे भी अनेक सराहनीय कार्य कर सकते हैं। एक चित्रकार किसी की हत्या के अपराध में दण्ड भुगत रहा था। बंदीशाला में उसके उस गुण को अवसर दिया गया। उसने उत्तम गलीचों का निर्माण किया और उनमें से एक गलीचे को लन्दन में एक प्रदर्शनी में रखा गया था।

हस्तलिखित पत्रिका प्रकाशित करना पाठशाला के विद्यार्थियों का कार्य समझा जा सकता है, किन्तु दण्डितों की तो श्रेणी ही विभिन्न होती है। नासिक के बन्दियों ने इस प्रकार का एक हस्तलिखित पत्र निकालने का उपक्रम किया। किसी का सुन्दर सुलेख, किसी की चित्रकला, किसी की लेखन कला, किसी की कविता रचना, इन गुणों को किसी एक स्थान

पर अवसर प्राप्त हो, इस उद्देश्य की दृष्टि से हस्तलिखित-पत्रिका की योजना बनाई गई। इस विषय में अधिकारियों का दृष्टिकोण अनुकूल था। कई अंक निकाले गए। उसकी प्रशंसा ऊपर तक के अधिकारियों में हुई थी।

एक दण्डित चित्रकार मेरे सान्निध्य में था। उसकी सहायता से चित्रकला सीखने का विचार मेरे मन में आया। उसके लिए घर से सामग्री मँगवाई गई। मैंने रेखाएँ खींचना आरंभ किया तो मैं सोचने लगा कि मेरी इस दिशा में बहुत प्रगति हो रही है। एक हस्तलिखित पत्रिका में मैंने महर्षि कर्वे का चित्र बना कर दिया, परन्तु उस पर उनका नाम नहीं लिखा था। क्योंकि उन दिनों समाचार-पत्रों में महर्षि कर्वे के अनेक चित्र देखने में आया करते थे।

मेरी प्रशंसा हो, इस दृष्टि से मैंने उस चित्र को चित्रकला के एक जानकार को दिखाया। उसने उस चित्र को क्षण भर तक देखा। मैं आतुर था कि वह कहे 'चित्र बहुत ही सुन्दर है, पहला ही प्रयत्न होने पर भी किसी सुप्रतिष्ठित कलाकार की कला ही इसमें उतर आई है, तुम अच्छे चित्रकार हो।' और इस प्रकार की प्रशंसा मैं सुनूँ।

उस जानकार व्यक्ति ने मुँह खोला और बोला 'मेरा विचार है कि टैगोर की दाढ़ी को थोड़ा लम्बा दिखाना चाहिए।' मैंने उसकी हाँ में हाँ मिलाई और शीघ्रता से चित्र उसके हाथ से ले लिया। और फिर उसके बाद चित्रकला के चक्कर में नहीं पड़ा।

दण्डितों के गुणों की सक्रिय प्रशंसा तथा पुरस्कृत करने के साधन अधिकारियों के हाथ में होते हैं। शैक्षणिक या सांस्कृतिक क्षेत्र के इस हस्तलिखित पत्रिका के लिए बंदियों को दो बार पाँच दिन की छूट दी गई थी। केवल मुझे वह छूट नहीं मिली थी। एक नहीं, दो बार मेरी रिपोर्ट बुक में छूट देने के सम्बन्ध में लिखा गया था, किन्तु बाद में उसको निरस्त कर दिया गया था। करकरे का नाम उस पत्रिका से सम्बन्धित नहीं था। प्रश्न मेरे तक ही था। अधिकारियों ने झूठे भय के कारण मुझ पर यह अन्याय किया था। इसका मेरे मन पर प्रभाव पड़ा। मेरे श्रम का उचित मूल्यांकन नहीं हुआ, इस प्रकार की भावना जब श्रमिक के मन में उठती है तो वह उतनी तत्परता से श्रम नहीं करता। इस बात का ध्यान अधिकारीवर्ग ने नहीं रखा। इस प्रकार के अन्याय से मन में उदासीनता आ जाया करती है। परन्तु फिर, क्या बात है। यह तो छोटी-सी ही बात है आगे ठीक मूल्यांकन होगा, इस प्रकार मन में सोच कर नये उत्साह से कार्य में मन को प्रवृत्त कर लिया करता था।

शैक्षणिक-संवाद या बोधप्रद नाटक में करकरे अद्वितीय व्यक्ति था। प्रसंग उपस्थित होने पर मैं कुछ-कुछ पद्य रचना कर लिया करता था। शैक्षिक-वर्ग में कई बार कुछ दण्डित उत्तम गायक मिल जाया करते थे। उनका उपयोग कर करकरे उनसे उस पद्य को गंवा लेते थे। इस प्रकार दो-दो घंटे तक चलने वाले कार्यक्रम किए जाते थे। हमारे द्वारा प्रचलित शिक्षा कार्यक्रम भी आदर्श होते थे। इन वर्गों को अथवा हमारे द्वारा आयोजित अन्य कार्यक्रमों को अधिकारीगण कारा की दर्शनीय वस्तु मानते थे। बाहर से आए हुए उच्च-अधिकारियों के सम्मान में भी हमसे इस प्रकार के कार्यक्रम अधिकारियों द्वारा आयोजित करवाए जाते थे।

उन उपक्रमों के लिए बन्दियों को सदा छूट दी जाती रही और कभी-कभी तो वह छूट नौ-नौ दिन तक की भी होती थी, किन्तु हमको उससे सदा वंचित ही रखा गया था।

विनोद-बुद्धि कारा की परिधि में भी मिल जाती है। व्यक्तिगत स्वभाव के अनुसार मनुष्य किसी भी परिस्थिति में विनोद का अवसर ढूँढ ही लेता है। मधुर विनोद अवश्य ही रोचक प्रतीत होता है, क्योंकि उसमें किसी को व्यंग्य का लक्ष्य नहीं बनाया जाता है।

अधीक्षकों का दौरा जारी था। प्रार्थना करने वाले दण्डित पंक्ति में खड़े थे। किसी को छुट्टी के लिए आवेदन करना था तो किसी को घर तार भेज कर भेंट करने के लिए बुलवाना था। किसी को पुनरावेदन करना था तो किसी को नए कपड़े चाहिएं थे।

यथोचित आदेश देकर अधीक्षक अगले बन्दी के समीप बढ़ जाते थे। सहसा एक बन्दी ने बड़ी अधीरता से कहा, 'बहुत अत्याचार होता है, महाराज।'

इसको कुछ अधिक कष्ट दिया गया है अथवा मारपीट की गई होगी, इस प्रकार की मनोभावना से अधीक्षक ने उससे पूछा, 'क्या जुल्म होता है?'

कुछ कहावतें, अनेक सन्त बचन, कुछ उपदेश पूरक श्लोक, इनके फलक बना कर बन्दीगृह में स्थान-स्थान पर लगाए गए थे। जहाँ पर वह बन्दी खड़ा था उसके पीछे एक पेड़ था और उस पेड़ पर भी इसी प्रकार का एक बोर्ड टांगा गया था। उस पर लिखा था— सदा सच बोलो—उसकी ओर संकेत कर बन्दी बोला, 'यहाँ से जाते हुए बोर्ड पढ़ना पड़ता है, इससे बहुत कष्ट होता है।'

दण्डित के तर्क में कुछ त्रुटि है। इसकी अनुभूति अधीक्षक को हुई, किन्तु उनको क्रोध नहीं आया। उन्होंने शान्त स्वर से दण्डित से पूछा, 'तो क्या उस बोर्ड को उतार लें?'

'नहीं महोदय! मेरा अभिप्राय यह नहीं है। मैं समझता हूँ कि इसके शब्दों में थोड़ा परिवर्तन करवा दीजिए।'

'कौन से शब्द और क्यों हटाने चाहिएं?'

'यह देखिए मान्यवर! कारा में भी इधर-उधर से, जेब में नहीं तो टोपी में, टोपी नहीं तो तौलिये में हम सदैव चुराकर कुछ न कुछ लाते हैं। चाहे वह खेत की मूली हो, बघार के लिए मिर्च हो और नहीं तो रसोईघर के चने ही हों। चुराकर लाई गई सूखी टहनियों से हम कोठरी में उसको पकाते हैं। भोजन कैसा मिलता है, यह तो आपको विदित ही है। लाल ज्वारी और वह भी दुर्गन्धयुक्त। गन्दे तेल की भाँति दीखने वाली तरकारी, गन्दी दाल। इस प्रकार हंडी के बिना हमारे दिन किस प्रकार कट सकते हैं। ('हंडी' अर्थात् छिपा कर जलाया गया चूल्हा और पकाया हुआ अन्न।) और चोरी बिना हंडी किस प्रकार पक सकती है। किसी अधिकारी ने कभी पकड़ लिया तो 'यह मेरा नहीं', इस प्रकार कह कर हम अपना पिण्ड छुड़ा लेते हैं। दण्ड और अभियोग को टालते हैं। यदि सदैव सच बोलना हो तो हमारी कारावधि भी नहीं कट पाएगी और आपको केवल अभियोग चलाने का ही काम करना पड़ेगा।

बोर्ड के सम्बन्ध में दण्डित को निश्चितरूपेण क्या कहना है, यह जानने के लिए अधीक्षक ने उससे पूछा, 'इस बोर्ड में क्या परिवर्तन किया जाए?'

बन्दी बोला, ''अभी तो 'सदा' की जगह 'कभी-कभी' कर दीजिए। इतना ही भार हम पर रहने दीजिए। जब वह पच जाए तो फिर यह बोर्ड लगवा दीजियेगा।''

कृत्रिम गंभीरता से अधीक्षक ने आज्ञा दी, 'जमादार! इसको एकान्तिका में बन्द कर दो और इसके कक्ष में 'कभी-कभी सच बोलो' यह बोर्ड लगा दो। जब इसको इतना गले उतर जाए तो फिर इसको इस बोर्ड के नीचे से जाने देना।'

एक वर्ष नित्य से अधिक ठंड पड़ी थी। प्राय: जाड़े के दिनों में दो कम्बल मिलते थे, परन्तु उससे भी ठंड कम नहीं होती थी। एक और कम्बल दिया जाए, इस प्रकार की संस्तुति डॉक्टर ने की थी। वस्त्रागार में कम्बल थे भी, परन्तु बड़ों के आदेश के बिना उनको वितरित नहीं किया जा सकता था। अधिकारियों ने इसके लिए आज्ञा माँगी थी।

४-५ दिन हो गए, फिर भी कम्बल नहीं मिले। कड़ाके की ठंड पड़ रही थी। डॉक्टर ने एक और कम्बल देने की संस्तुति की है, यह बात दण्डितों को विदित हो गई थी। एक दिन शाम को कई दण्डित विनती करने के लिए कार्यालय में आए। अधिकारियों ने कहा, 'हम प्रमुख कार्यालय के आदेश की प्रतीक्षा में हैं। उत्तर आने में २-४ दिन लग सकते हैं। यह देखो, तुम में से किसी को पढ़ना आता हो तो कार्यालय को लिखा यह पत्र देख लो।' ऐसा कह कर उन्होंने पत्रों की फाइल प्रार्थनाकर्ताओं के सम्मुख रख दी।

पत्र में लिखा गया था, यह बात सच थी, किन्तु बिना कम्बल लिए लौट जाने का अभिप्राय था रात को ठंड से ठिठुरना। इस भय से एक बन्दी ने कहा, 'महाराज! आपने पत्र लिखा है, इस पर तो हमारा विश्वास है। पत्र का उत्तर आने तक उसकी एक-एक प्रति हमको दीजिए ताकि उसी को अपने कम्बलों के साथ जोड़कर ठंड कम होती है या नहीं, यह हम देखेंगे।'

इस प्रकार के व्यंग्यात्मक वचन बोलने पर अधिकारी उस बन्दी पर क्रोधित हुए। उस बन्दी को एकान्तिका में बन्द कर दिया और उसको तीन के स्थान चार कम्बल दिए गए। प्रात:काल तक अधिकारियों का क्रोध शान्त हो गया था। उन्होंने अनुभव किया कि ठंड से त्रस्त होकर ही बन्दी के मुख से इस प्रकार के शब्द निकले थे। दौरे पर आते ही उन्होंने उस बन्दी को कक्ष से मुक्त करवा दिया और फिर शाम को सभी बन्दियों को एक-एक अतिरिक्त कम्बल दिया गया। ज्ञात नहीं, ऐसा वरिष्ठ अधिकारियों की अनुमति से हुआ या कल के संवाद के परिणामस्वरूप।

नासिक कारा के बैलों में से एक बैल की बड़ी विचित्र लत थी। खाकी वस्त्रों को देखकर वह चौंक जाया करता था। दण्डितों के साथ वह चुपचाप काम करता; परन्तु यदि खाकी कपड़े पहना हुआ सिपाही या अन्य कोई उसके समीप आया तो वह बैल उसको मारने के लिए दौड़ता था।

इसके आधार पर दण्डितों ने एक कहानी की रचना कर डाली थी। उनका कहना था कि पूर्व जन्म में यह बैल दण्डित रहा होगा और सिपाहियों ने इसके साथ मारपीट की होगी। उससे वह मर गया होगा। उसके फलस्वरूप अब यह इस जन्म में सिपाहियों से अपना प्रतिशोध ले रहा होगा और उन्हें अपने निकट नहीं फटकने देता।

परन्तु इससे भी अधिक चुभने वाला एक व्यंग्य दिल्ली के बन्दियों ने सुनाया था। सर्वोच्च न्यायालय के कार्य में मैं दिल्ली जाया करता था। भोजन के समय प्रांगण की प्राचीर पर बहुत कौवे एकत्रित हो जाया करते थे। भोजन के बाद बन्दी रोटी के टुकड़े उनके पास फेंकते और कहते, 'आओ, अफसरो। यह रहा तुम्हारा अंश।', उन फेंके हुए टुकड़ों को कौवे आकाश में ही चोंच में उठा लेते थे।

इन शब्दों की पृष्ठभूमि के विषय में अपने मन का जब कौतूहल मैंने व्यक्त किया तो दो-चार बन्दियों ने मेरी जिज्ञासा को शांत करते हुए कहा, 'ये कौवे अपने पूर्व जन्म में इस बंदीगृह के कर्मचारी थे। उनकी क्षुधा शान्त नहीं हुई और बेचारे मर गए। अधूरी इच्छा की पूर्ति के लिए उन्होंने भगवान से प्रार्थना की कि उन्हें कौवों की योनि प्रदान की जाए। क्योंकि मनुष्य जन्म की माँग करने पर पुन: बन्दीगृह में अधिकारी के रूप में जाने की कोई संभावना नहीं थी। भगवान ने उनकी प्रार्थना सुन ली। इस जन्म के कौवे होने से हमारे भोजन से पूर्व वे अपनी क्षुधा शान्त करने की उतावली नहीं करते। हमारा भोजन हो जाने के बाद उच्छिष्टान्न से ही उनकी तृप्ति होती है।'

ऐसे-ऐसे तीव्र व्यंग्य बन्दीगण रचा करते थे, यह जानकर पाठकों को भी विस्मय होगा। मनुष्य को यदि बन्द भी कर दिया जाए तो भी उसकी प्रतिभा को बन्द नहीं किया जा सकता। यथाप्रसंग उसका दर्शन हो ही जाता है। यह बात समझ लेने पर फिर उस प्रकार का विस्मय होने का कोई कारण नहीं।

हमको जो कार्य दिया जाता, उस कार्य की पद्धति और उसमें हमारी प्रगति देखकर हमारा उपयोग उत्पादन उद्योग के लिए किया जाए, ऐसा अधिकारियों के मन में विचार आया। उस समय अहमदाबाद (मूलनाम कर्णावती) बम्बई राज्य के अन्तर्गत ही था। वहाँ के कारागृह में साबुन का निर्माण होता था। कारा और पुलिस के जनपद कार्यालयों को वह साबुन दिया जाता था।

नासिक में यदि साबुन का उत्पादन किया जाए तो उससे आस-पास के जनपदों को साबुन देने में सुविधा हो जाएगी। इस नीति से नासिक बन्दीगृह में दिनांक १९-८-१९५५ को साबुन उत्पादन का काम प्रारंभ हुआ। इस विषय के जानकार अधिकारियों ने कई प्रकार के प्रयोग किए। अनेक प्रयोगों के उपरान्त द्रव्यों का परिमाण निश्चित हुआ और निर्माण कार्य को नियमित किया गया।

जिन दिनों प्रयोग चल रहा था, उन दिनों मैं अपने ज्ञान के लिए टिप्पणियाँ बना कर रख लिया करता था। हाथ में लिए काम की अधिक जानकारी प्राप्त करने के लिए कुछ पुस्तकें मँगाने की अनुमति प्राप्त की। उद्योगशाला में अपनाई गई तकनीक और पुस्तक में दी गई तकनीक की तुलना करके अधिकारियों की अनुमति से आवश्यक हेर-फेर किए गए।

बंदीशाला का सारा कार्य मनुष्य के हाथों ही होता था। बहुत से काम अति कठिन और श्रमसाध्य हुआ करते थे। उत्पादन समय पर हो, इसके लिए कभी रात को भी कार्य करना पड़ता था। विभाग एक में साबुन की फैक्ट्री थी। इस फैक्ट्री में काम करने वालों को

सुविधा के लिए उसी कक्ष में रखा जाता था। बन्दीगृहों के काम में आने वाला कीटनाशक फिनायल भी इसी फैक्ट्री में बनाया जाता था। इसका परिमाण बन्दियों ने स्वयं प्रयोग द्वारा ही निश्चित कर लिया था।

थाना के कारागार में स्याही बनाने का उद्योग था। थाना में आर्द्रता अधिक होने के कारण स्याही फैक्ट्री का नासिक स्थानान्तरण करने का निश्चय हुआ। और उसके अनुसार डेढ़ वर्ष बाद स्याही का उत्पादन भी नासिक में आरंभ हो गया। सभी रासायनिक उद्योगशालाएँ एक स्थान पर रखने के उद्देश्य से यह निर्माण भी कक्ष विभाग १ में ही रखा गया।

कच्चे द्रव्यों से स्याही का निर्माण करना पड़ता था। हरड को कूटना, मायफल का चूर्ण बनाना, हरड का छिलका पीसना, यह सब चक्की पर किया जाता था। कई दिन वहाँ स्वयं जा कर काम का ठीक प्रबन्ध करा दिया। बन्दी को मिलने वाला पारिश्रमिक चार आने से कभी रुपया तक हमको भी मिला करता था।

कच्चे सामान का हिसाब, परिमाण और स्याही की विभिन्न अवस्थाओं की प्रक्रिया पूर्ण करते हुए रात हो जाया करती थी। अधिकारियों के कहने पर स्वीकार किए गए दायित्व को पूर्ण करना ही चाहिए, यह बात सदैव मन में रहती थी।

ऊपर के उद्योग के अतिरिक्त एक बेकरी का उद्योग भी आरंभ किया गया था। करकरे प्रारंभ में उस उत्पादन का कार्य देखते थे। मेरे पास हिसाब का काम था। बाद में उस विषय के जानकारों की नियुक्ति की गई। केवल उत्तरदायित्व मात्र हमारा रह गया था जो अधिकारियों की ओर से हमको सौंपा गया था।

लम्बी सजा के दण्डितों की पाँच वर्ष की कारावधि पूर्ण होते ही उनकी मुक्ति या छूट के प्रकरण पर विचार करने के लिए परामर्शदात्री समिति के सामने रखा जाता था। जिस स्थान में दण्डित रहता हो, उस स्थान के पुलिस अधिकारियों की संस्तुति, जिला अधिकारी की रिपोर्ट, न्यायालय का निर्णय और बन्दी का सामान्य बर्ताव, यह तथ्य विचार के लिए हुआ करते थे। पाँच वर्ष पूर्ण होने के कारण छूट का विचार करना समिति के क्षेत्र में नहीं हुआ करता था। समिति दण्डित की मुक्ति के लिए शासन को अपनी संस्तुति लिख कर भेजती है अथवा यह भी लिख देती है कि एक निश्चित कालावधि के बाद इस विषय को पुनः प्रस्तुत किया जाए, और इसी बीच यदि चौदह वर्ष का समय पूर्ण हो जाए तो फिर उसके लिए समिति की संस्तुति की प्रतीक्षा नहीं की जाती।

१९५४ में हमारा विषय परामर्शदात्री समिति के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। समिति ने निर्देश दिया कि इस विषय को दो वर्ष बाद पुनः प्रस्तुत किया जाए। १९५६ में जब विषय समिति के समक्ष रखा गया तो समिति ने पुनः एक वर्ष की अवधि निर्धारित कर दी। इसी बीच हमारे १४ वर्ष की कालावधि पूरी हो गई।

अवधि पूर्ण होने से ६ मास पूर्व दण्डित का ब्यौरा शासन को भेजना होता है। इस समय छूट को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है, क्योंकि वह १४ वर्षों की गणना में आ जाती है। इसके लिए स्थानीय अधिकारियों की संस्तुति और न्यायालय का निर्णय विचारणीय होते

हैं। परन्तु यदि समय पर अन्य संस्तुति अनुकूल न भी हों तो भी बन्दी के अपने गुणावगुणों पर भी कार्यवाही करने का शासन को अधिकार होता है।

इस समय एक और बात पर भी विचार किया जाता है। कारावास के नियमों में यहभी व्यवस्था है कि न्यायालय में जिन विषयों पर चर्चा न हुई हो उनको अभियुक्त कारावास में खुले मन से अभिव्यक्त कर दे। उसका उपयोग दण्डित के विरोध में नहीं किया जाता। इसको समाज के हित में, सत्यासत्य की खोज करने के लिए तथा उसी प्रकार की अन्य घटनाओं की परस्पर तुलना की दृष्टि से आवश्यक समझा जाता है। शासन इसका उस प्रकार प्रयोग करता है अथवा नहीं, इसका मुझे ज्ञान नहीं है। परन्तु दण्डितों के ऐसे बयान अपराध-शास्त्र अर्थात् क्रिमिनलॉजी पर खोज करने वालों के काम में आ सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

हमारा विषय सम्मुख आने पर हमसे इस विषय में पूछा जाएगा, ऐसी हमें अपेक्षा थी। गांधी- वध काण्ड ऐतिहासिक महत्त्व का काण्ड था। न्यायालय के सम्मुख सभी बातें पूर्ण रूप में नहीं आ पाई थीं। कई बातें विकृत रूप में आई थीं तो कई असत्यरूप में आई थीं। न्यायालय में अपने बचाव में हमने कहा था कि हमारा गांधी-वध से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। इसलिए ऐसी विकृत या असत्य बातों का निराकरण करने का प्रयत्न हमारे बचाव से तर्कसंगत सिद्ध होता था। इस पुनर्निरीक्षण के समय पूर्व घटित घटनाओं का वर्णन करने में हमको किसी प्रकार का भय नहीं था। हम कितनी ही बातें खुले मन से शासन को बता सकते थे और उनके सत्यासत्य का परीक्षण करने के लिए शासन के पास अनेक साधन थे। उनकी सत्यासत्य की पड़ताल करने पर शासन उसको अभिलेख के रूप में रख सकता है जिससे कि जिज्ञासुओं को उसका लाभ प्राप्त हो सके।

किन्तु ऐसा प्रतीत हुआ कि शासन सत्यासत्य जानने के लिए उत्सुक नहीं था। हमारे १४ वर्षों के रिकार्ड को मँगाकर उसके आधार पर हमको मुक्त करने का भी शासन का हेतु नहीं प्रतीत होता था अपितु उस नियम का दुरुपयोग करके अपनी दुर्भावना से हम पर अधिक अत्याचार और अन्याय किया जा सके, यही शासन का उद्देश्य था। इसका ज्ञान हमें बाद में हुआ। बंदीशाला के अधिकारियों को भी इस प्रकार की सूचना होगी, इसी कारण उन्होंने भी हमारे विषय में स्पष्ट कुछ न लिख कर केवल कार्यवाही की खाना पूरी कर दी थी।

संयोग से पहले गणतन्त्र के दिन हमको दया के रूप में ४० मास की छूट दी गई थी। इस प्रकार दयास्वरूप मिली छूट को काटा नहीं जा सकता, क्योंकि उससे छूट देने वाले का ही अपमान होता है। बन्दी को प्रदत्त अन्य छूट काटी जाने पर भी इस छूट को नहीं काटा जाता। इस छूट के आधार पर हमारी मुक्ति ४० मास पहले हो जानी थी।

श्री मोरार जी देसाई ने १९५२ में बम्बई विधान-सभा में हमारी मुक्ति का संभावित दिन दिनांक १०-२-१९६० घोषित किया था। उनकी धारणा थी कि यदि किसी प्रकार के नियमोल्लंघन के लिए हमारी छूट के अन्य दिन काट भी लिए जाएं तो उक्त ४० मास की छूट तो काटी नहीं जाएगी। इस आधार पर ही उन्होंने उक्त संभावित तिथि की घोषणा की

थी। नियमोल्लंघन के लिए हमारी ८ दिन की छूट काटी गई थी। इसके अतिरिक्त और कोई छूट नहीं काटी गई थी। इसलिए हमारा विश्वास था कि मोरार जी भाई ने जिस संभावित दिन को हमारी मुक्ति का दिन बताया था, उससे बहुत पूर्व हम मुक्त कर दिए जाएंगे।

अच्छा व्यवहार रखने पर प्रत्येक वर्ष सद्व्यवहार के आधार पर मिलने वाली सारी छूट हमें प्रतिवर्ष मिलती रही थी। नियत काम से अतिरिक्त काम करने के आधार पर भी हमको छूट दी गई थी। जहाँ पैसे और छूट का विकल्प होता था वहाँ भी हमने छूट को ही स्वीकार किया था, वह छूट भी हमारी जुड़ गई थी। इस प्रकार की सभी छूटों का शासन ने समय-समय पर अनुमोदन भी किया हुआ था। शासन ने किसी भी एक दिन की छूट के लिए आपत्ति प्रकट नहीं की थी।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, अत: सहजीवन और सामाजिक व्यवहार के जो नियम होते हैं उनके पालन की अपेक्षा प्रत्येक व्यक्ति से की जाती है। इस प्रकार के नियम समाज के हित की दृष्टि से समाज ही निर्माण करता है। अपने किसी अयोग्य काम से किसी अन्य व्यक्ति को किसी प्रकार की हानि न हो, यही इन नियमों का उद्देश्य होता है। उसी प्रकार अन्य लोगों के अनुचित काम से हमें भी किसी प्रकार की हानि न हो, यह भी मनुष्य अपेक्षा रखता है। नियमानुसार व्यवहार को धर्म बताया गया और नियमोल्लंघन को अधर्म्य मान कर उसे दण्डनीय कहा गया है।

उपरिलिखित व्याख्या के आधार पर अपने नियमानुकूल बर्ताव का लाभ उसको अन्य लोगों द्वारा नियमानुकूल बर्ताव से भी प्राप्त होता है। इसलिए नियमानुसार बर्ताव करने पर उसे स्वयं ही पुरस्कार मिल जाता है। क्योंकि वह तो मनुष्य का धर्म ही है, किन्तु दण्डितों के सम्बन्ध में अन्य बातों पर भी ध्यान दिया जाता है।

किसी सामाजिक नियम को भंग करने पर किसी नागरिक को दण्ड होता है, तब वह दण्डित कहलाता है। ऐसे व्यक्ति पर स्वाभाविक ही समाज के नियमों कें अतिरिक्त भी कुछ और बन्धन लागू हो जाते हैं। उन अतिरिक्त बन्धनों को तोड़ने की उसकी प्रवृत्ति रहेगी, उसको नियमानुकूल चलाने के लिए शासन को बल का प्रयोग करना पड़ेगा, इससे वह ढीठ बन जाएगा। अत: मनोविज्ञान के आधार पर यह नियम भी बना लिया गया है कि यदि दण्डित ने सद्व्यवहार किया तो उसको पुरस्कार देने का उपबन्ध भी है। यह पुरस्कार होता है, उसकी करावधि में किसी प्रकार की कुछ कटौती।

अनुभवसिद्ध एक बात की ओर संकेत कर दिया जाए कि दण्डित यदि जेल में सबसे अधिक किसी बात से डरता है तो उसकी मुक्ति के दिन के खटाई में पड़ने से। नियम का पालन किया तो उसकी मुक्ति शीघ्र हो जाएगी और यदि नियमोल्लंघन किया तो इससे मुक्ति और भी दूर हो जाएगी, यह भय दण्डित को नियम में बंधे रखने में सहायक होता है। सहस्रों दण्डित-जन अपने दण्ड के दिन जो प्राय: शान्ति से बिताते हैं, उसका मूल कारण यही है। प्रत्यक्ष डंडे का उपयोग करने की बारी कदाचित ही आती है।

हमारा व्यवहार नियमानुकूल था। इसमें कोई विशिष्टता है, ऐसा हमारा उद्देश्य नहीं है, परन्तु प्रलोभन से हम भी मुक्त नहीं थे, क्योंकि हम भी थे तो दण्डितों की श्रेणी में

ही। नियमानुसार बर्ताव के आधार पर मिलने वाली छूट का हमें भी अधिकार था। शासन ने हमको इस छूट से वंचित नहीं किया था। यही कारण था कि हमको छूट की स्वीकृति मिलती रहती थी और समय पर शासन की ओर से उसकी पुष्टि भी होती रहती थी।

दयास्वरूप दी गई और हमारे द्वारा अपने बर्ताव एवं अन्य प्रकार से अर्जित छूट, यह सब मिलाकर हमारी कारावधि के ८ वर्ष पूर्ण हो जाने पर हमारे १४ वर्ष का कारावास पूरा हो गया है, ऐसी संस्तुति शासन के विचार के लिए भेजी गई थी। नियमानुसार छूट कारावधि के एक तिहाई से अधिक नहीं होनी चाहिए। यदि वह अधिक हो जाए तो उसके लिए शासन की विशेष पुष्टि करवाई जाती है, ऐसा नियम है। परन्तु गणतन्त्र घोषणा के उपलक्ष्य में दयास्वरूप प्रदत्त छूट का हमारी मुक्ति पर कोई प्रभाव होने वाला नहीं था। हमारे द्वारा अर्जित छूट भी हमारे बर्ताव के कारण थी। व्यवहार नापने का यह परिमाण शासन द्वारा ही निर्धारित था। अत: उसके सत्यासत्य का प्रश्न ही नहीं उठता था।

पंजाब उच्च-न्यायालय ने मेरी अपील पर शासन को परामर्श दिया था कि मेरे विषय में दया का भाव बरता जाए। मुक्ति के प्रकरण पर विचार करते समय यह तथ्य भी सम्मुख आना चाहिए आदि। इन सब बातों को ध्यान में रख कर मुझे आशा थी कि मुझे समय से बहुत पूर्व ही मुक्त कर दिया जाना चाहिए। हम निर्णय की प्रतीक्षा कर रहे थे।

इसी मध्य दिनांक ११-१२-१९५६ को करकरे के स्वास्थ्य का परीक्षण किया गया। विगत सात-आठ दिनों से उनमें क्षय रोग के-से कुछ लक्षण दिखाई देने लगे थे। चिकित्सा करने पर विदित हुए कि उन्हें फुफ्फुस फोड़ा जिसे अंग्रेजी में 'लंग एब्सेस' कहते हैं, उसके लक्षण हैं। उनको चिकित्सा के लिए अस्पताल में रखा गया। दिनांक ५-१-१९५७ को उन्हें बाहर के सिविल अस्पताल में रखा गया।

करकरे की पत्नी सौ. सरस्वती बाई की अवस्था बहुत ही दयनीय हो गई थी। हमें जेल में जो कष्ट भुगतने पड़ रहे थे, उसका उनको बार-बार अनुभव-सा होता था। कभी-कभी तो मिलने आए लोगों को बीच में ही छोड़ कर हमें काम के लिए बुलावा आ जाता था तो हमें काम के लिए जाना पड़ता और तीन-चार घण्टे तक, जब तक कि हम काम पूरा करके न आ जाएं, तब तक भेंट करने वालों को भी प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। इस आत्मीयता का फल समीप आने को है, किन्तु क्रूर नियति उसको भी छीनती-सी प्रतीत होती थी। ऐसा स्पष्ट दिखाई देने लग गया था।

करकरे की दशा का ध्यान कर सौ० सरस्वती बाई ने शासन से प्रार्थना की कि उनके पति को पैरोल पर छोड़ दिया जाए, परन्तु सरकार ने इसे अस्वीकार कर दिया। एक वर्ष बाद करकरे फिर बीमार पड़े। उस समय उनको मधुमेह का रोग लगा। इसके साथ ही मलद्वार पर भी एक फोड़ा हो गया था। उनको निरन्तर पथ्य पर रखा गया, किन्तु बीमारी बढ़ती गई तभी सौ० सरस्वती बाई ने उनकी तुरन्त मुक्ति के लिए प्रार्थना की थी, किन्तु ऐसा प्रतीत होता था कि हमको अंधेरे में बन्द कर दिया है और अंधेरे में ही हमारा अन्त भी हो जाएगा। शासन की ओर से प्रतिशोध की ऐसी ज्वाला-सी धधकती स्पष्ट दिखाई दे रही थी। यही कारण है कि सौ० सरस्वती बाई की किसी भी प्रार्थना पर शासन ने कभी भी दया का भाव नहीं दर्शाया।

नासिक बन्दीगृह में उस समय डॉ० चह्वाण चिकित्सक थे और सिविल सर्जन थे डॉ० थत्ते। इन दोनों द्वारा किया गया उपचार ही करकरे के अच्छा होने के प्रमुख कारण कहे जा सकते हैं।

तीन सप्ताह बाद करकरे को बम्बई के बंदीगृह में भेजा गया। क्योंकि वहाँ से उन्हें बम्बई के प्रख्यात जे. जे. अस्पताल में चिकित्सा के लिए रखना था। एक मास के लगभग वहाँ रहकर करकरे को पुन: नासिक भेज दिया गया। नासिक आने पर भी कई मास तक वे कारा के अस्पताल में ही रहे।

कई वर्ष तक मैंने बन्दीगृह में हिन्दी का अध्ययन किया। महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा की प्रवेशिका परीक्षा से प्रारंभ कर १९५६ में पण्डित परीक्षा उत्तीर्ण की। अन्तिम परीक्षा की पढ़ाई के दिनों में तो काम का बोझ बहुत था। प्रात: होते ही फैक्ट्री का कार्य प्रारंभ हो जाता था। ३-४ मास बाद ही शासन का वित्तीय वर्ष पूर्ण होने वाला था। कच्चे सामान का स्टॉक आ गया था। नियम अवधि में ही शासन की माँग को पूर्ण करना था। रात्रि को नौ बजे के बाद जेलर के समीप बैठकर सभी फैक्ट्रियों का हिसाब करना पड़ता था। इस कार्य में ग्यारह-बारह बजना तो साधारण-सी बात है, किन्तु कभी-कभी तो भोर भी हो जाती थी। काम करने में उत्साह था, क्योंकि स्वयं को व्यस्त रखने से दण्डावधि का जो तनाव मन और मस्तिष्क पर रहता था, वह दूर-सा रहता था।

इसके साथ ही यह भी विचार आता था कि कुछ अपने लिए भी किया जाए। प्रमुख कार्यालय ने मेरी पढ़ाई की सुविधा के लिए एक दीपक और एक डेस्क की व्यवस्था करवा दी थी। मेरी इच्छा थी कि यहाँ रहते हुए पढ़ाई के द्वारा किसी प्रकार की कोई उपाधि ही ग्रहण कर ली जाए, किन्तु पढ़ाई के लिए मिलने वाला समय अपर्याप्त था।

परीक्षा में ८ दिन शेष थे। तब मैंने एक दिन अधीक्षक से कहा, 'या तो आप मेरे जेलर को ८ दिन का अवकाश दे दीजिए या फिर इतने दिन के लिए उन्हें उस विभाग में आने से प्रतिबन्धित कर दीजिए।'

अधीक्षक को मेरी कठिनाई समझ में आ गई। उन्होंने जेलर से कहा,'इनको पढ़ाई के लिए समय नहीं मिल रहा है। अत: रात की पाली बन्द कर दो। पढ़ाई के लिए समय मिलना ही चाहिए। ये इस परीक्षा को उत्तीर्ण कर ले, यह अपने लिए भी सराहनीय ही है।'

सचमुच ही आठ दिन तक जेलर उस ओर आये ही नहीं। केवल अत्यावश्यक कार्यों का निपटारा करके मैं अपनी पढ़ाई में लग जाया करता था। एकान्त की दृष्टि से कभी-कभी मैं स्तूप की पहली मंजिल पर जाकर बैठता था। परीक्षा के लिए बाहर के केन्द्र पर जाने की स्वतन्त्रता नहीं मिली थी। समय पर पैरों में बेड़ी डाल कर भेज देते तो मैं इसके लिए भी उद्यत था, किन्तु इसे भी स्वीकार नहीं किया गया। तब राष्ट्र-भाषा सभा ने बन्दीगृह में ही मेरे लिए एक केन्द्र खोला और उसको नासिक केन्द्र के साथ सम्बद्ध कर दिया गया। इस प्रकार मैंने परीक्षा दी। परीक्षा समाप्त करते ही अब तक जमा हुआ सारा काम मैंने पहले समाप्त किया। वह शीघ्र ही समाप्त भी हो गया, क्योंकि अब पढ़ाई की चिन्ता मन से हट गई थी। मैं परीक्षा में उत्तीर्ण हो गया। एक अधिकारी को तो इससे इतनी प्रसन्नता हुई कि

उसने नियमों को ताक में रखकर मुझे मिठाई के दो पेड़े दिए।

अधिकारियों की आज्ञा से मैं हिन्दी परीक्षा देने वाले कर्मचारियों की भी सहायता कर दिया करता था।

दिनांक ११-४-१९५७ को हमारे १४ वर्षों की रिपोर्ट का निर्णय आया। उसमें लिखा था—'पन्द्रह वर्ष प्रत्यक्ष कारावधि भुगतने के बाद ही मुक्ति के प्रश्न पर विचार किया जाएगा।' अंग्रेजी के शब्द थे—'दि क्वेश्चन ऑफ रिलीज विल बी टेकन अप आफ्टर कम्प्लीटिंग फिफ्टीन इयर्स एक्चुअल इम्प्रिजनमेंट।'

यह निर्णय वास्तव में आघात पहुँचाने वाला था। उस निर्णय में प्रतिशोध की भावना स्पष्ट झलकती थी, उसमें क्रूरता थी, अमानुषिकता थी। कम से कम विधान-सभा की प्रतिष्ठा के लिए ही सही, श्री मोरार जी भाई ने जिस दिन का उल्लेख वहाँ किया था। उसके आस-पास ही छोड़ने की बात करते।

इस आधार पर १९६४ में हमारी मुक्तता पर विचार होगा, अर्थात् सात वर्ष बाद। सम्प्रति हमको मिली हुई छूट मिला कर १४ वर्ष, उसके बाद सात वर्ष का और कारावास और उसमें मिलने वाली न्यूनतम सवा दो वर्ष की छूट तथा कभी-कभी शासन द्वारा दी जाने वाली अन्य छूट, यह सब मिला कर लगभग २५ वर्ष बाद हमारी मुक्ति का विचार किया जाएगा। कारागार-संहिता की किसी भी प्रचलित प्रणाली के अनुसार यह ठीक नहीं था। इसका अभिप्राय तो एक ही प्रतीत होता था कि यदि उस समय तक हम मर गए तो ठीक है, अन्यथा अवधि और बढ़ाते-बढ़ाते हमारी कारावधि का अन्त होने से पूर्व हमारा अन्त देखना शासकों के मन में था। गांधी-वध के निमित्त न्यायालय ने दो बलिदान माँगे थे, वे यथाविधि दे दिए गए थे, किन्तु अपने दया के अधिकार का विपरीत प्रयोग कर परोक्ष रूप से यदि हम इसके लिए और अधिक बलि ले सकें तो इससे हम गांधी जी के सच्चे पुजारी सिद्ध होंगे, ऐसी गंध गांधीभक्त शासकों की प्रतीत होती थी। इसीलिए उतनी ही क्रूर भावना से हम पर अत्याचार किए जा रहे थे। अपनी रिपोर्ट पर दिए गए निर्णय के बाद जब-जब भी देश में शासकीय नेताओं के 'सदा सत्य बोलो' इस विषय के भाषण पढ़ा करता था तो मेरे मन में आता था 'शासन द्वारा प्राचीरों के भीतर मुझ पर लादा हुआ असत्य का अँधेरा क्या कभी मैं जनता के सम्मुख प्रदर्शित कर सकूँगा? क्या उस प्रदर्शन के लिए मैं जीवित भी रहूँगा?'

बुढ़ापे से दुर्बल एवं चिन्ता से व्यग्र मेरे माता-पिता ने जब इस निर्णय के बारे में सुना तो उनके मन में जो प्रतिक्रिया हुई, वह यही कि अब उनके जीते-जी उन्हें गोपाल के स्वतन्त्र जीवन के दर्शन नहीं होंगे। उन्हें जो यह आशा थी कि न्यायालय की संस्तुति पर विचार १४ वर्ष की रिपोर्ट के समय होगा, इस निर्णय ने उस पर पानी फेर दिया था और इस निर्णय के आधार पर अब उस वचन का अथवा घोषणा का भी कोई अर्थ नहीं रह गया था जिसके आधार पर विधान-सभा में यह कहा गया था कि हमको फरवरी, १९६० में मुक्ति मिल जाएगी। क्योंकि वह पाकिस्तान को दिया हुआ आश्वासन तो था ही नहीं कि जिसका पालन करने के लिए शासन बाध्य होता है।

पाठक कृपया यह न समझें कि उपरिलिखित टिप्पणी मैंने किसी प्रकार के क्रोध या केवल कल्पना के आधार पर की है। कांग्रेसी विचारधारा के कट्टर समर्थक भी मेरे लेखों को पढ़ते हैं और जब कभी उनसे भेंट होती है तो वे अपना अभिमत व्यक्त करते हुए मुझसे कहा करते हैं कि मेरे लेख संतुलित होते हैं। उनकी इस सराहना से मुझे प्रसन्नता होती है। मैं चाहता हूँ कि उनकी यह धारणा बनी रहे, इसलिए मेरे मन में यह रहता है कि मैं किसी प्रकार का एकपक्षीय वर्णन न करूँ। मैंने जो भी उदाहरण यहाँ दिए हैं, यदि किसी को उन पर सन्देह हो तो वह शासन के उस प्रकार के बर्ताव की परख कर सकते हैं। शासन से पूछ कर और उसकी सत्यासत्य की पड़ताल कर जब उनको यह विश्वास हो जाए कि वह सच है तो फिर वे अपने शासन द्वारा अपने ही नागरिकों की, न केवल नागरिकों की अपितु विधान-सभा की भी अनुचित रीति से उपेक्षा की है, इसके लिए वे शासन की निन्दा करें जिससे कि भविष्य में इस प्रकार की दुर्नीति की पुनरावृत्ति करने का दुस्साहस किसी भी शासन अथवा उसके कर्मचारी को न होवे।

मीरदाद जरदाद नाम का एक आजन्म दण्डित था। विभाजन के पूर्व ही वह भारत आ गया था, इसलिए वह भारत का नागरिक था। भारत में ही उससे अपराध हुआ और भारत के न्यायालय ने उसको दण्ड दिया। अपने १४ वर्ष की रिपोर्ट में उस पर होने वाले अन्याय का प्रतिवाद वह किससे करेगा? शासन से अथवा किसी भी न्यायालय के सामने? ऐसा ही उसको करना भी चाहिए था। किन्तु उसने प्रतिवाद किया तो किसको? पाकिस्तान के उच्चायुक्त को। हिन्दुस्थान के मुसलमानों का हित देखने का कार्य भारत के शासन का है। पाकिस्तान के किसी नागरिक पर यदि भारत में अन्याय होता है तो उस अवस्था में पाकिस्तान का उच्चायुक्त इस विषय में कार्यवाही कर सकता है। वह शासन से प्रतिवाद कर उसका उपाय कर सकता है।

किन्तु विभाजित भारत में भी मुसलमान समाज शेष समाज से पृथक् अंग हैं और उसके मुसलमान नागरिकों का हितचिन्तन करना भी अपना कर्तव्य है, सदैव ऐसी धारणा रखने वाले पाकिस्तान के उस उच्चायुक्त ने भारत सरकार के पास मीरदाद के साथ हुए अन्याय के लिए लिखा पढ़ी की। उसके उत्तर में 'मीरदाद भारत का नागरिक है, हमारे भीतरी प्रशासन एवं अनुशासन में हस्तक्षेप करने का आपको कोई अधिकार नहीं है, मीरदाद को न्याय माँगने के लिए यहाँ के न्यायालय खुले हैं,' ऐसी दो टूक किन्तु युक्तियुक्त बात कहने की अपेक्षा सरकार ने उत्तर में लिखा—'यदि आज के बाद दयास्वरूप उसको कोई छूट दी गई तो उससे मीरदाद की कारावास की अवधि में कम हो जावेगी और तदनुसार उतनी शीघ्र उसको मुक्ति भी प्राप्त होगी।'

आगे चलकर एक प्रसंग पर दयास्वरूप छः मास की छूट दी गई, परन्तु छूट के उस आदेश में यह लिखा गया था कि पहले जिनके सम्बन्ध में निर्णय दिया जा चुका है उन पर यह छूट लागू नहीं की जावेगी।

आदेश की इस शर्त के कारण मीरदाद को छोड़ा नहीं गया। तब मीरदाद ने शासन को स्मरण कराया, 'आपने पाकिस्तानी उच्चायुक्त को जो आश्वासन दिया था क्या आप

उसको भूल गए है?'

शासन को सुधबुध आयी। बात तो सच है। हम अपने हिन्दू नागरिकों को दिए गए आश्वासनों को झुठला सकते हैं, क्योंकि हिन्दू का तो कोई राष्ट्र नहीं है, इसलिए उनका कोई आयुक्त भी नहीं। हम विधान-सभा में कहे गए शब्दों को समयानुकूल उलट-पुलट सकते हैं, क्योंकि विधान-सभा कोई विदेशी सत्ता तो है नहीं। हम अपने किसी न्यायालय की संस्तुति को भी ठुकरा सकते हैं, क्योंकि न्यायालय हमारे अधीन होते हैं, हम उनसे श्रेष्ठ हैं। परन्तु एक मुसलमान नागरिक के सम्बन्ध में पाकिस्तानी उच्चायुक्त को दिए गए आश्वासन को यदि हमने कार्यान्वित नहीं किया तो, हमारा व्यवहार झूठा सिद्ध हो जाएगा, इससे मुस्लिम विश्व में हमारी बदनामी होगी, संसार में अपनी आलोचना होगी, अतः उसका पालन होना ही चाहिए।

इसलिए शासन ने अपने आदेश की अवहेलना की। चुपचाप मीरदाद को कहा गया, 'देखो, आदेश के उपरान्त भी हम तुमको उस दया का लाभ दे रहे हैं।' इस प्रकार उसको छः मास की छूट देकर उसको समय से पूर्व मुक्त कर दिया गया।

यदि हम क्षण भर के लिए यह भी मान लें कि वह पाकिस्तान का नागरिक था। तो भी परिपत्र की अवहेलना कर उसको जो छूट दी गई थी, वह भारत के अन्य नागरिक दण्डितों को क्यों नहीं दी गई? क्या वे भारत के नागरिक किसी विदेशी उच्चायुक्त के पास सहायता के लिए नहीं दौड़ पाए, इसलिए उनके साथ यह अन्याय किया गया? आज वह बात एक प्रकार से इतिहास की बात बन गई है, परन्तु इतिहास पढ़ा अथवा सुनाया भी इसीलिए जाता है कि जिससे उन प्रमादों की पुनरावृत्ति न हो सके।

गोपाल से एक बार अन्तिम भेंट कर लें, इस अधीरता से दिनांक २९-४-१९५७ को मेरे माता-पिता नासिक कारागर में आए। उनके साथ मेरा छोटा भाई गोविन्द और कुछ संबंधी भी थे।

उनकी भेंट में अश्रुकण यद्यपि नहीं थे, किन्तु करुणा का क्रन्दन था। वह दबा हुआ था। मैं प्रत्यक्ष में ऐसा ही उनको दिखाता था कि मेरा जीवन साधारण चल रहा है जिससे कि उनको दुःख न हो। उसी प्रकार मुझे लगा कि वे भी अपनी अन्तर्वेदना छिपाते हैं जिससे कि मैं उनकी दशा से दुःखी न हो पाऊँ। इस प्रकार की सावधानी दोनों ओर से बरती जाती थी।

माँ घिसट-घिसट कर सीढ़ियाँ चल पाई थी। मैं सोचने लगा कि क्या उसकी यह क्षीणता अन्तिम सिद्ध होगी? माँ मेरे लिए अंगूर लेकर आई थी, किन्तु नियम आड़े आ गया। तब माँ को मैंने 'माँगने पर हमें यहाँ भी अंगूर मिल जाते हैं,' यह कहकर समझाया। बाहर से आए हुए टोकरी भर अंगूर और माँ के दिए हुए चार दाने के अन्तर को मैं समझता था, परंतु अधिकारियों से विनती करना और उनके द्वारा असमर्थता में खेद प्रकट कर अस्वीकार कर देना, मुझे सह्य नहीं था। यदि पंजाब में होता तो चार दाने अंगूर ही क्या मैं भोजन भी ले सकता था।

अपनी भावनाओं को दबाकर हमने उस दिन की भेंट समाप्त की। विदाई लेते समय

भी किसी ने किसी प्रकार का दु:ख प्रदर्शित नहीं किया। घिसट कर ही माँ बाहर गई। इस यात्रा से उसको बहुत कष्ट हुआ था। वह बम्बई जाकर गोविन्द के पास ही रहीं। दिनांक ६-५-१९५७ को उसके देहान्त होने का पत्र मुझे देहान्त के दूसरे दिन प्राप्त हुआ था।

दिनांक ९-५-१९५७ को मेरे बड़े भाई दत्तात्रय माँ की अस्थी लेकर आए। उनके साथ अन्य भी अनेक सम्बन्धी थे। मुझे विशेष अवकाश देने का कोई मार्ग अधिकारियों के पास नहीं था। शासन का हृदय पसीज सकता है, यह भी नितान्त असंभव बात थी। फिर भी प्रयत्न किए गए, किन्तु जब सफल नहीं हो सके तो अस्थि-कलश कारा के भीतर लाया गया, जिससे कि मैं अन्तिम दर्शन कर सकूँ। अस्थि दर्शन करते हुए मेरे आँसू टपक पड़े और वे अस्थियों पर गिर पड़े थे।

दस दिन पूर्व ही माँ मुझसे मिलने के लिए आई थी, तब उसकी इच्छा गोदावरी स्नान करने की थी। उसके लिए उठना-बैठना भी असंभव हो गया था, इसलिए बिना स्नान किए ही वह लौटकर चली गई थी। और अब उसके अस्थि अवशेष को गोदावरी में विसर्जित किया जा रहा था।

माँ के देहान्त होने के बाद मेरी पत्नी बीमार हो गई। एक के बाद एक, इस प्रकार से अनेक आघातों से उसका मन और मस्तिष्क व्याकुल हो गया था। शरीर शिथिल पड़ गया। उपचार के लिए उसको अस्पताल में प्रविष्ट कराया गया। वह अचेत हो जाती थी। उस अचेतावस्था में बहुत कुछ बड़बड़ाती रहती थी। और उसमें वह एक ही बात कहा करती थी, 'शासन ने अन्याय किया।' इस रुग्णावस्था में वह दो मास तक पड़ी रही।

इसके कुछ मास बाद मेरे पिता जी का भी देहान्त हो गया। शासन के निर्णय से दु:खी होने का एक मुख्य कारण यह भी था कि हमको सश्रम कारावास की कारा तो मिली थी,किन्तु जो श्रम हमको करने के लिए दिया जाता था उससे कहीं अधिक श्रम हम करते थे, किन्तु उसका न किसी कागज-पत्र में लेखा-जोखा था और न किसी के मन-मस्तिष्क पर ही। हमने यह काम किसी प्रकार की दान भावना से नहीं अपितु अपने लिए किसी आशा से किया था। कठिन श्रम का तो वह काम था ही, किन्तु ऐसी बुद्धि चातुरी का भी काम था कि कोई भी न्यायप्रिय व्यक्ति हमारी करनी को देखकर आश्चर्यचकित हो जाए। हमने कैसा काम किया, इसका विवरण मैंने १९५९ में अपनी पत्नी को लिखे एक पत्र में किया था।

हुआ यह कि हमारे विरुद्ध निर्णय के बाद भी कार्य का बोझ घट नहीं हुआ था और हमने भी काम से हाथ नहीं खींचा था। अधिकारी समय-समय पर परिवर्तित होते रहते थे। मात्र हम ही खूँट की भाँति वहाँ अचल थे। दो वर्ष बाद स्थानान्तरित होकर जो अधिकारी आए उनमें और हममें उत्पादन के काम के सम्बन्ध में एक प्रकार से तीव्र विवाद उत्पन्न हो गया था।

कुछ भी हो, उसका दायित्व हमारा नहीं अपितु अधिकारियों का था, किन्तु हम पर उसका उत्तरदायित्व देकर हमारे साथ अन्याय किया गया था। अपने आन्तरिक अधिकार के आधार पर उस अन्याय को दबाया जाता था। हमने काम करना छोड़ दिया। हमको अलग

विभाग में बन्द कर दिया गया। वहाँ रह कर भी हम इस आन्तरिक अन्याय के लिए अधिकारियों से झगड़ने लगे। इसी अवधि में अधीक्षक का भी स्थानान्तर हो गया और उसके स्थान पर दूसरा अधीक्षक आ गया। और उनके आते ही एक बात ऐसी हो गई कि हमारे विषय में उसको आरंभ में गलतधारणा हो गई।

यह बात जुलाई, १९५९ की है। मेरी पत्नी दिनांक ८ को मुझसे मिलने के लिए आई थी। भेंट करने के उपरान्त वह अधीक्षक से मिली। उन्होंने उसको कार्यालय में बुलवाया, उनमें परस्पर कुछ वार्त्तालाप हुआ।

मुझे ३-४ दिन बाद पत्नी का पत्र मिला। उसने मुझे लिखा था कि अधिकारी अच्छे हैं, और मुझे नियमों का पालन करना चाहिए। अधीक्षक के साथ हुई भेंट का विवरण भी उसने दिया था।

अधीक्षक का पक्ष क्या है यह तो उसको विदित हो गया है, किन्तु उसे मेरा पक्ष भी तो समझना चाहिए, ऐसी मेरी धारणा थी। अधिकारियों के द्वारा ही यह समझा जाए तो अच्छा हो, ऐसा मैं चाहता था। दिनांक १४-७-१९५९ को मैंने उसके लिए एक पत्र लिखकर अधिकारियों को दिया। उसको वह पत्र मिल भी गया। उस समय के हमारे विवाद और काम के विषय में मैंने लिखा था। पत्र इस प्रकार था—

कारा, दिनांक १४-७-५९

प्रिय सिन्धु,

अधीक्षक से भेंट करने पर तुमको अनेक बातों की जानकारी प्राप्त हुई, इसकी प्रसन्नता है। यद्यपि इस बात को लगभग चार-एक मास हो गए हैं, किन्तु मैंने स्वयं ही तुमको बताना उचित नहीं समझा था। उसका कारण यही था कि इससे मैं तुम्हारी चिन्ता को और अधिक बढ़ाना नहीं चाहता था। मेरे मानसिक तनाव के विषय में तुम्हें मेरे पत्रों में थोड़ा बहुत तो आभास मिलता ही होगा।

दो व्यक्तियों अथवा पक्षों में हुए तनाव अथवा खिंचाव के वातावरण को शान्त करने के लिए अनेक व्यक्तियों की सहायता की आवश्यकता होती है। समय भी महत्त्वपूर्ण होता है। इसके साथ ही एक दूसरे से समझदारी से बातचीत करने में अपधारणा हो जाए तो विवेक बुद्धि से काम लेना और उसको दूर करना भी एक कारण बन सकता है। किन्तु जब दोनों पक्ष जानबूझ कर और अपने मन में यह धारणा बना कर 'मेरा पक्ष ही सच है' चलें तो उस भ्रान्ति को तीसरा पक्ष ही दूर करने में सहायक हो सकता है।

दूषित वातावरण ठीक हो, उसके लिए कोई प्रयत्न करे और उसमें किसी प्रकार का विघ्न आ जाए और उस विघ्न को महत्त्व देकर वातावरण को अच्छा किया जा रहा है, यह कहना किसी को भी उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। इससे मूल वातावरण में अर्थात् दूषित वातावरण में और वृद्धि होती है।

इस प्रकार के सोद्देश्य अथवा निरुद्देश्य प्रयत्नों से किसी भी व्यक्ति का मानसिक सन्तुलन बिगड़ सकता है और फिर, मैं तो एक ऐसा बन्दी हूँ, जिसके साथ निरन्तर अन्याय ही किया जा रहा है। हाँ, यदि कोई विकृत मस्तिष्क वाला व्यक्ति अर्थात् पागल हो तो

उसको इन बातों से किसी प्रकार का सुख-दु:ख नहीं होगा। स्वस्थ मस्तिष्क के व्यक्ति पर इसकी प्रतिक्रिया होगी और दु:खातिरेक से वह असन्तुलित भी हो सकता है। इन चार महीनों में मेरे मन पर भ्रमित बनने जितना अतिरेकी परिणाम नहीं हो पाया, इसका श्रेय मन:स्थिति जानने वाले और सुदूर की सोचने वाले अधिकारियों को है।

सिन्धु! सहिष्णुता समाप्त होने पर मनुष्य जो मार्ग खोजता है, जिन उपायों का अवलम्बन लेता है उससे क्या यही अनुमान लगाया जाता है कि उसका सन्तुलन बिगड़ गया है? यदि यह मान लिया तो फिर यह भी देखना होगा कि सहिष्णुता समय से पूर्व ही समाप्त हुई है अथवा समयावधि बीत जाने पर। यदि वह समयावधि बीत जाने के बाद ही हुआ है और अवलम्बित मार्ग भी उचित ही सिद्ध होता है तो फिर उसको तो समर्थन ही मिलना चाहिए। महाभारत का उदाहरण सम्मुख है। यद्यपि यहाँ पर यह उदाहरण बहुत बड़ा है फिर भी मैं संकेत कर रहा हूँ। कृष्ण और पाण्डव उस युद्ध में विजयी हुए इसी कारण उनका चरित्र स्थिर रह पाया था। उनका पक्ष न्याय का पक्ष था, यह इतिहास की साक्षी है। युद्ध से पूर्व कृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश दिया था, यह भी हम जानते हैं। गीता के तत्त्वों का अवलम्बन कर उनमें निष्ठा रखकर युद्ध किया और विजय प्राप्त की इसलिए हम कृष्ण को द्रष्टा कहते हैं। किन्तु यदि परिस्थिति विपरीत होती तो? यदि कौरवों की विजय हो गई होती तो? तब द्रौपदी पर किए गए अत्याचार का इतिहास में उल्लेख नहीं होता, और धृतराष्ट्र को इतिहास ने नीतिज्ञ का स्थान दिया होता। तथा द्रष्टा कृष्ण न होकर कौरवों का कोई क्रूर सेनापति होता। और सम्भवत: इतिहास में फिर यह भी लिखा जाता कि अपनी शक्ति का विचार न करते हुए, पाण्डव कौरवों से लड़ते हुए अपना सन्तुलन खो बैठे और स्वयं ही अपना नाश करवा लिया। ऐसा ही निष्कर्ष तत्कालीन इतिहासकारों ने निकाला होता। इस बात का साक्षी इतिहास ही है कि इतिहासकारों ने सदा शासकों का ही समर्थन किया है, विजेताओं को ही महत्त्व दिया है।

अधिकारियों के अच्छे स्वभाव के कारण मैंने यथोचित से अधिक लाभ उठाया होगा, ऐसी यदि तुम्हारा धारणा है तो यह भ्रान्त है। सिन्धु! हम बन्दियों के कुछ अधिकार होते हैं। कई सुविधाएँ अधिकारियों की इच्छा से दी जाने का प्रावधान भी नियमों में है। उनमें से जो सुविधाएँ अधिकारियों ने स्वेच्छा से मुझे दीं उनके विषय में मैंने यह कभी न कहा कि वह मेरा मूलभूत अधिकार था। उसके लिए मैं सदैव सम्बन्धित अधिकारी का आभारी रहा हूँ। यदि उस प्रकार की वह सुविधा मुझे नहीं दी गई तो उसके लिए मैंने अपने मन में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया की भावना नहीं रखी।

ऐसे विकल्पाधिकार का अनुकूलता से प्रयोग करने के लिए भी कुछ कसौटी होती है। अपने काम की दक्षता के विषय में किंचित् संकेत क़दाचित मैंने तुमसे किया है। समस्त भारत के बन्दियों कें विषय में तो मैं कुछ नहीं कह सकता। हाँ, समस्त बम्बई राज्य में यदि पूर्ण उत्तरदायित्व से और कुशलता से कार्य करने वाले शीर्षतम ८-१० व्यक्तियों की यदि कोई सूची बनाई जाए तो उनमें मेरा भी स्थान होगा, ऐसा मैं कह सकता हूँ। विगत साढ़े तीन वर्षों से प्रतिवर्ष लाखों रुपयों का उत्पादन और पूर्ण उत्तरदायित्व का निर्वाह करते

हुए जिसमें कि अधिकारी थोड़ा-सा भी दोष न दिखा सकें, इस प्रकार का काम मेरे हाथों से हुआ है। अतिशयोक्ति रूप में नहीं अपितु चरितार्थ में कहना पड़ता है कि दिन-रात लगाए बिना यह होना क्या संभव था? यह मेरा कोई व्यक्तिगत व्यवसाय तो था नहीं और न ही इसमें मेरी किंचित् पूँजी लगी थी। जिस आशा के साथ अधिकारियों ने विश्वास करके हम पर उत्तरदायित्व सौंपा था उसको पूर्ण कर उनके विश्वास को स्थायी बनाने के लिए अपना कण-कण सुखा कर मैंने यत्न किया और अक्षरशः अपना उत्तरदायित्व निभाया। यदि कोई न्यायप्रिय व्यक्ति होगा तो वह इसका समस्त श्रेय हमको देगा। काम में आत्मीयता डालना यह हमारा स्वभाव बन गया था। 'जितना दाम उतना काम', इस प्रकार की भावना को हमने कभी पनपने ही नहीं दिया।

माँ के देहान्त का समाचारसूचक-पत्र मुझे प्रातः ११ बजे के लगभग प्राप्त हुआ था। करकरे अस्पताल में थे। मैंने पत्र पढ़ा और जेब में रख लिया। मेरा अन्तर रुदन कर रहा था, उसके लिए मुझे एकान्त की आवश्यकता थी।

यदि मैं दण्डित नहीं होता और किसी का कर्मचारी होता तो मुझे छुट्टी मिल जाती, किन्तु सिन्धु, यहाँ कारा में किसको छुट्टी मिलेगी? बैलगाड़ियाँ मेरी छाती पर खड़ी थीं। अलग-अलग स्थानों पर साबुन भेजना था। आज विशेष काम के लिए कुछ लोगों को विशेष प्रशिक्षण दिया जाता है, किन्तु उस समय सारा दायित्व अकेले मुझ पर था अथवा डाला गया कहो, जो कुछ भी है था वह मुझ पर ही। बैलगाड़ियाँ भर दी थी, भट्टी चालू थी, वह बिगड़ न जाए, इसकी ओर ध्यान देना नितान्त आवश्यक था। मुझ अकेले व्यक्ति पर आई विपत्ति के लिए मैं ३०-४० व्यक्तियों को उसका लक्ष्य बनाना उपयुक्त नहीं समझता था और न यह संभव ही था।

दोपहर बाद चार बजे से कुछ लिखा-पढ़ी के कार्य में अधिकारियों की सहायता करनी पड़ती है। वह होना बहुत आवश्यक है। अपनी अड़चन के लिए क्या मैं उनको असुविधा में डालूँ? सच तो यह है कि मेरे पास रोने के लिए समय ही नहीं था।

इसके अतिरिक्त एक कार्य यह भी था कि यदि बेकरी के पदार्थ पैक कर नहीं दिए जाते तो दूसरे दिन प्रातः बिक्री के लिए पदार्थ दिए ही नहीं जा सकते थे। बेकरी मेरी तो थी नहीं जिसे एक दिन के लिए बन्द कर दिया जाता। अनेक दैनिक बंधे हुए ग्राहक होते हैं। वे विश्वास पर रहते हैं। उनको मैं कैसे निराश कर सकता था।

यह सब काम समाप्त कर रात्रि को ९ बजे ही मुझे एकान्त प्राप्त होने वाला था। और वह तभी प्राप्त हुआ भी, उससे पूर्व नहीं। पत्र को पुनः पढ़ने के लिए जेब से निकाला। पढ़ने का कोई कारण तो था नहीं। मन की बात तो ज्ञात थी ही। आँखें भर आईं। एक के बाद एक, इस प्रकार अनेक स्मृतियाँ हृदय में उमड़ने लगीं। उसी मनःस्थिति में मैंने तुमको एक पत्र लिखा था और प्रातः भेज दिया था। क्योंकि प्रातः फिर मुझे कोल्हू में जोता जाने वाला था। मुझे अवकाश नहीं था, कोई सान्त्वना देने वाला नहीं था।

शीघ्रता से किया जाने वाला कार्य जितनी ही सावधानी से क्यों न किया जाए, किन्तु कहीं न कहीं और कभी न कभी उसमें कोई दोष निकल आना स्वाभाविक है। दाहक द्रव्यों

के व्यवहार में भी मुझे इसी प्रकार के अनुभव हुए हैं। इस उद्योगशाला की प्रयोगशाला से उसकी ठीक व्यवस्था होने तक की अवस्था में मैंने स्वयं कार्य करके उस अनुभव को प्राप्त किया है। एक बार नहीं, तीन बार इस प्रक्रिया में मेरी आँखों में कास्टिक का पानी गया था। इससे एक बार तो आँख की पुतली में तीव्र घाव भी हो गया था। उस समय आँख से अन्धा हो जाने का भय भी हो गया था। एक बार निचले ओष्ठ के बाहर-भीतर गरम तप्त कास्टिक का तरल पड़ गया था, इससे तीन दिन तक तो मैं मुँह में कोई वस्तु डाल ही नहीं सका था। पूरा ओठ छिल गया था और मसूड़े भी उससे प्रभावित हुए थे।

अपनी शारीरिक क्षति के लिए क्या मैं किसी से भरपाई की माँग कर सकता था? मैं करूँ भी तो कोई देने वाला नहीं। क्योंकि जेल के अन्दर के उद्योग फैक्ट्री एक्ट के अर्न्तगत नहीं आते। इसलिए उन पर क्षतिपूर्ति (कॉम्पन्सेशन) के नियम भी लागू नहीं होते। फिर भी, यदि कोई अड़चन अथवा कठिन काम हुआ तो उसको स्वेच्छा से स्वयं करने का अभ्यास बना लिया था और उसमें प्रगति भी की थी। इसीलिए दूसरे नये सीखने वालों को बिना किसी प्रकार की कठिनाई के काम सिखाना सरल हो पाया। इसी का ही परिणाम है कि इन साढ़े तीन वर्षों की अवधि में किसी को किसी प्रकार का कोई तीव्र आघात लगा हो, ऐसा एक भी उदाहरण नहीं है। सबको अपने-अपने काम में मैंने सिद्धहस्त बना दिया था।

क्या किसी भी काम को अपने हाथ से किए बिना यह सब संभव था? करकरे को जो फुफ्फुस विकार हुआ था, उसका कारण भी डॉक्टर ने कास्टिक और कारबोलिक की भाप के सदैव सम्पर्क में रहना बताया था।

इन कामों को निपुणता से स्वयं करते हुए अधिकारियों का विश्वास प्राप्त कर उसके प्रतिदान में यदि उन्होंने मुझे कुछ सुविधा देने का विचार किया होगा तो उसके प्रति आभार प्रकट करना जैसा मेरा कर्तव्य है, उसी प्रकार उनको भी चाहिए कि वे ऐसा न मानें कि उन्होंने मेरे सिर पर किसी प्रकार के उपकारों का बोझ रखा है, अन्यथा मैं इसके योग्य तो था ही नहीं? मैंने जी-तोड़ कर शरीर की क्षति करके अपना काम समझ कर काम किया है उसके प्रतिफल में ही उन्होंने मुझे कुछ सुविधाएँ प्रदान की होंगी, यों ही भावावेश में नहीं।

वर्तमान विवाद के विषय में तुमको उस ओर से विवरण प्राप्त हुआ है, उसकी चर्चा मैं नहीं करूँगा, क्योंकि वह इस समय भी विवाद का विषय ही बना हुआ है। उसकी चर्चा करने से हानि की संभावना है।

तुम्हारी एक आशंका के विषय में केवल मैं लिखना चाहता हूँ। मुझसे नियम पालन ठीक प्रकार से होता है अथवा नहीं, इसके विषय में तुमने मुझसे पूछा है। उसका निश्चित उत्तर तो मैं 'हाँ' के रूप में ही दे सकता हूँ। मैं नियमों का पूर्णतया पालन करता हूँ। तुमने यह प्रश्न क्यों किया है, मैं इस विषय में मैं नहीं जानता, परन्तु यदि मेरा अनुमान ठीक है तो मैं तुमको समझाने के लिए लिख रहा हूँ।

एक उदाहरण देता हूँ। यदि किसी दण्डित को अंदर के खेत की मूली पकाते हुए देख

लिया जाए तो उस पर अभियोग चलाया जाएगा, क्योंकि ऐसा करना नियम विरुद्ध है। परन्तु पूछताछ करने पर यदि ऐसा विदित हो कि उस दण्डित को चार दिन से भोजन नहीं मिला था, उसने इस विषय में प्रतिवाद करने की चेष्टा भी की थी, परन्तु कदाचित किन्हीं कारणों से उसकी शिकायत पर ध्यान नहीं दिया गया, तो क्या होगा? इस समय के अधिकारियों की तो बात ही छोड़ दो, उनमें पर्याप्त दया है। परन्तु यदि अधिकारी कठोर होंगे और वे न्यायाप्रिय भी हुए तो क्या वे इसकी पूछताछ नहीं करेंगे कि उसको चार दिन तक भोजन क्यों नहीं दिया गया? तथा उसने जो मूली खाई तो विवशता में ही खाई, इसलिए उस पर किसी प्रकार का नियम लागू कर उसका प्रयोग करने का कोई अभिप्राय नहीं। यही तो इसका न्याययुक्त निष्कर्ष हो सकता है।

सिन्धु! क्या मनुष्य मात्र रोटी के टुकड़ों पर ही जीता है? भोजन-मात्र पर तो पशु ही जीते हैं। मनुष्य को तो जीने के लिए कार्य की लालसा, प्रेम, सहानुभूति, उसके कार्य का मूल्यांकन आदि बातों की भी आवश्यकता होती है। इसके लिए वह सभी संभव उपाय करता है। मैंने यह भी पढ़ा है कि कुछ थोड़े से प्राणियों को छोड़कर अधिकांश प्राणियों में सामूहिक जीवन की प्रवृत्ति होती है। मनुष्य प्राणी तो नितान्त सम्पर्क प्रिय है, वह समूह के बिना रह ही नहीं सकता। मैं सोचता हूँ कि आदि मानव ने जब समूह बनाए होंगे तो वे प्रेम, सहानुभूति, कर्त्तव्य और प्रशंसा का आदान-प्रदान करने के लिए ही किए होंगे। एक दूसरे के साथ लड़ने के लिए निश्चित ही उन्होंने समूहों का निर्माण नहीं किया होगा। किसी को कोई वस्तु, जिसका वह अधिकारी है, प्राप्त करने का मार्ग अन्याय करके बन्द कर दिया गया है यह तथ्य यदि किसी को दिखाई दे तो कौन समझदार व्यक्ति होगा जो इस अन्याय की सराहना करेगा? वह तो उसके निराकरण का ही उपाय करेगा।

क्या मैं स्वत: को अपराधी मान सकता हूँ? किसी को अपराधी मानने के दो लक्षण हैं। एक वैध और दूसरा नैतिक। वैध यदि कहो तो मैं किसी भी रूप में स्वयं को अपराधी नहीं मानता। नैतिक के विषय में मेरा कहना है मान लो 'अ' मेरा अधिकारी है। और 'ब' 'अ' का वरिष्ठ अधिकारी है। मुझे 'अ' से कुछ शिकायत है। वह मैं 'अ' के समक्ष प्रस्तुत करता हूँ। मेरी शिकायत यदि 'अ' के सामने आने से पूर्व 'ब' के पास गई तो वह निश्चित ही अनुपयुक्त होगी। एक और उदाहरण देता हूँ। तुम जो मुझे प्रेम-पत्र लिखती हो उसके विषय में यदि तुम्हारी यह धारणा हो जाए कि अमुक अधिकारी उन पत्रों को पढ़ता है और उस अधिकारी के सम्मुख ही हम दोनों को भेंट का अवसर प्राप्त हो, तो तुमको मेरे साथ बात करने में संकोच होगा कि नहीं? उसी प्रकार कई बातें वरिष्ठ अधिकारियों तक जाने की नहीं होतीं। छिपाने की दृष्टि से नहीं, अपितु साधारण बात होने के कारण। दो मित्र परस्पर जो वार्त्तालाप करेंगे उसका प्रत्येक शब्द ही मधुर नहीं होता। इस कारण नैतिक दृष्टि से अपने को दोषी मानता हूँ और चिंतित हो जाता हूँ।

सिन्धु! खुले मन के अधिकारियों से खुले मन से बात करने में मुझे कभी भय नहीं लगता और न कभी किसी प्रकार का संकोच ही हुआ। वह फिर कोई बन्दीगृह का छोटा-सा अधिकारी हो अथवा सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश। मुझे जो कुछ ठीक लगता

था, वह मैं सम्बन्धित अधिकारियों को उसी समय कह कर अपने मन का बोझ हलका कर लेता रहा हूँ।

अधिकारियों के सौजन्य से मैं अनावश्यक और अधिक लाभ उठा लेता हूँ, ऐसी यदि किसी कि धारणा होगी तो उसको दूर करने का मेरे पास कोई उपाय नहीं है। तुमको एक बात कहता हूँ। कुछ अधिक सम्पर्क से ऐसा भी होगा कि कुछ विशेष सुविधाओं के लिए बन्दी चुनने हों तो उनमें मैं निश्चित रूप में आ सकता हूँ, ऐसा अधिकारी भी सोचेंगे ही।

उपसंहार रूप में मैं तुमको इतना ही विश्वास दिलाता हूँ कि इस विषय में तुमको किंचित् भी व्यथित नहीं होना चाहिए। अधिकारियों को मुझ पर कभी कोई कार्यवाही करनी पड़ जाए, ऐसा कार्य मैं कभी नहीं करूँगा। न ही मैं कोई ऐसा कार्य करूँगा जिसके लिए मुझे लज्जित होना पड़े।

इस प्रकार का मेरा व्यवहार और प्रवृत्ति रही तो मैं समझता हूँ कि इससे तुम्हें भी सन्तोष ही होगा।

पत्र लम्बा हो गया है।

सदैव तुम्हारा ही
गोपाल

पूर्ति : बुधवार रात्रि ११ बजे
दिनांक १५-७-१९५९

इसके बाद अभी मुक्ति नहीं मिल सकती, इस प्रकार का जब पुनः निर्णय आया तो उससे कुछ दिन तक मन बहुत अस्वस्थ रहा। मैं निरन्तर यही विचार करता था कि मुझ पर जो अन्याय किया जा रहा है उसका प्रतिकार किस प्रकार हो सकेगा। अथवा मैं किस प्रकार इसको प्रकट करूँ, यही मैं दिन-रात सोचता था। क्या इस विषय में न्यायालय में जाया जा सकता है? क्या संविधान में इस सम्बन्ध में अपने लिए कोई सुविधा है? इस विषय में एक्ट की भावना क्या है? कौन से अधिकार के आधार पर अपनी प्रार्थना प्रस्तुत की जा सकती है? इनमें से किसी बात का भी ज्ञान मुझे नहीं था।

मैं केवल एक बात जानता था। वह यह कि मुझ पर अन्याय हुआ है और न्यायालय में अन्याय का निराकरण होता है। न्यायालय धनी-निर्धन, स्वामी-सेवक, शासक-शासित, इस प्रकार का कोई भेदभाव नहीं करता, ऐसा मेरा विश्वास था।

यह प्रश्न ही एक अलग प्रकार का था। आजीवन कारावास का अर्थ क्या होता है? कारावास के कार्य-वहन में प्रभारी शासन-संस्था का अर्थात् एक्जीक्यूटिव का कितना अधिकार है? न्यायालय कहाँ हस्तक्षेप कर सकता है? ऐसे प्रश्नों की कदाचित कभी चर्चा मात्र ही हुई होगी, बस उतना ही उसके आधार पर मेरा ज्ञान भी था। वकीलों के लिए भी यह सदैव आने वाले विषयों में से नहीं था। अतः स्वाभाविक ही वकील-वर्ग भी इससे प्रायः परिचित नहीं थे।

अगस्त, १९५७ में मैंने अपने वकील के द्वारा बम्बई उच्च-न्यायालय में प्रत्यक्षीकरण याचिका-'हैबियस कार्पस पैटिशन' प्रस्तुत कराई थी। न्यायालय ने उसे लौटा दिया था।

वकीलों का भी दोष नहीं था, क्योंकि उनके लिए भी यह विषय ही नया था। इसलिए उसके सभी प्रकरणों पर भलीभाँति विचार नहीं किया जा सका, किन्तु इससे तो मेरा समाधान संभव नहीं था।

संविधान, भारतीय दण्ड विधान : इंडियन पीनल कोड, दण्ड संहिता : क्रिमिनल प्रोसिजर कोड, बंदीगृह निर्बन्ध : प्रिजन्स एक्ट आदि आदि कई पुस्तकें मैंने मँगाई। दिल्ली के एडवोकेट श्री गणपत राय से पत्र-व्यवहार द्वारा सम्पर्क स्थापित किया। अपनी याचिका स्वयं प्रस्तुत करूँ, इसके लिए स्वयं को सिद्ध किया और दिसम्बर, १९५७ में मैंने अपना पहला आवेदन सर्वोच्च न्यायालय को भेज दिया।

१४ यन्त्रणा

अपनी लिखावट सुधारने के लिए एक-एक अक्षर का बार-बार अभ्यास किया जाता है। उसी प्रकार मैं भी सर्वोच्च-न्यायालय के विषय में प्रयत्न कर रहा था। कभी न्यायालय मुझे बुला लेता और प्रारंभिक सुनवाई के पाँच मिनट में ही आवेदन फेंक देता। कभी पूर्व श्रवण के अवसर पर तो आवेदन को स्वीकार कर लेता, परन्तु अन्तिम सुनवाई के समय कुछ टेकनिकल अड़चन उपस्थित कर देता और आवेदन वापिस लेना पड़ जाता। कभी न्यायालय स्वयं आवेदन पर विचार कर उसमें कुछ नया उल्लेखनीय तत्त्व न पाकर मुझे बिना बुलाए ही अस्वीकार कर देता। कभी तो रजिस्ट्रार महोदय आवेदन को देख कर लौटा देते। कुछ तकनीकी दोषों के कारण ऐसा सदैव होता रहता था। यह सब यातनाएँ में सहन करता था।

मेरे मन में शान्ति नहीं थी। शासन का तर्क अधिक शक्तिशाली हो सकता है, पर वह न्यायशील नहीं था, यह बात सिद्ध करना मेरे वश में नहीं था।

प्रत्येक पराजय के अवसर पर मेरे ज्ञान में कुछ न कुछ वृद्धि होती। उसकी सहायता से ही मैं आगे का प्रयत्न करता। दिसम्बर, १९५७ से अगस्त, १९६४ तक की अवधि में मैंने २२ आवेदन पत्र सर्वोच्च-न्यायालय में प्रस्तुत किए थे।

वकील के द्वारा यह कार्य कराना मेरे लिए संभव नहीं था, क्योंकि मात्र अधिवक्ता को खड़ा करने से ही कार्य सम्पन्न होने वाला नहीं था। मैं वकील के साथ विषय पर विस्तृत चर्चा करना चाहता था, क्योंकि एक्ट की सूक्ष्म धाराएँ न्यायालय के ध्यान में लाना नितान्त आवश्यक था। और किसी भी वकील को इतनी गहराई से छानबीन करने का समय मिलना संभव नहीं था। मुझे यदि अवकाश पर छोड़ा होता तो तब कदाचित यह संभव हो सकता था, क्योंकि तब मैं आराम से अवकाश के क्षणों की भाँति एक्ट का एक-एक अक्षर और एक-एक पंक्ति का गहन अध्ययन कर वकील के ध्यान में लाता रहता। इसके अतिरिक्त आर्थिक प्रश्न भी था। केवल प्रारूप सिद्ध करने में ही सैकड़ों रुपये लगते थे। यह सब मेरे लिए संभव नहीं था।

कभी-कभी वकीलों से परामर्श कर लिया जाता था, किन्तु जब उन्हें ज्ञान होता है कि सर्वोच्च न्यायालय ने अनेक आवेदनों को अस्वीकार कर दिया है तो फिर उनका उत्साह विलुप्त हो जाता और वे आगे कार्य करने के लिए प्रोत्साहन नहीं देते थे। कोई वकील यह सम्मति दिया करते कि शासन से ही विनती कर मुक्ति का मार्ग खोजा जाए। भले ही उनके कथन में सहानुभूति हो, किन्तु शासन के पास जाने का कोई कारण नहीं था और न मार्ग ही। मुझे न्याय चाहिए था, उसके लिए कोई संविधान विशेषज्ञ यदि सहायता करता तो वह

चाहिए थी। मेरा अधिकार न्यायालय द्वारा प्रस्थापित करा लेने की मेरी इच्छा थी। मेरे सद्व्यवहार एवं गुणवत्ता को मुख्य मान कर उनके आधार पर मुझे मुक्ति चाहिए थी।

दिनांक २१-११-१९५७ को मैंने 'पिटीशन इन द नेचर ऑफ हैबियस कौर्पस नं० १४४, १९५७ से सर्वोच्च न्यायालय में आवेदन किया था। मैंने स्वयं आवेदन प्रस्तुत करने की अनुमति माँगी थी। उस विनती के अनुसार मुझे न्यायालय में प्रस्तुत करने का आदेश न्यायालय ने भेज दिया था।

प्रारंभिक सुनवाई के लिए दिनांक २३-१२-५७ की तिथि निश्चित की गई। उसके ४-५ दिन पूर्व ही मुझे दिल्ली की बंदीशाला में लाया गया था। प्रात: ९-३० तक न्यायालय पहुँच गया था। उस समय सर्वोच्च न्यायालय संसद भवन के एक भाग में लगा करता था। न्यायालय के प्रांगण में पहुँचने पर वास्तुकला का वह नमूना मैंने तब पहली बार ही देखा था। ऊँचा न्यायासन, सुन्दर कुर्सियाँ, अधिवक्ता और प्रेक्षकों के बैठने के लिए सामने सजाई गई गद्देदार कुर्सियाँ, पदचाप न हो एतदर्थ बिछाये गए गलीचे, मन्थरगति से घूमने वाले पंखे, अदृश्य दीपों का प्रकाश, इस प्रकार की सजावट थी उसकी। सर्वोच्च् न्यायालय का अपना भवन उन दिनों लगभग ८० लाख के व्यय से बनवाया जा रहा था। लगभग ७-८ मास बाद अर्थात् दिनांक ४-८-१९५८ को उस भवन का उद्घाटन हुआ और फिर सर्वोच्च न्यायालय को संसद भवन से वहाँ स्थानान्तरित किया गया था।

सर्वोच्च न्यायालय की भव्यता देखने का अवसर मुझे प्रथम बार ही मिल रहा था। मैं न्यायालय में जाकर बैठा। वकील आ रहे थे। किसी अन्य के कानों में स्वर न पहुँच जाए इतने मन्द स्वर से वे परस्पर वार्त्तालाप कर रहे थे। जिस प्रकार मनुष्य कोलाहल से भौंचक्का-सा हो जाता है उसी प्रकार कृत्रिम शान्ति भी अखरती है। स्वभाव के विपरीत लादी गई उस शान्ति से एक प्रकार का तनाव मन पर था।

स्वतन्त्र भारत के सर्वोच्च न्यायालय की भाषा अंग्रेजी है। अंग्रेजी में ही आवेदन स्वीकार किए जाते हैं, अंग्रेजी में ही उसे प्रस्तुत किया जाता है और अंग्रेजी में ही तर्क-वितर्क किए जाते हैं तथा अंग्रेजी में ही निर्णय सुनाया जाता है। आज तक यही प्रथा लागू है।

अधिवक्ता समुदाय में लगभग ५० वर्ष से अधिक आयु के जन ही दिखाई देते थे। विधान का गहरा ज्ञान होने के साथ-साथ अनुभव उनके पास था।

वकीलों की तुलना में मेरा ज्ञान कितना है, मेरी शिक्षा कितनी है, अनुभव कितना है, इन विचारों से मन में उथल-पुथल-सी होती थी। इस प्रकार के वातावरण में मैं अपने विचारों को ठीक प्रकार से व्यक्त भी कर पाऊँगा अथवा नहीं इस प्रकार का भय भी मन में उठता था, परन्तु एक विश्वास यही था कि मेरी शिक्षा, आयु, अनुभव और ज्ञान की बातें जान लेने पर भी न्यायालय मेरी तुलना वकीलों से नहीं करने वाला था। मैं अपना विषय स्वयं ही प्रस्तुत करने वाला था, इसलिए मुझे किसी वकील से स्पर्धा भी नहीं करनी थी।

मेरे प्रकरण में पाँच न्यायधीशों की न्यायपीठ बैठी थी। संवैधानिक प्रश्नों पर प्राय: पाँच न्यायाधीशों की पीठ का ही विधान है। अपनी प्रतिवादिता मैंने उनके सम्मुख प्रस्तुत

की। एक-एक न्यायाधीश मुझसे प्रश्न पूछते थे। मैं अपनी बुद्धि के अनुसार उनका उत्तर देता था। १५ मिनट की चर्चा के बाद प्रारंभिक सुनवाई में ही आवेदन लौटा दिया गया।

मुझे मिली छूट को शासन ने बाद में निरस्त कर दिया और उसका लाभ मुझे नहीं मिला, ऐसी धारणा न्यायाधीश महोदय की बनी, किन्तु उसको सिद्ध करने के लिए मेरे पास किसी प्रकार का प्रमाण नहीं था। मेरी रिपोर्ट बुक मेरे पास विद्यमान नहीं थी, जिसमें कि वह सब अंकित होता है। आवेदन लौटा दिए जाने पर ३-४ दिन में ही मैं पुन: नासिक आ गया। तुरन्त ही मैंने दूसरा आवेदन लिखना प्रारंभ किया। दिनांक २-१-१९५७ को अधीक्षक के हाथ में मैंने आवेदन-पत्र दे दिया और उसके ४-५ दिन बाद प्रतिज्ञा-पत्र दिया।

उस दूसरे आवेदन में मैंने न्यायाधीश की धारणा का खण्डन किया और शंका का निराकरण भी। मेरा कथन था कि छूट को मैंने अर्जित किया था, शासन उसको निरस्त नहीं कर सकता था। दिनांक ८-२-१९५८ को मुझे बताया गया कि दिनांक १७-२-१९५८ की तिथि प्रारंभिक सुनवाई के लिए नियत की गई थी। मुझे न्यायालय में उपस्थित करने का आदेश न्यायालय ने अधिकारियों को दिया था।

दिनांक १७-२-१९५८ को २५ मिनट तक चर्चा हुई। न्यायाधीश को मेरी बात समझ में आई तो उन्होंने शासन से उत्तर देने के लिए कहा। तथा इसके लिए दिनांक ३-३-१९५८ की तिथि निश्चित की गई। यह मेरी याचिका १९५८ की पिटीशन नं. १० थी।

शासन ने नियत तिथि पर अपना उत्तर दिया। उसके आधार पर निर्णय मेरे विरुद्ध हुआ। न्यायाधीश ने अपने निर्णय में बंदीगृह के मैनुअल का आधार देते हुए लिखा कि जेल मैनुअल के नियमों के आधार पर आजन्म कारावास का दण्ड भुगतने वाले का दण्ड दण्ड-संहिता की धारा ४०१ के आधार पर समाप्त करना पड़ता था। शासन ही उस अधिकार का प्रयोग कर सकता है। अत: आजन्म कारावास के दण्डित की मुक्ति केवल शासन ही कर सकता है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि दण्ड- संहिता की धारा ४०१ शासन को दया का उपयोग प्रदान करने के लिए है। अत: केवल शासन ही आजन्म दण्डित को छोड़ सकती है।

उसके बाद भी मैं आवेदन करता रहा। कभी न्यायालय मुझे बुला लेता, परन्तु कारागार-संहिता के नियमों को निरस्त करने वाले तर्क मेरे पास न होने के कारण मुझे लौट आना पड़ता था।

दिनांक ५-९-१९६० को मेरे सातवें आवेदन के पूर्व श्रवण की तिथि नियत हुई। उस सुनवाई के बाद न्यायालय ने शासन को उत्तर देने के लिए कहा और दिनांक १२-१०-१९६० को अन्तिम श्रवण के समय कतिपय टेकनिकल कठिनाइयों के कारण आवेदन को मुझे पीछे लेना पड़ा। तुरन्त दूसरा आवेदन कर उस टेकनिकल कमी को दूर करना आवश्यक था। दिल्ली बन्दीगृह से ही मैंने अपना अगला अर्थात् आठवाँ आवेदन-पत्र प्रस्तुत किया। उसके बाद मुझे फिर नासिक भेजा गया।

दिनांक १४-११-१९६० को उस आठवें आवेदन की सुनवाई हुई थी। शासन को उत्तर देने के लिए कहा गया था। दिनांक १३-१२-१९६० को आवदेन पर दो घंटे चर्चा हुई। तब

निर्णय को सुरक्षित रख लिया गया था। मेरा समाधान नहीं हुआ था, क्योंकि मेरा मन कहता था कि यह सुरक्षित निर्णय मेरे विरुद्ध ही जाएगा।

दिनांक १२-१-१९६१ को निर्णय दिया गया। कारावधि की परिभाषा करते हुए न्यायाधीश ने तीस वर्ष पूर्व प्रिवीकौंसिल के एक निर्णय को अपने निर्णय का आधार बनाया था। ट्रान्सपोर्टेशन अर्थात् देश निष्कासन और इम्प्रिजनमेंट अर्थात् कारावास इनमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। कारावास इस दण्ड का दूसरा नाम है, अत: बन्दी को हिन्दुस्थान में रखा गया हो अथवा अंडमान में रखा गया हो, दोनों एक ही बात हैं, इस प्रकार की भावना उस प्रिवीकौंसिल के निर्णय की थी। सर्वोच्च न्यायालय ने उसे ही पुष्ट प्रमाण मानकर उसके आधार पर अपना निर्णय दिया। विषय की गहनता को देखने का उन्होंने भी यत्न नहीं किया। उसी निर्णय में न्यायाधीश ने आगे लिखा कि आजन्म निष्कासन या आजन्म कारावास प्रत्यक्षत: बन्दी की शेष आयु तक निष्कासन अथवा बंदीवास इस प्रकार का अर्थ ग्रहण करना चाहिए। मृत्यु का दिन किसी को ज्ञात नहीं हो सकता, इस कारण उसमें से छूट नहीं काटी जा सकती। अत: छूट का आधार लेकर दण्ड की अवधि पूर्ण होने का तर्क प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। दण्ड-संहिता ४०१ के अनुसार आज्ञा प्रसारित किए बिना बन्दी को स्वतन्त्रता का अधिकार नहीं है, यह उस निर्णय का सार संक्षेप था।

रोग का उपाय जिस प्रकार कई बार रोग की अपेक्षा अधिक कष्टदायी होता है, वैसी ही मेरी स्थिति हो गई थी। धारा ४०१ में तो मात्र दया का ही अधिकार निहित था। उस पर अड़े रहते हुए बन्दी को तड़फा-तड़फा कर मारने का अधिकार शासन को उसके द्वारा प्राप्त हो गया था। बंदी अच्छा व्यवहार करे अथवा अनुचित काम करे अथवा न करे, छूट प्राप्त करे अथवा न करे, अधिकारियों की आज्ञा का पालन करे अथवा न करे, किन्तु उसको मुक्ति शासन की इच्छा से ही प्राप्त हो सकती है। यही मुख्य लक्ष्य रह जाने के कारण दण्डित को दिए जाने वाले सामान्य न्याय प्राप्त करने का भी अधिकार नहीं रह गया।

दण्डित के अपने सद्व्यवहार के आधार पर कारावधि की छूट प्राप्त कर लेने पर भी यदि कोई अन्य कारण इसमें बाधक बन भी जाए तो भी उसका सद्व्यवहार मुख्य मानकर उसकी मुक्ति में सहायक सिद्ध हो, इस प्रकार का कोई नियम ही नहीं रह गया था। शासन जिसको चाहे दो वर्ष में छोड़ दे, पाँच वर्ष में छोड़ दे, किसी को दण्ड प्रारंभ होने से पूर्व ही छोड़ दे, किन्तु जिसके प्रति उसकी कुदृष्टि हो गई उसने कितने ही दीर्घ काल तक प्रत्यक्ष कारावास भुगता हो, कितनी ही छूट प्राप्त की हो, परन्तु जब तक उसके तन में प्राण हैं, हृदय में धड़कन है, जब तक उसकी कारावधि पूर्ण नहीं हुई और उसको कारावासी बनाये रखने का स्वयं को अधिकार प्राप्त है, ऐसा मानकर किसी को मुक्ति की आज्ञा ही न दे, इस प्रकार के अन्याययुक्त व्यवहार के लिए शासन को स्वतन्त्रता मिल गई।

शासन रूपी अन्धकार में चलने वाले अन्याय न्यायालय रूपी प्रकाश में स्पष्ट करने का सामर्थ्य किसी बन्दी में शेष नहीं रह पाता। यही कारण है कि सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख भी यह बात स्पष्ट नहीं हो पाई और सम्भवतया मैं स्वयं ही अपना पक्ष भली प्रकार प्रस्तुत न कर पाया होऊँ, यह भी हो सकता है। क्योंकि न्यायाधीशों के उस निर्णय से कुछ

ऐसा आभास भी मिलता था कि मेरी बात स्पष्ट रूप से उनकी समझ में नहीं आ पाई।

आजीवन कारावास का अर्थ है किसी को स्वतन्त्रता से वंचित करना, न कि उसके जीवन का अपहरण। जीवन का अपहरण करने के लिए विधान की एक एक लिखित धारा है, वह अर्थात् मृत्यु-दण्ड देने की धारा। आजीवन कारावास उससे कम ही माना जाता है। इस दूसरी कारावधि का अन्त पुनः स्वतन्त्रता प्रदान करने में हो सकता है, मृत्यु देने में नहीं। क्योंकि मृत्यु देने के लिए दूसरा विधान है। और मृत्यु-दण्ड देने के बाद स्वतन्त्रता प्रदान की गई, ऐसा नहीं कहा जा सकता। इस वस्तुस्थिति और तर्क पर आधारित धाराएँ विचारणीय थीं। क्योंकि आजन्म कारावास का अर्थ मृत्यु-दण्ड नहीं है, अतः इसका स्पष्टीकरण न्यायालय द्वारा होना चाहिए।

जो जल हमारी आँखों को शुद्ध दिखाई देता है उस जल से रोग भी उत्पन्न होते हैं, ऐसा सांसारिक नियम है। ऐसी अवस्था में सूक्ष्मदर्शी यन्त्र द्वारा परीक्षण करने के उपरान्त रोग दूर करने के उपाय किए जाते हैं। इसी प्रकार मेरी स्थिति में भी न्यायालय उस सूक्ष्मदर्शी यन्त्र का कार्य करे, ऐसी मुझे अपेक्षा थी।

सर्वोच्च-न्यायालय के निर्णय से मैंने स्वयं को असहायावस्था में पाया। उस निर्णय को किस प्रकार पलटा जाए, किसके सम्मुख इसे प्रस्तुत करने से बदला जा सकता है? दण्डित अपनी मृत्यु का दिन नहीं बता सकता। शासन भी वह दिन नहीं बता सकता। दण्डित को छूट देना यदि नियमित था तो उस छूट को कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व क्या छूट देने वाले पर नहीं होना चाहिए? आजन्म कारावास का दण्डित अपनी मृत्यु का दिन नहीं बता सकता, इसलिए उसको प्रदान की गई छूट का प्रयोग उसकी कारावधि घटाने में नहीं किया जा सकता, इस बात पर यदि शासन को दृढ़ रहना था तो फिर उसने हमको यह क्यों कहा था कि हम रक्तदान करें और उसके प्रतिदान में छूट अथवा पैसे प्राप्त कर लें, ऐसा आजन्म कारावासी को क्यों कहा जाता रहा था? यह किस नियम के आधार पर किया गया था? दण्डित का रक्त लेकर उसको झूठे आश्वासन इस कारण दे देना क्योंकि वह विवश है और पूर्णतया शासन के अधिकार में है? कारावास से बाहर यदि इस प्रकार का कोई व्यवहार करे तो शासन उसको दण्ड का भागी मानता है। हमारी स्थिति में शासन बलवान था, किन्तु वह विश्वसनीय नहीं रह गया था, न्यायनिष्ठ नहीं रह गया था। सर्वोच्च न्यायालय के उस निर्णय को मान्य करना मेरे लिए कठिन हो रहा था और उसे अमान्य कर उसके सम्मुख ही उसके टुकड़े कर दूँ, ऐसा सामर्थ्य भी मुझ में नहीं था।

मैंने जो छूट प्राप्त की थी उसके सम्बन्ध में न्यायालय ने टिप्पणी की थी कि 'हमें ऐसा नहीं प्रतीत होता कि शासन अनुचित व्यवहार करेगा।' उचित और अनुचित की व्याख्या किए बिना ही न्यायालय ने अपनी संभावना को व्यक्त किया था। न्यायालय ने जिस प्रकार की आशा अपने निर्णय में व्यक्त की थी, न्याय की दृष्टि से वह शून्य के समान थी। पंजाब उच्च-न्यायालय द्वारा मेरे विषय में अपने निर्णय में व्यक्त किए गए दयाभाव को शासन ने किस प्रकार ठुकराया था, वह मैं जानता था। न्यायालय के शब्द को मान देने का अर्थ है अपने प्रतिशोध की भावना को समाप्त करना, इस विचार से उस समय के शासकों ने

न्यायालय की संस्तुति को ठुकरा दिया था। इस कारण सर्वोच्च न्यायालय की इस आशा की अभिव्यक्ति को कि 'शासन अनुचित रीति से बर्ताव करेगा, ऐसा नहीं लगता।' शासन कितना महत्त्व देगा, यह मैं मन ही मन जानता था। फिर मुझे न्यायालय से दया का भाव नहीं अपनी स्वतन्त्रता का अधिकार चाहिए था। किन्तु संभावना यही बढ़ती जा रही थी कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के अपने प्रयत्नों में मैं कदाचित अपना जीवन ही खो बैठूँ। इसके लिए शासन को कोई अतिरिक्त कठिनाई होने वाली नहीं थी। सर्वोच्च-न्यायालय के निर्णय के आधार पर धारा ४०१ के अन्तर्गत देने की आज्ञा कभी दी ही नहीं जाएगी। सर्वोच्च-न्यायालय के निर्णय द्वारा अपना अन्याय छिपाने का बहुत बड़ा साधन राज्यकर्ताओं के हाथ में आ गया था।

इस निर्णय की प्रतिध्वनि समाचार-पत्रों में भी उठी थी। किसी ने तो इस प्रकार की आशंका भी व्यक्त की थी कि शासन को दिए गए, इस अनियंत्रित अधिकार का उपयोग कभी अन्यायपूर्ण रीति से भी हो सकता है।

इस निर्णय को सुन कर जितना मैं विचलित हुआ था उतनी ही मेरी पत्नी भी विचलित हुई थी। अपने हृदय के उद्गार निकालने के लिए उसने मराठी भाषी दैनिक 'मराठा' में प्रकाशनार्थ एक पत्र भेजा था। आचार्य अत्रे ने उस सम्पूर्ण पत्र को दिनांक २६-१-१९६१ के अंक में प्रकाशित किया। मेरी पत्नी की मनःस्थिति उस निर्णय से कैसी हो गई थी, उसका आभास उस पत्र से मिलता है। पत्र इस प्रकार था—

'दिनांक १३-१-१९६१ के अंक में मेरे पति श्री गोपाल विनायक गोडसे को दिए गए दण्ड और मुक्ति के सम्बन्ध में आप द्वारा लिखित सम्पादकीय पढ़ा, अपने उस लेख में आपने मेरे पति पर किए जाने वाले अन्यायों में से एक अन्याय की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया, इसके लिए मैं आपकी आभारी हूँ।

दुर्भाग्य की बात तो यह है कि शासन स्वयं को प्रशासक न समझ कर निरंकुश राजा ही समझती है। आजन्म कारावास के किसी बन्दी की कारावधि को तो हम उसके प्रारंभ होने से पूर्व ही क्षमा कर उसको मुक्त कर दें और दूसरे को इतनी कारावधि दें कि जिसे भुगतता हुआ ही वह प्राण त्याग दे, किन्तु इसके सम्बन्ध में कोई हमसे न पूछे कि ऐसा क्यों किया गया है? किसी को छोड़ना अथवा न छोड़ना, यह सब पूर्णतया हमारे विचार करने का प्रश्न है। जिसके ऊपर हमारी कृपा होगी उस बन्दी की छूट को हम सोना समझेंगे और जिस पर अप्रसन्नता होगी उसकी छूट को हम मिट्टी समझेंगे। इस प्रकार का शासकीय व्यवहार होता है, ऐसा हमारा अनुभव है। श्री गोपाल गोडसे के विषय में पंजाब उच्च-न्यायालय के तीनों न्यायाधीशों द्वारा व्यक्त किए गए इस संस्तुति को कि उनकी कारावधि को कम किया जाए जहाँ शासन ने कोई मान्यता नहीं दी, वहाँ उनको कारा की अवधि में उनके सद्व्यवहार के कारण प्राप्त छूट को भी अस्वीकार कर दिया गया। यह क्या आश्चर्य की बात नहीं? किन्तु 'राजा' की कृपा प्राप्त करना सरल नहीं।

यहाँ पर मेरी पत्नी ने शासन के प्रति व्यंग कसने के लिए संत तुकाराम की पंक्ति दी थी—

तुका म्हणे तेथे पाहिजे जालीचे। मेरा गबालाचे काम नोहे। व्यंग था (कारावास से) मुक्ति के लिए (शासन की) जाति का (कांग्रेस का) व्यक्ति चाहिए। ऐरा गैरा नहीं। जिस समय श्री गोपाल गोडसे को दण्ड दिया गया था, उस समय वे शासकों के राजनीतिक जाति के चार आने के सदस्य भी नहीं थे तब उनको किस प्रकार शासन का कृपा पात्र होना संभव था?'

इसके बाद तुलनात्मक दृष्टि से मेरी पत्नी ने एक और उदाहरण दिया था। तीन हत्याओं में आजन्म कारावास का दण्ड भुगतने वाले एक व्यक्ति पर शासन ने किस प्रकार कृपा की और उसको कितनी शीघ्रता से मुक्त किया इसका विवरण देकर उसने यह बताया था कि कारण कि वह व्यक्ति अर्थात् वह दण्डित एक तालुका कांग्रेस कमेटी का पदाधिकारी था। आगे मेरी पत्नी ने लिखा—'उसको मुक्त किया गया, इसमें कोई रोष अथवा उस व्यक्ति से द्वेष नहीं है। प्रश्न केवल यही है कि नियमों को किस प्रकार लागू किया जाता है, क्या वह न्यायसंगत रूप से किया जाता है। किस बात को परख कर बिना दण्ड भुगते बन्दी को मुक्त कर दिया जाता है और किस बात के आधार पर अवधि पूर्ण होने पर भी बन्दी को कारावास में ही रखा जाता है, यह पूछने का अधिकार यदि न्यायालय को भी नहीं तो फिर जनता को किस प्रकार हो सकता है? यह तो राजा की मनमर्जी हुई।

'सावित्री ने यम से याचना कर अपना पति पुनः प्राप्त कर लिया। उस प्रकार वर्तमान यम रूपी शासन से प्रार्थना कर मैं अपना पति पुनः प्राप्त कर सकूँगी,ऐसी मेरी भावना थी। मैंने विनम्र विनती की, मन्त्री और उपमन्त्री के सम्मुख आवेदन किये, वह 'विचार करेंगे', 'शर्त पर छोड़ेंगे', 'आवेदन भेज दो', इस प्रकार आश्वासन मिलते थे। भोलेपन से आवेदन भेजे, अनेक स्मृति-पत्र भेजे, और छः मास बाद उत्तर आया 'आपकी विनती पर विचार नहीं किया जा सकता।' बम्बई विधान-सभा ने उनकी मुक्ति का दिन दिनांक १०-२-१९६० घोषित किया था। उसके सम्बन्ध में सभापति को लिखा। उनका उत्तर आया कि "मैं कुछ नहीं कर सकता। आप इस सम्बन्ध में गृह विभाग से पूछताछ कीजिए।' गृह विभाग से पूछा तो उसने कह दिया, 'वह केवल 'काम चलाऊ' उत्तर था अर्थात् पूछने वाले को मुँह देखा उत्तर—यह तो वास्तविक उत्तर नहीं था। इसके लिए केन्द्र शासन से जानकारी प्राप्त करो। केन्द्र शासन ही इस विषय में ठीक-ठीक उत्तर दे सकती है। इसके साथ ही दण्डित का बर्ताव भी अच्छा होना चाहिए।' दण्डित का बर्ताव अच्छा है, इस प्रकार का कारा का प्रमाण-पत्र लेकर बम्बई राज्य के पास गए तो उन्होंने उत्तर दिया, 'यह तो ठीक है, परन्तु यह हमारी इच्छा का प्रश्न नहीं है। और वास्तविकता तो यह है कि हमने केवल उसको अपने प्रान्त में रखा हुआ है; वास्तव में तो वे केन्द्र शासन के ही बन्दी हैं।' इस प्रकार अनेक वर्षों से शासन तथा उसके विभिन्न अंग मेरे साथ छल-कपट का व्यवहार करते रहे हैं। सावित्री की उस पौराणिक कथा की एक महत्त्वपूर्ण बात मेरे ध्यान से उतर गई थी। वह यह कि यम का 'हृदय' था।

गोपाल के विषय में पंजाब उच्च-न्यायालय ने जो संस्तुति की है, उस पर यदि इस समय विचार नहीं किया गया है तो दूर से दूर उसके आजन्म कारावास के १४ वर्ष पूर्ण

हो जाने पर तो विचार किया ही जाएगा, इस आशा से उनके माता-पिता प्राण धारण किए हुए थे। एक पुत्र को मृत्यु-दण्ड दिया गया था और दूसरा आजन्म कारावास भुगत रहा था, इन आघातों से वे पहले ही पर्याप्त दुर्बल हो गए थे। ऐसी अवस्था में जब उन्होंने यह सुना की परीक्षण समिति का निर्णय है '१५ वर्ष प्रत्यक्ष अर्थात् छूट के दिनों को भी कारावास के रूप में बिता कर २५ वर्ष से अधिक अवधि होने पर १४ वर्षों की रिपोर्ट को विचारार्थ भेजा जाए। उसके बाद ही छोड़ने अथवा न छोड़ने के विषय में विचार किया जा सकेगा।'

न्यायालय की अनुकूल संस्तुति की इतनी अप्रतिष्ठा इतनी उपेक्षा क्या किसी राज्य ने कभी की होगी? न्यायालय के निर्णय रूपी इस पत्थर के सिर पर पड़ने पर अब गोपाल को स्वतन्त्र रूप में जीवित देखना हमारे लिए संभव नहीं, इस प्रकार की धारणा उनके माता-पिता की बनी और १५-२० दिन के भीतर ही उन्होंने नासिक कारा में उनसे भेंट की। बंदीशाला की दो-तीन सीढ़ियाँ चढ़ने की शक्ति भी उनकी माता जी में नहीं थी। २० मिनट उनकी भेंट हुई। बड़े निर्विकार रूप से २० मिनट पूर्ण होने पर अधिकारियों ने माता-पिता से उठने के लिए कहा और उनकी माता जी सीढ़ियों से उतरते ही जो नीचे लुढ़कीं कि फिर कभी उठ ही नहीं सकीं। ३-४ दिन में ही उनका देहान्त हो गया। गोपाल से स्वतंत्र रूप में मिलना होता तो अच्छा होता, इसके अतिरिक्त अन्त समय में उनके शब्द भी क्या हो सकते थे? माता जी की मृत्यु से पिता जी का दु:ख और बढ़ गया। थोड़े दिनों में उन्होंने भी शरीर त्याग दिया।

स्वतन्त्रता के उपरान्त आजन्म कारावास के दण्डित को अन्डमान नहीं भेजा जाता। नियम परिवर्तित किए गए हैं, किन्तु गोपाल के लिए भारत में ही अन्डमान निर्माण किया गया है। माता-पिता जी के जीते जी शासकों ने उनको मुक्त नहीं किया, थोड़े दिनों के लिए भी अवकाश नहीं दिया। नियमों के भीतर रह कर भी किस प्रकार की क्रूरता का बर्ताव कर सकते हैं, ब्रिटिशर्स की अपेक्षा हम कितने बुद्धिमान हैं, यह सिद्ध करके शासन ने आसुरी आनन्द का उपभोग किया। उसी शासन ने आज मेरे मुख से उर्मिला के शब्द कहने के लिए बाध्य किया है जिन्हें स्व. मैथिलीशरण गुप्त ने अपने काव्य में इस प्रकार संजोया है—

पति को निष्कासन मिला, मुझको कारागार।
मृत्यु-दण्ड उस तात को, राज्य तुझे धिक्कार॥

अन्तर केवल इतना ही है कि उर्मिला पर आपत्ति आई थी, राज्य-लालसा के कारण उत्पन्न हुई घटनाओं के कारण, इसलिए उन्होंने राज्य को धिक्कारा और मुझ पर जो आपत्ति आई है, वह शासकों के क्रूर बर्ताव के कारण। इसलिए मुझे राज्य को और क्रूरता का पालन करने वाली सत्तान्धता को धिक्कार करना पड़ा है। हे, ईश्वर! न्याय में पक्षपात न करने वाला शासक राज्य करे, ऐसी मेरी प्रार्थना है।

आपकी

सौ० सिन्धु गोडसे

मैंने निश्चय किया कि सर्वोच्च न्यायालय में पुनः जाऊँगा। समाचार-पत्रों में कभी-कभी बन्दियों और बन्दीगृहों के सम्बन्ध में जानकारी आया करती थी। मैं उनको लिख लिया करता था। न्यायालयों के निर्णय प्रकाशित होने पर अपने अनुकूल लगने वाले अंश को भी मैं पढ़कर उसको लिख लिया करता था। अब तक के अपने न्यायालय के प्रयत्नों से भी मुझे थोड़ा बहुत अनुभव हो गया था। उन सभी का उपयोग करके पुनः नया आवेदन-पत्र तैयार किया जाए, ऐसा मैंने निश्चय किया।

निर्णय के बाद लगभग ३-४ मास तक मेरा मस्तिष्क उसी दिशा में विचार करता रहा। नित्य के सामान्य काम पर निश्चिय ही कुछ प्रभाव पड़ता था, परन्तु कार्य में बाधा न डालते हुए मुझे अपना लेखन-कार्य चालू रखना था। व्यक्तिगत नित्यक्रमों में मेरा ध्यान विचलित हो चुका था। कभी नहाने के लिए जाता और बिना नहाए ही लौट आता और फिर थोड़े समय में ध्यान आता कि मैंने तो स्नान ही नहीं किया। कुछ दिनों मैं रोगग्रस्त रहा। डॉक्टर ने गरम पानी से स्नान करने के लिए कहा था। एक दिन गरम पानी की बाल्टी मैंने नल के नीचे लगा दी। पानी भरता जाता और मैं बरतन भर-भर के अपने शरीर पर डालता जाता। पानी की उष्णता कभी की समाप्त हो चुकी थी, फिर भी मैं स्नान किए जा रहा था।

एक बार ऐसा भी हुआ कि विचारों की तन्मयता में ही मैं स्नान कर रहा था कि सहसा उठा और मन में विचार आया कि मन में जो विचार संकलित हुए हैं उन्हें तुरन्त लिपिबद्ध कर लिया जाए। इस दृष्टि से मैं स्नान करते ही उठा और अपनी कोठरी की ओर चल दिया। मन में मेरी यह कल्पना थी कि मैं वस्त्र धारण किए हुए हूँ। कुछ पग आगे जाने के बाद ध्यान आया कि मैंने तो वस्त्र ही नहीं पहने हैं, तब लौटा और वस्त्र पहन कर फिर बाहर आया। पागल की परिभाषा यद्यपि मुझ पर पूर्णतया लागू नहीं हो सकती थी, किन्तु आज यदि मैं विचार करता हूँ तो सोचता हूँ कि वह उससे कम की भी कोई स्थिति नहीं थी। यदि पागल हो जाता तो कम से कम जो यातनाएँ मन और मस्तिष्क तथा शरीर को अतिरिक्त, भुगतनी पड़ रही थीं, वह तो नहीं भुगतनी पड़तीं।

करकरे मेरे साथ ही रहते थे। वे मुझे बलपूर्वक भोजन करने के लिए बैठाते थे। वे मेरे अन्य व्यवहार पर भी ध्यान रखते थे, परन्तु इस प्रकार सड़ते हुए जीने का क्या महत्त्व है? मरना ही जब है तो दूसरों के लिए तुरन्त स्थान रिक्त क्यों न किया जाए? किसी का ग्रास हम क्यों खा जाएं? ऐसे विचार मन में उठते थे। उसका प्रभाव मेरे लिखने पर भी पड़ता था।

मनुष्य के मन की एक स्थिति ऐसी भी होती है कि जब उसको मृत्यु का भय भी नहीं रहता, परन्तु जीते जी मारने का खिलवाड़ शासन मेरे साथ कर रही थी। दण्डित के साथ सद्व्यवहार किया जाए, बार-बार उसको उसके अपराध का निर्देश कर उसकी आत्मा का हनन न किया जाए। जिस प्रकार उसका आत्म-सम्मान स्थिर रह सके, इस प्रकार का व्यवहार उसके साथ किया जाए। उसके अन्तर को सुधारने का अवसर प्रदान किया जाए, उसके गुणों का मूल्यांकन किया जाए। उसका श्रम बिना मूल्य के ग्रहण न किया जाए। उसके साथ छल नहीं किया जाए। इस प्रकार की शिक्षा कारा के अधिकारियों को दी जाती

है। सम्भवतया ऐसा नियम होगा, किन्तु प्रत्यक्ष में तो दण्डितों के साथ क्रूरता का ही व्यवहार किया जाता है, किन्तु बाहर प्रकट यही किया जाता है कि स्वराज्यकाल में बंदीशालाओं की योजना, कार्यप्रणाली और व्यवहार में अन्तर आ गया है। दण्डितों के साथ अब दण्डितों जैसा व्यवहार नहीं किया जाता। उनको सभ्य नागरिकता की शिक्षा दी जाती है। सच्चाई यह है कि कथनी और करनी में अन्तर है। जनता समझती है कि दण्डितों को सुख विलास मिलता है।

इससे पूर्व मैं कह चुका हूँ कि फाँसी की क्रिया वास्तव में उस दण्ड की भयंकरता नहीं होती। एक बार मन में यह निश्चय हो जाने पर कि मुझे मृत्यु-दण्ड प्राप्त हुआ है और वह समय शीघ्र ही आने वाला है तो फिर भय नहीं रहता। नियम भी यही कहता है कि इस प्रक्रिया को शीघ्र ही पूर्ण किया जाए। ऐसा दूसरे के दुःख को ध्यान में रखकर किया जाता है। अतः इस नियम में मनुष्यता का आभास प्राप्त होता है। तिल-तिल कर तड़फा कर मारने की प्रक्रिया नियम में नहीं है, किन्तु किसी को यह कहा जाए कि तुमको मृत्यु-दण्ड दिया गया है और उसके गले में फाँसी का फँदा न लटकाकर उसके पैर में डोर बाँधकर लटकाए रखना और यह समझना कि इससे इसकी मृत्यु हो जाएगी, गले में रस्सी डालने से तो रक्तरंजित मृत्यु होगी और इससे रक्तविहीन मृत्यु होगी, अतः यह दण्ड उससे मृदु है, इसीलिए इसका भाव भी दयायुक्त है, किन्तु उस पद्धति से उस व्यक्ति के शरीर को जो वेदना होगी वह वेदना शासन के इस मृदु दण्ड के तथाकथित दयापूर्ण व्यवहार से मन को हुआ करती थी। अधिकारियों को तो इस ठगी से कुछ भी वेदना नहीं होती थी। यह बात नहीं कि सर्वोच्च-न्यायालय की कोई विसंगति शासन के ध्यान में नहीं आई थी, परन्तु मुझ पर अत्याचार करने के लिए उस निर्णय-पत्र का सहारा लिया जा सकता था, इसलिए उस विसंगति को दूर करा लेने की इच्छा शासन को नहीं थी।

फाँसी, आजन्म कारावास, कालापानी, कारावास, सश्रम कारावास, साधारण कारावास आदि दण्ड पद्धतियों का आरंभ, उनका कार्यान्वयन, उनकी स्थिति में अन्तर, न्यू साउथ वेल्स, आस्ट्रेलिया, अन्डमान का निष्कासन के लिए उपयोग, कभी शताब्दियों पूर्व की दण्ड पद्धति, छूट पद्धति का प्रारंभ, छूट पद्धति का हेतु, मनुष्य की अपराध प्रवृत्ति का उद्‌गम, बन्दीगृह पद्धति का प्रारंभ, प्रिवी-कौंसिल की धारणा के दोष, सर्वोच्च न्यायालय की टिप्पणी में विसंगति इस प्रकार की अनेक बातों का उल्लेखपूर्ण आवेदन करने का मेरा निश्चय था। एक के बाद एक अनेक पृष्ठ मैं लिखता जा रहा था। इस प्रकार आवेदन का आकार बढ़ता जा रहा था। सोते-जागते, उठते-बैठते मुझे सदा उसका ही ध्यान रहता। कभी असमय रात को मेरी नींद खुल जाती तो तभी उठ कर बैठ जाता और लिखने लगता।

एक प्रकार से एक प्रबन्ध-सा बन रहा था। उसके लिए बहुत-सी जानकारी मैंने एकत्रित की थी। अपनी बुद्धि के अनुसार उसकी रचना को व्यवस्थित किया। मैंने यह निर्णय लिया कि प्रबन्ध के रूप में ही इस आवेदन-पत्र को भेज दूँ। उस प्रबन्ध को मैंने 'क्या भारतीय विधान के अनुसार आजन्म कारावास के दण्डित को कारा में मरना चाहिए?' Has

A Life Convit to Die In Prison Under the Indian Law ? अथवा हिन्दी अक्षरों में हैज ए लाइफ कन्विट टु डाय इन प्रिज़न अंडर दि इंडियन लॉ? शीर्षक दिया था।

जैसे-जैसे कागज लिखकर पूर्ण होते जाते, वैसे-वैसे मैं उनको घर भेज दिया करता। वहाँ से वे टाइप होकर मेरे पास आते। उसी क्रम में मैंने कागजों का एक बड़ा पुलिन्दा घर भेजा। मैं समझता था कि ये टाइप होकर लगभग तीन सप्ताह तक मेरे पास आएंगे, किन्तु इसी बीच एक घटना घट गई। आधा पूना जलमग्न हो गया। पनशेट बाँध टूट गया था।

दो-तीन दिन बाद समाचार-पत्रों में इसके आँखों देखे समाचार के विवरण एवं चित्र आदि प्रकाशित होने लगे। मेरे भेजे हुए कागज जहाँ टाइप होने वाले थे वह घर भी जलमग्न हो गया था। यह मुझे वहाँ का मानचित्र देखने से ही विदित हुआ था। मैंने उसी प्रकार चित्र में यह भी देखा कि मेरे बड़े भाई श्री दत्तात्रय का घर तथा वह घर जिसमें मेरी पत्नी और बच्चे रहते थे, वे सब भी पानी में डूबे हुए थे। सैकड़ों प्राणी मृत्यु के ग्रास बने होंगे, ऐसा अनुमान लगाया जाता था। समाचार भी इसी प्रकार के आ रहे थे।

संपूर्ण डाक-व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई थी। घर का समाचार जानने का कोई भी मार्ग नहीं था। ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते त्यों-त्यों चिन्ता बढ़ती जाती थी। कुछ कर सकने की अपनी कोई सामर्थ्य थी नहीं। शाम होने लगती और कोठरी में बन्द होने का समय आता कि घर के सदस्यों के चित्र आँखों के सामने तैरते दिखाई पड़ते। चित्रों में जब यह स्थिति थी तो वास्तव में पूना कैसा होगा, कितना भयानक, कितना उदास! इस प्रकार की मन ही मन कल्पना में ही रात बीत जाया करती।

मानो कीचड़ को लाँघकर मार्ग निकालता हुआ-सा बहुत दिनों बाद घर से एक पत्र आया। लिखा था—'हम कुशल से हैं, घर सारा पानी में डूब गया था, दूसरी मंजिल पर पानी नहीं आया। निचली मंजिल पानी से भर गई और उसमें रखा अन्नादि सब सड़कर नष्ट हो गया। हम सब साथ में रहते हैं, शेष विवरण बाद में लिखा जाएगा। श्री दत्तात्रय का भी पत्र आया। लिखा था—'भवन विद्यमान है, घर में अन्नादि से लेकर वस्त्र तक सभी कुछ नष्ट हो गया है। सभी लोग कुशलपूर्वक है।'

इसे भाग्य की बात ही समझनी चाहिए कि परिवार सकुशल रह गया था। इसके बाद ही तुरन्त दूसरा प्रश्न खड़ा हुआ। मन में एकदम शंका हुई, मेरे कागजात का क्या हुआ होगा। यदि कागज नहीं रहे तो मुझे उसी प्रक्रिया में से होकर फिर लिखना होगा, किन्तु क्या उतनी शक्ति मुझमें अभी अवशिष्ट है? यही विचार मन में आते हुए भी कागजात के विषय में उस समय पूछना उचित नहीं समझा।

घर को सुव्यवस्थित होने में लगभग दो मास लग गए। बीच में एक पत्र से यह सूचना मिली कि मेरे भेजे कागज सुरक्षित हैं। घर में पानी आता हुआ जानकर सामर्थ्यानुसार और स्थानानुसार जितनी वस्तु ऊपर समा सकती थी। उतनी लेकर सब ऊपर चले गए थे। इस प्रकार वे कागज सुरक्षित रह गए थे।

डेढ़-दो मास व्यतीत होने पर स्थिति जब सामान्य हुई तो फिर मेरे कागज भी टाइप

करवाए गए। सब मिलाकर १७५ टाइप किए हुए पृष्ठ थे। जिस किसी प्रकार इतना परिश्रम किया ही है तो इन कागजों को मुद्रित कराकर ही भेज दूँ, ऐसा मेरे मन में आया। पत्नी से इसकी संभावना के विषय में पूछा। मुझसे जितना हो सकेगा वह सब मैं करूँगी, ऐसी स्वीकृति उसने दी। उसने अनेक स्थानों पर इस विषय में पूछताछ की। मेरे श्वशुर ने कुछ सहायता की। आवेदन मुद्रित होने लगा।

दिनांक २८-१०-१९६१ को मैंने प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर किए और एक टंकित प्रति आवेदन के साथ सर्वोच्च न्यायालय के लिए भेज दी। न्यायालय को सूचित कर दिया गया कि आवेदन मुद्रित किया जा रहा है, मुद्रण पूर्ण होने पर वह भेज दिया जाएगा।

दो मास के बाद मुझे आवेदन की मुद्रित प्रति प्राप्त हुई। बड़े आकार के १२० पृष्ठ थे। ३-४ दिन उनको पढ़ने में लग गए। जहाँ संशोधन की आवश्यकता थी, वह किया और फिर उन प्रतियों को सर्वोच्च न्यायालय में भेज दिया। आवेदन में कई नामों का उल्लेख था। उन व्यक्तियों को एक-एक प्रति भेजने के लिए अधिकारियों को दे दी।

सर्वोच्च न्यायालय के पहले के निर्णय-पत्र से मुझे अनेक बातें सीखने को मिली थीं। मैंने उनका परीक्षण किया। उसके आधार पर निष्कासन अर्थात् काला पानी और 'कारावास' ये दोनों बातें एक नहीं हैं, इसका भेद मुझे दण्डसंहिता की अनेक धाराओं से विदित हुआ। परन्तु उसके लिए स्पष्टीकरण की आवश्यकता थी। निष्कासन के आदेश के बाद दण्डित को कारा में बन्द करने के पीछे कोई वैधानिक आधार नहीं था। सावरकर जी तथा अन्य क्रान्तिकारी बन्दी एवं उसी प्रकार के अन्य अपराधों में दण्डित बन्दियों को नियमानुसार नहीं, अपितु छल-कपट के आधार पर अन्डमान आदि दुर्गम स्थानों पर कारा में रखा गया था, ऐसा मैंने उल्लेख किया था। उसके लिए कानून का उल्लेख कर अपने कथन का समर्थन कर स्पष्टीकरण भी किया था। यदि बंदी बनाकर रखना होगा तो वह १४ वर्षों तक ही रखा जा सकेगा और यदि छूट का अधिकार न भी दिया जाए तो उसको १४ वर्ष बाद मुक्त करना ही होगा। अपने इस आग्रह को मैंने नियमों द्वारा पुष्ट किया था। एक्ट की धाराओं का मैंने पृथक् विश्लेषण किया। मेरे दण्ड का कार्यान्वयन किस प्रकार किया जा रहा है इस विषय को मैंने एक पृथक् अध्याय में समाविष्ट किया था। मैंने न्यायालय को यह दिखाने का यत्न किया कि जिस प्रकार का व्यवहार शासन कर रहा है उसको उस प्रकार का अधिकार कभी भी दिया ही नहीं गया था। उस समय मेरी मन की स्थिति कुछ ऐसी थी कि सर्वोच्च न्यायालय को प्रस्तुत किया गया मेरा यह आवेदन अन्तिम ही होगा, क्योंकि इसके बाद मुझमें वह सामर्थ्य ही शेष नहीं रह पाएगा जिसके आधार पर मैं पुनः आवेदन कर सकूँ। इसलिए इस विषय पर जितना अधिक से अधिक स्पष्ट कर सकता था, वह करने का मैंने यथाशक्ति प्रयत्न किया था। आज भी उस आवदेन की २५-३० प्रतियाँ मेरे पास हैं।

मुझे यह भी आभास हो रहा था कि इसके बाद मैं कार्य में समुचित ध्यान नहीं दे पाऊँगा। पिछले ६ वर्ष से हम अर्थात् करकरे और मैं नासिक कारा की रासायनिक उद्योगशाला में काम करते थे। उस उद्योगशाला के प्रति हमारा एक प्रकार से अपनापन-सा हो गया था। हमारी छूट तो व्यर्थ सिद्ध हो गई, किन्तु उद्योगशाला को हमने स्थापित किया, उसको

व्यवस्थित किया, वह हमारे प्रयत्नों का फल है। रचना का एक छोटा-सा कार्य हमने किया है, इस प्रकार का मानसिक संतोष हम किया करते थे। हमारी अनुपस्थिति में वह कार्य स्थगित होने वाला नहीं था। हमारी छूट भले ही निरर्थक सिद्ध कर दी गई हो, किन्तु वह कार्य तो खड़ा था, और वह कार्य अपने देश का था। भले ही लघुरूप में हो, परन्तु शासन की उद्योग विषयक योजना की कार्यान्विति उससे होती थी। हमारी अपनी व्यक्तिगत हानि हुई, हमारे साथ ठगी की गयी, इसलिए उस उद्योगालय को नष्ट कर देने की भावना में भले ही वैयक्तिक प्रतिशोधात्मक समाधान होता हो, किन्तु मन का विवेक यही चाहता था कि इस प्रकार तो देश की हम हानि करेंगे। हमारी राष्ट्रीय भावना का आभास अधिकारियों को था, इसलिए हमारे विषय में कभी वे इस प्रकार की आशंका भी नहीं रख सकते थे।

दण्डित के साथ की गई वंचना के कारण, कार्य में दण्डित द्वारा हानि करने के उदाहरण कारागार में अनेक मिलते हैं। बढ़िया गलीचे बनाने वाला एक दण्डित था। वह शीघ्र ही छूटने वाला था। इसी बीच एक बहुत ही शीघ्रता का कार्य आया और उसे उस दण्डित को सौंप दिया गया। उससे कहा गया कि इस कार्य को तुम निश्चित अवधि में पूर्ण कर दो, तुम्हें दस दिन की छूट मिल जाएगी।

भोजन और विश्राम की ओर भी ध्यान न देते हुए अथक परिश्रम से उस बन्दी ने निश्चित अवधि में उस कार्य को पूर्ण कर दिया। कार्य हो जाने पर अधिकारियों ने छूट देने में आनाकानी की। उसको छूट का जो आश्वासन दिया गया था, उसका एक-एक दिन बीतने लगा। उसके मन पर जाने कैसा प्रभाव हुआ कि उसके मुक्त होने में आठ ही दिन रह गए थे कि वह दण्डित बहुत दुखी हो गया। वह अधिकारियों के सम्मुख गिड़गिड़ाया कि आज उसे मुक्त कर दिया जाए। मैं इतने से ही सन्तुष्ट हो जाऊँगा, आपका उपकार मानूँगा। मुझे मेरे बच्चों में और परिवार वालों में जाने दीजिए, वे बेचारे तड़प रहे होंगे। आपके आश्वासन पर मैं उन्हें अपनी मुक्तता का दिन दस दिन पूर्व का लिख चुका हूँ। पिछले दो दिनों से वे निराश बच्चे मार्ग देख रहे होंगे।

न जाने क्यों, किसी भी प्रकार से हो अधिकारियों के मन में अन्यायपूर्ण विचार आ गया। गलीचे का कार्य पूर्ण हो चुका था। अधिकारी बोले, 'और आठ दिनों में क्या अन्तर पड़ने वाला है? दण्ड देते समय तुम्हें छूट मिलेगी, ऐसा न्यायाधीश ने थोड़े ही कहा था।'

इस प्रकार के कठोर वचन सुन कर व्याकुल मन से वह दण्डित बोला, 'विश्राम के समय भी काम करना होगा', यह भी न्यायाधीश ने नहीं कहा था। आपको आवश्यकता थी और मेरे पास कला थी। आपने छूट प्रदान का आश्वासन दिया और मैंने कार्य किया।'

'अधिक बड़-बड़ मत करो। तुम्हें आठ दिन हम भूखा थोड़े रखेंगे, खाना मिलता रहेगा, जाओ अपना काम करो।'

इस प्रकार का शूल के समान चुभने वाला उत्तर सुनकर उसकी गिड़गिड़ाहट समाप्त हो गई। उसकी नम्रता भी लुप्त हो गई। वहाँ से वह उद्योगशाला में गया और कैंची लेकर उस गलीचे को उसने तिरछा करके काट दिया। इस प्रकार उसने उसे काटा था कि वह

किसी प्रकार से भी सुधारा नहीं जा सकता था।

किन्तु शासन तो शासन ही था और एक्ट भी उसकी रक्षा करता है। वही हुआ। यहाँ भी एक्ट ने शासन की सहायता की। उस दण्डित को पीटा गया, एकान्तिका में बन्द किया गया, डंडा बेड़ी डाली गई, उसकी छूट को काट कर मुक्ति-दिवस को आगे बढ़ाया गया। बंदीशाला के उत्पातों एवं उपद्रवों के मूल पर यदि कोई ध्यान दे तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि उसका आधार अधिकारियों का दुर्व्यवहार ही होता है। यदि उस गलीचे बनाने वाले को छूट का आश्वासन न दिया जाता तो निश्चित अवधि में वह कार्य पूरा नहीं हो सकता था, इस बात का ज्ञान अधिकारियों को था। जब उन्होंने आश्वासन दिया था तो नैतिक दृष्टि से उसको पूर्ण करने का उत्तरदायित्व उन अधिकारियों का था।

मैं भी अधिकारियों से विवाद करना चाहता तो था, किन्तु यह भी चाहता था कि इससे कार्य की हानि न हो। उस विवाद के प्रारंभ से पूर्व हमने उस उद्योगशाला में एक छोटा-सा समारोह किया। विगत ६ वर्षों में किस प्रकार उद्योगशाला निरन्तर प्रगति करती रही है, इसका विस्तृत विवरण हमने अधिकारियों के सम्मुख प्रस्तुत किया। उत्पादन, वितरण तथा अन्यान्य सभी व्यवस्थाओं का आलेख तैयार कर रखा गया था। दिनांक ३०-९-१९६१ को यह समारोह हुआ। अपने मन में यह समझता था कि मैं उस उद्योगशाला से विदाई ले रहा हूँ।

दिनांक २०-१०-१९६१ को मेरा आवेदन सर्वोच्च न्यायालय में प्रस्तुत हुआ। आजन्म कारावास अर्थात् सम्पूर्ण जीवन यह तर्क यदि शासन की ओर से प्रस्तुत किया गया तो शासन के ही नियमों से अनुशासन की किस प्रकार अवहेलना हो सकती है, यह सिद्ध करने का मेरा उद्देश्य था। मेरा प्रत्येक विचार लिखित हुआ करता था। मैं जानता था कि यह संघर्ष शासन और उसके विरोधी का विषम संघर्ष माना जाएगा और यह भी मैं जानता था कि मैं स्थानीय अधिकारियों के सम्मुख ही उनके नियमों को दोषी सिद्ध करने वाला था, इसलिए कदाचित मेरे साथ अधिक कटु व्यवहार किया जाएगा। और कदाचित उस छल का परिणाम मेरी मृत्यु भी हो सकती है।

दण्डित के परिधान में टोपी के आधार पर उसका वर्ग पहचाना जाता था। पाँच वर्ष या उनसे थोड़ी कारावधि वाले को सफेद टोपी, जिसके पाँच वर्ष से अधिक शेष हैं उसको पीली टोपी, विशिष्ट अर्थात् अभ्यस्त दण्डित को काली टोपी और भाग जाने के अपराध में दण्डित को लाल टोपी पहनाई जाती थी। अभ्यस्त दण्डित की संज्ञा 'दुबारा' है।

हमको पीली टोपी पहनाई गई थी। अर्थात् नियमानुसार हमारी कारावधि पाँच वर्ष से अधिक शेष थी।

मुक्ति की अन्तिम तिथि से प्रारंभ की भुगती हुई कारावधि की गणना के आधार पर अवधि निर्धारित की जाती थी। हमारे विषय में अन्तिम दिन निश्चित नहीं हो पाया था। क्योंकि शासन ने किसी भी नियम का पालन तो किया ही नहीं था। न अपने वचनों पर ही टिका रहा। अब तो मृत्यु ही अन्तिम दिन निर्धारित है, शासन ने ऐसा ही अर्थ सर्वोच्च न्यायालय के उस निर्णय से लगाया था।

यदि उस निर्णय को मान भी लिया जाए तो न्यायालय ने यह भी तो कहा था कि मृत्यु का दिन पहले से ही कोई निश्चित नहीं कर सकता। मुझे ५ वर्ष के बाद ही मृत्यु होगी, इसका अनुमान शासन ने किस प्रकार लगा लिया? उसके पूर्व भी हो सकती है। शासन के बर्ताव के कारण लिखित नियमों में विसंगति सिद्ध हुई थी, इस कारण मैंने टोपी लौटा दी और लौटाने का कारण भी स्पष्ट लिखकर दे दिया।

मुझे सफेद टोपी दी गई। उसके आधार पर मेरी सजा की अवधि ५ वर्ष से कम की श्रेणी में आ गई, इस प्रकार लिखकर देने के लिए मैंने अधिकारियों से आग्रह किया। वे लिखकर देने के लिए उद्यत नहीं हुए, क्योंकि लिखित नियम का और अधिकारियों के लिखित वचन का आधार लेकर मैं सर्वोच्च न्यायालय में जा सकता हूँ, उनका विचार हो सकता था। मैंने सफेद टोपी लेने से भी इंकार कर दिया।

प्रत्येक दण्डित को एक पदक (बैज) दिया जाता है, उसे वह अपने कुर्ते पर बटन के साथ लगाता है। पहले तो वह लोहे की तार से लटका कर गले में डाला जाता था। बाद में यह सुधार किया गया। उस पदक पर बन्दी का क्रमांक, उसका नाम, संहिता की धारा, दण्ड का दिन, दण्ड की अवधि और मुक्ति का दिन अंकित रहता है।

मेरे पदक पर भी मुक्ति का दिन तो अंकित था, किन्तु शासन के बर्ताव के आधार पर तो दिनांक निर्धारित करना ही विसंगत था। मृत्यु ठीक उसी दिन थोड़े ही आने वाली थी? मृत्यु शासन की सेवक तो नहीं कि निर्धारित तिथि पर वह उनके सामने आकर हाथ जोड़कर खड़ी हो जाती। मैंने पदक (बिल्ला) लेने से भी इंकार कर दिया।

काम करते समय अथवा इधर-उधर जाते समय दण्डित को सिर पर टोपी रखना आवश्यक होता है। पदक (बिल्ला) भी लगाना चाहिए, यह भी नियम है। मैंने नियम भंग किया इस प्रकार का आरोप लगाकर मेरी छूट काटना आरंभ कर दिया गया, किन्तु यह उसका उपाय तो नहीं था। मैंने नियमों में दोष और शासन के बर्ताव की असम्बद्धता प्रकट की थी। उसका उपाय यही हो सकता था कि उनकी परीक्षा कर उसका निराकरण किया जाए।

छूट काटना तो दण्ड माना जाता है। और उतनी अवधि के लिए दण्डित की मुक्ति का दिन आगे टल जाता है। मेरे सम्बन्ध में छूट काटना, न काटना एक समान था। शासन अपने को ही झुठला रहा था। कारावधि में छूट दी गई या नहीं तो भी मृत्यु के दिन मुक्ति दी जाएगी, इस प्रकार अन्धेर नगरी का-सा व्यवहार होने के कारण छूट काटने से अनुशासन का एक प्रकार से नाटक-सा खेला जा रहा था।

शासन ने नियमों में दोष तो ढूँढ लिए, किन्तु बहुत बिलम्ब से। उन नियमों में जो सुसंगति बिठाई गई, वह शासन की कुधारणा के साथ। शासन ने तब निश्चय किया कि मेरे बैज पर मुक्ति का दिन अंकित न किया जाए।

इसके आधार पर पदक न लगाने के कारण मुझको जो छूट काटने के रूप में दण्ड दिया गया था, उसका निराकरण होना चाहिए था, किन्तु वह नहीं किया गया। इससे भी मेरा मूलभूत विवाद तो समाप्त नहीं हुआ था। जिसको केवल दण्ड ही दण्ड है और अब

शासन की तथाकथित पद्धति के अनुसार मुक्ति का दिन निर्धारित नहीं, उसको बिल्ला (बैज) लेकर क्या करना था? तुम्हारे पास पदक नहीं है इसलिए तुमको पुनः निकालता हूँ अथवा अपने राज्य में नहीं रहने दूँगा, इस प्रकार की अनर्गल बात यमराज तो नहीं कर सकते थे। और मुक्ति का कोई भी दिन निर्धारित न करना भी सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय-पत्र से प्रकट नहीं होता था, किन्तु इस प्रकार का बर्ताव करने का अपना अधिकार है, ऐसा मनुष्य हीनता का व्यवहार शासन ने किया।

मेरा संघर्ष जारी रहते हुए भी इस अन्याय के लिए मुझे सर्वोच्च न्यायालय में जाना था। मेरी शिकायत अधिकारियों के विरुद्ध थी और उन्हीं के द्वारा मुझे उसे सर्वोच्च न्यायालय तक पहुँचना भी था। अधिकारियों ने बीच में अड़चन डाली। यह बात मैंने भेंट में पत्नी को बताई। अहस्ताक्षरित आवेदन मैंने उसको भेज दिया। उसने सर्वोच्च न्यायालय को लिखा और उसने शिकायत की कि अधिकारी मेरी याचिका के कार्य में अड़चनें डाल रहे हैं।

सर्वोच्च न्यायालय ने आवेदन की प्रतीक्षा की। जब प्रतीक्षा करने के बाद भी आवेदन नहीं आया तो उन्होंने बंदीगृह अधिकारियों को आदेश दिया कि यदि इस प्रकार का कोई आवेदन आया हो तो उसे तुरंत भेज दिया जाए। उनको यह भी निर्देश दिया कि इसको भेजने में विलम्ब क्यों हुआ इसका कारण भी स्पष्ट करे। यह भी सर्वोच्च न्यायालय ने निर्देश दिया कि न्याय माँगने के कार्य में किसी प्रकार की अड़चन डालना अनुचित है।

यह बात मेरी पत्नी को किसी प्रकार विदित हुई। इसकी छानबीन की गई तो ज्ञात हुआ कि अधिकारियों के माध्यम से ही मेरा पत्र व्यवहार हुआ था, किन्तु इससे यह हुआ कि जिस अन्याय के विरुद्ध मुझे उन्मुक्ति (रिलीफ) माँगनी थी, उसका महत्त्व समाप्त हो गया। सत्ता का इस प्रकार का दुरुपयोग शासन की विशिष्ट नीति के कारण हुआ करता था।

१५ स्वाँस के लिए प्रयास

नासिक कारागार में मेरा विवाद जारी था। शासन ने भी अनुभव किया कि मेरे प्रकरण में छूट काटने का कोई उपयोग नहीं है। यदि मुझे किसी ऐसे स्थान पर ले जाकर रखा जाए और सब ओर से सम्पर्क काट कर असहाय बना दिया जाए तो मैं विवाद नहीं करूँगा, शासन को और अधिकारियों को विचार करने के लिए विवश करने वाले, सिर-दर्द करने वाले प्रश्न उपस्थित नहीं करूँगा, शासन के प्रहार चुपचाप अपने ऊपर झेलते हुए बैठूँगा और मृत्यु की प्रतीक्षा करता रहूँगा, इस आशा से दिनांक २०-१-१९६२ को मुझे नासिक से मोटरकार द्वारा औरंगाबाद बन्दीगृह में ले जाया गया।

मेरे विवाद असम्बद्ध नहीं थे, दुराग्रही भी नहीं थे और किसी को कष्ट देने वाले भी नहीं थे। केवल एक एक्ट की व्याख्या को स्पष्ट करने के लिए ही यह सब परिश्रम मैंने किया था। शासन के पास उसका युक्तियुक्त उत्तर नहीं था। अपना झूठ प्रकट न हो जाए, इसके लिए बल प्रयोग करने का शासन का अत्यन्त 'अपवित्र' व्यवहार था। क्योंकि पवित्रता का प्रकरण प्रस्तुत हुआ है, इसलिए मैंने 'अपवित्र' शब्द का प्रयोग किया है।

औरंगाबाद हम रात के समय पहुँचे थे। उस रात और उसके अगले दो दिनों तक मुझे एक बैरक में रखा गया जो विशेषतया मेरे लिए रिक्त करवाई गई थी। बाद में मुझे उसके पार्श्व में एक काल-कोठरी में रखा गया।

दिन में बन्द किए जाने के लिए मैंने पहले दिन ही विरोध किया था। ऐसा करना दण्ड समझा जाता है और वह दण्ड किसलिए दिया जा रहा है, यह दण्डित को बताना चाहिए और अभियोग लगाकर ही दण्ड देने का अधिकार अधिकारियों को है, यह बात मैंने छोटे अधिकारियों को स्पष्ट की। सम्भवतया उन्होंने इस बात को कारागार अधीक्षक को बताया होगा, तब मेरी कोठरी दिन में खुली रखी जाने लगी।

मुझे अन्य दण्डितों से मिलने नहीं दिया जाता था। उसका कारण यह था कि कहीं मैं उनको भड़काकर उनके अधिकारों से अवगत न करा दूँ। मैंने अधिकारियों को स्पष्ट कर दिया कि 'अधिक कष्ट सहन करने की शक्ति जिसमें होगी, जिसमें इतना मनोबल होगा, वही इस प्रकार के कार्य करेगा। अपना-अपना हित सबको ज्ञात है। सिखाने से कोई खड़ा नहीं होता।' यह बात उनकी समझ में आ गई तब दण्डितों के साथ बॉलीबाल और कबड्डी आदि खेलने की अनुमति दी गई।

नासिक की रासायनिक फैक्ट्री में काम कर चुके अनेक दण्डित भी औरंगाबाद कारा में थे। मेरे वहाँ लाए जाने का समाचार सुनकर उनको सन्तोष-सा हुआ था। यदि आत्मस्तुति न समझा जाए तो कहूँगा कि उन बन्दियों की मेरे प्रति असीम भक्ति थी। उसका प्रमुख

कारण था, रासायनिक प्रयोगशाला का उनके प्रति किया गया व्यवहार। सर्वोच्च न्यायालय में मिली असफलता पर उनको दु:ख हुआ करता था।

उन्होंने एक विचित्र बात सोचकर योजना बनाई। जिस प्रकार किसी की सहायता करने के लिए चन्दा किया जाता है, उसी प्रकार उन्होंने अपनी छूट के दिन जमा करके मुझे नासिक बंदीशाला में पत्र भेजा जिसमें उन्होंने लिखा कि हम अपनी छूट के दिन आपको देते हैं। न्यायालय अथवा शासन द्वारा उसका उपयोग आपकी मुक्ति के लिए किया जा सकता हो तो कृपया शीघ्र सूचित कीजिए। आपने बहुत कष्ट भोगा है। दिन -रात काम किया है। हम अनपढ़ों को शिक्षित किया है। हमारी यह विनती आप मान लें। आप मुक्त होकर अपने बच्चों के पास शीघ्र जाएं।

भोले, किन्तु भावनापूर्ण वे पत्र आज भी मेरे पास विद्यमान हैं। कई मास के बाद अधिकारी पत्र फाड़ डालते हैं। मैंने जब कहा कि मुझे उन पत्रों को सुरक्षित रखना है तो उन्होंने उनको नहीं फाड़ा।

औरंगाबाद के उन दण्डितों को कहीं ब्लैक लिस्ट में न डाल दिया जाए, ऐसा मुझे डर था, किन्तु वैसा नहीं किया गया। किन्तु इतना स्पष्ट है कि जिन्होंने मुझे अपनी छूट प्रदान की थी उनको ब्लैक लिस्ट में आने का भय तनिक भी नहीं था।

कारावास में आयोजित होने वाले कार्यक्रमों में मैं भाग लिया करता था और दण्डितों को जो पथ-प्रदर्शन मुझसे चाहिए था वह भी करता था। केवल शासन के साथ ही मेरा संघर्ष था, और वह यहाँ भी जारी था।

मेरे आवेदन पर क्रमांक डाला गया था और वह था पिटीशन नं० १६, १९६२। दिनांक १२-४-१९६२ को औरंगाबाद बन्दीगृह में मुझे न्यायालय की ओर से सूचना मिली कि आवेदन निरस्त किया गया है।

इसे कठिन परिश्रम से किए गए प्रयत्न को न्यायालय ने व्यर्थ सिद्ध कर दिया था। मेरे द्वारा उठाए गए प्रश्नों की गहराई में जाने से सर्वोच्च न्यायालय ने सम्भवत: इन्कार कर दिया था। अत: प्रश्न उसी प्रकार अनिर्णीत ही रह गया था।

मेरे मन में और निराशा छा गई थी। मन में लगातार घर की स्मृति आने लगी। घर पर भी उदासी की छाया छाई रहती थी। पत्नी द्वारा कभी-कभी भेजे गए पत्र उसकी व्याकुल अवस्था का प्रदर्शन करते थे। मेरे मन पर भी उसका परिणाम हुआ करता था। दो वर्ष पूर्व अर्थात् दिनांक ७-१०-१९५९ को उसने लिखा था—

'प्रत्यक्ष इच्छा शक्ति के आधार पर तुम कई बातें निश्चित करते हो और उन्हें कर डालते हो। कुछ समय पूर्व तक मैं भी कुछ इसी प्रकार निश्चित करती थी और उसे कर डालती थी। परन्तु अब न जाने क्या हो गया, कुछ समझ में नहीं आता। भोर से लेकर रात्रि के ११-१२ बजे तक का समय कहाँ जाता है, यह समझ में ही नहीं आता। रात को सोते समय पूरे दिन का हिसाब लगाऊँ तो मैंने कुछ किया है, ऐसा भी दिखाई नहीं देता। इससे अनेक बार जीवन में आस्था बढ़ने की अपेक्षा अनास्था बढ़ती जा रही है। सोचती हूँ कोल्हू के बैल की भान्ति ही यदि जीना है तो फिर उसका लाभ क्या? तुरन्त ही दूसरा मन कहता

है—'अन्य किसी को यदि तुम्हारे जीने का उपयोग हो न हो, परन्तु तुम्हारा गोपाल और वे दो नन्हीं चहकती चिड़ियाँ इनको तो तुम्हारे जीवन की आवश्यकता है और जो कोल्हू तुम आज-कल चला रही हो उसके नियोजित फेरे यदि पूरे न हुए तो फिर अपेक्षित फल किस प्रकार मिलेगा? इससे आज तक जिस स्वाभिमान से तुमने जीने का प्रयत्न किया, उसी स्वाभिमान से तुम्हारी लड़कियाँ और बन्दीवास से मुक्त होने पर गोपाल जी सकेगा, ऐसी परिस्थिति निर्माण करने के बाद ही तुम्हारी जीवन विषयक-निराशा पर विचार होना चाहिए। तब तक तो गोपाल, गोपाल; और गोपाल, केवल गोपाल इस एक मन्त्र के आधार पर ही अपनी जीवन यात्रा चलू रखनी चाहिए।' अन्यथा आज तक तुम जिसको देव मानती आई हो उसी की पूजा भंग होने का पाप तुम्हें लगेगा।

और इस प्रकार के विचार जिस समय मन में आते हैं, तब मेरे मन में उत्साह का ज्वार आता है और तब मेरे समीपस्थजनों को असम्भव दीखने वाला कार्य मैं हँसते-हँसते सम्पन्न कर लेती हूँ। गोपाल! इससे मैंने एक निष्कर्ष निकाला है। मनुष्य को कहीं पर तो भी एक विश्वास और श्रद्धा का मानबिन्दु प्राप्त हो जाता है, जिसका विचार मन में आने पर कोई भी साहसिक कार्य उससे सम्पन्न हो जाता है। ध्येय यदि हो तो निराशा समाप्त हो जाती है, परन्तु इतना होते हुए भी नित्य के व्यवहार में अड़चनों का सामना करते हुए जी थक जाता है।

इसके बाद पत्र में सिन्धु ने कारखाने के काम का वृत्तान्त दिया है। मैंने उसे एक कविता भेजी थी—'केवढा दिवस हा' (कितना लम्बा दिन है यह!) उसकी उसने प्रशंसा की थी। उपहार में विदाई जिस प्रकार ली जाती है उसमें उसने लिखा था, 'सचमुच गोपाल! अब तुम घर कब आओगे? अकेली रहती हुई अब मैं सचमुच बहुत थक गई हूँ। प्रति रात्रि को सोते समय मैं कहती हूँ—अपने गोपाल के बनवास का एक दिन समाप्त हुआ और अपने सौभाग्य का एक दिन और समीप आया।—मैं सोचती हूँ उर्मिला की कैसी अवस्था हुई होगी, उसका चित्र यथातथ्य खींच कर मैं दिखा दूँगी। यदि किसी ने कभी इस प्रकार के नाटक का आयोजन किया तो उर्मिला की भूमिका मैं सहज रीति से निभा दूँगी।'

मेरी छोटी कन्या उस समय ५-६ वर्ष की होगी। उसने एक बार बन्दीपाल को एक पत्र भेजा। उसमें लिखा था, 'आप हमारे बापू को क्यों नहीं छोड़ते? ताई अर्थात् माँ अस्वस्थ है। हमारे बापू का बर्ताव तो अच्छा है न, फिर कारागार क्या अच्छा बर्ताव करने वालों के लिए होता है? मुझे जेल में रख लो और मेरे बापू को छोड़ दो। मेरी सहेलियों के घर में उनके माँ-बाप हैं, हमारे पिता जी को हमारे घर भेज दीजिए।'

अधीक्षक ने वह पत्र पढ़ा। उनका ८-१० वर्ष का एक पुत्र उन्हीं दिनों चल बसा था। उन्होंने मुझे असिलता का पत्र दिखाया। पत्र पढ़कर मैंने वह लौटा दिया। तब मैंने देखा कि उनकी आँखों में अश्रुकण छलक रहे थे।

किशोर कन्याएँ कितने दिन उद्विग्न रहें? पत्नी कब तक कष्ट उठाए? उसके मन का बोझ कब हलका हो? घर घर जैसा कब लगने लगेगा? उनका पारिवारिक जीवन कब सुखमय होगा? इन्हीं विचारों में मैं यह भी सोचता, मैं कब तक दीवार से टक्कर लेता रहूँगा।

सत्ता के सम्मुख किसी का विवेक नहीं चलता। मुझसे अब यह यातना सही नहीं जा रही थी।

जिस दिन सर्वोच्च-न्यायालय का निर्णय ज्ञात हुआ उस दिन सारा समय यों ही सोच विचार में ही बीत गया था। इसी प्रकार शाम हो गई। सर्वोच्च न्यायालय ने यदि बुलाया होता तो दण्डित होने पर भी वहाँ जाने में कुछ तो उत्साह आता ही, किन्तु आज तो मैं पूर्णतया बंदीशाला की कोठरी में बन्द होता हुआ भी निराशा की अन्धकारमय काल-रात्रि में बन्द-सा स्वयं को अनुभव करता था। मेरा मनोबल टूट चुका था।

रात को मैंने एक आवेदन लिखा। उसे मैंने राष्ट्रपति को सम्बोधित किया। उसमें मैंने लिखा था—'मुझे छोड़ने का अधिकार केवल शासन को है। मेरे बन्दी जीवन के १३ वर्ष पूर्ण हो गए हैं, आठ वर्ष की छूट है, इस प्रकार कुल मिलाकर २१ वर्ष हो गए हैं। मुझ पर दया कर मुझे बंदीवास से मुक्त किया जाए। मेरे बारे में यदि यह भी प्रकाशित हो गया कि मैं क्षमा माँग कर बंदी गृह से मुक्त होना चाहता हूँ तो भी मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं। आप किसी भी शर्त पर छोड़ेंगे तो भी मुझे कोई आपत्ति नहीं। मुझे किसी भी स्थिति में मुक्ति चाहिए।'

आवेदन को टाइप करने में विलम्ब न हो इसलिए मैंने जितनी प्रतियाँ आवश्यक थीं, स्वयं हाथ से लिखकर तय्यार कर ली थीं। मेरा विचार था कि प्रात: उसे अधीक्षक को दे दूँगा। रात को जेलर प्रहरी परीक्षण पर आए तो उनके सम्मुख मैंने अपनी मन:स्थिति का वर्णन कर दिया।

रात्रि को मुझे नींद शान्ति से आई।

प्रात:काल मैं उठा तो सहसा मेरे मुख से 'नहीं-नहीं' का चीत्कार-सा निकला। चीत्कार सुनकर पहरेदार चौंक गए। वे मुझसे पूछने लगे कि क्या मैं स्वप्न में चीत्कार कर रहा हूँ?

प्रतीत होता है कि निद्रा-भंग के कुछ समय पूर्व ही मेरा अवचेतन-मन सक्रीय हुआ होगा। यदि स्वप्न भी आया हो तो मुझे उसका स्मरण नहीं था। वह कदाचित बाह्य मन की अर्द्ध जागृतावस्था रही होगी। अन्तर्मन ने कहीं पर किसी प्रकार का आघात किया होगा। निद्रा-भंग होते ही मुँह से 'नहीं-नहीं' के शब्द निकले होंगे या अन्तर्मन ने जो आघात किया, वह प्रबल रहा होगा। उससे बाह्य मन में और बाह्य मन के स्नायु में हलचल होने से इस प्रकार के शब्द निकले होंगे और उन शब्दों के आघात से ही मेरी निद्रा भी भंग हुई होगी।

मैं जब इसका विश्लेषण करता हूँ तो प्रतीत होता है कि यदि कोई ऐसी बात हो गई होगी जिसको मन अपराध समझता होगा। ऐसे अपराध के लिए क्षमा-याचना करके उसका अंशत: परिमार्जन करने वाला व्यक्ति प्रामाणिक है, मन इतना उदार होना ही चाहिए। उसमें अपमान नहीं समझना चाहिए।

किन्तु मेरा इस प्रकार क्षमा-याचना करना मैं समझता हूँ कि ठीक उसी प्रकार का कार्य होगा जैसा कि घोर विपत्ति के समय में मानों राणाप्रताप के मन में अकबर के सम्मुख

नतमस्तक होने का विचार आया हो। अकबर तो विदेशी था, अतः उसका राज्य भी विदेशी राज्य ही माना जाना चाहिए और उससे स्वतंत्रता के लिए राणाप्रताप लड़ रहे थे, किन्तु वे पराजित हो रहे थे। विदेशी का राज्य ही अन्यायी होता है, उस अन्याय को दूर करने के लिए किया प्रत्येक सम्भव अथवा असम्भव उपाय देश की दृष्टि से न्याय ही होता है। राणा की पराजय का कारण था, उनकी शक्ति की अपर्याप्तता। पराजित होना उनका अपराध नहीं था। राणा का क्षमा-याचना करने का अर्थ होता कि उसने स्वराज्य प्राप्ति के लिए जो भी यत्न किए, जो संघर्ष किए वह अपराध किया। किन्तु हम समझते हैं कि उसने ऐसा कुछ नहीं किया था। इसी कारण स्वाभिमान और स्वतंत्रता का देवता मान कर आज हम प्रताप का सम्मान करते हैं।

मेरे पक्ष में, न तो यह राज्य विदेशी था और न ही इसके शासक विदेशी थे। यदि इस राज्य के प्रति गांधी-हत्या की अवैध घटना का भी यदि कोई कारण रहा होगा तो भी शासकों को यह बताना था कि वे पड़ोसी राज्य से दृढ़ता से निपटें, अपने देश की सीमाएँ सुदृढ़ हों, राज्य में सुख शान्ति रहे, किसी पड़ोसी राज्य द्वारा किए गए अपमान को सहन न करें, अन्याय न सहें, धमकियों से न डरें, मृगमरीचिका के पीछे न दौड़ें; इस प्रकार की भावना से अपने ही राज्य का हमने कोई अपराध किया हो तो उससे क्षमा माँगने में भी हमारी किसी प्रकार की मानहानि नहीं होनी चाहिए?

प्रश्न ऐसा था कि राज्य हमारा और शासक हमारे होने पर भी मैंने उनका कोई अपराध नहीं किया था। यदि मैं क्षमा याचना करता हूँ तो इससे झूठे ही यह सिद्ध हो जाएगा कि कोई न कोई उनका अपराध है। उनको झूठा सम्मान दिया जाता है और क्षमा प्रदान करने का उनका अधिकार है, इस प्रकार उनको झूठा अधिकार प्रदान करना हो जाता है। इसमें से कोई भी बात मन को जँचती नहीं थी। यदि इस विषय में अपराध किसी का था तो वह राज्य का था, मेरा नहीं। शासन ने मेरे साथ अन्याय और अत्याचार कर अपराध किया था।

निष्काषन,मेरा दण्ड होते हुए भी उन्होंने मुझे बंदीगृह में बन्द करके रखा था। नियत समय से अधिक मुझसे काम लिया और उसके लिए मुझे अलग छूट दी। मैंने काम किया था, यह तो सत्य था ही। मुझे छूट प्रदान की, किन्तु देते समय उसको मन से ही भुला दिया, इस प्रकार का बनावटी व्यवहार किया गया। मुझसे रक्त लिया गया, उसके प्रतिदान में छूट दी गई और उस छूट की शासन ने यथा-समय पुष्टि भी कर दी, किन्तु उसका कोई लाभ मुझे नहीं मिला। रक्तदान के सम्बन्ध में मैंने अपने आवेदन में शासन की वक्रोक्ति से आलोचना की थी। शासन कहेगा, 'न्यायर्षि! हमने दण्डित का रक्त लिया यह बात सच है, परन्तु उसमें हमने प्रमाद क्या किया? दण्डित को यदि अन्डमान भेजा जाता तो वहाँ उसको जंगल काटने का काम करना होता और वहाँ जंगलों की जौंक उसका सारा ही रक्त सोख जाते। हमने तो कुछ शीशी भर ही लिया होगा। इसके साथ ही नियमों से सर्वथा अपरिचित, अनभिज्ञ वे जौंके दण्डित को किसी प्रकार की छूट का आश्वासन भी लिख कर नहीं दे सकती थीं। शासन ने छूट लिख दी, उसके छूट के अधिकार से वंचित तो नहीं किया? अब यह किस बात की छूट माँगता है? जंगल के उन जन्तुओं से भी क्या वह इस

प्रकार के किसी अधिकार की माँग कर सकता था?'

इस आलोचना का परिणाम तो हुआ। केन्द्र सरकार ने रक्तदान और उसके विनिमय में छूट के आश्वासन की छानबीन करने के लिए समिति नियुक्ति कर दी। समिति ने ऐसा निष्कर्ष निकाला कि रक्तदान और तज्जन्य छूट इनका कारागारान्तर्गत नियमों से तनिक भी सम्बन्ध नहीं है।

समिति के निष्कर्ष के अनुसार शासन को मुझे यह कहना चाहिए था कि 'तुम्हारे रक्तदान की छूट का लाभ हम तुमको दे रहे हैं। क्योंकि उसका नियमों के साथ सम्बन्ध नहीं है। और इसलिए तुम रक्तदान करने के लिए बाध्य नहीं थे। हमारे कहने पर तुमने रक्तदान किया था, हमने तुमको प्रतिफल स्वरूप छूट दी है और अब हम उसका उपभोग करने का अवसर दे रहे हैं।' दूसरे शासन को समिति का यह निर्णय सर्वोच्च-न्यायालय के ध्यान में भी लाना चाहिए था। और पहले किया हुआ विधान वापिस लेना चाहिए था। न्यायालय को चाहिए था कि आजन्म कारावास के विषय में दिए गए निर्णय को वापिस ले ले। वह सर्वोच्च न्यायालय की प्रतिष्ठा का प्रश्न था। सभी बातें एक साथ सम्मुख आ कर उन पर ठीक न्याय होना आवश्यक था। मैं उससे मुक्त होता या न होता, यह पृथक् प्रश्न था। यह बात गौण थी।

परन्तु शासन ने वैसा नहीं किया। प्रतिशोधपूर्ण रूप से लिया ही जाना चाहिए, भले ही अपने व्यवहार में अप्रामाणिकता करें, इस प्रकार की नीति शासकों ने अपनाई थी। मेरा प्रत्येक विवाद सत्य था और तर्कयुक्त था। शासन को इसकी जानकारी थी, परन्तु फिर भी उसने मेरे साथ न्याय नहीं किया। मैं समझता हूँ कि अपराध शासन का था, मेरा नहीं।

छूट का महत्त्व सर्वमान्य और स्वतंत्र नागरिक उतनी उग्रता से नहीं समझ सकता जितना कि बन्दी समझता है। बन्दी भले ही किसी को सोने की मुद्राओं से तौल दे, तब भी विधि के अनुसार वह एक दिन की भी स्वतंत्रता नहीं प्राप्त कर सकता। एक दिन की छूट का विनिमय पैसे से नहीं हो सकता। हाँ, यह भले ही हो सकता है कि यदि अमुक राशि का अर्थदण्ड नहीं चुकाया गया तो उसके लिए निर्धारित अवधि का कारावास अवश्य मिल सकता है, वह प्रकरण इससे अलग ही है। उसका इस छूट से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं। छूट का अर्थ है कि न्यायालय ने जो दण्ड दिया अथवा विधि के अनुसार जो कारावधि भुगतनी है उस कारावधि से कुछ अवधि की छूट। दया के पवित्र अधिकार की धारा में छूट पद्धति का उल्लेख है। यह क्षेत्र शासन का है। मैंने जो छूट संग्रहित की थी उसके आधार पर १४ वर्ष पूर्ण होने से एक दिन पूर्व भी यदि शासन ने मुझे मुक्त किया होता तो मैं शासन का आजन्म आभारी बन जाता। मैं राजकर्ताओं के उस उपकार का सदा बखान करता। छूट अर्थात् मुक्ति का मूल्य क्या है, यह मैं जानता हूँ। वह अधिकार कितना पवित्र है, यह भी मैं जानता था। तब, यदि शासन ने मुझे छूट के आधार पर मुक्त किया होता तो मेरे मुख से अनायास ही निकलता 'आपके एक दिन और मुझे कारावास में रखने का अधिकार होते हुए भी आपने मुझ पर एक दिन की दया की है, उसके लिए मैं आपका आभारी हूँ।'

आज शासन मुझे दया दिखाकर छोड़ दे, इस प्रकार की दया-भावना उसमें शेष ही

नहीं रह गई थी। इसके विपरीत मेरी सांस अभी तक चल रही है और मैं जीवित हूँ, इसके लिए शासन मुझे अपराधी समझता है।

निद्रा-भंग होने से पूर्व मेरे मन में कुछ इसी प्रकार की उथल-पुथल-सी हुई होगी। अन्तर्मन ने ही पूर्व-पक्ष और उत्तर-पक्ष का नाटक किया होगा और उसके मध्य कुछ इस प्रकार का विचार मन्थन हुआ होगा—

'दया की याचना कर और उसे प्राप्त करके तुम क्या करना चाहते हो?

'इससे मेरी वियोगावस्था समाप्त होगी। घर वालों को सुख एवं शान्ति प्राप्त होगी, उनकी क्षण-क्षण की वेदना शान्त होगी और मैं स्वतंत्र जीवन जी सकूँगा।'

'परन्तु इसे प्राप्त करने के लिए तुम्हें अपने चरित्र का हनन करना होगा।'

'जो हो, मुझ से अब यातनाएँ सही नहीं जातीं।'

'फिर यह व्रत क्यों लिया? किसने तुम्हें बुलाया था? सुख की नौकरी थी, बच्चों के साथ रहकर सुख से रहता। मन को प्रवंचना में क्यों डाला?'

'उस समय मैं समझता था कि भारत के साथ अन्याय हो रहा है।'

'क्या अब तुम्हें अपने कर्म पर पश्चात्ताप हो रहा है?'

'नहीं। परन्तु यह कहे बिना मुक्ति भी तो नहीं मिलेगी।'

'असत्य व्यवहार से दुखी होकर तुमने यह व्रत लिया और अब स्वयं ही असत्य भाषण के लिए उद्यत हो गए?'

'परन्तु शासन यह बात समझ नहीं सकेगा।'

'किन्तु तुम्हारा मन? तुम और शासन अलग होगे, किन्तु तुम और तुम्हारा मन तो पृथक् नहीं हो सकते। अपने स्वार्थ साधन के लिए यदि तुम मुक्त भी हो गए तो भी अपने मन से अपने इस व्यवहार को किस प्रकार दूर कर सकोगे?'

'परन्तु यह वियोग मैं कितने दिन तक सहन करता रहूँगा?'

'तुम यदि याचना करोगे तो उसका उत्तर तुम्हारे अनुकूल ही होगा, ऐसी तुम्हारी कल्पना है क्या?'

'तुम अत्यधिक दीन हो गए हो, तुम शासन को दाता मानते हो, तुम दान माँग रहे हो। ध्यान में रखो, दान देना अथवा न देना, यह दाता का अधिकार होता है। दान मिलना ही चाहिए, यह याचक का अधिकार नहीं होता। एकांगी विचार क्यों करते हो?

'परन्तु मेरी आरती पर अनुकूल विचार होगा और मैं मुक्त हो जाऊँगा।'

'मान लिया। किन्तु बाहर कब जाओगे? कल? आज विनती करने से क्या कल उत्तर आने वाला है? तुम्हारी आयु कितनी शेष है, क्या इसका ज्ञान तुम्हें है? निर्णय आने से पूर्व ही तुम मृत्यु के ग्रास नहीं हो जाओगे, यह क्या निश्चित है?'

'अर्थात् इतनी कारावधि भुगतने के बाद भी मैं मरूँगा? क्या मैं चार दिनों की स्वतंत्रता का उपभोग नहीं कर सकूँगा? मेरी इतनी छूट.......।'

'छूट गई गढ्ढे में। मरने के लिए छूट नहीं मिलती और छूट मिलने पर भी मृत्यु निश्चित ही है। निर्धन भी मरता है, धनी भी मरता है, तुम तब तक मरोगे अथवा नहीं, इस प्रकार

की सभी सम्भावनाओं पर विचार करना आवश्यक है। तुम अमरपुत्र होकर नहीं आए हो। मनुष्य मरता है, तुमको भी मरना है। जीवन में सबको सुख का उपभोग करना मिलता ही है, यह तथ्य नहीं है। कभी मनुष्य क्रूरता करता है और कभी नियति। प्रत्येक क्रूरता का उपाय नहीं होता। विभाजित पंजाब और बंगाल की ओर देखो। उन लोगों का क्या अपराध था? कितने ही लोगों ने अपने जीवन में किसी को शब्द-मात्र से भी नहीं दुखाया होगा। वहाँ क्या हुआ? परिवार के परिवार समूल नष्ट हुए। पति विहीन पत्नी और पत्नी विहीन पति खुले सूर्य के प्रकाश में निराश्रित पड़े रहे। लड़के अनाथ हो गए और माँ-बाप निःसन्तान हो गए। सहारा खोजने के लिए वे देश-भर में भटकते रहे। क्या उन्हें सुख मिला? उन्हें कैसा दुःखी जीवन प्राप्त हुआ?'

'वे शरणार्थी थे।'

'कैसे शरणार्थी? किसकी शरण पाने के लिए? नहीं, उन्होंने तो पौरुष की रक्षा करने के लिए अपने शरीर और मन पर घाव सहे थे। अपना स्वाभिमान रखने के लिए प्रयत्न किए, स्वयं आघात सहकर दूसरे प्रान्तों को उससे बचाया। वे शरणार्थी नहीं पुरुषार्थी थे, स्वत्वार्थी थे। धर्मान्तर करके भी जीवित रहना है, ऐसे जो लोग शरण माँगते हैं, वास्तव में शरणार्थी वे हैं। क्या तुम भी शरणार्थी बनना चाहते हो? बिना अपराध किए तुम क्षमा याचना करोगे? अपने को व्यर्थ में प्रवंचना दे, स्वयं को और अपने शासन को प्रवंचना देकर मुक्ति का पथ खोजो।'

'किन्तु मेरे प्रतिबन्धित होने के कारण मेरा घर घर नहीं रह गया है।'

'फिर वही बात। अग्नि में हाथ डालते समय विचार करना पड़ता है कि इससे हाथ जलता है। हाथ डालने के बाद नहीं। विवाह के अवसर पर तुम और तुम्हारी पत्नी के दोनों हाथों ने मिलकर अग्नि को आहुति दी थी, एक स्वर से मन्त्रोच्चार किया था। इस प्रकार बन्धन में डाले गए। बाद में अपने कर्म से मैं पत्नी और बच्चों को दुःख में ढकेल रहा हूँ, घर बार नष्ट कर रहा हूँ, ऐसा क्या उस समय तुम्हारी समझ में नहीं आया था? उनके सुख के लिए तुम बाहर जाने का निमित्त कर रहे हो? वास्तव में सुख तुमको चाहिए। तुम उनकी आड़ ले रहे हो।'

'उनको भरण-पोषण का सहारा क्या है?'

'इतने दिनों तक किसने सहारा दिया? उनका सुख-दुःख विधाता देखेगा। तुम केवल अपना विचार करो। परिवार के परिवार इस प्रक्रिया में झुलसने वाले थे। जिन थोड़े परिवारों का विध्वंस हुआ है उनमें से एक तुम्हारा परिवार भी है। तुम और तुम्हारे परिवार वाले सुख देखेंगे ही नहीं, ऐसा यदि तुम्हारा और उनका कर्मफल होगा तो उसके लिए तुम क्या कर सकते हो? इसे विधाता का विधान समझ कर ही विचार करना चाहिए।'

'क्या सुख प्राप्त करने का प्रयत्न भी मैं न करूँ? यह मिलना न मिलना तो मेरे हाथ में नहीं है यह मैं जानता हूँ। परन्तु सुख?'

'ऐसा प्रयत्न? विपरीत पथ की यात्रा? जो झूठ है उसे तुम जानते हुए भी करोगे? यदि इस प्रकार तुम्हें मुक्ति मिल भी गई तो दिन-रात एक कसक तुमको सताती रहेगी। 'तुमने

स्वयं झूठ बोला और शासन को झूठ बोलने के लिए विवश किया।' मुक्ति के बाद उस कसक की यातना इतना कष्ट देगी कि उसकी तुलना में कारावास की यातनाएँ कुछ नहीं।'

मैं समझता हूँ कि मानो किसी ने इस प्रकार का शाप का उच्चारण किया हो। मुक्ति के बाद मानों वह कसक मुझे चुभने लगी होगी, ऐसा आभास-सा होने पर चेतन मन ने 'नहीं-नहीं' कहा होगा।

मैं भली प्रकार जाग गया था। कुछ समय बाद मन में स्वयं ही गीता का निम्न श्लोक उभर कर आया—

उद्धरेदात्मानात्मानं नात्मानभवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥

अर्थात् मनुष्य को अपने प्रयत्न द्वारा तथा सम्पन्नता द्वारा अपने आपको ऊँचे उठाना चाहिए न कि स्वयं को निरुत्साहित कर अपना नाश करना। मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र है और स्वयं ही अपना शत्रु।

शय्या का त्याग कर मैं प्रातर्विधि में लग गया। वह समाप्त कर मैं रात्रि में लिखे कागज के समीप आया। उन दिनों मुझ में शक्तिहीनता आ गई थी। अत: शासन ने मेरी सुविधा के लिए एक छोटा-सा मेज और एक डेस्क दिया था, इससे लिखने में सुविधा होती थी। मेरे सम्मुख था कल रात्रि का लिखा वह क्षमा-याचना पत्र। उसकी एक-एक प्रति ऊपर के दाएँ कोने से नीचे के बाएँ कोने तक और नीचे के दाएँ कोने से ऊपर के बाएँ कोने तक दो रेखाएँ खींचकर उन मोटे-मोटे अक्षरों में अंग्रेजी में ही 'कैन्सल्ड' लिख दिया। यद्यपि कागज मेरे ही पैसों से दिए जाते थे, किन्तु वे गिन कर दिए जाते थे और उनकी गणना रहती थी जो कि अधिकारियों को देनी पड़ती थी, इस कारण मन की दुर्बलता रूपी उस क्षमा-याचना-पत्रकों को मैं फाड़ नहीं सका।

अधीक्षक नए ही आए थे। अभी तक उनका और मेरा ठीक परिचय भी नहीं हुआ था। धीरे-धीरे परिचय बढ़ता गया। अधीक्षक के नाते मैंने उनके साथ भी बहुत संघर्ष किया था। इतना होते हुए भी जिन किन्हीं अधिकारियों को मैं समझदार, उदार और सम्वेदनशील मानता हूँ उनमें उनका प्रमुख स्थान है। उनका नाम था श्री तोरसकर।

मैं उदास हूँ, इसका ज्ञान अधिकारियों को था। दूसरे दिन उनका दौरा हुआ। कोई कुछ बोला नहीं। मैं भी चुप ही रहा। तीसरे दिन की फेरी के समय मैंने अधीक्षक को कई कागज दिए, उनको टाइप करके भिजवाने की प्रार्थना थी।

उन्होंने सरसरी सहजता से पृष्ठ पर दृष्टि डाली और फिर प्रश्नभरी दृष्टि से मेरी ओर देखा। वे कागजात सर्वोच्च-न्यायालय को भेजे जाने वाले आवेदन के प्रारूप के थे।

'परसों तो आप.........?' अधीक्षक बोले।

'हाँ। मैंने उनको बीच में ही टोका। दया के आवेदन का अपना विचार मैंने जेलर के सम्मुख रखा था। उन्होंने उस विषय में अधीक्षक को कहा होगा, परन्तु अब जो कागज वे देख रहे थे वे कुछ उससे भिन्न थे। मैंने उनसे कहा, 'मैंने दया याचना के विषय में विचार किया था, किन्तु अब मेरा विचार परिवर्तित हुआ है। 'यह देखिए', मैंने उनको इस हेतु

लिखे कागज दिखाते हुए कहा, 'मैंने इस प्रकार के आवेदन को लिखकर फिर उसे निरस्त कर दिया है।'

'सहसा आपका विचार किस प्रकार पलट गया?' उनका प्रश्न था। इससे पूर्व में कह चुका हूँ कि अधिकारी भी दंडितों के पलटते हुए विशिष्ट व्यवहार का निरीक्षण करते रहते हैं। उसका अध्ययन करते रहते हैं। उसके आधार पर वे अपनी धारणाएँ बनाते रहते हैं। यही कारण है कि उन अधीक्षक के भाव से परिलक्षित नहीं होता था कि मुझे दया का ही आवेदन करना चाहिए।

'मुझे आत्मज्ञान हुआ है?' मैंने काव्यात्मक भाषा में कहा। विनोदप्रियता से वे बोले, 'आपको कौन मिले थे?'

'श्रीकृष्ण।'

'क्या कहा उन्होंने?'

'क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।'

अर्थात् अपने मन की दुर्बलता को त्याग दो और कष्टों का सामना करने के लिए खड़े हो जाओ।

उनको हँसी आ गई। बहुत दिनों से मेरे मुख पर की हँसी पुछ गई थी, किन्तु तब मैं भी मुस्कराया था। मैं पुन: तन कर खड़ा हो रहा हूँ, इस विचार से होने वाले सन्तोष की सूचक ही मेरी हँसी थी। अनेक दिनों तक मेघाच्छन्न रहने के बाद जब आकाश पर सहसा सूर्य की किरण दिखाई देती है उससे जो आह्लाद मन को होता है, ठीक वैसा ही मेरा भी आह्लाद था।

आवेदन टाइप करवाया गया। मैंने उस पर हस्ताक्षर किए। प्रतिज्ञा-पत्र लिखा और वह सब कागजात सर्वोच्च-न्यायालय को भेजने के लिए अधिकारियों को दे दिए। सर्वोच्च न्यायालय में कुछ दिनों के लिए अवकाश था। साढ़े तीन मास के बाद आदेश आया कि दिनांक ६-८-१९६२ को दण्डित को न्यायालय में उपस्थित किया जाए।

निश्चित तिथि पर मैं उपस्थित हुआ। आवेदन में मैंने मुक्ति के लिए प्रार्थना नहीं की थी। शासन से मुझे कुछ बातों पर स्पष्टीकरण ही चाहिए, इसके लिए कुछ सुविधा माँगी थी, किन्तु एक टेकनिकल आपत्ति के कारण मेरा आवेदन सर्वोच्च-न्यायालय ने लौटा दिया।

क्योंकि इस बार मैंने मुक्ति के लिए कोई याचना नहीं की थी, अत: इस पराजय से मुझे आघात- सा नहीं लगा और यदि मुक्ति की याचना की होती तब इस प्रकार भी पराजय मिलती तो भी अब मेरी मन:स्थिति ऐसी हो गई थी कि उसका प्रभाव मन पर उतना भयंकर नहीं होता।

अपनी न्यायालय सम्बन्धी तथा अन्य गतिविधियों के विषय में मैं अपनी पत्नी को सूचित करता रहता था। सर्वोच्च-न्यायालय के निर्णय के पाँच दिनों बाद मैं औरंगाबाद पहुँचा था। सर्वोच्च-न्यायालय के निर्णय से घर वालों को सूचित कर दिया था।

अपनी व्याकुलता को भूल कर अपने विवेक को स्थिर रखने वाली और समय पर

मेरा भी विवेक स्थिर रखने में सहायता करने वाली मेरी पत्नी ने दिनांक १६-८-१९६२ को उत्तर में लिखा—

'तुम्हारा पत्र मिला। पत्र पढ़कर किंचित् दु:ख हुआ, किन्तु उसका आभास किसी अन्य को न हो, इस दृष्टि से सावधानी बरती। पिछले दो दिनों से मैं निरन्तर उसी पर विचार करती रही हूँ।' भविष्य में किस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय को लिखा जाए इस सम्बन्ध में अपनी बुद्धि से सोचकर सिन्धु ने लिखा, 'इन बातों का विचार करने पर ऐसा लगता है कि एक बार किसी अच्छे वकील से परामर्श किया जाए। दो-तीन सहस्र रुपया उसको देना पड़ जाएगा, किन्तु कोई हानि नहीं। थोड़े दिनों तक उतनी राशि एकत्रित कर फिर इस प्रकार का प्रयत्न किया जाए। परन्तु तब तक तुम्हारे प्रयत्न चालू रहें, उन्हें रोकने का कोई कारण नहीं। पंढरपुर की यात्रा मोक्ष मिलने तक करनी ही है, यही एक विचार जिस प्रकार उन यात्रियों के मन में स्थिर रहता है, उसी प्रकार अपने को भी दृढ़ संकल्प करना होगा कि जब तक तुम्हारी मुक्ति नहीं हो जाती हमारे प्रयत्न सतत चालू रहने ही चाहिएं। अनेक यातनाएँ एवं कष्ट सहने के बाद भी वे यात्री यात्रा करने से रुकते नहीं, निरन्तर वर्षानुवर्ष उस यात्रा को करते रहते हैं और कष्ट सहने पर ही वे दर्शन करने पर यात्रा का लाभ मानते हैं। इसी प्रकार हममें अपने मन में निश्चय कर कार्य को चालू रखना होगा।'

'मेरा विश्वास है गोपाल! हम को भी उसी प्रकार एक दिन सुख का आनन्द भोगने का दिन अवश्य ही प्राप्त होगा। परन्तु उस आनन्द का क्षण प्राप्त करने के लिए अभी तक कष्ट, मानहानि, उपेक्षा, दु:ख और वियोग का घड़ा भर नहीं पाया है।

'तुम धैर्य रखो। प्रयत्न निरर्थक सिद्ध हुए, ऐसा विचार आना स्वाभाविक है, परन्तु पत्थर से तेल निकलेगा, इस भावना से किए गए प्रयोग व्यर्थ सिद्ध होने पर भी क्या अनुसन्धानकर्ता निष्क्रिय होकर बैठ गए थे? नहीं। बिजली के बल्ब में कौन-सी तारों का उपयोग किया जाता है, इस प्रयत्न में एडिसन के कितने प्रयोग व्यर्थ सिद्ध हुए थे? परन्तु क्या उसने अपना प्रयत्न त्यागा? यदि वही प्रयोग उसने छोड़ दिया होता तो आज हमें रात को जब चाहे तब प्रकाश नहीं दीख पड़ता।'

'सारा संसार भी यदि विमुख हो गया, तो भी मैं तुम्हारे साथ हूँ, इस विश्वास को स्थिर रखो। हम फिर प्रयत्न करें, करते रहें।' जेथे जातो तेथे तू माझा सांगाती (जहाँ हूँ, वहाँ तुम मेरे साथ हो।)'

पिछले दो मास से औरंगाबाद बन्दीगृह में मेरा स्वास्थ्य निरन्तर गिरता जा रहा था। भूख मन्द हो गई थी। जनपद अस्पताल के प्रमुख चिकित्सकों ने मेरा उपचार किया था। बन्दीगृह के डॉक्टर भी करते थे। उसी अवस्था में विगत अगस्त में मैं दिल्ली भी गया था।

दिल्ली से लौटने के दो सप्ताह बाद स्वास्थ्य और भी बिगड़ गया। दिन भर में आधी रोटी भी मेरे पेट में नहीं जाती थी। पूरक अन्न के लिए मुझे पाव भर दूध और डबलरोटी दी जाती थी; परन्तु उसको लेने की भी इच्छा नहीं होती थी। शाक अथवा दाल का रस ही अच्छा लगने लगा था।

दिनांक ३१-७-१९६२ को मेरा स्वास्थ्य अधिक बिगड़ गया। दूसरे दिन मुझे बंदीगृह के अस्पताल में उठाकर ले जाना पड़ा। अस्पताल पड़ोस के ही बैरक में था, परन्तु वहाँ तक जाने की शक्ति मुझमें नहीं थी। पिछले ३-४ दिन से पेट में कुछ गया ही नहीं था।

मुझे पीलिया हो गया था। उससे यकृत (जिगर) बिगड़ गया था। सिविल सर्जन एक-दो बार सप्ताह में आया करते थे। अत: उनका और मेरा परिचय था, मेरी चिकित्सा के लिए उनको बुलवाया गया।

रोग का निदान एवं चिकित्सा के लिए मुझसे भी कुल पिछली जानकारी ली गई। इसी प्रकरण में कुछ और भी वार्त्तालाप होने से बोलना पड़ा। मैं ठीक प्रकार से बोलता हूँ अथवा नहीं, मस्तिष्क कार्यक्षम है अथवा नहीं, निरन्तर पराजयों का मन पर कितना परिणाम हुआ है, यही सब देखना उनका उद्देश्य था। उन्होंने मुझसे पूछा, 'पहले पहल आपका भार कितना था?'

'छ: पौण्ड' मैंने कहा।

उन्होंने सोचा कदाचित् छ: से पूर्व का शब्द छूट गया है, अत: उन्होंने पुष्टि कराने के लिए पूछा, 'क्या एक सौ छ:?'

'नहीं, केवल छ:'

उनके ध्यान में बात आई। वे हँसे, उन्हें मेरी विनोदप्रियता का आभास हुआ। मन की विनोदप्रियवृत्ति रोगनिवृत्ति के लिए सहायक होती है, वह वे भलीभाँति जानते थे। भले ही मैं दण्डित अपराधी हूँ, परन्तु परिचय के बाद अधिकारी मेरे साथ समानता का ही व्यवहार करते थे। भले ही मेरा आक्षेप सीधे उन पर ही क्यों न हो। अन्यथा मैं भी किसी के साथ उतनी विनोदप्रियता और मुक्तता से बोल नहीं पाता था। डॉक्टर ने सुधार कर मुझसे पुन: प्रश्न पूछा, 'आप जब औरंगाबाद बन्दीगृह में आए तब आपका भार कितना था?'

'एक सौ पच्चीस पौंड।'

'बाहर किस प्रकार का स्वभाव था?

प्रश्न सुनकर मैं हँस पड़ा। वे बोले, 'क्यों, हँसे क्यों?'

मैंने कहा, 'डॉक्टर आज चौदह वर्ष से मैं निरन्तर बन्द पड़ा हूँ, मेरी प्रत्येक गतिविधि किसी न किसी नियम से प्रतिबद्ध है। सो बाहर की कौन-सी स्वभाव सरणी अब तक बनी रही होगी? सौभाग्य से अब यदि कभी मुक्त भी हो गया तो यहाँ की सरणी ही बनी रहेंगी, क्योंकि मैं इनका इतना अभ्यस्त हो गया हूँ कि इस आयु में उनको बदल पाना असम्भव हो जाएगा। बाहर इधर-उधर घूमते हुए कभी अचानक ध्यान में आने लगेगा 'अरे! मेरा वार्डर कहाँ गया? पुलिसमैन कहाँ है? मैं अकेले इधर कैसे जा रहा हूँ? मानो मैं भाग कर जा रहा हूँ, ऐसा मन को भास होने लगेगा। मैं पल भर रुकूँगा पीछे मुड़कर देखूँगा।

'कभी अपनी इच्छानुसार पत्नी ने बढ़िया भोजन परोसा तो मैं उससे कह बैठूँगा, 'यह क्या शाक बनाया है? इसका रङ्ग यह कैसा है? इसका तो वैसा रङ्ग होना चाहिए था? तरकारी में तेल मिर्च नहीं डालना चाहिए।' तब इस वातावरण में बाहर की कौन-सी स्वभाव सरणी अब तक रह सकी होगी, आप ही बताइए? हाँ, जिस प्रकार मैं बाहर श्वास-प्रश्वास छोड़ता

था, ठीक उसी प्रकार आज बन्द होने पर भी छोड़ता हूँ, यही एक प्रणाली बाहर की स्थिर है, किन्तु लगता है वह भी अब थोड़े दिनों में छूटने वाली है।'

'आपकी वह सरणी उसी प्रकार रहे, उसके लिए ही प्रयत्नशील हूँ। मुझे विदित हुआ है कि आप बहुत लिखते रहते हैं। न्यायालय के झगड़ों से थोड़े दिन छुटकारा लीजिए। जब आप स्वस्थ हो जाएं, तब आप और शासन एक दूसरे से निबट लें।' 'इस प्रकार कुछ आश्वासन के-से शब्द कहकर डॉक्टर चले गए।

मुझसे न लिखने के लिए कहकर भी ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अधिकारियों से कहा होगा कि लिखने के साधन मेरे समीप रहने चाहिएं, इससे मेरा मन-मस्तिष्क व्यस्त रहेगा और व्यर्थ की बात सोचने के लिए अवकाश नहीं रहेगा।

मेरा विश्वास था कि यहाँ के डॉक्टर जो भी चिकित्सा करेंगे, जो भी औषधि देंगे, उसमें वे किसी प्रकार की त्रुटि नहीं करेंगे, किन्तु इतना होने पर भी मृत्यु का भी अपना भाग होता है और वहाँ डॉक्टर और उनके उपचार व्यर्थ सिद्ध होते हैं। यह भी मैं जानता था। मैं सदा सोचता था कि मेरा एक आवेदन सर्वोच्च-न्यायालय के सम्मुख सदैव ही पड़ा रहे। उस अवधि में ही यदि मृत्यु आ भी गई तो निदान पक्ष में उसके बाद सर्वोच्च-न्यायालय यह तो देख सके कि मेरी शिकायत व्यर्थ नहीं थी। शासन ने मेरे साथ अत्याचार किया था, अन्याय किया, क्रूरता बरती थी। दो आवेदनों के मध्य मैं बहुत ही थोड़ी अवधि रखता था। वह अवधि अटल सी थी। क्योंकि प्रारूप तैयार करने के लिए दो दिन, टाइप होकर आने के ३-४ दिन और प्रतिज्ञा-पत्र लिखने के लिए ३-४ दिन लगा करते थे। बीच में ही कहीं मेरी मृत्यु न हो जाए, इस प्रकार कुछ भय-सा प्रतीत होता था। मेरा स्वास्थ्य अच्छा न होने की सूचना घर पर भेजी गई थी। पत्नी और बच्चे दिनांक ६-९-१९६२ को मुझसे मिलने के लिए आए।

उस समय मैंने पत्नी को कहा था, 'मुझे लगता है कि मैं स्वस्थ हो जाऊँगा, किन्तु इससे महत्त्व की बात है कि सर्वोच्च-न्यायालय में मेरा एक आवेदन तो सदा विचाराधीन होना चाहिए, ऐसी मेरी इच्छा है। जब भी मैं तुम्हें सूचित करूँ, तुम तुरन्त यहाँ आ जाना और यहीं से मेरा आवेदन टाइप कराकर ले आना, जिससे कि विलम्ब न हो।' मैंने उससे यह भी कहा, 'जो जीवन हमने एक साथ बिताया है, वही सुख अपने भाग्य में लिखा था। कदाचित् अपना भाग्य अधिक सुख भोगने योग्य नहीं। यदि इस पर भी सुख मिल ही गया तो उसको हम अस्वीकार तो करने वाले नहीं हैं? मेरा एक आवेदन सर्वोच्च-न्यायालय में पड़ा है, वह कदाचित पुनः आने वाला है, किन्तु मैं समझता हूँ न्यायालय में सदा मेरा एक आवेदन रहना ही चाहिए, इस विचार से मैंने अपना अगला आवेदन तैयार करके रखा हुआ है।'

उस आवेदन के बारे में संक्षेप में मैंने अपनी पत्नी को बताया। इतने में भेंट का समय समाप्त हो गया। मैंने उनसे बिदाई ली। वे लोग बार-बार स्वास्थ्य के लिए मुझे सावधान करते हुए वापिस चले गए। यद्यपि जाते समय उनकी आँखों में अश्रुकण नहीं दिखाई देते थे, किन्तु मैं समझता हूँ कि उनके अन्तःकरण अवश्य रो रहे थे। कारा के अधिकारियों

ने भी उन लोगों को आश्वस्त करते हुए कहा था कि हम सभी प्रकार का आवश्यक उपचार कर रहे हैं, आप चिन्ता मत कीजिएगा। यह आश्वासन सत्य था।

उस अस्पताल में पीलिया के अन्य भी अनेक दण्डित थे। मुझे मिलने वाली औषधि उनको नहीं मिलती थी। मेरे साथ उपचार में तनिक पक्षपात हो रहा है, यह मुझे दिखाई दे रहा था। इस बात को मैंने अधीक्षक को बताया तो उन्होंने सावधानी बरतने का आदेश दिया। उनको विदित हुआ कि धनाभाव के कारण ऐसा हो रहा है। अत: जब मैं अपनी पत्नी को उनके द्वारा दिए गए आश्वासन की बात पर विचार करता हूँ तो प्रतीत होता है कि उनका आश्वासन सच ही था।

अधीक्षक इतने भले थे कि अपने अधिकार का प्रयोग कर उन्होंने मुझको दी जाने वाली औषध उन दण्डितों को दिलाने का भी प्रबन्ध करवा दिया। उन्होंने मुझसे यह नहीं कहा कि तुम अपना स्वास्थ्य देखो, दूसरों से तुमको क्या लेना-देना।

मेरे स्वस्थ होने की प्रगति मन्द थी। अस्पताल में रहकर ही मैं दवा-पानी ले रहा था। १९६२ के अक्टूबर मास के उत्तरार्द्ध में हमारे देश पर विपत्ति के बादल मंडराए। चीन ने हमारे देश की उत्तर-पूर्वी सीमा पर आक्रमण कर दिया। परस्पर के सब मतभेदों को भुलाकर एक साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर आक्रमण का उत्तर देने का वह प्रसंग उपस्थित हुआ था। दिनांक २८-१०-१९६२ को संकट की स्थिति की घोषणा की गई थी।

दूसरे महायुद्ध के अवसर पर ब्रिटिशर्स ने दण्डितों की भी एक टुकड़ी तैयार की थी और उनको युद्ध पर भेज कर उनसे युद्धोपयोगी कार्य करवाए थे। इसके लिए दण्डितों को कारावधि में छूट दी गई थी। जब मैं स्वयं उन दिनों युद्धभूमि पर था तो मैंने स्वयं यह देखा था। कारा के विशिष्ट वर्ग के बन्दी चुनकर उनका उपयोग किया जाए, इस प्रकार की एक योजना-सी बना कर मैंने शासनाधिकारियों के पास भेजी।

दण्डित मुझे मिलते थे, उनमें अपार उत्साह था। इस अवसर पर उनका क्या कर्त्तव्य है, क्या किया जा सकता है, इस प्रकार की अनेक बातें वे मुझसे पूछते रहते थे। रक्तदान और द्रव्यदान की शासन से अनुमति प्राप्त करा ली जाए, इस प्रकार की बात भी उनको बताया करता था। सम्भवतया उनके मन में यह विचार भी हो कि यदि उनको पुनः मोर्चे पर भेजा गया तो उनको स्वतंत्रता मिल जाएगी, उनका कारावास समाप्त होगा, परन्तु यहाँ व्यर्थ में सड़ते रहने की अपेक्षा समुपस्थित प्रसंग पर हम प्राणार्पण से यदि देश की सेवा करें, ऐसी पवित्र भावना उनके मन में लक्षित होती थी। किन्तु मैंने शासन के पास जो योजना भेजी थी, उसको स्वीकार नहीं किया गया।

जैसा कि मैं पहले लिख चुका हूँ कि मनोरंजन के लिए मैं कुछ कविताएँ लिख लिया करता था। मन में भावनाएँ उमड़ने लगीं, वे कागज पर उतरने लगीं। अनेक बार मन में आता था कि गद्य लिखने की अपेक्षा इनको पद्य में लिखा जाए। भारत-चीन युद्ध के समय मैं अस्वस्थ था। उस प्रसंग में मैं प्रत्यक्ष कुछ नहीं कर सकता था। भारतवासी रणभूमि पर उतर रहे हैं और मैं बन्दीगृह के अस्पताल के शयन पर पड़ा हूँ, मन की यह विपन्नता उससे बाहर निकलने को हुई और 'क्षात्रवृत्त भारत' कविता के अन्त में मैंने लिखा—

हवनाची मजला नाहीं संधि, चित्त अश्रू वाही
रक्त रुग्णशय्या खाई, पाय बांधलेला राही लौह कोंदणाला।
क्षात्रवृत्त भारत अवघा चालला रणाला॥ १-११-१९६२॥

अर्थात् इस रणयज्ञ में हवन करने का मुझे अवसर नहीं है। रुग्णशय्या मेरा रक्त पी रही है। मेरा पैर लौह शृंखलाओं में बंधा पड़ा है। वहाँ पूरा क्षात्रवृत्त भारत रणक्षेत्र में प्रवृत्त है।

पण्डित नेहरू के उन दिनों के विचार पढ़ कर मन को अच्छा लगता था। सैन्य शक्ति की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिसको हम अन्धविश्वास में बहकर 'मित्र मित्र' कहते हैं, वह सच्चा मित्र नहीं होता। हम जागृत नहीं रहे, यह हमारा अपराध है। इस प्रकार के अनुभव सिद्ध शब्द राष्ट्र को 'भाई-भाई' के स्वप्निल वातावरण में से निकाल कर वास्तविक धरातल पर ला खड़ा कर देंगे, ऐसी मुझे आशा होती थी।

थोड़े ही दिनों में एक-पक्षीय शस्त्र-सन्धि हुई थी। उसमें मुझे अपनी हार ही प्रतीत हुई। शत्रु जब यह कहता हो कि हम अपनी इच्छा से आक्रमण करना बन्द कर रहे हैं तो मैं समझता हूँ कि हमारे मुँह पर एक करारा थप्पड़ था। हमारी हार थी। शत्रु ने हमें यहाँ पर भी पराजित किया था।

पराजय के आघातों को सहते हुए ही हमने यह भी अनुभव किया कि जिस विश्व शान्ति को रटते हम थके नहीं, वह विश्वशान्ति बिना सामर्थ्य के व्यर्थ सिद्ध हो रही है।

दिनांक २९-११-१९६२ को मुझे अस्पताल से छुट्टी मिल गई। नाड़ी का कभी-कभी तीव्र हो जाना, हाथ पाँवों में कभी-कभी सहसा कम्पन होना, इस प्रकार के विकार अभी शेष थे। इसलिए मैं डॉक्टर की देख-रेख में और पथ्य पर था। दो मास बाद मैं अपनी कोठरी में आया।

रक्तदान की माँग अभी तक भी हो रही थी। जून के मध्य में रक्त का दल आयेगा। ऐसी सूचना मुझे मिली थी। रक्त देने के लिए मैंने भी अपना नाम लिखवा दिया था और भी ३०-३५ बन्दियों ने अपने नाम लिखाए।

रक्तदान के प्रतिदान स्वरूप बन्दियों में से किसी ने पैसे और किसी ने छूट का चयन किया था। मैंने दोनों को ही स्वीकार नहीं किया। रुग्णालय के कर्मचारियों ने इस कारण से मेरा नाम विशेष रूप से अधिकारियों को दिखाया था।

मेरे लिए विशेष पहरा रखा हुआ था, मैं अभी तक पथ्य आदि के लिए डॉक्टरी नियन्त्रण में था। ऐसी स्थिति में, मैं भी रक्तदान करने वाला था, अधिकारी जन इससे कुछ शंकित हो गए। उन्हें लगा कि कहीं मैं भविष्य में इस विषय को लेकर ही किसी प्रकार का विवाद खड़ा न कर दूँ। वे इसका उपाय सोच रहे थे।

मुझे उनके भय की कल्पना थी। अपने स्वार्थ के लिए मैं किसी अधिकारी को कठिनाई में डालूँ, इसका विचार कभी भी मेरे मन में नहीं आया। इस सम्बन्ध में जब अधीक्षक मुझसे मिले तो मैंने बताया, 'यह रक्तदान बिना किसी प्रकार के प्रतिदान के है। इसके लिए कोई भी प्रतिदान मैं कभी भी नहीं मागूँगा। देश की रक्षा के लिए अनेक लोगों ने बिना प्रतिदान

की भावना के ही अपने प्राणार्पण किए हैं। मैंने तो केवल रक्तदान ही किया है और भविष्य में भी करता रहूँगा। क्योंकि इस स्थिति में इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता। अपने ही देश के लिए किए गए इस छोटे से कर्त्तव्य के लिए मैं देश से किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं करता। देश के लिए व्यक्ति के जीवन को गौण समझा जाना चाहिए, यही मेरी धारणा है।'

भविष्य में मेरे सम्बन्ध में अधिकारी सजग रहने लगे थे। प्रत्येक चार मास के बाद रक्तदान के लिए मैं अपना नाम दिया करता था। बिना प्रतिदान के मुझे इसकी अनुज्ञा मिलने लगी थी। रक्तदान से पूर्व मेरी वैद्य द्वारा परीक्षा की जाती थी। चिकित्सक शोणवर्तुली का परिमाण (H.B. परसेंटेज) आदि देखा करते थे। जब तक वैद्यकीय दृष्टि से रक्तदान के लिए मुझे अयोग्य सिद्ध नहीं किया गया, तब तक मैं इस प्रकार निरन्तर रक्तदान करता रहा।

सर्वोच्च-न्यायालय में मेरे आवेदन कभी अस्वीकार कर दिए जाते थे और कभी लौटा दिए जाते थे। १९६३ के मध्य तक यह क्रम निरन्तर रहा। ५ अगस्त, १९६३ को मुझे न्यायालय में बुलाया गया। मैं न्यायालय गया। पराजय की अपनी माला में मैंने एक और फूल गूँथा था।

सितम्बर के मध्य हमारे कारावास के अधीक्षक का स्थानान्तर हो गया उनके स्थान पर दूसरे व्यक्ति आ गए थे।

रुग्णावस्था से उठने पर मैं काम नहीं करूँगा, ऐसी सूचना मैंने अधिकारियों को दी थी। नियम कहता था कि कालेपानी के बन्दी को तब तक सश्रम कारावासी समझा जाए जब तक उसको सीमा से बाहर नहीं भेजा जाता। वर्ष १९५६ में कालापानी बन्द हुआ था, आजन्म निष्कासन का रूपान्तर आजन्म कारावास में हुआ था और उसी का स्वरूप आजन्म सश्रम बन्दी बन गया। बाहर जाने का अधिकार ही नहीं, फिर काम किया या न किया, दोनों एक ही बात थी। काम करने से छूट मिलती है, परन्तु रिपोर्टबुक पर लिखी उस छूट का जब कुछ भी लाभ नहीं तो फिर यह झूठा दिखावा क्यों?

मैं स्वस्थ हो गया था। चिकित्सकों का कहना था कि हल्का काम किया जा सकता है। फिर भी कदाचित मुझे किसी ने कोई काम दिया न होता। किन्तु जब दण्डित यह कहे कि 'मैं काम नहीं करूँगा' तो इससे अधिकारियों के अधिकार को आघात पहुँचता है और वे उत्तेजित हो जाते हैं। मुझे शासन के अधिकार का दम्भ दिखा देना ही अभीष्ट था। दिनांक १५-३-१९६३ को मुझसे काम करने के लिए पूछा गया। मैंने कहा कि मैं अपना लिखित वक्तव्य दे रहा हूँ और दिनांक १९-६-१९६३ को मैंने ७१ पन्नों का अपना विवरण अधिकारियों को दे दिया।

दिनांक १५-६-१९६३ को मेरी पत्नी मुझसे मिलने के लिए आई थी। अधिकारियों ने मेरी विचित्र स्थिति की थी। मैंने भेंट करने से इन्कार कर दिया। इन्कार करने का कारण मैंने लिखकर दिया था। अधिकारियों में इतना भी साहस नहीं था कि बिना भेंट किए पत्नी आदि को वापिस भेज दिया जाए। मैंने घर पर पत्र भेजना भी बन्द कर दिया था। क्योंकि

कारा के अधिकारी प्रत्येक पत्र में काट-छाँट करने लग गए थे। पत्र रोक लिए जाते थे, किन्तु उसकी सूचना मुझे कभी-कभी तो ३०-३५ दिन बाद दी जाती थी।

काम न करने सम्बन्धी मेरे वक्तव्य पर विचार करने में शासन को ५ मास लगे और उस विचार के परिणामस्वरूप उनका निर्णय था कि जो छूट मुझे दी जाती है, वह न दी जाए। यद्यपि निर्णय युक्तियुक्त था, किन्तु यदि उस छूट के परिणाम से कारावधि के कम होने पर कोई प्रभाव नहीं पड़ने वाला था।

बन्दी के प्राणों पर टिकटिकी-सी लगाए रखना और छूट देकर भी छूट को कार्यान्वित न करना यह जले में नमक छिड़कने के समान था। मैंने निश्चय किया कि जो प्रवंचन हो चुका है वह हो चुका है, अब शासन यदि प्राणों को जब समाप्त करना चाहे कर ले, मैं इस प्रकार मनःस्थिति में पहुँच गया था।

छोटी-छोटी बातों में भी मुझ पर विचित्र बन्धन लगाए गए। नियमों की मर्यादा की आड़ में मेरे पत्रों को रोकने का क्रम भी निरन्तर था। किसी बन्दी के साथ बोलने न देना, नितान्त एकान्त में रहना, वे अन्न देते हैं यही मानों उनका उपकार है, इस प्रकार का आभास देना, इस प्रकार पहरेदारों के कड़े पहरे में रखना, नित्य की इस प्रकार की बातों से मेरा मन बहुत विचलित-सा हो गया था।

धर्मान्तर स्वीकार न करने के कारण तपे हुए तवे पर रखकर मार डालने के उदाहरण इतिहास में पढ़ने को मिलते हैं। मेरे मन में विचार आया करता था कि तपे हुए तवे पर छटपटाहट होती होगी और यह भी कि वह तड़पन बहुत ही तीव्र होती होगी, किन्तु उसका अन्त तो शीघ्र ही हो जाता होगा। थोड़े समय में ही वह बलिदानी मूर्च्छित हो जाता होगा। शेष यातना वह अवचेतना में ही भोग कर मृत्यु का ग्रास बन जाता होगा, किन्तु मेरी यह इतनी सुदीर्घ छटपटाहट अधिकारीगण किस प्रकार सहन कर लेते होंगे?

फिर मैं विचार करता : शासन भी किसी एक व्यक्ति द्वारा अदृश्य शक्ति के रूप में यंत्रित होता है। मनुष्य पलटते रहते हैं, किन्तु शासन स्थिर रहता है। कभी निगाली बदली गई हो और कभी बरतन, परन्तु यह हुक्का-चिलम हमारे परदादा के काल से चला आया है, ऐसा लोग कहा करते हैं। ऐसे ही एक ही अधिकारी सदैव विद्यमान रहता है और उसके सम्मुख वही एक ही दण्डित रहे तो निरन्तर देखते रहने से उसके मन में दया भाव आ सकता है। गांधी-वध अभियोग के हम सन्देहास्पद अभियुक्तों से आवश्यक जानकारी प्राप्त करने के लिए साम, दाम, दण्ड, भेद सभी प्रकार के उपाय बरतें, किन्तु कार्य पूर्ण हो जाने के बाद पुलिस का व्यवहार ऐसा कभी नहीं रहा कि उसके हाथ में शासन है और डण्डा है तो उसका प्रयोग होना ही चाहिए। कोई भी सुसंस्कृत व्यक्ति अपने सम्मुख हर समय होने वाली छटपटाहट को सुदीर्घकाल तक सहन नहीं कर सकता। भले ही फिर वह पुलिस का अधिकारी हो अथवा जेल का, कोई सचिव हो अथवा मिनिस्टर। उचित न्याय नहीं करना, प्रतिशोध लेना, छूट को निष्क्रिय सिद्ध करना, इस प्रकार की नीति जो वरिष्ठ अधिकारियों ने निश्चित की, इसका कारण यही था कि दण्डित उस समय उनके सम्मुख नहीं रहता था, दण्डित की छटपटाहट उनके सम्मुख होने वाली नहीं थी। कारा के

अधिकारियों को भी आशा हुआ करती थी कि अपना तो स्थानांतरण होता रहेगा, निरन्तर अपने सम्मुख यह छटपटाहट रहेगी नहीं, इस कारण वे अपना समय किसी प्रकार बिताया करते थे। व्यक्तिश: उनमें सहृदयता का लोप हो गया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता था। मैं जानता हूँ कि मेरी तड़पन अनेक अधिकारियों की निद्रा-भंग का कारण बन गई थी, परन्तु वे ही अधिकारी जब अधिकारी के रूप में से आते थे तो वे यंत्र हैं, बृहत यन्त्र के भाग हैं, मनुष्य नहीं; इस प्रकार की भावना उनके मन में आती थी और उनका व्यवहार भी वैसा ही हो जाया करता था।

छूट को गणना में यदि न लिया जाए तो दिनांक ९-२-१९६४ को मेरे कारावास के १५ वर्ष पूर्ण हुए थे। इसके ६ मास पूर्व मेरा प्रकरण शासन के पास भिजवा दिया गया था। १५ वर्ष पूर्ण होते ही मुझे छोड़ा नहीं जाना था, परन्तु तदपि न्यूनतम उस दिन को मेरी मुक्तता का दिन तो कहना ही चाहिए था, परन्तु इस घोषणा से शासन मुझे सदा के लिए बन्दी बना कर मृत्यु के लिए तड़पने देने के आनन्द से वंचित रह जाता। मैं समझता हूँ कि शासन के वे वरिष्ठ अधिकारी जिन्होंने मेरे विषय में इस प्रकार का निश्चय किया था भले ही वे अत्यधिक शिक्षित रहे हों, किन्तु वे सुसंस्कृत नहीं थे, इतना निश्चित है। यदि उन्होंने मेरे मुक्त होने की अंतिम तिथि की घोषणा की होती तो उससे कम से कम मेरे घर वालों को ही कुछ तो सान्त्वना प्राप्त होती है। शासन ने वह भी नहीं किया।

मेरे मुक्त होने के बाद अर्थात् नवम्बर, १९६४ में सत्यनारायण पूजा के समारोह में भाषण देने के निमित्त से कई लोगों ने कोलाहल मचाया और कहा, 'गोडसे की प्रवृत्ति के हिंसक लोगों को खुला छोड़ दिया है।' मानो इस प्रकार के उद्धत भाषण करने वाले व्यक्ति न्यायाधीश हों, इसलिए उनके कथन के अनुसार उस निमित्त से शासन ने बिना किसी प्रकार की छानबीन किए अनेक लोगों को भारत सुरक्षा कानून के अन्तर्गत बन्दी बना लिया था। १७ वर्ष तक कारावास में सड़ते रहने के बाद फिर निरपराध होकर भी पुन: एक वर्ष तक मुझे उन्हीं दीवारों के पीछे सड़ते रहता पड़ा। मैंने इस अवधि में किस प्रकार कारावधि भुगती है, कैसी यातनाएँ सही हैं, इसका ज्ञान उस समय उन कोलाहलकर्ताओं को नहीं था, जिन्होंने हमारे छूटने के विरोध में कोलाहल मचाया था। यदि उनको उसका ज्ञान होता तो कदाचित उन्हें भी मेरे साथ सहानुभूति ही होती। और तब वे कदाचित बात का बतंगड़ नहीं बनाते। अब वे अपने बर्ताव की परख कर सकते हैं। मेरे प्रत्येक वाक्य की सत्यासत्य के विषय में शासन से पूछ सकते हैं। तब उन्हें विदित हो जाएगा कि शासन का व्यवहार साधारण मनुष्यता से भी कितना गिरा हुआ था।

जीवन के सम्बन्ध में मुझे घोर निराशा का सामना करना पड़ा। संघर्ष जारी था। परन्तु मन का यह सन्तुलन कब तक टिका रहेगा, इस विषय में संदेह होता रहता था। यातनाओं से सन्त्रस्त हो एक दिन मैंने सूचना दी, कि दिनांक १६-४-१९६४ के बाद मैं स्वयं अपने पैरों से कोठरी के अन्दर नहीं घुसूँगा। यदि किसी प्रकार बल व अत्याचार से अधिकारी मुझे कोठरी में बन्द करना चाहें तो वे करें, मैं उनको किसी प्रकार का सहयोग नहीं दूँगा। वधस्थल पर जो स्वयं चल कर नहीं जाता, उसको उठाकर ले जाया जाता है।

मेरे विरोध का स्वरूप टेकनिकल होने पर भी उसका कार्यान्वयन तो वास्तविक रूप में होने वाला था, यद्यपि उसका उल्लेख रिकार्ड पर नहीं होना था। बन्द होने के समय मैं कोठरी के बाहर बैठा रहा। बैरकों मैं जो रक्षक अर्थात् वार्डर होते हैं वे दण्डितों में से उनकी उन्नति करके बनाए जाते हैं। उनको अलग टोपी और पट्टा दिया जाता है। मुझ पर जो दो दण्डित रक्षक थे उनसे कहा गया कि वे मुझे उठाकर कोठरी के अन्दर बन्द कर दें, किन्तु उन्होंने अस्वीकार कर दिया। उनका कहना था, 'कोई यदि मृत शरीर पड़ा होगा तो उसे उठा कर हम इधर-उधर रख देंगे। यदि एक दण्डित दूसरे दण्डित पर किसी प्रकार का अत्याचार करेगा तो उसका भी हम प्रतिकार करेंगे, उसको नियंत्रित करेंगे। परन्तु जिस दण्डित को एक शव बना दिया गया हो, उसके प्रत्यक्ष प्रेत का-सा व्यवहार करने में सहायता करने का कार्य हमसे न कहा जाए। हम अधिकारी होते हुए भी पहले दंडित हैं। कल हम पर भी कुछ इसी प्रकार की बारी आ सकती है। इसके अतिरिक्त आपके आरक्षक यहाँ हैं, उनसे उठाने के लिए कहिए। बन्दी ने यदि किसी प्रकार का विरोध किया और सिपाहियों में अपने बचाव का सामर्थ्य नहीं हुआ तो फिर हम यहाँ पर हैं ही।'

उन वार्डर कार्य कर रहे दण्डित रक्षकों पर आज्ञा-भंग का आरोप लगा कर उनका अधिकार छीन लिया गया। न केवल इतना अपितु उन पर यह आरोप भी लगाया गया कि ये न सुधरने वाले दंडित हैं। अत: इन्हें रत्नागिरि भेज दिया जाए और तदनुसार उन्हें वहाँ भेज भी दिया गया। ऐसे असुधारित बन्दियों को ठीक करने के लिए रत्नागिरि बन्दीगृह प्रख्यात है।

उन दंडित रक्षकों से उस प्रकार के कार्य के लिए अधिकारियों का कहना कितना अव्यवहार्य एवं अनियमित था, इसका विवरण मैंने ५० पृष्ठ के एक आवेदन में जो मैंने कारागृह विभाग के प्रमुख के नाम भेजा था, उसमें किया था। क्योंकि वह घटना मेरे सम्मुख ही घटी थी, अत: मैंने यह आवश्यक समझा था।

तब अधिकारी अन्य दण्डितों को लाए और उनके द्वारा मुझे कोठरी में बन्द करवाया गया। मेरी छूट काटी जाने लगी। अधिकृत रूप से ही जिसको मृत्यु का दण्ड हुआ तो उसको भी छूट दी जाती है, इस प्रकार किसी अन्य दण्डित के प्रकरण में तो मैंने देखा नहीं। मान लिया जाए कि उसको छूट दे भी दी गई और उसको उसकी पुस्तक पर लिख भी दिया तो उससे क्या? मैंने अधिकारियों से कहा, 'मैं बाहर निकलना चाहता था, यह आप देख रहे थे, इसलिए मेरी मुक्ति की तिथि पर उंगली रख कर आप शासन की ओर से मुझे यातना दे रहे थे। अब उस स्थान पर उंगली नहीं रख सकेंगे। मैं मृत्यु के बहुत समीप हूँ। आपके द्वारा काटी हुई छूट को देखकर क्या आप समझते हैं कि मृत्यु चौंककर रुक जाएगी? यदि आप कर्त्तव्यपालनशील अधिकारी हैं तो शासन को कहिए कि वह इस विडंबना को रोके।'

दिनांक २०-६-१९६४ को नित्य की भाँति अधीक्षक मेरी कोठरी के समीप आए। गले में तौलिया लपेटे मैं द्वार की चौखट के पास खड़ा था। मेरे निकट ही मेरे नये दंडित रक्षक खड़े थे। मैंने अधीक्षक के हाथ में एक कागज दिया और गले में लटकने वाली डोरी को चौखट में लगी कुण्डी के कांटे में लटका दिया। क्योंकि उस समय सभी का ध्यान

लगभग मेरी ही ओर था। अत: शीघ्रता से मुझे उठा लिया गया और डोरी निकाल ली।

वास्तव में मैंने एक डोरी का फांस बना कर गले में लटका रखा था। पहरेदार सदैव मुझ पर छिपी दृष्टि रखते थे, इसलिए शौचस्थान पर मैंने उसको तैयार किया था और उसको छिपाने के लिए गले में तौलिया लपेट लिया था।

मेरे इस क्रिया से सबको विस्मय हुआ। मुझे नीचे बैठाया गया। अधिकारी भी वहीं बैठे। मैंने बड़ी शान्ति से कहा, 'यह चहल-पहल मेरे पास होते हुए कोई मुझे शान्ति से फाँसी लेने देगा, ऐसा असम्भव दीखता है। मैं इस स्थिति को पहुँच गया हूँ, यह बात केवल आपके ध्यान में लाने के लिए मैंने यह नाटक किया था। आप लोगों ने यदि अधिक तंग करने का निश्चंय किया तो मैं इसी किसी प्रकार से अपने को मुक्त कर लूँगा। तब केवल मेरा वास्तविक शव ही आपके हाथ में आएगा। आपके चाहे कितने ही पहरेदार मेरे चारों ओर घूमते हों, किन्तु वे इसकी आहट भी न पा सकेंगे। यदि आपको सन्देह हो तो आप स्वयं ही देख लीजिएगा। मैं सब प्रकार से प्रस्तुत हूँ।

मुझ पर लगाए गए बन्धन कुछ ढीले किए गए। कुछ दिन बाद जब मेरा मन शान्त और कार्यक्षम हुआ तो मैंने एक दिन अर्थात् दिनांक २४-७-१९६४ को अधीक्षक को एक पत्र लिखा। उसमें लिखा था 'अपने मन की एकाग्रता पर अब मेरा विश्वास नहीं। किसी भी प्रकार से अब मैं अपना जीवन समाप्त करूँगा, ऐसा प्रतीत होता है। उस समय कदाचित् कुछ लिखने के लिए भी मैं रुक नहीं सकूँगा।'

'मैं मृत्यु को सामने देख रहा हूँ। वह मुझे भय नहीं दिखाती। इस ऊँची सतह पर खड़े होते हुए आपके प्रति या किसी अन्य के प्रति मेरे मन में किसी भी प्रकार की कोई द्वेष भावना नहीं है।'

'यदि मेरी अचानक अनैसर्गिक मृत्यु हो गई तो आपका किसी प्रकार का अनिष्ट न हो, उसके लिए आप इस पत्र का उपयोग कर सकते हैं। इसके लिए किसी को भी दोषी न ठहराया जाए। मेरी इस स्थिति के लिए ठीक कौन उत्तरदायी है, इसका निर्णय करना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। अत: सभी व्यक्ति संशय के लाभ के अधिकारी हैं।'

'मेरी इन भावनाओं को, कि मैं अपना जीवन समाप्त करना चाहता हूँ आप सम्मान की दृष्टि से देखेंगे, ऐसी मेरी कोई धारणा नहीं है। हाँ, यदि वैसा न हुआ, जैसा कि मैं लिख रहा हूँ तो आप मुझे असत्यवादी अवश्यमेव समझेंगे। तब तक आप मुझे स्पष्ट वक्ता समझिए और यदि मृत्यु आ गई तो फिर समझिएगा कि मेरा कथन प्रामाणिक था। मृत्यु के बाद अपने संरक्षण के लिए आप इस पत्र का अवश्य प्रयोग कीजिए।'

वास्तविक पत्र पर्याप्त लम्बा था, परन्तु प्रस्तुत विषय के लिए इतना सारांश पर्याप्त होगा। पत्र मिलने पर अधिकारी मुझसे मिले। उन्होंने मुझे अपने निश्चय से रोकने का यत्न किया। मैंने कहा, 'अब रोकने में कोई लाभ नहीं, क्योंकि तुरन्त इसी समय मैं अपने हाथ में डोरी लेकर आया नहीं हूँ। और यदि अधिकारी के नाते से आप मुझे रोकना चाहें तो मैं यही समझूँगा कि मुझे अधिक जीवित रखने पर मुझे यातना देने से आपको आनन्द आता

है, इसलिए इस प्रकार मनाने की चेष्टा की जा रही है। यदि आपके हृदय में थोड़ी-सी भी संवेदना विद्यमान है तो मेरी मृत्यु से आपको यह जानकर समाधान होगा कि इससे मेरी यातना तो समाप्त हो गई है। जिसके हाथ में मेरी मुक्ति थी उनके हाथ में मेरी कारावधि का कार्यान्वयन क्यों नहीं सौंप दिया गया? फँसाने का यदि कोई पाप होगा तो वह अब आपको लगने वाला है। अन्यथा इस प्रकार वह पाप उनके भाग गया होता।

'क्या होने वाला है, यह तो मैं नहीं जानता। आपकी कल्पना के अनुसार यदि कुछ अनिष्ट हुआ ही तो मेरा पत्र आपके संरक्षण के लिए है ही। मैं अपना अनिष्ट स्वयं करूँ और उससे दूसरे को कुछ कष्ट हो, यह विचार मेरे लिए बहुत कष्टदायक है। यह वेदना कब समाप्त होगी, यह मैं कैसे कह सकता हूँ?

अधिकारी समझा-बुझाकर चले गए। भेंट समाप्त हुई। कभी-कभी मुझे घोर अन्याय की प्रतीति होती थी। वह अन्याय किस प्रकार का है, उसको लिपिबद्ध करने का विचार भी आता था, किन्तु उसको कागज पर उतारने की शक्ति नहीं रह गई थी। विवशता के कारण ही मैं वह अपमानित जीवन सहन किया करता था।

१६ प्रकाश की प्रथम किरण

बहुत ही कठिन एवं असुविधाजनक परिस्थिति में रहते हुए और मनःस्थिति के अत्यन्त व्यग्र होते हुए भी सर्वोच्च न्यायालय में मेरे प्रयत्न चालू थे। मुझे लगता है कि मनुष्य में जीवन की इच्छा बहुत ही प्रबल होती है। किसी दुर्घटना में मस्तिष्क के चकनाचूर हो जाने पर भी शरीर के अन्य अवयव छटपटाते रहते हैं, मानो निकलने वाले प्राणों को रोकने के लिए वे प्रयत्न कर रहे हों, ऐसा प्रतीत होता है। मैं समझता हूँ कि अभी तक मेरा मस्तिष्क ठीक था।

औरंगाबाद बन्दीगृह में दिनांक २६-५-१९६४ को मैंने एक प्रारूप टाइप करवाने के लिए दिया। उसके दूसरे ही दिन पण्डित नेहरू का देहान्त हो गया, इसके कारण दो दिन तक बाजार बन्द रहे। स्वाभाविक ही कागज पुनः मिलने में विलम्ब हो गया।

मेरी पत्नी सिन्धु ने सर्वोच्च न्यायालय के एक वकील से विचार-विनिमय किया था। उन्होंने आवेदन करने से पूर्व उसका प्रारूप दिखाने के लिए कहा था। सम्भवतया वे उस आवेदन को सर्वोच्च न्यायालय में प्रस्तुत करने के लिए सिद्ध भी थे।

सर्वोच्च न्यायालय जिस विषय पर एक बार निर्णय दे चुका है यदि उसी प्रश्न को पुनः उपस्थित करना हो तो उसको सर्वोच्च न्यायालय के किसी अधिवक्ता द्वारा नियत अवधि अर्थात् ३० दिन के भीतर ही प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि अवधि बीत जाने पर प्रस्तुत करना हो तो उसके लिए विशेष अनुमति प्राप्त करनी आवश्यक है। मेरे पूर्व निर्णय की कालावधि बीत गई थी, और मुझे उसको पुनः प्रस्तुत करने की इच्छा हो रही थी। उसके लिए विशेष अनुमति लेने की आवश्यकता थी। उसके लिए किसी वकील का परामर्श चाहिए था। अपने प्रारूप की टंकित प्रति मैंने सिन्धु के माध्यम से वकील के पास भिजवा दी। उसकी एक प्रति मैंने अपने दिल्ली के वकील मित्र लाला गणपतराय को भी भेज दी।

घर का पत्र-व्यवहार मैंने पुनः चालू कर दिया था। एक वर्ष की अवधि के बाद भेंट भी करने लग गया था। कुछ पत्र-व्यवहार के बाद अधिवक्ता महोदय ने मुझे बताया कि प्रारूप में पुनः विचार करने योग्य ऐसी कोई बात नहीं है। उस प्रकरण को पुनः सर्वोच्च न्यायालय में नहीं ले जाया जा सकता। और उन्होंने प्रकरण को अपने हाथ में लेने में असमर्थता दिखाई।

प्रत्येक की अपनी-अपनी धारणा होती है। मैं यह नहीं मानता कि वकील बात को समझ नहीं पाए थे। वकील और न्यायाधीश में मतभेद हो सकता है। मतभेद तो दो न्यायाधीशों में भी होते हैं। इस स्थिति में एक न्यायाधीश बुद्धिमान और दूसरा मंदबुद्धि है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु मुझे इस बात का खेद था कि वकील के पीछे लगे रहने से आवेदन प्रस्तुत करने में विलम्ब हुआ था। यदि वे उस आवेदन को प्रस्तुत नहीं

कर सकते थे तो इसकी सूचना मुझे तुरन्त देनी चाहिए थी।

अपने पक्ष एवं आवेदन के दृष्टिकोण पर मुझे विश्वास था। लाला गणपतराय ने उसमें अनेक संशोधन सुझाए थे। उनमें से जो मुझे उचित जँचे उनको मैंने मान लिया और प्रारूप को पुन: ठीक किया। और प्रारूप को इस प्रकार का बनाया कि जिससे सर्वोच्च-न्यायालय यह न समझे कि मैं उसी प्रश्न को पुन: उठा रहा हूँ। टाइप करा कर दिनांक १४-८-१९६४ को प्रतिज्ञापत्र के साथ उसको सर्वोच्च-न्यायालय में भेज दिया।

आवदेन के पहले अंश में मैंने यह भी दिखाया था कि सर्वोच्च-न्यायालय का निर्णय कितना दोषपूर्ण है। अपना तर्क मैंने सप्रमाण सिद्ध किया था। केवल उसी प्रश्न पर पुन: विचार करने, न करने के निर्णय को मैंने सर्वोच्च न्यायालय पर छोड़ दिया था।

आवेदन के दूसरे अंश में मैंने अनेक मूलभूत प्रश्न उपस्थित किए थे। भारत सुरक्षा कनून के अन्तर्गत छीने गए नागरिक के मूल अधिकार के लिए न्यायालय में जाने के अधिकार को संकटावस्था के कारण स्थगित किया गया था। वैसे ही सर्वोच्च-न्यायालय का स्वयं के ही एक निर्णय को प्रमाण मान कर मेरे लिए न्यायालय के द्वार बन्द करने का अधिकार क्या सर्वोच्च-न्यायालय को है? क्या प्राङ्न्यास अर्थात् रैस जुडिकेटा (Res-Judicata) आवेदन के मार्ग में आड़े आता है?

आजन्म कारावास के बन्दी की स्वतन्त्रता समाप्त कर दी जाती है, ऐसा न्यायालय ने भी कहा था। दण्डसंहिता की धारा ४०१ में दया का अधिकार उल्लिखित है, परन्तु यदि आजन्म कारावास के दंडित की मुक्ति का आदेश शासन ने कभी नहीं निकाला। अर्थात् उसे स्वतन्त्रता नहीं मिली तो उसका जीने का अधिकार ही छीन लिया। यदि सर्वोच्च-न्यायालय ने भी न्यायालय का द्वार बन्द कर दिया तो फिर ऐसे दण्डित को कौन संरक्षण दे सकेगा?

सर्वोच्च-न्यायालय ने इस प्रकार की भावना व्यक्त की थी कि शासन किसी प्रकार का अनुचित बर्ताव नहीं करेगा, अनुचित बर्ताव की न्यायालय के मन में कुछ परिभाषा तो होनी चाहिए। इसी प्रकार मेरा यह वर्तमान कारावास उचित है अथवा अनुचित. यह देखने का उत्तरदायित्व भी सर्वोच्च न्यायालय पर आता है।

अन्य भी अनेक तर्क देकर मैंने कहा था कि यदि मेरी प्रार्थना मान्य कर लेना न्यायालय की सीमा के अन्तर्गत आता तो मैं फाँसी की याचना करता। क्योंकि इन दिनों मेरे साथ जो व्यवहार किया जा रहा है, फाँसी ही उससे छुटकारा दिला सकती है। न्यायालय तो संविधान के प्रति उत्तरदायी है, वह मुझे फाँसी दिला कर किस प्रकार इस विपत्ति से छुड़ा सकता है? इसी प्रकार मैं भी संविधान की सीमा के अंन्तर्गत न्यायालय से मुक्ति की याचना कर सकता हूँ, फाँसी की नहीं।

जब मैं उक्त आवेदन तैयार कर रहा था कि उन्हीं दिनों अर्थात् अगस्त, १९६४ के प्रथम सप्ताह में महाराष्ट्र विधान-सभा में मेरी और करकरे की मुक्ति के लिए अनेक प्रश्नोत्तर हुए थे। प्रश्नकर्ताओं को उत्तर दिया गया कि उनकी मुक्ति, राज्य शासन नहीं अपितु केन्द्र शासन ही अपनी दया के अधिकार से कर सकता है। श्री नानावटी को आजन्म कारावास का बन्दी होते हुए भी चार वर्ष बाद ही किस प्रकार मुक्त कर दिया गया? इस

पूरक प्रश्न के उत्तर में शासन ने कह दिया कि 'लोकहित की दृष्टि से वह तथ्य प्रकाशित नहीं किया जा सकता।'

प्रश्नकर्ताओं को सम्पूर्ण जानकारी नहीं थी और मैं यह जानकारी उनको दूँ, यह भी संभव नहीं था। शासन कई अर्द्धसत्य प्रस्तुत कर सदस्यों को किस प्रकार तुरन्त मौन कर देता है, यह जानकर मुझे दु:ख होता था।

जुलाई, १९५२ में ही बम्बई शासन ने हमारी मुक्ति का दिन दिनांक १०-२-१९६० बताया था। फिर १४ वर्ष की रिपोर्ट के समय उसी शासन ने पहले दिया हुआ दिन भुलाकर १५ वर्ष प्रत्यक्ष कारावास भुगतने के बाद अपनी संस्तुति केन्द्र शासन को सूचित करने की दुष्टता की थी। वह गोपनीय अभिलेख ही न्यायालय ने एक बार मेरे हाथ में दिलवाया था। तभी इस शासन के ढोंग का परिचय मुझे प्राप्त हुआ था। नियम का उल्लंघन कर दिन-रात दण्डित से काम लेना और उससे रक्तदान लेना तथा प्रतिदान में छूट का झूठा आश्वासन देना मात्र ही इस शासन का अधिकार था। वाह री शासन की मानवता की प्रगति?'

निराशा की अवस्था में मैं इस प्रकार विचार किया करता था कि मुक्ति का दिन शासन नहीं बता सकता, यह बात सत्य है। मेरी मृत्यु कब होगी, यह उनको पहले कैसे ज्ञात हो सकेगा? मृत्यु आने पर वे अपने दया के अधिकार से पत्नी को तार भेजेंगे? 'तुम्हारे पति की कारावधि पूर्ण हुई, उसको लेने के लिए औरंगाबाद आओ।' और वह आनन्द से उन्मत्त-सी बन्दीगृह के द्वार पर जब पहुँचेगी उसे उसका 'मुक्त' पति सौंप दिया जाएगा। दया के विशेष अधिकार का उपयोग कर शासकीय अधिकारी शासन की ओर से आशीर्वाद देंगे। 'नांदा सौख्य भरे।' अर्थात् सदा आनंद से रहो।

मेरा आवेदन दिनांक १८-८-१९६४ की सर्वोच्च न्यायालय को भिजवाया गया। पंजीकार ने उसको स्वीकार कर लिया। दिनांक १५-९-१९६४ को उसे संविधानिक न्यायापीठ के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। संविधानिक न्यायापीठ अर्थात् कौंस्टिट्यूशन बेंच पाँच न्यायाधीशों का होता है। वह विचार करता है कि प्राथमिक श्रवण के लिए आवेदन में कुछ है क्या? और यदि है तो मुझे बुलवाने के लिए आदेश देने पर विचार किया जाता था। विचारोपरान्त मेरा आवेदन स्वीकार कर लिया गया। दिनांक २८-९-१९६४ प्रारंभिक सुनवाई का दिन निर्धारित किया गया और इसकी सूचना मुझे दिनांक १८-९-१९६४ को औरंगाबाद कारा में प्राप्त हुई। दिनांक २३-९-१९६४ को मैंने औरंगाबाद से दिल्ली के लिए प्रस्थान किया। तीन दिन दिल्ली बन्दीगृह में रहकर दिनांक २८-९-१९६४ को न्यायालय में उपस्थित हुआ। न्यायाधीश ने आवेदन को पढ़ लिया था। बीस मिनट तक चर्चा हुई। परन्तु दण्ड-संहिता की धारा ४०१ का अस्तित्व अर्थात् दया का अधिकार उनके मन से नहीं हट रहा था। मैंने कहा कि मुझे दया नहीं चाहिए, मेरी स्वतन्त्रता छीनी गई है। धारा ४०१ का उलटा उपयोग कर यदि मैं मृत्यु का ग्रास बन गया तो क्या फिर मैं न्यायालय में आ सकूँगा? दया के अधिकार का अर्थ क्रूरता का अधिकार नहीं होता और स्वातन्त्र्यहरण का अर्थ भी जीवन-हरण नहीं होता। कानून में जीवन-हरण का अन्य विधान है। स्वातन्त्र्य हरण की क्रिया का उपयोग जीवन-हरण के लिए करना नियम विरुद्ध होने के साथ ही क्रूर-कृत्य भी कहलाएगा।

कम से कम इस बार न्यायाधीशों ने मेरे द्वारा प्रस्तुत तर्कों के विषय में सहानुभूति परक उद्‌गार प्रकट किए थे, परन्तु धारा ४०१ पुनः सामने आ गई। कारण कि मेरी कारावधि आजन्म-कारावास है और वह अधिकार प्रभारी शासन संस्था का है।

मैंने पुनः तर्क प्रस्तुत किया कि मेरी स्वतंत्रता छिन गई है। उसे प्राप्त करने के लिए मैं जीवित होते हुए ही प्रयत्न कर सकता हूँ, मरने के बाद नहीं। शासन द्वारा धारा ४०१ का उपयोग करने पर मैं आपके पास क्यों आऊँगा? शासन उस अधिकार का प्रयोग नहीं करता और तब तक आप भी न्यायालय का द्वार मेरे लिए बन्द कर दें, तो क्या यह न्यायालय का द्वार बन्द करना आपके अधिकार की बात है?

न्यायाधीशों ने परस्पर विचार-विमर्श किया। सभी अंगों पर विचार के बाद ३-४ मिनट में ही उन्होंने सर्वसम्मत निर्णय लिया—'प्रारंभिक सुनवाई के लिए शासन को उपस्थित होने का आदेश दिया जाए।' इस प्रकार इस आवेदन ने यह सीढ़ी भी पार कर ली। दिनांक १९-१०-१९६४ की तिथि इसके लिए निर्धारित कर दी। तब तक मुझे दिल्ली जेल में ही रखने का आदेश दे दिया गया।

दिनांक २८-९-१९६४ को जब मेरा आवेदन न्यायालय के सम्मुख आया और मैंने उसके सम्मुख प्रस्तुत किया, उससे दो-तीन दिन पहले संसद में श्रीमती शकुन्तला परांजपे ने हमारी मुक्ति के संबंध में प्रश्न किया था। छोड़ना अथवा न छोड़ना यह हमारी इच्छा पर निर्भर है, इस प्रकार का उत्तर शासन ने उनको दिया था।

मैं सोचता हूँ, 'हमारा अधिकार, हमारी इच्छा,' ऐसा शासन का बार-बार कहना क्या न्यायाधीशों पर किसी प्रकार का प्रभाव उत्पन्न नहीं करता होगा। अन्यथा मुझे उनको समझाने के लिए बीस मिनट क्यों तर्क करना पड़ता। न्यायालय के अनुकूल निर्णय से मुझ पर भी प्रभाव्र पड़ा था। यह मेरा २२वाँ आवेदन था।

१९५९-६० में लगभग ९० लाख रुपये व्यय करके तिहाड़ जेल बनाई गई थी। न्यायालय से मुझे उसमें लाया गया था। इस कारा को नितान्त आधुनिक माना जाता है। बन्दियों की सुख-सुविधा का भी इसमें ध्यान रखा गया है। यहाँ तक कहा जाता है कि यदि बन्दियों को इस प्रकार की सुविधा प्रदान की गई तो इससे अपराध प्रवृत्ति का निरोध होने की अपेक्षा प्रगति होने की संभावना अधिक हो सकती है। क्योंकि जो सुविधा मुक्त-जीवन में व्यक्ति उपलब्ध नहीं कर सकता, वह उसको कारागार में मिलने लगी है। यहाँ रंगमंच है, वाचनालय है, रेडियो सुनने और टेलिविजन देखने की सुविधा भी है। इस सन्दर्भ में अपराधवृत्ति की प्रगति के विषय पर यदि कभी अवसर आया तो अपने विचार मैं पृथक् से व्यक्त करने का यत्न करूँगा।

दिल्ली कारागार में मुझे 'बी' श्रेणी में रखा जाता था। मुझे दिल्ली शासन ने ही 'बी' श्रेणी प्रदान की थी। यह बात मेरे वारंट पर १९४९ में अंकित कर दी थी। वारंट पर काटछाँट करना अपराध माना जाता है। किसी प्रकार का संशोधन भी मूल अधिकारी अथवा उसका वरिष्ठ अधिकारी ही कर सकता है।

बम्बई प्रशासन ने १९५२ में हमारी श्रेणी घटा कर 'सी' श्रेणी कर दी थी। महाराष्ट्र शासन दिल्ली शासन से वरिष्ठ नहीं था। इसलिए उन्होंने अधिपत्र पर संशोधन नहीं किया।

हमारा अधिकार दबा कर हमारे साथ महाराष्ट्र सरकार ने अत्याचार किया था। वारंट की वास्तविक प्रति स्थलान्तर के समय दिल्ली भेजी गई थी। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया गया था। उसके अनुसार हमारी 'बी' श्रेणी बनी रही। दो व्यक्तियों को दबाने के लिए अपने ही शासन ने कितनी प्रवंचना की, यह जान कर कैसा भी कोई व्यक्ति क्यों न हो उसको भी आघात लगेगा ही।

मेरे प्रतिवेदन में चार प्रतिवादी थे। महाराष्ट्र शासन, केन्द्र शासन, औरंगाबाद कारागृह प्रमुख और दिल्ली के चीफ कमिश्नर। दिनांक २८-९-१९६४ का सर्वोच्च न्यायालय का आदेश दिनांक २९-९-१९६४ को टाइप होकर मेरे प्रतिवेदन की प्रतियों सहित सम्बन्धित कार्यालयों को ३-४ दिन में पहुँच गया। मैं कल्पना कर सकता हूँ कि जिस प्रकार रेचक लेने से पेट में विचित्र प्रकार की हलचल होती है, उसी प्रकार उन सम्बन्धित कार्यालयों में भी हलचल हुई होगी। सर्वोच्च न्यायालय कहाँ न्याय देता है, इस दर्प से शासन का व्यवहार हुआ करता था। चार-पाँच दिन पूर्व ही शासन द्वारा संसद में कथन 'छोड़ना या न छोड़ना यह हमारी इच्छा का प्रश्न है' न्यायालय को भी विचार करने का विषय बन गया। धारा ४०१ को स्थगित कर बन्दी को मृत्यु के समीप पहुँचाने का अपना अधिकार है, इसका विश्वास शासन को हो गया था।

सर्वोच्च-न्यायालय का आदेश पाकर शासन जो हिल गया था, उसका कारण कुछ अन्य ही था। शासन ने न्यायालय को अब तक अंधेरे में ही रखा था। जो सत्य उनको अवगत था, उससे उन्होंने न्यायालय को सूचित नहीं किया था। प्रतिशोध लिया जा रहा है इस कल्पना से फिर यदि भारत के सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय किसी अधूरी जानकारी के कारण गलत भी हो जाता है तो उसको क्या चिन्ता। यह थी उन सम्बन्धित व्यक्तियों की अर्थात् प्रतिशोध लेने वाले व्यक्तियों की राष्ट्रीय हित-चिंतन की भावना।

संसद सदस्यों को टॉलमटोल उत्तर दिए जा सकते हैं क्योंकि समय पर 'लोकहित' नामक कवच शासन की सुरक्षा में समर्थ है, किन्तु न्यायालय को फुसलाया नहीं जा सकता। न्यायालय स्पष्ट और सूक्ष्म प्रश्न कर सकता है।

शासन की अनेक बातें मैंने न्यायालय के विचार के लिए प्रस्तुत की थीं। उन बातों की सत्यता यदि न्यायालय को जँची और न्यायालय ने शासन को दोषी ठहराया तो असत्यता का आरोप कौन स्वीकार करेगा? न्यायालय शासन को नहीं अपितु उसके किसी भी अधिकारी को ही दोषी ठहरायेगा।

भावी घटनाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शासन ने अपनी मुट्ठी बन्द ही रखने का निर्णय लिया, जिससे कि मेरे आवेदन में उपस्थित आरोपों का उत्तर न देना पड़े और न्यायालय द्वारा असत्यता का आरोप न लगाया जा सके।

प्रतिवादियों को जो आदेश भेजा गया था उसकी एक प्रति मुझे दिल्ली कारागार में दिनांक ४-१०-१९६४ को प्राप्त हुई। उन दिनों आवेदन के सम्बन्ध में ही और कुछ लिखने में व्यस्त रहा करता था। दिनांक १०-१०-१९६४ को शनिवार था। कारागृह के निरीक्षण के लिए भारत के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री गुलजारीलाल नन्दा के आने की चर्चा थी। यत्र-तत्र स्वच्छता आरंभ हुई। गृहमन्त्री से दो बातें करने के लिए सभी दण्डितों को नाट्यगृह

में एकत्रित किए जाने की योजना थी।

कई घनिष्ठ अधिकारियों ने मेरे विषय में अनेक धारणाएं बना लीं थीं। गृहमन्त्री की सभा में मुझे उपस्थित किया जाए अथवा नहीं। भारत के गृहमन्त्री के आने पर कुछ ऐसी वैसी बात हो गई तो? इस प्रकार उन अधिकारियों में विचार-विमर्श हुआ करता था, किन्तु किसी प्रकार का निर्णय नहीं कर पाते थे। मेरे कानों में यह बात आई। मुझे यह जान कर हँसी आती थी। तब मुझे ३-४ वर्ष पूर्व का एक प्रसंग स्मरण हो आया।

एक आवेदन के लिए मुझे दिल्ली भेजा जा रहा था। एक नायक और तीन सिपाही मेरे साथ थे। सिपाहियों में से एक-दो पहले भी मेरे साथ एक बार आए थे। उनसे परिचय था। और उस परिचय के आधार पर जितना विश्वास निर्माण हो सकता था, वह भी हुआ था।

दण्डित को मार्ग में ले जाते हुए हथकड़ी डालना अथवा न डालना, यह मार्ग-रक्षक दल के प्रमुख पर निर्भर करता है। बेड़ी डालने से मैंने कभी इंकार भी नहीं किया, किन्तु प्राय: हुआ यही कि एक-दो बार छोड़ कर कभी किसी ने बेड़ी नहीं पहनाई। यात्रा में हम दण्डितों को घर के वस्त्र पहना दिया करते थे।

कभी इस प्रकार हुआ कि किसी स्थान पर मार्ग-रक्षक दल दूसरा आने वाला था, किन्तु वह आया नहीं। यही दल दिल्ली तक आया। नायक नया था। दिल्ली स्टेशन पर यदि वहाँ का मार्ग रक्षक-दल अथवा वाहन नहीं आया तो क्या करना होगा, वहाँ रुकना होगा। जेल तो वहाँ से बारह मील दूर है, इस प्रकार की चिन्ता उसको हुई। मैंने उससे कहा कि मैं उसका मार्ग-दर्शन कर दूँगा, उसको कोई अड़चन नहीं होगी। अनेक बार आने-जाने से मुझे वहाँ की पद्धति का ज्ञान हो गया था।

हम नई दिल्ली स्टेशन पर उतरे। मार्ग रक्षक दल और वाहन नहीं आया था। हमने सामान उतारा। दो सिपाही वहाँ ठहरे। दोनों को मैं बाहर पुलिस कार्यालय में ले गया। मैंने उसको टेलीफोन दिखाया, किन्तु नायक टेलीफोन के विषय में भी पूर्ण अनभिज्ञ था। तब मैं स्वयं आगे बढ़ा। वहाँ बैठे भीमकाय अधिकारी से आज्ञा लेकर मैंने टेलीफोन नम्बर देखकर नायक की ओर से फोन मिला कर मैंने बताया, 'मैं अमुक नायक, अमुक क्रमांक नई दिल्ली स्टेशन से बोल रहा हूँ, एक दण्डित को लाया हूँ और मेरे साथ तीन अन्य सिपाही हैं। दण्डित को तिहाड़ कारागार में ले जाना है, कृपया कोई वाहन भेज दीजिए।' वहाँ से उत्तर मिला, 'अभी कोई गाड़ी नहीं है। कई दण्डितों को लेकर गाड़ी न्यायालय गई है, शाम को लौट आते समय वही गाड़ी आप लोगों को भी ले आएगी।'

इस उत्तर के आधार पर तो ६-७ घंटे स्टेशन पर रुकना पड़ता। मुझे शीघ्र कारागार पहुँच कर प्रकरण पर तैयारी करनी थी। तब मैंने पुन: कहा, 'दण्डित नथूराम गोडसे का भाई गोपाल गोडसे है। उसको सर्वोच्च-न्यायालय में जाना है, इसलिए यहाँ लाया गया है। क्या इस प्रकार का भयंकर कैदी ६-७ घंटे यहाँ खुला घूमता रहेगा? कोई विशेष-व्यवस्था कर शीघ्र गाड़ी भिजवा दीजिए।'

टेलीफोन पर नथूराम के भाई गोपाल गोडसे का नाम सुनकर सामने बैठे भीमकाय अधिकारी नायक से बोले, 'चार व्यक्तियों का तुम्हारा पुलिस दल और उसमें से भी दो

तुम यहाँ पर। केवल दो व्यक्तियों के आधीन ऐसे भयानक दण्डित को छोड़ कर आना ठीक नहीं। तुम जाओ और ये गाड़ी की व्यवस्था करेंगे। तुम उसका ध्यान रखो।'

मैं कौन हूँ, इसका संकेत न देते हुए वे वहाँ से उठे और बाहर आड़ में होकर मुझे देखते रहे। टेलीफोन पर मुझे बताया था, 'स्टेशन ऑफिसर से पूछ कर व्यवस्था करता हूँ, आप १५ मिनट बाद फिर फोन कीजिए।' मैंने फोन बन्द कर दिया। सामने बैठे भीमकाय पुरुष को धन्यवाद दिया। पन्द्रह मिनट बाद फिर आऊँगा, ऐसा उनको कहा और बाहर आ गया। समीप ही खड़े हँसते हुए आरक्षक दल में सम्मिलित होकर हम अपने सामान के पास आ गए। मैंने उनसे कहा कि पन्द्रह मिनट बाद ही पुनः उस भीमकाय पुरुष के पास जाकर फोन करना है, तब तक मौन रहो। पन्द्रह मिनट बाद हम पुनः वहाँ गए। रिसीवर हाथ में ही लिया था कि उस अधिकारी ने कहा, 'अभी-अभी फोन आया था और सन्देश दिया है कि अमुक क्रमांक की गाड़ी आधे घण्टे तक पहुँचने वाली है, आप लोग दण्डित को लेकर निर्धारित स्थान पर प्रतीक्षा कीजिए।' यह सुन उसको धन्यवाद देकर हम लौट गए।

कहीं चाय पीकर या इधर-उधर घूमकर किसी प्रकार हमने आधे घण्टे का समय बिताया। इतने में उस भीमकाय अधिकारी को हमने अपनी ओर आते देखा। सोचा कोई सन्देश आया होगा, किन्तु उसका हमारी ओर कोई ध्यान ही नहीं था। वह शीघ्रता से कहीं जा रहा था। पाँच मिनट में वह लौट आए और सीधे हमारे समीप से निकला। उसकी जिज्ञासा जागृत हुई। थोड़ी दूर खड़े रहकर वह उस भयंकर दण्डित को अपनी विकट दृष्टि से खोज रहा था, परन्तु वह तो उनको कहीं दिखाई हीं नहीं दिया। वह सोचता होगा कदाचित् किसी सिपाही ने उसे अपने थैले में तो बन्द नहीं कर लिया, परन्तु इतना भयंकर व्यक्ति इतना छोटा तो हो नहीं सकता। उसने यों ही घड़ी की ओर देखा। तब से पौन घण्टा हो चुका था। उसने कदाचित् यह भी सोचा होगा कि यहाँ का मार्ग-रक्षक दल आकर उस दण्डित को ले तो नहीं गया?

इतने में ही मोटर आकर रुकी। हमने अपना सामान चढ़ाया। वह अधिकारी वहीं रुककर देखता रहा। फिर वह कुछ आगे सरका और प्रश्न भरी दृष्टि से मेरी ओर देखा। उसी दृष्टि से मैंने उनसे पूछा, 'क्या?'

'गोपाल गोडसे कहाँ है?' उन्होंने मुझसे प्रश्न किया।

'आपके सामने खड़ा है महाराज! आज्ञा कीजिए।' मैंने बड़ी विनम्रता से उससे कहा।

'आप?' कहने के लिए निकला हुआ उनके मुख से 'आ आकार मुख' लगभग दस सेकिण्ड तक खुला ही रह गया था। ऐसा भयंकर दण्डित इतने समय तक, बिना किसी रक्षक के इस प्रकार अनिर्बन्ध घूमता रहा। मानो उससे उसे आघात-सा लगा।

वह बोला, 'मैंने तो सोचा था कि आप आवश्यक व्यवस्था एवं सुरक्षा की देखभाल के लिए कारा से भेजे गए कोई अधिकारी होंगे।'

'मार्ग में मैं स्वयं ही अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध करता हूँ।' मैंने कहा। मोटर चलने लगी और हम स्टेशन से बंदीशाला की ओर चले।

आज गृहमन्त्री आएंगे, उस समय मुझे सभागृह में जाने देना चाहिए अथवा नहीं, इसकी

चर्चा मेरे कानों में पड़ी। मैंने उन अधिकारियों को त्राण देते हुए कहा, 'यदि सभी दण्डित जाने वाले हैं तो आप मेरे साथ पक्षपात नहीं कर सकते। यह तो हुई नियम की बात, किन्तु वहाँ जाए बिना मेरी कुछ हानि होगी, ऐसी बात नहीं है। यदि श्री नन्दा चाहें तो स्वयं यहीं आ जाएंगे।'

मेरे मुख से यों ही निकले हुए वाक्य सत्य सिद्ध हो गए। इसमें मेरी बड़ाई की बात नहीं। कुछ भी हो श्री नन्दा भारत के गृहमन्त्री थे। मैं एक दण्डित था। मैं छोटा था और हूँ भी। श्री नन्दा मुझसे मिले, किन्तु उपयुक्त यही होगा कि हम कहें कि वे कारागृह का परीक्षण करने आए थे और उसी क्रम में मुझसे भी मिले।

वैयक्तिगत रूप से श्री नन्दा के प्रति मेरे मन में सहानुभूति है। गांधी जी के मरण से जिनको वास्तविक दु:ख हुआ था, वे उनमें से थे। गांधी-वध अपने में एक कठोर घटना हो सकती है, किन्तु गांधी-भक्तों की भावनाओं को ठेस पहुँचाने का उद्देश्य उसके मारने वाले का नहीं था। इसलिए उससे जिनको वास्तविक दु:ख हुआ, उनके प्रति हमारी सहानुभूति होना स्वाभाविक है।

एक-दो विभाग देख लेने के बाद श्री नन्दा ने मेरे विषय में पूछा। मोटर द्वारा ही वे कारागार का निरीक्षण कर रहे थे। अत: मोटर हमारे प्रकोष्ठ की ओर घुमाई गई। उस समय वहाँ हम १४-१५ बन्दी थे। द्वार पर आते ही श्री नन्दा ने फिर मेरे बारे में पूछा। अधिकारियों ने मुझसे सामने आने के लिए कहा।

परस्पर अभिवादन से भेंट का प्रारंभ हुआ। उन्होंने मेरा हाथ अपने हाथ में लिया। उस समय भी मेरे मन में आया जो कनिष्ठ अधिकारी कुछ क्षण पूर्व शंकालु हुए थे, उनको यह दृश्य देख कर खलबली मची होगी। मैंने श्री नन्दा को अपने दिल्ली आने का कारण बताया। उन्होंने कहा, 'मुझे ज्ञान है।' मैंने कहा, आजन्म कारावास का विषय मुझ तक ही सीमित नहीं, यह एक प्रकार से सामाजिक और न्यायिक अर्थात् सोशियो-लीगल जैसा सम्मिश्रण है। केन्द्रीय मंत्री के नाते आप इस विषय में कुछ रुचि प्रकट करें, यही मेरी आकांक्षा है। इसके सम्बन्ध में यदि कुछ विचार-विनिमय करना हो तो मैं प्रस्तुत हूँ।' मैंने तुलसी के पत्ते की एक टहनी भेंट की।

हमारे वार्त्तालाप के समय भी शासकीय फ़ोटोग्राफरों ने स्फुर प्रकाश में अनेक चित्र लिए। श्री नन्दा ने अधिकारियों को आदेश दिया कि 'सभा समाप्त होने पर इनको कार्यालय में ले जाना, वहाँ आराम से वार्त्तालाप हो सकेगा।' यह कह कर वे आगे बढ़ गए।

अब सभागृह में जाने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रह गया था। सभी विभागों का निरीक्षण पूर्ण हो जाने के बाद दण्डितों को सभागृह में ले जाया गया। दण्डितों की ओर से संगीत का कार्यक्रम था। श्री नन्दा को एक मानपत्र भी भेंट किया गया। उपदेश के चार शब्द श्री नन्दा ने दण्डितों को कहे। फिर उसी सभा में छूट की घोषणा की गई। ऐसी छूट वास्तव में धारा ४०१ के आधार पर दी जाती है। छूट में वर्गीकरण था। दस वर्ष और उससे अधिक कारावधि वाले को चार मास, ५ से १० वर्ष वाले को २ मास, १ से ५ वर्ष वाले को ४५ दिन, ६ मास से १ वर्ष वाले को एक मास और तीन मास से छ: मास वाले को १५ दिन।

मुझे भी छूट मिली चार मास की। अर्थात् १२० दिन, किन्तु निरर्थक। ऐसी छूट जो

कि मेरी जीवन के साथ ही यात्रा करती रहेगी।

शाम को मैं कार्यालय में गया, जैसा कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति मिलने के लिए आता है। इस प्रकार शिष्टता से श्री नन्दा ने मुझसे बैठने के लिए कहा। वे बोले, 'मैंने आपका पत्र पढ़ा है।'

कौन-सा पत्र, यह मेरे ध्यान में नहीं आ रहा था। क्योंकि उनको मैंने कोई पत्र लिखा ही नहीं था। कदाचित न्यायालय द्वारा भेजा गया आदेश होगा, यह अनुमान लगाकर मैं उनसे वार्त्तालाप करता रहा। फिर मैंने अपना मुद्रित आवेदन प्रबन्ध उनको दिया और बोला, 'यह एक लौट कर आया हुआ निरस्त आवदेन है, परन्तु आजन्म कारावास के विषय पर सर्वांगीण विचार हो और किसी भी दण्डित के साथ अन्याय न हो सके, इस दृष्टि से आप इसे देखिएगा।' उस पुस्तक में मेरी एक हिन्दी कविता 'उत्तमांग सिंदूर विभूषित' शीर्षक से उस पुस्तक के परिशिष्ट में थी, मैंने वह भी उनको दी।

उनके हाव-भाव से ऐसा प्रतीत होता था कि उस पुस्तक को वे कदाचित न देख पाएं। अतः मैंने कहा, 'अपने लिए मैं न्यायालय में लड़ रहा हूँ। यदि न्यायालय ने मुझसे कहा कि इस कारावधि की वैध परिणति मृत्यु है तो मैं उसे वरण कर लूँगा, पुनः न्यायालय में मैं नहीं जाऊँगा, परन्तु आप सोचिये मदनलाल और करकरे को क्यों सड़ा कर रखा हुआ है? उन्हें तो आप मुक्त कीजिए।'

'मुक्त होने के बाद आप क्या करेंगे?' उनका प्रश्न था।

'अभी तक तो इस प्रश्न पर विचार नहीं किया था, परन्तु यदि मैं मुक्त हो ही गया तो राजनीति लड़ूँगा। फिर भी प्रथम तो मुझे भरण-पोषण के लिए उद्योग ही देखना पड़ेगा। मेरी पत्नी ने एक उद्योग खड़ा किया है।

'कई पूर्वाग्रह होते हैं। मैंने वे नहीं रखे। कारा के अधिकारी आपके बर्ताव के बारे में कहते हैं। यहाँ के अधिकारियों ने तो आपके बर्ताव के बारे में ठीक-ठीक ही कहा है।'

'छूट तो बर्ताव का परिमाण माना जाना चाहिए। वह किसी को कारावधि में से कम नहीं करनी है, ऐसा कहने पर दण्डित कैसा बर्ताव करेगा, इस बात का कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता। क्या छूट का उपयोग आजन्म कारावास के दण्डित के कारावधि के कम करने में नहीं करना चाहिए? और यदि ऐसा करना है तो उसकी पहली छूट देते समय, इतना ही क्यों उसके कारा में पैर रखते ही क्या उसकी कारावधि की अन्तिम अवधि निश्चित नहीं करनी चाहिए?'

उनका कहना था, 'ऐसी अवधि तो निश्चित होती ही है और छूट का उपयोग भी होता है।'

'किन्तु मेरे साथ प्रत्यक्ष क्या हुआ, यह भी तो आप देखिए।' मैंने उन्हें एक उदाहरण देते हुए बताया, अभी आपने ४ मास की छूट दी। आपने नाटक नहीं किया। वह दण्डित उतने दिन पूर्व मुक्त होगा, यह आपकी हार्दिक इच्छा है, मैं अब भी मानता हूँ। उनकी छूट की गणना होकर जो इसके अधिकारी होंगे वे परसों अर्थात् सोमवार से मुक्त होने भी आरंभ हो जाएंगे। विभिन्न समयों पर विभिन्न अधिकारियों द्वारा प्रदत्त यह पवित्र उद्देश्य मेरे सम्बन्ध में आगे चलकर अड़चन क्यों निर्माण कर देता है, यह बात देखने की है। यदि मैं अस्वस्थ

हुआ तो इसी वंचना के कारण हुआ। छूट में से अपना अधिकार प्रस्थापित करने के लिए मैं न्यायालय की शरण लेता रहा हूँ। दया के लिए मैं आपके पास नहीं आऊँगा। आप जानते हैं कि नथूराम ने दया की याचना नहीं की थी। सजा न्यायोचित है,ऐसी उनकी धारणा थी। इतनी छूट होने पर भी मुक्ति मृत्यु के बाद ही हो सकती है, यह बात यदि न्याय को मान्य हो तो फिर मैं कुछ नहीं कह सकता। इसलिए मैंने पहले ही आपको कहा था कि उस स्थिति में मैं मृत्यु को स्वीकार कर लूँगा। करकरे और मदनलाल को तो आप लोग छोड़ दीजिए।

'आई विश यू वैल' (मैं तुम्हें शुभकामनाएँ देता हूँ।) श्री नन्दा ने कहा और हमारी भेंट समाप्त हो गई।

कारा से बाहर के कई शासकीय अधिकारी उस समय के वार्त्तालाप के समय वहाँ उपस्थित थे। मैं निश्चित रूप से तो नहीं कह सकता कि हमारे वार्त्तालाप को टेप रिकार्ड किया गया, किन्तु मेरा ऐसा अनुमान है।

श्री नन्दा से कार्यालय में मेरी भेंट होने वाली है, यह जान कर दिल्ली के अनेक सहबन्दियों को सन्तोष हुआ। उनमें से कुछ ने मुझसे कहा कि नन्दा जी यहाँ पर आपसे सहानुभूति से ही मिले थे और आप फिर उनसे मिलने वाले हैं तो उनसे कहिए कि भले ही बाहर वे किसी प्रकार के भी काम के लिए कहें, कोई ग्रामोद्योग, कोई खादी भण्डार, वह सब आप कर लेंगे, किन्तु वे आपको छोड़ दें। श्री नन्दा आपकी विनती अवश्य मानेंगे। उनके इस सहानुभूतिपूर्ण बर्ताव के लिए मैंने उन लोगों का धन्यवाद किया। वे मेरा विषय समझ नहीं सकते थे और मुझे भी उनको समझाने में कोई लाभ नहीं था। यदि मुझे याचना ही करनी होती तो फिर सर्वोच्च न्यायालय में चक्कर काटने की आवश्यकता न होती। मुझमें किसी प्रकार की अकड़ नहीं थी, किन्तु सह दण्डितों द्वारा सुझाई गई विनती करने से केवल एक ही अनिष्ट बात होती कि उसके द्वारा मैं अपने आप को और शासन को प्रवंचना देता। मुझे ऐसा करना नहीं था। भले ही विलम्ब से क्यों न हो,शासन को अपना अपराध तो समझ लेने देना चाहिए।

मैंने अपने न्यायालय में दिए आवेदन को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं किया था। शासन को किसी प्रकार का निमित्त बनाने को न रहे, इसलिए मैंने दिनांक १०-१०-१९६४ को न्यायालय को एक पूरक आवेदन भेज दिया था।

श्री नन्दा कारा में केवल मेरे लिए ही आए थे, यदि ऐसा मैं न भी कहूँ तो भी एक बात स्पष्ट है कि मेरा आवेदन और पूरक आवेदन यदि शासकीय वकीलों ने पढ़कर अध्ययन किया होगा तो उत्तर देने के प्रपंच में न पड़ें, ऐसा परामर्श संभवत: उन्होंने शासन को दिया होगा। तब शासन के सम्मुख दो मार्ग थे, एक तो मेरे आवेदन का विरोध न करना और दूसरा आवेदन की सुनवाई के लिए नियत किया हुआ दिन निकलने से पूर्व ही मुझे मुक्त कर देना। श्री नन्दा की भेंट उस दृष्टि से हुई थी, यह स्पष्ट है।

सोमवार अर्थात् दिनांक १२-१०-१९६४ को श्री नन्दा के आगमन के अवसर पर घोषित छूट के आधार पर उन दण्डितों के छूटने की गतिविधि चल रही थी जिनकी कारावधि अब समाप्त हो गई थी। ऐसी छूट के अवसर पर कारा में एक प्रकार का समारोह-सा हो जाता है। मुरझाए हुए मन लहलहाते हैं, सूखे मनों में कोंपल फूटती है। मुझे १९५०

के जनवरी में इसी विभाग के कैदियों के इसी प्रकार मुक्त होने की घटना स्मरण हो आई। शीघ्र छूटने का विश्वास दिलाने वाली ४० मास की छूट की हमारी घोषणा हुई थी। क्योंकि ऐसी छूट किसी भी कारण से काटी नहीं जा सकती, शुद्ध दया ही उस छूट का भाव होता है।

छूट की यथार्थता के लिए किए गए अनर्थक परिश्रम और उसमें प्राप्त पराजय से मेरा मन कुंठित हो गया था, भावनाएँ मर गई थीं, किसी कारण आज जो मुझे चार मास की छूट घोषित हुई थी, उसका मेरे मन पर किसी प्रकार का भी उत्साहजनक परिणाम नहीं हुआ था। अपने मन की इस बात को यदि अलग रख दें तो दण्डित मुक्त हो रहे थे, अपने-अपने परिजनों में जा रहे थे, इससे उनको जो आनन्द होता था, उसे देख कर अपने मन में भी सन्तोष ही होता था। कदाचित् इस बात पर विश्वास होना कठिन है, परन्तु फाँसी का दण्ड प्राप्त दण्डित भी अपनी बात भूलकर किसी नए आने वाले बन्दी को सान्त्वना देता ही है कि भय खाना नहीं, शीघ्र ही ये दुर्दिन बीत जाएंगे। उदास मत होँना।' ऐसे दण्डित दूसरे दण्डित के दुःख में दुःखी होता है, उससे सहानुभूति प्रकट करता है। उसके आनन्द में सहयोगी बनता है।

मंगलवार दिनांक १३-१०-१९६४ का दिन। थोड़े समय पहले ही हमारी कोठरियाँ खोलीं गई थीं कि एक जेलर महाशय आकर खड़े हो गए। 'आज इतने भोर कैसे आने का कष्ट किया आपने' मैंने अकस्मात् पूछा।

'आपकी मुक्तता का आदेश आया है। अपना सामान समेटिए, साढ़े सात बजे के लगभग आपको बाहर निकलना है।' उन्होंने कहा।

उस समय सात बज रहे थे। किसी भी व्यक्ति का मन ही क्या शरीर भी नाच उठता, ऐसे वे शब्द थे, परन्तु जेल में मेरे साथ किए गए यातनापूर्ण व्यवहार के कारण मन इतना कुंठित हो गया था, चेतनाहीन हो गया था कि उस तथाकथित दया का आनन्द भी मैं नहीं उठा सका। जैसे किसी चित्रपट में प्रारंभ से अन्त तक करुणाजनक दृश्यों का चित्रण होते रहने से प्रेक्षकों के मन अत्यन्त द्रवित हो जाने के कारण चित्र के अन्त में सुखान्त दृश्य दिखाने पर भी उनका दुःख समाप्त नहीं हो जाता, वही स्थिति मेरी भी थी। जब तक दया की आशा की गई, तब तक वह प्राप्त नहीं हुई। न केवल इतना, सुदीर्घ अवधि तक उसकी आशा की किरण भी कहीं दिखाई नहीं दी। उससे मन इतना खिन्न हो गया कि अब उस दया की रुचि ही नष्ट हो गई थी। समय पर की गई दया में आनन्द आता है, बाद में नहीं। इस अवसर पर मुझे एक शेर का स्मरण हो आया, सम्भवतया वह गालिब का हो—

कर गये बेवख्त कुर्बानी तो फिर क्या फायदा।
सर से ऊँचा हो गया पानी तो फिर क्या फायदा?

दया सारहीन न हो, इसलिए काले पानी अथवा आजन्म निष्कासन के बन्दी की कारावधि परिवर्तन कारावास में करना होगा तो दण्ड-संहिता की धारा ४०१ के आधार पर या भारतीय दण्ड विधान की धारा ५५ के आधार पर वह कारावास १४ वर्ष का ही रहना चाहिए, ऐसा करना शासन के लिए आवश्यक है। ऐसा परिवर्तन दण्डित की बिना स्वीकृति के करने का उनको अधिकार है। अर्थात् ऐसी प्राप्त दया को अस्वीकार करने

का अधिकार दण्डित को नहीं है।

इस प्रकार मेरी कारावधि को कार्यान्वित करते समय कारावास में तो परिवर्तित कर दिया था, परन्तु कारावास की अवधि किसी प्रकार निर्धारित नहीं की थी। कारावास के १४ वर्ष कभी के पूर्ण हो गए थे।

मेरी मुक्ति का आदेश धारा ४०१ के आधार पर अर्थात् दया के अधिकार का उपयोग करके शासन ने आदेशित किया। इतने विलम्ब से यह आदेश प्रसारित करने से, और शासन द्वारा दया की भावना का विचार करते-करते उसमें मेरी रुचि नष्ट हो गई थी। क्या केवल मैं जीवित हूँ इतना ही सोचकर यह 'दया' मुझ पर की गई थी।

सरकार की इस दया को स्वीकार कर ही लेना चाहिए, ऐसा कोई बन्धन विधि के रूप में मुझ पर नहीं था। क्योंकि यह आज्ञा धारा ४०१ के अधीन थी। न्यायालय में इसकी चर्चा होने दो इस विचार से इस दया को स्वीकार करने की रुचि मुझ में नहीं थी।

किसी भी प्रकार से विचलित न होते हुए मैंने जेलर से कहा, 'मुझे अधीक्षक से मिलना है।'

'क्यों?'

'मेरा आवेदन न्यायालय के विचाराधीन है, तब तक मैं बंदीशाला में ही रहना चाहता हूँ। यही विनती मैं उनसे करना चाहता हूँ।'

जेलर को यह अनुभव नितान्त नया और अप्रत्याशित था। अनेक बार पराजित होकर व अनेक धक्के खाकर और इतने वर्षों के परिश्रम के बाद इस दण्डित को मुक्ति मिली है, किन्तु तब भी यह बाहर जाना नहीं चाहता, इसका तात्पर्य समझने में यह बेचारा असमर्थ था। ऐसे अवसर पर आनन्दातिरेक से भी मनुष्य उद्विग्न हो जाता है, पागल भी हो जाता है, किन्तु मुझ में इस प्रकार का कोई विकार भी उस बेचारे को दिखाई नहीं देता था।

जेलर पर और क्या प्रतिक्रिया होती है, यह देखने के लिए मेरे पास समय नहीं था। मुझे आशंका थी कि यदि मैंने आदेश का सीधे प्रकार पालन न किया तो ये मुझे उठा कर बंदीशाला से बाहर कर देंगे। अत: मैंने दो कागज लिए और तुरन्त अधीक्षक को लिखा—

'महोदय,

मेरा आवेदन क्रमांक १०६/१९६४ सर्वोच्च न्यायालय में विचाराधीन है। दिनांक १९-१०-१९६४ को उसकी सुनवाई होगी। दया करना शासन का विशेषाधिकार है अर्थात् उस विशेषाधिकार द्वारा प्रदत्त दया को अस्वीकार करने का मुझे अधिकार है, ऐसा एक कारण मैंने आवेदन में लिखा है। आवेदन की सुनवाई होने तक कृपया दया की आज्ञा का कार्यान्वयन रोक कर रखिए, यही मेरी आपसे विनती है। इससे दया की आज्ञा देने वाले किसी सम्बन्धित अधिकारी का अपमान करना उद्देश्य नहीं है।

साभार...'

अधीक्षक को मिलने के लिए मैं कार्यालय गया। वहाँ दस-पन्द्रह मिनट तक रुकना पड़ा। तब तक मेरा सामान बाहरी बरामदे में डाल दिया गया था। विनती नहीं मानी जाएगी, यह स्पष्ट था। किन्तु यदि मानी जाती तो मेरी लिखित विनती ही मानी जाती, मौखिक नहीं। इसलिए मैंने लिखित आवेदन दिया था। अधिक्षक महोदय से भेंट हुई। मेरी विनती मान्य

करना उनके लिए संभव नहीं था। हमारा कुछ वार्त्तालाप हुआ, उसके बाद उन्होंने मेरा आवेदन रख लिया, और मैं बाहर आ गया।

मुझे ज्ञात हुआ कि करकरे और मदनलाल को भी मुक्त करने का आदेश हुआ है। मुझे इससे प्रसन्नता हुई।

जहाँ-जहाँ कागज़-पत्रों पर हस्ताक्षर करने आवश्यक थे, वह मैंने किए। यात्रा का अधिपत्र (वारंट) दिया गया। वस्तुओं की परीक्षा हुई, उसे बंदीशाला के बाहर रख दिया गया।

असमय से आए इन बुढ़ापे के लक्षणों से युक्त मुख को लेकर मैंने बंदीशाला के बाहर पाँव रखा और स्वतन्त्रता की प्रथम साँस ली।

क्या यह सच है? हाँ, मैं मुक्त हो गया हूँ। कारा का कोई भी अधिकारी मेरे पीछे नहीं था। न कोई सिपाही ही। 'अकेले कहाँ जा रहे हो?' यह कह कर कोई धमकाने वाला दण्डकारी मेरे समीप नहीं था। 'तुम्हारी टोपी कहाँ है? तुम्हारा पदक कहाँ है?' ऐसा पूछने वाला भी कोई नहीं था। 'काम क्यों नहीं करते? तुम पर अभियोग लगाया जाएगा।' इस प्रकार उग्रता दिखाने वाला भी कोई नहीं था। छूट का झूठा आश्वासन देने वाला खाकी परिवेशधारी कोई अधिकारी भी कहीं दिखाई नहीं देता था। मैं मुक्त हो गया था, यह बात वास्तव में सत्य थी।

जैसे कोई भारी और भयानक मछली प्रयत्न करने पर भी जब गले में उतारी न जा सके और जिसके गले में उतारने से अपना ही गला बन्द होकर प्राण जाने के भय से मगरमच्छ उसे मुक्त कर दे और फिर अपने मन को यह कहकर सान्त्वना दे कि चलो 'तुम पर दया करके मैं तुम्हें जीवन दान देता दूँ,' ठीक उसी प्रकार की मेरी मुक्तता थी। मुझे सुरक्षित रख कर मेरी कारावधि का कार्यान्वयन करने के लिए कारावास का द्वार खोला था। न्यायालय को उसने वैसी सुरक्षा का आश्वासन दिया था। फिर उसके मन में पाप आया। उसको लगा कि न्यायालय सोया हुआ है। बाढ़ ही जिस प्रकार खेत को खाना चाहे उसी प्रकार मुझे पचाने की भूख शासन को लगी थी। मुझमें भारीपन अथवा कठोरता नाम की कोई चीज नहीं थी। न्यायालय मेरे चिल्लाने से जागृतावस्था में था। यह क्या शोरगुल हो रहा है, यह देखने के लिए प्राचीर तोड़ कर भीतर आने की स्थिति में वह था। मुझ में गुरुत्व एवं कठोरत्व, आया था, इस कारण शासन का द्वार रूपी मुख अवरुद्ध हो गया था। मैं उसके गले में उतर नहीं सकता था। मगरमच्छ के मछली को उगलने के समान ही शासन के लिए भी यही हितकर था कि वह मुझे मुक्त करे। और मुझे उसी कारागार के द्वार से बाहर कर दिया गया।

शासन का दाँत मेरे शरीर में बहुत गहरा चला था, किन्तु फिर भी मैं जीवित था। मेरे हृदय को पार करके जाने के पहले ही शासन को दाँत उठाना पड़ा था। अपने पूर्वजों ने न्यायालय की यह कुव्यवस्था क्यों रखी है, ऐसा खेद सम्भवतया उन सम्बन्धित व्यक्तियों को हुआ होगा।

बाहर जाने पर एक वाहन द्वारा मैं श्री गणपतराय जी के घर पर आया। देहली में जहाँ मैं सर्वप्रथम कृतज्ञता व्यक्त कर सकूँ, यह वह स्थान था। पूर्णरूपेण अन्त तक अर्थात् मेरे

अन्तिम आवेदन के लिए पूरक आवेदन भिजवाने थे, उसकी प्रतियाँ भी उन्होंने शीघ्रता में टाइप करवा दीं थीं। इस प्रकार अन्त तक उन्होंने मेरी सहायता की थी।

जब मैं वहाँ पहुँचा तो वे घर पर नहीं थे। मैं मुक्त वातावरण में घूम फिर सकता हूँ अथवा नहीं, यह देखने के लिए, मैं बाहर निकला। देहली के सी. आई. डी. के गुप्तचर मेरे पीछे थे। उनकी गाड़ी भी थी, परन्तु वे मेरे मार्ग में बाधक बनने के लिए नहीं थे। वे दो हों अथवा दो सौ हों तब भी जब तक वे मुझे किसी प्रकार का भी कष्ट नहीं देते, तब तक उनके विषय में प्रतिवाद करने का मुझे कोई कारण नहीं था। आज भी वैसे ही गुप्तचर मेरे आस-पास रहते हैं, किन्तु मेरे व्यवहार में रुकावट डालने के लिए नहीं। और मैं उनसे डरूँ इस प्रकार का कोई कारण मेरे पास न होने से उनसे कभी स्पष्टीकरण पूछने का भी मैं कोई कारण नहीं समझता।

मैं थोड़ा इधर-उधर घूम रहा था तो मुझे कुछ ऐसे अनोखे अपरिचित व्यक्ति पकड़कर मार्ग बताते कि जिनको मैंने कभी देखा नहीं था। उन्होंने मुझे कैसे पहचाना? मेरी मुक्ति की सूचना उनको किस प्रकार लगी? इस प्रकार के प्रश्न मेरे मन में उठते थे। क्योंकि वे लोग स्वयं मेरे पास आए थे। बात तो किसी प्रकार भी फैल जाती है, ऐसा मैं सोचता, परन्तु मेरा अनुमान है कि मेरा पता ठिकाना शासकीय व्यवस्था के गुप्तचर विभाग से प्रचारित हुआ होगा। कदाचित् मैं किससे क्या बोलता हूँ, इसका अनुमान लगाने के लिए यह व्यवस्था की गई होगी। मिलने वाले लोगों में गुप्तचर भी होंगे तो होवें, ऐसा विचार मन में उठा।

मुझे वे लोग प्रेम से मिले। उन्होंने अपना परिचय दिया। उनमें से दो-तीन व्यक्तियों ने मुझे अपने घर भी आने का निमंत्रण दिया। समय मिला तो मैं आऊँगा ऐसा ही मैं उनको कहा करता था। दो-तीन व्यक्तियों ने मुझे भोजनालय में भोजन भी करवाया।

बीच में मैं श्री गणपतराय के यहाँ जाकर उनसे मिला था। एक नए परिचित के साथ मैं उनके पास गया था। मेरी मुक्ति यह अपमानित मुक्ति है, यह बात मन को अब भी सालती थी। निष्पक्षता से मुझे लगता था कि शासन ने अपने दया के अधिकार का उपयोग इस प्रकार दुर्दशा करके करना उसके लिए भी उचित नहीं था। शासन स्वयं को प्रवंचना दे रहा है। मूल प्रश्न का समाधान मेरी इस मुक्ति से नहीं हुआ था। मैं क्या करूँ, यँही सोच रहा था।

मैंने सर्वोच्च न्यायालय को एक आवेदन दिया। आवेदन क्रमांक १०६ का सन्दर्भ देकर मैंने कहा, 'दिनांक १३-१०-१९६४ को मुझे दिल्ली जेल से मुक्त कर दिया गया है। दिनांक १९-१०-१९६४ को उपरिलिखित आवेदन सुनवाई के लिए आयेगा। तब तक मुझे अन्दर ही रखा जाए, ऐसी विनती मैंने अधीक्षक को की थी, परन्तु मेरी इच्छा के विरुद्ध मुझे मुक्त किया गया।

'मुझ पर की गई इस दया से इंकार करने का क्या मुझे अधिकार है या नहीं? इसका भी विचार मेरे आवेदन की सुनवाई के समय किया जाए। अन्यथा संविधान के १४वें अनुच्छेद के अनुसार 'न्याय की समानता' के अनुसार मुझे कब मुक्त होना चाहिए था इस पर विचार किया जाए।

'मैं दिनांक १९-१०-१९६४ को न्यायालय में उपस्थित रहूँगा।' आवेदन-पत्र लेकर मुक्तता के आदेश पर स्थगनादेश लेने के लिए मैं न्यायालय गया। दशहरे के अवकाश के

कारण न्यायालय बन्द था। वहाँ रखी पेटी में अपना आवेदन डालकर आ गया।

यदि मेरी मुक्ति की आज्ञा स्थगित हो जाती अथवा कारागार के अधीक्षक द्वारा मेरी प्रार्थना मान ली जाती तो जो कारावास प्राप्त हुआ होता, वह मेरी अपनी इच्छा से होता। एक कठिन प्रश्न सुलझाने के लिए थोड़ा-सा कष्ट भुगतना पड़ा तो वह कोई बहुत बड़ा मूल्य नहीं था। उस अवधि में शासन ने पुनः मुझे बन्द किया है, ऐसा दुःख मुझे न होता। न्यायालय वैसी आज्ञा दे सकता है या नहीं, यह एक चर्चा का विषय था। मेरे पास मेरे कुछ तर्क थे।

श्री नन्दा को मिलने का मैंने प्रयत्न किया। उन्होंने सदिच्छा व्यक्त की थी। मैं आज मुक्त था। उस सदिच्छा के लिए आभार प्रकट करना चाहिए था, परन्तु वे किसी सभा में थे। मैं उनके निजी सचिव से मिला। मैं उनको पत्र दे आया। 'सर्वोच्च-न्यायालय में मेरा प्रयत्न—दया को अस्वीकार करना मेरा अधिकार है, एतद्विषयक मेरा आवेदन—एक प्रश्न को सुलझाने के लिए है। किसी का अपमान करने के लिए नहीं। आपने मेरे प्रति जो सदिच्छा व्यक्त की, उसके लिए मैं आभारी हूँ।'

आज तक मुझ पर हुए अन्याय के लिए समझ लिया जाए कि श्री नन्दा उत्तरदायी थे, किन्तु पूर्णतया वे ही उत्तरदायी थे, ऐसा नहीं समझा जा सकता। किसी भी व्यक्ति-विशेष पर इस प्रकार का दोषारोपण किया जा सके, ऐसी स्थिति नहीं है। पिछले ८ वर्षों से कितने ही व्यक्ति स्थानान्तरित हुए थे और कितने ही दिवंगत हो गए थे।

हिन्दू महासभा भवन में मुझे नथूराम जी के मित्र मिले। नथूराम हिन्दू महासभा के एक सक्रिय कार्यकर्ता थे। अनेक प्रान्तों में उन्होंने भ्रमण किया था। सभी प्रान्तों में उनके मित्र थे। हिन्दू महासभा ने गांधी-वध काण्ड की निन्दा की थी, परन्तु नथूराम हमारा नहीं है, ऐसा हिन्दू महासभा ने नहीं कहा। नथूराम के किसी मित्रगण ने भी ऐसा नहीं कहा था। नथूराम के कार्य की पृष्ठभूमि का राजनैतिक मूल्यांकन सरदार पटेल जैसे अथवा किसी अन्य कांग्रेसी नेताओं ने किया था, उसी प्रकार नथूराम के मित्रजनों ने भी किया था। परन्तु इस प्रकार मूल्यांकन किया, इसलिए सरदार पटेल आदि ने गांधी हत्या का आदेश दिया, ऐसा हम जिस प्रकार नहीं कह सकते, वैसे ही हिन्दू महासभा ने कोई ऐसा आदेश दिया था ऐसा कहना भी अन्याय होगा।

मैं मुक्त हुआ था इसलिए अनेक मित्रों को भी इसकी प्रसन्नता थी। मुझसे देहली में रहने के विषय में पूछताछ की गई। मैंने उन्हें बताया कि मैं रात को ही जाने वाला हूँ।

अपनी मुक्ति के सम्बन्ध में मैंने घर पर भी तार द्वारा सूचना दी थी। घर पहुँचने की अपनी तिथि से भी उनको सूचित किया था। दिनांक १५-१०-१९६४ को अर्थात् दशहरे के दिन मैं घर पहुँचने वाला था।

दिनांक १४-१०-१९६४ को मेरी मुक्ति का समाचार चारों ओर फैल गया। गाड़ी गुजरात से जा रही थी। कई स्टेशनों पर लोग अनुमान से मुझे देखने के लिए आते थे। मैं जिस किसी को बताता वही मुझे पहचान लेता, अन्यथा कोई वैसे मुझे पहचानता नहीं था। एक स्टेशन पर मैंने भीड़ देखी। उत्सुकतावश मैंने भी दृष्टि डाली। पूर्णतया संयोग की बात थी कि मुझे पहचानने वाले एक सज्जन वहाँ थे। उनसे मेरा परिचय कारा का ही था। मैंने

उनको कुछ छूट दिलवाई थी। उसने जब मुझे देखा तो अपने साथियों को संकेत किया। वे सभी लोग मेरे समीप आकर खड़े हो गए। उन्होंने मुझे पुष्पमाला पहनाई, मेरा जयजयकार किया।

क्या मैं नेता बन गया हूँ? मैं स्वयं ही अपना निरीक्षण करने लगा। नेता-सा कोई भी गुण मुझमें दिखाई नहीं देता था। उस पुष्पमाला से मैं कुछ चिन्तित हो गया था। परन्तु प्रश्न थोड़े समय का ही था, गाड़ी चलने ही वाली थी। मैंने उनसे पूछा कि 'मैं गाड़ी से आऊँगा, इसका ज्ञान आपको कैसे हुआ?'

'हम एक दो गाड़ियाँ और देखने वाले थे। ये लोग मेरे पीछे लग गए कि इनको भी साथ लेकर चलूँ। हमारा विचार था कि यदि भेंट हो गई तो अच्छा ही है, नहीं तो कुछ घण्टे ही तो व्यर्थ जाने वाले थे।'

इस पर भी मुझे विश्वास नहीं हो रहा था। कहीं ऐसा तो नहीं कि दिल्ली से किसी ने अथवा गुप्तचर विभाग ने ही निश्चित गाड़ी का तार भिजवाया हो, जो कुछ भी हुआ होगा, उसका ज्ञान मुझे नहीं हो पाया।

गाड़ी छूटने से एक मिनट पूर्व मिठाई की एक टोकरी मेरे डिब्बे में रख दी गई। एक व्यक्ति ने यह मेरे परिवार के लिए है, ऐसा एक पत्र दिया। मेरे प्रति उन लोगों ने शुभकामना व्यक्त की और गाड़ी चल पड़ी।

दादर से कल्याण स्थानक पर आया। घर के लोगों के वहाँ आने की संभावना थी। मैं उतरा, इधर-उधर देखा, कुछ परिचित चेहरे दिखाई दिए। कितने लोग होंगे, तीस, चालीस, पचास। सभी सम्बन्धी नाते के थे। मित्र बहुत थोड़े से। बड़े भाई दत्तात्रय, छोटा भाई गोविन्द और परिवार के लोग। सब लोगों ने मुझे प्रथम बार ही यहाँ पर मुक्त रूप से देखा था। मैं अब उनमें ही हूँ ऐसा अनुभव हुआ। अरे! यह आनन्द से उमड़ पड़ने वाली लड़की कौन? अरे यह तो असिलता है। मेरी छोटी कन्या। कितनी बड़ी हो गई थी। इसको मैं बच्चे के बिछावन में छोड़कर गया था। मानसपुत्र नाना को भी अपना आनन्द व्यक्त करने में एक प्रकार का संकोच हो रहा था। बड़ी कन्या विद्युल्लता वर्धा में थी।

मेरी दृष्टि पत्नी को खोज रही थी! आँखें चार हुईं। उसका समझना उसने समझा, और मेरा मैंने। असंभव दीखने वाला दिन ऐसा उसको लगा था। मन में उमड़ पड़ने वाले आनन्द को उसने दबा कर रखा था। हम सभी स्टेशन के प्रतीक्षालय में बैठे। मैंने स्नान किया। सभी ने चाय पी। मैंने उनको बताया कि दो दिन बाद मुझे फिर न्यायालय में जाना है।

मेरा यह कथन सुन 'अब क्या बाकी रह गया है' शेष इस प्रकार की कुछ चिन्ता उनके चेहरे पर व्यक्त हुई। मैंने उनकी शंका का समाधान कर दिया।

कल्याण से हम पूना की गाड़ी में बैठे। पूना स्टेशन पर अनेक लोग एकत्रित थे। पूना में जिन व्यक्तियों के प्रति मैं कृतज्ञता व्यक्त करूँ उनमें से श्री ग. वि. केतकर थे। किसी भी प्रकार का भय न रखते हुए हमारी मुक्तता का प्रश्न उन्होंने सर्वसाधारण के सम्मुख प्रस्तुत किया था। उनसे भेंट की।

१७ वर्ष बाद मेरे घर में दशहरा मनाया जा रहा था। शहनाई नगाड़ा बज रहा था। द्वारों पर तोरण था। आँगन में रंगावली काढ़ी गई थी। पंचारती लेकर सुहागिनें खड़ी थीं।

श्री भाऊराव अभ्यंकर दम्पत्ति मेरी पत्नी को अपनी कन्या के समान मानते हैं और उसी प्रकार उससे व्यवहार भी करते हैं। यह मैं पहले भी एक स्थान पर लिख चुका हूँ। उनके जामाता का आगमन हुआ; कन्या को सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनका दोहरा आनन्द उन्मुक्त प्रकट हुआ था।

पंचारती उतरवाते समय मेरी आँखें छलछला आईं। मैंने उन्हें रोका नहीं। जो आँसू बहना चाहते थे, मैंने उन्हें बहने दिया। इतने वर्ष तक मैं उन्हें रोके हुए था। अब रोकने का कोई कारण नहीं था।

लगभग एक पीढ़ी का अन्तर पड़ गया था। अपने कन्धों पर जिन गुड़ियाओं को मैंने खिलाया था उनको आज उनकी गोद में उनके बच्चों के साथ देख रहा था।

मेरी स्मृति कुछ धुंधली हो गई थी। उसमें कई मिलजुल कर रहने वाले परिचित आते थे और मुझे आदर से बुलाते। मेरे 'गोपाल' नाम के आगे अब 'राव' लगने लग गया था। मैं सोचता था कि मैं कब बड़ा हुआ। मैं सोचता कि जिस प्रकार फ्रिज में रखी वस्तु वैसी ही रहती है, उसी प्रकार कारा में रहने से मुझ पर भी काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ा होगा। क्या मुझे, तू-तू, रे-रे कहने वाला अब कोई नहीं है?

मुझे अधिकार से अरे, जारे कहने वाले तीन व्यक्ति स्वर्गवासी हो चुके थे। माँ, पिताजी और नथूराम। स्मरण आते ही मैं घर के भीतर गया। उनके चित्र थे, उन्हें मैंने वन्दन किया। सारा दिन लोगों का तांता लगा रहा। आगे के कुछ दिनों तक भी यही क्रम अविरल चलता रहा।

और वह हमारी प्रथम रात्रि थी, आँसुओं से भीगी भीगी।

दिनांक १९-१०-१९६४ को मैं सर्वोच्च न्यायालय में पहुँचा। आवेदन सामने आया। मैं खड़ा रहा। मेरा नया परिशिष्ट भी न्यायमूर्तियों ने पढ़ा था।

मूल आवेदन के अन्तर्गत ही अन्य आवेदन थे। मूल आवेदन को अब विचाराधीन करने का प्रश्न नहीं उठता था, क्योंकि मैं मुक्त हो गया था। आवेदन को निष्फल घोषित (इनफ्रैक्चुअस) कर दिया गया। जिस प्रकार जड़ तोड़ देने से शाखाएँ स्वयमेव गिर जाती हैं, उसी प्रकार मेरे प्रमुख आवेदन के निष्फल सिद्ध होने से तदनन्तर्गत लिखित सभी आवेदन भी समाप्त हो गए।

न्यायालय से इस प्रश्न को सुलझा लेने में मैं असमर्थ ही रहा। मेरी यह अन्तिम पराजय थी।

गांधी-वध काण्ड के एक चिरपराजित दण्डित व्यक्ति की ऐसी यह गाथा है।

१७ ....और अन्त में

मेरे जीवन में कुछ समय ऐसा भी आया था कि कहीं से कोई थोड़ी सी हलचल होने पर मैं सतर्क हो जाया करता था। मैं सदैव उत्सुकता से यह देखता रहता था कि कहीं ऐसी संदिग्ध वस्तु है क्या? किसी अपरिचित व्यक्ति ने मुझे थोड़े समय अधिक देख लिया तो मैं समझता कि यह ऐसा क्यों करता है? हो न हो यह मनुष्य गुप्तचर विभाग का होगा। प्लेटफार्म पर घूमते हुए, मोटर पर जाते हुए, रेलगाड़ी में यात्रा करते हुए, मैं मन ही मन कुछ तो भी छिपाकर रखा करता था। इसकी सदैव मुझे चिन्ता रहा करती थी। उस चिन्ता का चिह्न बाहर प्रकट न हो, इसके लिए मैं सदा प्रयत्नशील रहा करता था, परन्तु जो मन में था वह मन से तो छिपाया नहीं जा सकता था।

वह थोड़ा समय गांधी-हत्या के दिन के पहले और उसके बाद के थोड़े से दिन का था। मुझे संदिग्ध व्यक्ति समझकर पकड़ा गया था। अभियुक्त के नाते न्यायालय में उपस्थित किया गया। नि:सन्देह न्यायालय का समाधान करके मेरे विरुद्ध आरोप सिद्ध किया गया। न्यायालय ने मुझे दण्ड दिया, शासन ने उस दण्ड का कार्यान्वयन किया। अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करते हुए ही दिनांक १३-१०-१९६४ को दिल्ली कारागार से मुझे मुक्त किया गया।

मुक्ति के बाद मेरी मन:स्थिति में एक विशिष्ट अन्तर आया। किसी भय का कोई भी दबाव मन पर नहीं रहा। मुझे बिना शर्त के मुक्त किया था। इसका अभिप्राय यह है कि मुझे एक भारतीय नागरिक के सभी अधिकार प्राप्त हो गए। मतदान का अधिकार भी। समाज के लिए आवश्यक सभी नियमों और निबन्धनों के साथ मैं अन्य सहनागरिकों की भाँति ही बंधा हुआ होते हुए भी उनके साथ ही दूसरों के अधिकार पर अतिक्रमण न करके किसी नागरिक के उपभोग्य अधिकारों का उपयोग करने की जो स्वतंत्रता होती है, वह स्वतंत्रता मुझे भी प्राप्त हुई।

जिज्ञासा मनुष्य में स्वाभाविक रूप से होती है। थोड़े समय के लिए भी यदि आप किसी अन्य स्थान पर रहकर आएं तो लौटने पर लोग वहाँ के समाचार जानने की उत्सुकता प्रकट करते हैं। अधूरी और अज्ञात बातों को जानने की भी जिज्ञासा होती है। जैसे वहाँ खेती कैसे होती है, उद्योगशाला कैसे चलती हैं, बाँध का निर्माण कहाँ तक हो चुका है। दादा कैसे हैं? क्या चाची मैके गई थी? क्या पानी वहाँ ठीक आता है आदि।

गांधी जी का जीवन जितना देशव्यापी था उतनी ही उनकी मृत्यु भी देशव्यापी ही सिद्ध हुई थी। उनका देहान्त वध से हुआ, यह एक दुर्भाग्य था और ऊपर देखने पर उनकी मृत्यु की घटना उनके स्वयं के सिद्धान्तों के विपरीत थी। एक अहिंसक की मृत्यु हिंसा से हुई थी। इसलिए वह विशेष ध्यान में लाने योग्य बात थी।

इतिहास ने गांधी-वध इस घटना का उल्लेख किया, इससे इतिहास पढ़ने वाले की जिज्ञासा जागृत हुई। अर्थात् यह वध करने वाले कौन थे? क्या वे क्रूर हत्यारे थे? क्या गांधी जी के साथ उनका कोई व्यक्तिगत द्वेषभाव था? क्या उनके चरित्र में कुछ हीनता थी? उनका भविष्य क्या रहा? उन्होंने इस बारे में क्या कहा था? यदि ऐसी घटना न हुई होती तो उस समय की राजनीतिक परिस्थिति कैसी थी? जनता की मनोदशा उस समय कैसी थी? जन-जीवन किस स्थिति में था?

गांधी-वध से सम्बन्ध रखने वाले इस प्रकार के अनेक प्रश्न उनके मन में उठा करते थे और आज भी उसी प्रकार उठते रहते होंगे।

मैं गांधी-वध काण्ड का एक दण्डित व्यक्ति हूँ। अपनी मुक्तता के लिए मैं न्यायालय में संघर्ष किया करता था। समाचार-पत्रों में वह विवरण प्रकाशित होता था और कभी-कभी आकाशवाणी पर भी समाचार प्रसारित हो जाया करता था। मेरे विषय में न्यायोचित रूप से गांधी-वध अभियोग का दण्डित कहकर किया जाता था। मेरी मुक्ति का समाचार भी सर्वत्र प्रकाशित हुआ था।

इस समाचार से परिचित तथा अपरिचित सभी व्यक्ति अपनी जिज्ञासा की मुझ से पूर्ति कराने के लिए आतुर हों, यह स्वाभाविक ही था।

बंदीवास भुगतने वालों के चरित्र भी अनेक ने पढ़े होंगे, किन्तु उनमें से अधिकांश अंग्रेजों के शासनकाल के हैं। मैंने अपना कारावास स्वराज्य काल में भोगा था। उस पर भी गांधी जी के सिद्धान्तों के संस्कार यदि नित्य नहीं तो सप्ताह में एक बार तो प्रसारित करके लोगों में भरने का यत्न हो ही रहा था, और वह यत्न आज भी चल रहा है। आज भी प्रति शुक्रवार को प्रात: आकाशवाणी द्वारा गांधी की प्रार्थना-सभा के टेपरिकार्ड जनता के कानों में सुनाए जा रहे हैं।

मेरे कारावास का स्वरूप किस प्रकार का था? गांधी जी के सिद्धांतों और उनको प्रसारित करने वालों और उनके द्वारा भारतीय जनता को शिक्षित करने वाले शासन और उसके प्रत्यक्ष व्यवहार में कोई तालमेल था? क्या किसी प्रकार के हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया की गई थी? अथवा क्या संस्कारों द्वारा स्वयं ही हृदय में कुछ परिवर्तन हुआ? क्या दण्ड की भयंकरता ने मन को विचलित किया? जो दण्डित हुए थे, उन सभी पर गांधी के सिद्धान्तों का या शासन के व्यवहार का क्या परिणाम हुआ? कारावास में किस प्रकार का भोजन मिलता था? क्या मारपीट भी होती थी? क्या परिजनों से भेट करने की सुविधा थी? छूट मिला करती थी अथवा नहीं? दण्डितों को मिलने वाली फर्लो हमें भी मिलती थी अथवा नहीं? इस प्रकार के मेरे कारावास से सम्बन्धित प्रश्न भी मुझसे निरन्तर पूछे जाते थे। वास्तव में प्रश्न तो गांधी के सिद्धान्त और उसकी व्यावहारिक आचरण में तुलना के लिए ही अभी भी पूछे जाते हैं।

गांधी-वध की घटना को राजनीतिक और ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त होने के कारण उसमें 'क्या हुआ था' यह जानने की उत्कण्ठा गांधी पर श्रद्धा रखने और न रखने वालों को अर्थात् सभी को हो सकती है। इसी प्रकार इतिहास पढ़ने और आलोचनात्मक दृष्टि से पढ़ाने वालों की भी हो सकती है। मुक्त होने के कुछ दिन बाद मैंने इस तथ्य को समझा।

एक उत्तरदायी नागरिक के नाते अपनी मर्यादा का ध्यान रखकर और सभ्य नागरिक की प्राप्त भाषण और लेखन की स्वतंत्रता का उपयोग करके जिज्ञासुओं की उत्कण्ठा की पूर्ति की जाए, ऐसा मैं सोचने लगा, परन्तु इसके लिए मैं अपना मुँह खोलूँ अथवा लेखनी उठाऊँ, उससे पहले ही मुझे पुनः एक काल्पनिक कारण से पकड़ लिया गया। एक वर्ष का कारावासीय-जीवन मुझे पुनः भुगतना पड़ा।

कारागृह से पुनः मुक्त होने पर इस दिशा में मेरे विचार फिर सक्रिय हुए और मैंने लेखनी उठाई। अनेक लेख लिखे। श्री अ. ज. करंदीकर के अनेक विवादग्रस्त लेखों के कारण 'पैंजण' मासिक-पत्र के सम्पादक श्री ग. वा. बेहरे से मेरा परिचय हुआ। श्री बेहरे को मैंने अपने लेख दिखाए।

संपादकीय दृष्टिकोण से उन्होंने उन लेखों को देखा। क्योंकि उनको अपना मासिक-पत्र चलाना था, बन्द करना नहीं। जब उनको यह स्पष्ट हो गया कि उन लेखों में ऐसी कोई बात नहीं है कि जो आपत्तिजनक कही जाए, अथवा किसी को चिढ़ाने का प्रयोजन हो। न्यायोचित दण्ड के सम्बन्ध में तथा गांधी जी के विरुद्ध कुछ अनुपयुक्त उद्गारों का प्रकटीकरण तो नहीं किया गया है, कहीं इतिहास को तोड़ा-मरोड़ा तो नहीं गया आदि तथ्यों की पड़ताल करने के बाद उन्हें प्रकाशित करना उन्होंने स्वीकार कर लिया।

अनेक बार तो केवल नाम के साथ ही कुछ पूर्वाग्रह हुआ करते हैं। उनकी पार्श्वभूमि कुछ तो अधूरी होती है और कुछ विकृत भी। मैं कैसा हूँ, यह लोगों की समझ में किस प्रकार आ सकता है? मेरे विचारों को लोग समझें, ऐसी मेरी इच्छा थी। जिस प्रकार मैं चाहता था कि कोई मुझे भयभीत न करे, उसी प्रकार मैं यह भी चाहता था कि कोई मुझसे भयभीत न हो। मेरे लेखों को प्रकाशित कर, मैं कैसा हूँ, यह श्री बेहरे ने लोगों को दिखा दिया। उन्होंने मुझे समाज में स्थान दिलाया, मुझे समाज में खड़ा किया, वह पूर्णतया शान्तिपूर्ण एवं धैर्य युक्त थे। शासन ने मुझे मुक्त किया तो इसी समाज में मेरे पुनःप्रतिष्ठित करने के लिए उन्होंने यह सब प्रयत्न किए। शासन का एक विभाग विमुक्त बन्दियों को समाज में पुनःप्रतिष्ठित करने के लिए होता है। मेरे विषय में यह कार्य श्री बेहरे ने किया।

इन लेखों को मैंने लिखा वहाँ तक तो मैं इनका लेखक हूँ, परन्तु 'लेखक' की एक परिभाषा है। गाते समय गायक, स्वर-लय-ताल-चढ़ाव-उतार आदि का समन्वयन और बन्धन नियमित करे, उनके श्रोता उनसे ऐसी अपेक्षा रखते हैं। इसी प्रकार पाठक भी लेखक से अपेक्षा रखते हैं कि वह सुन्दरता एवं सहजबोध के आवरण में ही अपने मन की बात उनको समझाए।

केले के पौधे का जब एक पत्ता निकलता है तो उसके भीतर दूसरे पत्ते का आभास भी तुरन्त ही होने लगता है। वह निकलते ही उसमें से तीसरा पत्ता निकल आता है। उसी प्रकार एक विचार में से दूसरा विचार इतनी सहजता एवं स्वाभाविकता से जोड़ा जाए कि आदि से अंत तक पाठक कब और कैसे पहुँचा, यह बात पाठक समझ न सके, इसी में लेखक की चातुरी और कुशलता है। पाठकों की अपेक्षा पूर्ण करना उसका कर्त्तव्य है।

किसी सुरक्षित उद्यान में अर्थात् पेड़-पौधों की सीधी पंक्तियाँ, वर्गानुसार फूलों की क्यारियाँ, सजी हुई वीथियाँ, तृणाच्छादित भूमि के आकार के हरित गलीचे हुआ करते हैं

और यह सब देखकर वह मनुष्य मोहित हो जाता है। उसी प्रकार लेखक रमणीय उद्यान पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करे, यही उनकी अपेक्षा होती है।

'लेखक' की परिभाषा में अथवा लेखकों की पंक्ति में मैं कहाँ पर खड़ा हूँ, यह मैं नहीं जानता। इतना मैं जानता हूँ कि मैं ऐसा लेखक नहीं हूँ जिसका कि लेखक नाम से वर्गीकरण किया जा सके। इससे मुझे संरक्षण मिला है और पाठक भी मुझे उसी प्रकार समक्ष कर मेरी रचना को पढ़ेंगे, ऐसी मुझे उनसे अपेक्षा है।

उद्यान की भाँति योजनाबद्ध पद्धति से नहीं अपितु बन की अनिश्चित एवं अस्वाभाविक सृष्टि की भाँति जब वायु के झोंके से उड़ाए गए बीज कहीं पर भी पड़ें, प्रकृति ने उसे मिट्टी में दबाया, आकाश ने उस पर जल सींचा, किसी भी स्थान पर वह बीज अंकुरित हो गया, कभी उसका पौधा और कभी वृक्ष हो जाए और कौन-सा वृक्ष कहाँ उग जाए, इसका कोई नियम नहीं। प्रकृति जो देगी वह स्थान और जिस प्रकार सुरक्षा देगी उसे ग्रहण कर अनिश्चित प्रकृति के नियमों से जो बढ़ता रहता है, उसे वन कहा जाता है।

कुछ सोच समझ कर विचारों को सुरक्षित उद्यान की भाँति सजाने का प्रयत्न मैंने नहीं किया है। जैसे विचार मन में उठे मैंने उनको उठने दिया है? जहाँ पर वे उठे उसी स्थान पर मैंने उन्हें लिपिबद्ध कर दिया। इस प्रकार इस अनियोजित एवं अनियमित वन से भी पाठकों की जिज्ञासा की पूर्ति हो सकेगी, ऐसा विश्वास जब मन में जगा तो मैंने इसे पाठकों के सम्मुख रखना उपयुक्त समझकर ही यह कार्य किया है। नगर में रहने वाले सदा नल का पानी पीते रहने पर भी जंगल में जाने पर झरने के पानी से प्यास बुझा कर मन को शान्त कर सकते हैं।

१९-२० वर्ष का कालखण्ड कोई छोटी अवधि नहीं होती। इस अवधि में मेरी कुछ स्मृतियाँ यदि धुंधली और अस्पष्ट हुईं अथवा बिलकुल मिट भी गईं तो वे अप्रासंगिक स्मृतियाँ ही थीं। जिस प्रकरण में मैं लगभग १८ वर्ष कारावास में रहा हूँ उसकी स्मृतियाँ आज भी उतनी ही स्पष्ट हैं, जितना १८-२० वर्ष पूर्व का सुरक्षित रखा हुआ चित्र स्पष्ट था। क्योंकि कारावास में भी प्रत्येक क्षण मेरे मन में रहता था कि मैं बंदीवास क्यों भुगत रहा हूँ। मन को सदा उसकी स्मृति रहती थी। मन पर और कोई चित्र अंकित हो इसका न अवसर मिलता था और न उसके लिए कोई स्थान ही था। जो चित्र एक बार मन में बैठ गया उसे भुलाया नहीं जा सका। उस पर भी शासन बीच-बीच में मुझे स्मरण कराता रहता था, 'तुम गांधी वध-कांड के दण्डित व्यक्ति हो।' फिर वह चित्र भुलाया भी किसी प्रकार जाता?

एक दृष्टि से यह अच्छा ही हुआ। इतिहास सुरक्षित रह सका। जो जैसा का तैसा ही देखते हुए पाठकों को, विशेषतया इतिहास के पाठकों को इसमें से नए मनोवैज्ञानिक विश्लेषणात्मक सूत्र एवं विचार प्राप्त होंगे। गांधी जी के जीवन से ही उनकी मृत्यु जुड़ी हुई है और उस मृत्यु की घटना से मैं सम्बन्धित था। इसलिए गांधी जी के जीवन के अंतिम अध्याय का ही यह अन्तिम पृष्ठ है। भाग्य ने उससे मेरा सम्बन्ध जोड़ा, इसलिए इस इतिहास-स्वरूप पृष्ठ का नाम है 'गांधी-वध और मैं।'

१८ दुबारा भेंट

[मूल मराठी पुस्तक पर लगाया गया प्रतिबन्ध हटने के पश्चात् छपे संस्करण के लिए लिखी गई प्रस्तावना का अनुवाद]

लेखन स्वातंत्र्य के मंच से आज 'गांधी हत्या आणि मी' (गांधी वध और मैं) दुबारा पाठकों को प्रस्तुत हो रहा है। पहला संस्करण दिनांक १२-१०-१९६७ को प्रकाशित हुआ। लगभग दो मास के पश्चात् दिल्ली प्रशासन ने पुस्तक पर प्रतिबंध लगाया। एक राज्य के प्रतिबन्ध आदेश का क्षेत्र पूरे भारत भर में होने के कारण उस समय पुस्तक के पुनर्मुद्रण की योजना में बाधा पड़ी।

दिनांक २५-१-१९६८ को प्रस्तुत लेखक के घर की तलाशी ली गई और सिपाहियों ने एक प्रति जब्त कर ली। दिनांक २७-१-१९६६ को श्री बेहरे—जो अस्मिता-प्रकाशन के संचालक हैं और जिन्होंने अपनी प्रकाशन-संस्था द्वारा पुस्तक का प्रकाशन किया था, के कार्यालय से दो प्रतियाँ जब्त की गईं।

आजन्म कारावास से मेरी मुक्तता के विषय में शासन ने मुझसे अति प्रतिशोधात्मक अर्थात् दुष्टता की भावना से भरा क्रूर बर्ताव किया, जिसका वृत्तान्त मेरी इस पुस्तक में आया ही है। मैं गांधी-वध से संबद्ध दंडित व्यक्ति था, इसलिए मुझे पैरोल अथवा फर्लों की छुट्टी से, जो दंडितों को दी जाती है, वंचित रखना तथा मुझसे रक्तदान प्रत्यक्ष रूप में लेना और मेरे पल्ले 'छूट-रेमिशन' झूठी बाँधना और तिस पर सफेद टोपियाँ सिर पर पहनकर दण्डितों को सच्चाई के और सद्व्यवहार के भाषण देना, ऐसा दंभपूर्ण व्यवहार शासन चला रहे महानुभावों ने मुझ से किया। मेरी भावनाएँ भड़काई गई थीं। उसी वस्तुस्थिति से त्रस्त हो यदि मैं गांधी-वध की मीमांसा के सभी विषय चिढ़कर लिखता तो भी वह समर्थनीय ही होता, किन्तु सब मनस्ताप के घूँट पीकर मैंने बड़े संयम से लेख लिखे थे।

गांधी-वध के विषय में एक ही पक्ष आज बीस-बाईस वर्ष से लोगों को आग्रहपूर्वक बताया जा रहा है। जिनका संबंध उस षड्यंत्र से था, उनका क्या कहना था। इस तथ्य को इतिहास के रूप में लोगों के सम्मुख प्रस्तुत करके मैंने कोई अपराध नहीं किया। षड्यन्त्र के सब दंडित व्यक्तियों ने अपना-अपना दण्ड भुगता है। न केवल एक अपितु दो व्यक्तियों को फाँसी दी गई। जिन्होंने आजन्म कारावास भुगता है, वे भी बिना किसी प्रमाण के अधिकृत रूप से कारावधि काट कर बंधनमुक्त हुए हैं। इसलिए ऐसे इतिहास कथन से लोगों में सहानुभूति निर्माण करने का प्रश्न ही नहीं था। इच्छा इतनी ही थी कि दंडितों को तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से देखने से पूर्व लोग उन दिनों की राजनीतिक परिस्थिति को सम्मुख

रखकर सब घटनाओं को परखें। उसके उपरान्त यदि किसी की इच्छा हो तो भले ही वह उन लोगों का तिरस्कार कर सकता है।

पुस्तक पढ़ने के पश्चात् अनेक सज्जनों ने एक ही घटना का दूसरा पक्ष प्रकाश में आने के इस प्रयास की सराहना की और प्रशंसापूर्ण पत्र लिखे। आज तक जो एक ही पक्ष लोगों के सामने लाया जाता था, उससे यह प्रतीत होता है कि शासन ने वस्तुस्थिति को कैसे छिपाए रखा था, ऐसा कई लोगों ने लिखा है।

यह मानना पड़ेगा कि शासन इस स्थिति को जानता था। इसलिए निष्कर्ष यही निकलता है कि गांधी जी में जो गुण नहीं थे, वे उनसे चिपका कर, उनके नाम का ढिंढोरा पीटकर अपनी कुर्सी बनाए रखने का धंधा करने वालों का व्यवसाय, बिना रुकावट के चलता रहे, उसको थोड़ा भी धक्का न लगे, ऐसी व्यापारिक दृष्टि से ही यह बन्दीकरण किया गया था। वैसे ही गांधी-वध अभियोग के दण्डितों से कारा में किया गया शासन का दुर्व्यवहार दण्डितों के मुक्त होने के पश्चात् लोगों के सामने न आए तथा दो बार दण्ड भुगतने पर भी उन लोगों की उद्दण्डता बनी हुई है, यह प्रकट करने के लिए शासन ने पुस्तक पर प्रतिबन्ध लगाया।

प्रतिबन्ध की आज्ञा का कारण यह दिखाया गया कि पुस्तक हिन्दुस्थान के हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच वैमनस्य निर्माण करती है।

पुस्तक में आपत्तिजनक कुछ नहीं, अत: इस बारे में मुझे भरोसा था कि पुस्तक पर प्रतिबन्ध नहीं लग सकता? उसी प्रकार का विश्वास श्री बेहरे को भी था। हम इस प्रयास में थे कि न्यायालय द्वारा पुस्तक निर्दोष सिद्ध हो।

न्यायालय सम्बन्धी कार्य में सर्वश्री माधवराव पाठक, मोहनराव जोशी, माधवराव परांजपे तथा उनके सहायक श्री कामथ, श्री टिपणीस आदि वकीलों ने हमें अनमोल सहायता की। श्री माधवराव परांजपे ने न्यायालय में युक्तिवाद (आरग्युमेंट्स) भी प्रस्तुत किए।

उन सबके सतत परिश्रम का ही फल था दिनांक ६-९-१९६९ का बम्बई उच्च-न्यायालय का निर्णय-पत्र। संविधान द्वारा व्यक्ति को दिया गया भाषण स्वातंत्र्य का अधिकार स्थिर रखने की दृष्टि से, यह निर्णय बड़ा महत्त्व रखता है। न्यायमूर्ति श्री मोदी, न्या. श्री देसाई और न्या. श्री चंद्रचूड का न्यायासन था। न्यायमूति श्री चंद्रचूड ने निर्णय लिखवाया। न्यायप्रक्रिया के इतिहास में भी इस निर्णय का उल्लेख होगा। अभिव्यक्ति के अधिकार का यह प्रश्न बड़ा महत्त्व रखता है।

शासन का आक्षेप और पुस्तक की अनाक्षिप्तता आमने-सामने परखने के लिए पाठक श्री. वि. श्री. जोशी द्वारा किया गया निर्णय-पत्र का सारांश पढ़ें, जो आगामी शीर्षक में दिया है। (मराठी से हिन्दी अनुवाद लेखक ने स्वयं किया है)

नागरिक को दिए गए मुद्रण-स्वातंत्र्य, भाषण-स्वातंत्र्य, लेखन-स्वातंत्र्य के अधिकार का न्यायालय ने अनुमोदन किया है। संविधान में इन मूलभूत अधिकारों की व्यवस्था के कारण यहाँ यह कहना भी उचित होगा कि शासन अब पूर्वग्रह के कारण सत्ता का दुरुपयोग

ऐसे कार्यों के लिए विवशतावश भी न करे।

पुस्तक में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। पाठकों से कुछ सूचनाएँ प्राप्त हुई थीं जो अवश्यमेव विचारणीय थीं, किन्तु विवशतावश उन्हें दूर रखना पड़ा। नथूराम का मृत्यु-पत्र मूलरूप में देखने की अनेक पाठकों की इच्छा छायाचित्र के माध्यम से पूरी की जा रही है।

शासन ने पुस्तक पर प्रतिबंध लगाया। प्रतिबंध हटवाने के लिए पाठक, अधिवक्ता तथा अन्य लोगों ने जो सहयोग प्रदान किया, उसके लिए मैं हृदय से उनका आभार स्वीकार करता हूँ।

२४-९-१९६९ —गोपाल विनायक गोडसे

१९ निर्णय पत्र का सारांश

महाराष्ट्र राज्य के बम्बई स्थित उच्च-न्यायालय के तीन न्यायमूर्तियों की विशेष न्यायपीठ (बेंच) ने जो निर्णय-पत्र दिया उसके २१७ टंकित पृष्ठ हैं। उसमें विधि विषयक (अर्थात् कानूनी) चर्चा, आक्षिप्त भागों सहित पुस्तक के प्रकारणों का सारांश, शासन के लिए आक्षेपों का निराकरण तथा खंडन, युक्तिवाद (ऑरग्युमेंट) में लिए गए आक्षेपों के उत्तर के स्थूल भाग हैं। महत्त्व का भाग इस प्रकार है—

पुस्तक का मुख्य विषय, पुस्तक में लेखक ने सामान्य प्रयोग की भाषा का स्वरूप उस भाषा का लक्ष्य तथा उसका प्रभाव, ऐतिहासिक घटनाओं का, हिन्दूतत्त्वज्ञान के शाश्वत सिद्धान्तों का और पौराणिक-कथाओं को लेखक द्वारा लिया हुआ भरसक संदर्भ, भाषा में पाई जाने वाली उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ, उसमें छिपे अर्थ, इसके साथ ही अन्य प्रकार की कहावतों भाषालंकारों के निरन्तर प्रयोग से लेखक की भाषा सशक्त ही नहीं अपितु उसकी शैली की सुन्दरता भी दर्शनीय है। जिससे पाठक को पुस्तक में प्रतिपादित विषय और अभिप्राय समझने में सहायता मिलती है, और यही लेखक का उद्देश्य है। इसलिए हमने पुस्तक के लेखन का अभी तक विश्लेषण किया है।

हमने इस पुस्तक पर सब अंगों से विचार किया है, किन्तु हमारी राय में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच द्वेषभाव फैलाने वाला लेख उसमें है, इस शासकीय मत से सहमत होने में हम असमर्थ हैं। हमारा स्पष्ट मत यह है कि पुस्तक में ऐसा कोई लेख नहीं हैं। भारतीय दण्ड विधान (इंडियन पीनल कोड) धारा १५३ (अ) के अन्तर्गत जो प्रकाशन दण्ड का पात्र हो, ऐसा लेख भी पुस्तक में निश्चय ही नहीं है। यह कह सकते हैं कि हिन्दू और मुस्लिम के बीच शत्रुता अथवा द्वेष फैलाने वाला कोई भी लेख उसमें नहीं पाया गया। इस प्रश्न पर हमारा समाधान हुआ है। पुस्तक यदि सीधे अर्थ से पढ़ी जाए तो लेखक का भी वैसा उद्देश्य नहीं दीखता अर्थात् लेखक का वैसा उद्देश्य भले ही हो, यदि वह धारा १४३ (अ) का न उल्लंघन हो तो वह भी बात विचारने योग्य नहीं है, यह भी यहाँ बतान. आवश्यक है।

प्रतिबन्ध की आज्ञा के लिए पुस्तक पर जो आक्षेप किए गए हैं, क्या वे साधारण हैं? इस प्रश्न के उत्तर के लिए प्रारंभ में पुस्तक का विषय क्या है, यह देखना पड़ेगा। स्थूल रूप से पुस्तक का विषय गांधी जी का वध है, किन्तु उसकी ऐसी व्याख्या करना भी बहुत स्थूल होगा। क्योंकि षड्यंत्र कहाँ और क्यों हुआ, प्रार्थना-स्थल पर की घटना जिसका पर्यवसान अंत में गांधी जी के देहान्त में हुआ, अपराधान्वेषण की दशा, न्यायालय के निर्णय, फाँसी के दंड का प्रत्यक्ष शब्दांकन, तीन दंडितों का बंदीवास और उनकी मुक्तता, इनका पुस्तक में निर्विकार रूप से वर्णन है, इतना ही नहीं इन घटनाओं के धागे को पकड़ लेखक ने अपना प्रतिपादित विषय गूँथा है।

पुस्तक का मुख्य विषय

लेखक को प्रेरणा देने वाला ही नहीं अपितु पाठक को सबसे अधिक प्रभावित करने वाला मुख्य प्रतिपादित विषय पुस्तक में यह है कि 'गांधी जी का वध किसी पथभ्रष्ट मनुष्य का कार्य नहीं था, वह एक राजनीतिक वध था, और उसका कारण यह था कि गांधी जी भारत के एक अल्पसंख्यक वर्गाविशेष के पक्ष में, चाहे उससे भारत का अहित हो, तो भी झुकते थे। देश का विभाजन हुआ, उससे लोगों पर जो आपत्तियाँ आईं उस अवस्था में गांधी जी ने मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति वैसे ही चालू रखी। भारतीय शासन ने पाकिस्तान को पैसों का भुगतान करने से इनकार किया, किन्तु अन्ततः शासन को वह राशि देने के लिए बाध्य करने हेतु गांधी जी ने १३ जनवरी, १९४८ को अनशन आरम्भ किया। शासन ने जैसे ही घोषित किया कि पचपन करोड़ रुपयों का भुगतान पाकिस्तान को किया जाएगा, गांधी जी ने अनशन तोड़ा।' पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय है : गांधी-वध के दो कारण—(१) देश विभाजन और (२) गांधी जी के प्रयास से पचपन करोड़ रुपए पाकिस्तान को भारत सरकार द्वारा देने की स्वीकृति।

पुस्तक का बहुत-सा भाग अन्य विषयों से भी भरा है। 'दूरत्व के दिन' इस नौवें अध्याय में लेखक ने अपनी अनुपस्थिति में धर्मपत्नी सिंधू को कष्ट सहने पड़े उसका वर्णन किया है जो हृदय को सद्‌गदित करने वाले हैं। उसका कहना है कि गांधी-वध जैसे राष्ट्रव्यापी अपराध में फँसे हुए दण्डित व्यक्ति के परिवार को भी एक प्रकार का प्रत्यक्ष देहदण्ड भुगतना पड़ा है।

दंडित व्यक्ति का कारावासी जीवन, अधिकारियों का सहानुभूतिपूर्व बर्ताव और दण्डितों के एक विशिष्ट-वर्ग के प्रति शासन की क्रूर, प्रतिशोधपूर्ण नीति, यह भी पुस्तक का एक प्रतिपाद्य विषय है।

इस पुस्तक का संकेत हिन्दुस्थान के हिन्दू और मुसलमानों के राजनीतिक संबंध की ओर नहीं है। प्रचलित समय के सांप्रदायिक संबंध की समस्या का तो वह तनिक भी विचार नहीं करता। निर्विवाद ऐतिहासिक घटनाओं का उसमें विवरण है। इससे हम संतुष्ट हैं कि लेखक ने इतिहास को विकृत रूप नहीं दिया है।

प्रकाशक का कहना है कि गांधी-वध अब एक इतिहास है, उस वध के सत्य कारण कौन-से थे, यह दिखाने का उसमें प्रयास है। और प्रकाशक का यह कहना बहुत यथार्थ है। शासकीय महाधिवक्ता ने (एडवोकेट जनरल ने) कहा है कि मुसलमान वस्तुतः परदेश के हैं और उनकी अन्याय पूर्ण माँगें ठुकराने के लिए हिन्दुओं को तय्यार रहना चाहिए यह लेखक का परामर्श है, हम इससे सहमत नहीं हो सकते।

पुस्तक के प्रतिपाद्य विषय की छानबीन हुई। उसमें प्रयुक्त उपमा, उत्प्रेक्षा गर्भित अर्थ आदि के बारे में कहना हो तो वह अनगिनत हैं। इतनी कि उनकी गिनती करना ही हमने छोड़ दिया, किन्तु उनका प्रयोग भी, गांधी जी की अनुनय-नीति से पाकिस्तान का निर्माण हुआ और उस अनुनय की बेदी पर वे बलि चढ़े, इस कथन के संदर्भ में किया गया है।

लेखक की भाषा

पुस्तक की भाषा, उपमा, उत्प्रेक्षा और अन्य अलंकारों से परिपूर्ण है। उससे लेखक की भाषा मन पर प्रभाव डालती है, प्रौढ़ है। लेफ्टिनैंट गवर्नर कहते हैं कि उनके संस्कृत के ज्ञान से संस्कृत प्रचुर मराठी पढ़ना और उसका तथ्य समझने में उन्हें सुविधा हुई। अब मराठी भाषा हम भी भली-भाँति जानते हैं। किन्तु फिर भी पुस्तक के कई उद्धरण आक्षेपार्थ हैं, ऐसा शासन द्वारा क्यों कहा गया है, यह समझने के लिए हमें वे उद्धरण विशेष ध्यान से पढ़ने पड़े। साधारण पाठक को पुस्तक की शब्द-संपदा का आकलन करने के लिए न इतना समय होता है, न इतना ज्ञान। पुस्तक में आया हुआ प्रक्षुब्ध उद्धरण ढूँढ निकालने के लिए तो हमें उसमें बहुत ही गहराई में जाना पड़ा।

पुस्तक में दूषितबोध है, ऐसा कुछ नहीं कहा जा सकता। हाँ, अनुनय से देश का कभी लाभ नहीं होता यह बोध अभिप्रेत हो तो बात और है। लेखक कोई तात्पर्य नहीं देता।

महत्त्वपूर्ण, उद्धरणों में से 'शोध' अर्थात् 'अन्वेषण' इस प्रस्तावना का एक आक्षेपार्द्ध उद्धरण है। वह सब हमने पढ़ा है। उससे प्रकाशक पाठक के मन पर यह अंकित करना चाहता है कि हत्यारे ने गांधी जी का वध व्यक्तिगत कारणों से नहीं किया है, किन्तु गांधी जी की नीति से देश का विभाजन हुआ इसलिए 'सावरकर स्मरण में आएंगे', इस कथन से उसका कहना है कि हिन्दुस्थान को अखंड रखने पर सावरकर तुले हुए थे। इसलिए जिनके घर-बार विभाजन के समय रक्तपात से लथपथ हुए, उन्हें सावरकर स्मरण आएँगे और नथूराम की स्मृति आएगी, वह भी उसी कारण से। अर्थात् हमें यह स्पष्ट करना होगा कि हम प्रकाशक के और लेखक के इस प्रतिपादन से सहमत हैं, ऐसा कोई न समझे। उसके विपरीत हमारा मत है कि गांधी जी ने सैकड़ों हिन्दुओं के और मुसलमानों के प्राण बचाए थे। इस वस्तुस्थिति की ओर किसी भी इतिहासकार को आनाकानी नहीं करनी चाहिए, किन्तु पुस्तक के बारे में जो आक्षेप है, वह यह है कि हिन्दू और मुसलमानों के बीच शत्रुता फैलाने वाला लेख उसमें है। हमें इतना ही देखना है कि पुस्तक पर लगाया गया आरोप सिद्ध हुआ है या असिद्ध।

विद्वान् शासकीय अभिभाषक ने यह भी कहा कि पुस्तक 'सत्य का अन्वेषण' है, किन्तु लेखक और प्रकाशक का यह इतिहास कथन निरा असत्य है। विधि-विशेषज्ञ का यह आरोप मानना हमारे लिए कठिन है। पुस्तक का उद्देश्य यह नहीं है कि इतिहास को विकृत ढंग से लिखकर नथूराम का उदात्तीकरण करे और उस माध्यम से हिन्दू मुसलमानों में द्वेषभाव फैलाए।

इतिहास की विकृति नहीं है

अब इस विधेय पर हम आए ही हैं तो गांधी जी का अनशन और पाकिस्तान को धन का भुगतान, इसके बीच कार्यकारण भाव दिखाने में लेखक का कोई तर्क है या नहीं, यह हम देखें। शासकीय अधिवक्ता कहते हैं कि गांधी जी ने यह अनशन अन्य कारणों से किया था और लेखक ने अपनी सुविधा के लिए इतिहास ही विकृत किया है, किन्तु लेखक ने इंडियन इनफॉरमेशन, २ फरवरी १९४८ के अंक के उद्धरण दिए हैं। उससे सरदार पटेल

और षण्मुखम् चेट्टी ने कश्मीर प्रश्न का समाधान होने तक पाकिस्तान को पैसे न दिए जाएँ यह कहा है और बाद में वह निर्णय पीछे लिया गया, यह भी कहा है। वह पीछे लेना गांधी जी की विनंति के अनुसार लिया गया, यह भी स्पष्ट है। इसलिए गांधी जी ही इन पैसों के प्रदान के लिए शासन को विवश करने के उत्तरदायी हैं, ऐसा लेखक ने उपर्युक्त आधार पर लिखा है। अतएव हम नहीं मानते कि अपनी सुविधा के लिए लेखक ने इतिहास विकृत किया है।

श्री प्यारेलाल की 'महात्मा गांधी दि लास्ट फेज' पुस्तक की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट किया गया था। अपने ग्रंथ के पृष्ठ ७११ पर प्यारेलाल जी कहते हैं कि अनशन प्रारंभ होने के चौबीस घंटों के अंदर-अंदर हिन्दुस्तान गणतंत्र का मंत्रिमंडल बिरला-भवन की घास पर गांधी जी के आस-पास बैठा। पचपन करोड़ रुपए देने के प्रश्न पर विचार-विमर्श हुआ। दिनांक १५ को शासन ने पचपन करोड़ रुपए तुरन्त देने का निश्चय घोषित किया। गांधी जी ने कहा उस निर्णय के पीछे मेरा अनशन ही था।

प्यारेलाल जी का वृत्तान्त हमने इतने विस्तार से दिया है, क्योंकि हमारे सामने बार-बार यह कहा गया कि लेखक ने इतिहास विकृत किया है। हमारी राय में प्यारेलाल की उसी पुस्तक से आवेदक का कहना बहुत अंश से प्रमाणित होता है। इसलिए अनशन और अंगभूत घटनाओं के बारे में उसने इतिहास का विकृतीकरण किया है, यह आरोप सिद्ध नहीं माना जा सकता।

अब नथूराम के विषय में जो उद्धरण आए हैं उन पर विचार करें। वे दिखाते हैं कि नथूराम से जिनका संबंध आया उनको नथूराम एक व्यक्ति की मर्यादा के कारण उसके प्रति आदर भावना थी। लेखक कहता है कि बंदीशाला के अधिकारियों ने उसके साथ अच्छा बर्ताव किया, न्यायमूर्तियों ने उसकी सराहना की। न्यायालय में बैठी उच्चभ्रू स्त्रियों ने सिसकियाँ भरीं और आँसू बहाए। उन्होंने उसके लिए स्वेटर बुने। दूसरे कुछ उद्धरणों में लेखक ने सरदार पटेल के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की है क्योंकि उन्होंने दण्डितों को 'बी' श्रेणी दी। इन उद्धरणों के बारे में आक्षेप यह है कि यह उद्धरण दिखाते हैं कि सरदार पटेल जैसे कट्टर कांग्रेसी लोगों को भी नथूराम के कार्य के प्रति सहानुभूति थी।

पहले उद्धरणों के बारे हमें यह नहीं दिखाई देता है कि वे निर्देश मनगढंत हैं। ठीक-ठीक कहा जाए तो पंजाब उच्च-न्यायालय के एक न्यायमूर्ति जी. डी. खोसला ने जिनके सामने इस अभियोग का पुनरावेदन प्रस्तुत हुआ था, अपने 'दि मर्डर ऑफ दि महात्मा' ग्रंथ में जो लिखा है उससे नथूराम के संबंध में लोगों की क्या भावनाएँ थीं, इस विषय पर पुस्तक में आए हुए संदर्भ सत्य ही प्रतीत होते हैं।

सरदार पटेल के बारे में दिए उद्धरण के संबंध में कहना हो तो, प्यारेलाल जी की पुस्तक से तथा मौलाना आजाद के 'इंडिया विन्स फ्रीडम' ग्रंथ से यह प्रतीत होता है कि पाकिस्तान को ५५ करोड़ राशि देने में सरदार पटेल का विरोध था और गांधी जी और पटेल के बीच देश-विभाजन के प्रश्न पर मतभेद हुए थे, यह भी स्पष्ट है। अर्थात् हम नहीं कह सकते कि सरदार पटेल की सहानुभूति के कारण ही दण्डितों को 'बी' श्रेणी दी गई, यह आक्षेप कहाँ तक सच है। किन्तु यह असत्य है, यह कहने के लिए भी हमारे पास स्पष्ट

कारण नहीं है। दूसरी बात, इन आक्षेपों से यह अर्थ नहीं निकल सकता है कि सरदार पटेल के दृष्टि से नथूराम का कार्य स्तुत्य था।

शासकीय अभिभाषक का कहना है कि नथूराम का गुणगान करने में लेखक का उद्देश्य यह है कि वह और गांधी जी एक ही स्तर पर हैं, प्रत्युत नथूराम का स्थान ऊँचा है। हम मानते हैं कि पुस्तक का मध्यवर्ती सूत्र यह है कि नथूराम का कार्य उसके पीछे के हेतु से अलग निकालना चाहिए। किसी व्यक्ति का कार्य धिक्कार करने योग्य हो तो भी उसका उद्देश्य स्तुत्य हो सकता है, किन्तु शासकीय अधिवक्ता ने जो अर्थ लगाया है, बहुत ही खींचातानी का है, जो साधारण पाठक की मानसिक धरातल के परे है।

पुस्तक के ७६, ११७ और १२९ पृष्ठों पर के उद्धरणों का और एक समूह है जिसके आधार पर हमें कहा गया है कि लेखक के प्रतिपादन का उद्देश्य यह है कि मुसलमान सबसे क्रूर लोग हैं। वे हिन्दुस्थान की एकता के विरोधी हैं और स्वतंत्रता आंदोलन का भी उन्होंने विरोध किया था। अब यह सच है कि मुसलमानों ने स्वतंत्रता आंदोलन का विरोध किया, ऐसा लेखक ने कहा है। किन्तु वीर सावरकर ने सूत्र रूप में कहा है कि यदि आप साथ आएँ तो आपके साथ, साथ न आएँ तो बिना आपके और विरोध करें तो उस विरोध को काटकर हम स्वतंत्रता की ओर बढ़ेंगे, यह भी लेखक ने कहा है। रा. स्व. संघ को स्वतंत्रता की रुकावटें दूर करने वाला समर्थ हिन्दू समाज बनाना था, यह भी लेखक ने कहा है। हम इस बात से सहमत होने में असमर्थ हैं कि इस प्रकार के छुटपुट उद्धरणों से हिन्दू मुसलमानों के बीच वैमनस्य निर्माण होगा। क्या यह सच नहीं है कि एक धारणा ऐसी है कि मुस्लिमलीग के कुछ सदस्य इस मत के थे कि— 'अंग्रेज यहाँ से न जाएँ।'

चौथे अध्याय में लेखक ने कहा कि आप्टे और नथूराम ने कहा कि उनकी अंतिम इच्छा यह है कि उनके फूल सिन्धु नदी में प्रवाहित किए जाएँ। किन्तु उससे यदि कोई तात्पर्य हो तो यही है जो किसी समय हिन्दुस्थान का भू-भाग था और जो पाकिस्तान हो गया है, वह हिन्दुस्थान फिर से प्राप्त करें। हमारी दृष्टि से, जो मुसलमान हिन्दुस्थान के नागरिक हैं उनको इस विधान से ठेस पहुँचने की संभावना नहीं है। क्योंकि जो भू-भाग खोया है उसको जीतने का प्रश्न राजनीतिक है, न कि साम्प्रदायिक।

आक्षेपाहार्य कुछ नहीं है

अंत में, कुछ उद्धरणों के आधार पर हमें बताया गया कि राजनीतिक हत्या न्यायोचित रहती है और स्तुत्य भी तथा पाकिस्तान के विरुद्ध और पाकिस्तानी प्रवृत्ति के मुसलमानों के विरुद्ध यदि प्रतिरोध की ओर और रक्त-पिपासु धारणा हो तो वह भी स्तुत्य है। हमने ये उद्धरण बार-बार पढ़े, किन्तु हम जिस बात की पुष्टि नहीं दे सकते कि प्रतिबन्ध की आज्ञा में जो कारण दिए हैं उन कारणों से वे आक्षिप्त हैं। उसमें एक उद्धरण है नथूराम ने १५ नवम्बर, १९४९ को फाँसी पर चढ़ने से पूर्व अपने माता-पिता को लिखे पत्र में नथूराम ने कहा है कि भगवान श्रीकृष्ण ने युद्ध में और अन्य स्थानों में बहुत ही दुरभिमानी और महत्त्व के व्यक्तियों को विश्व-कल्याण के कारण मारा था। अर्जुन को तो उन्होंने अपने संबंधियों का वध करने का भी उपदेश दिया था। उन उद्धरणों का अर्थ इतना ही है कि

हत्यारे के कार्य में अपराधीपन होता है, किन्तु उसका मूल्यांकन उसके पीछे के लक्ष्य के हेतु का विचार और उस व्यक्ति के अन्य गुणों से यह घटना अलग ही रखनी चाहिए। गांधी जी के वध की उसमें प्रशंसा है, यह सत्य है, किन्तु मुसलमान-वैमनस्य से यह सब संबंधित नहीं है। एकाध वाक्य अथवा परिच्छेद संदर्भ से अलग किया गया तो भावक्षम मन के लिए वैसा साहित्य ज्वालाग्राही भी हो सकता है। किन्तु यह प्रक्रिया वास्तविक नहीं समझी जानी चाहिए। पुस्तक सम्पूर्ण रूप से पढ़नी चाहिए और वैसा पढ़ें तो वैसे आक्षेपों से वह मुक्त ही करना होगा।

पुस्तक का संकुल परिणाम

शासकीय अभिभाषक ने आगे कहा है कि पुस्तक की भावनाओं को कई अंतःकरणों में गहरा स्थान मिलेगा, मुसलमानों के प्रति शासन आत्मीयता दिखाता है, इसलिए पुस्तक की भावनाएँ हिन्दुओं को मुसलमानों के विरुद्ध उकसाएंगी और पाठकों पर परिणाम यह रेंगता रहेगा कि गांधी जी एक पाषाण हृदय और केवल मुसलमानों का हित देखने वाले राक्षस थे। बात यह है कि पुस्तक की भावनाओं को कइयों के अंतःकरण में गहन स्थान मिलेगा अवश्य। क्योंकि उसकी भाषा प्रभावी है और रचना हेतुपूर्ण है, किन्तु स्पष्ट रूप में कहा जाए तो उसका परिणाम सांप्रदायिक द्वेषभाव फैलाने वाला नहीं होगा। उसमें ऐसी भावनाओं का आह्वान नहीं है। पाठक के मन में पुस्तक पढ़ने के बाद बहुत समय तक रहने वाली भावनाएँ जो रेंगती रहेंगी, वे ये हैं कि देश की अखंडता भंग नहीं होनी चाहिए। गांधी जी की अनुनय की नीति से देश-विभाजन अपने साथ लोगों के लिए अनंत आपदाएँ ले आया। पाठक सिहर उठेगा इन भावनाओं से, वह कंपित होगा लेखक के माता-पिता की स्थिति से उसकी पत्नी और बच्चों की दयनीय अवस्था से।

वीर सावरकर के राजनीतिक तत्त्वज्ञान का विवरण देने वाले आठवें अध्याय की ओर हमारा ध्यान खींचा गया है। उसमें जो परिच्छेद है मानो, 'हिन्दूराष्ट्र और मुस्लिमराष्ट्र के बीच युद्ध छिड़ा है। मुस्लिमराष्ट्र ने हिन्दूराष्ट्र के सेनानी को घेरने की प्रतिज्ञा की है, इस प्रकार का अयथार्थ अभिनिवेश से शासन ने ज्वलंत राष्ट्रभक्त सावरकर को घेरने की सोची। इसका संकेत शासन की ओर है। इसमें सांप्रदायिक भावनाओं का आह्वान है, यह हम नहीं मानते। उसमें जिस पर बल है वह शासन की पक्षपात-भरी प्रवृत्ति पर। इसलिए कदाचित शासन के प्रति अनादर की भावना पनप सकती है, किंतु वह विषय भिन्न है।

न्यायालय ने पुस्तक पर प्रतिबन्ध लगाने वाली आज्ञा को आवेदकों के मूलभूत अधिकारों से वंचित करने वाली माना। अतएव उसे संविधानबाह्य ठहराया। न्यायालय ने आदेश दिया कि शासन लेखक को तीन हजार रुपए और प्रकाशक को एक हजार रुपए क्षतिपूर्ति स्वरूप दे।

क्षतिपूर्ति स्वरूप शासन से लेखक को तीन हजार रुपए तथा प्रकाशक को एक हजार रुपए प्राप्त हो चुके हैं।

●●●

